

# अथर्ववेद—

मातृभूमि और स्वराज्यशासन

## विषयानुक्रमणिका

| विषय                                    | पृष्ठ | विषय   | पृष्ठ |
|---|-------|--|-------|
| भूमिका                                  | १     | पञ्चविंश वनात्                                   | ६२    |
| मातृभूमिका वैदिक-गीत ( कां. १३, पृ. १ ) | ११    | पञ्चविंश वना                                     | ६२    |
| मातृभूमिका वैदिक-गीत                    | १७    | राजाका कर्तव्य ( कां. ७, पृ. ११ )                | ६४    |
| वृक्षका उपयोग                           | २९    | राजाका कर्तव्य ( कां. ७, पृ. १२ )                | ६४    |
| मातृभूमिकी कल्पना                       | ३५    | राजाका कर्तव्य ( कां. ७, पृ. १२ )                | ६५    |
| व्याख्यात्मक और राष्ट्र-प्रति           | ३१    | राजाका कर्तव्य ( कां. ७, पृ. ८४ )                | ६५    |
| ( १ ) अष्टावक्रान्त                     | ३३    | राजाका कर्तव्य                                   | ६५    |
| ( २ ) अष्टावक्रान्त                     | ३३    | राजा क्या कार्य करे ?                            | ६५    |
| देवीं द्वारा यज्ञात् हुयं एषा           | ३५    | राजाका कर्तव्य ( कां. ७, पृ. ८५ )                | ६७    |
| अथि अथ                                  | ३७    | राजाका कर्तव्य ( कां. ७, पृ. ८६ )                | ६७    |
| देव अथ                                  | ३७    | राजाकी स्थिरता ( कां. १, पृ. ८८ )                | ६८    |
| विद्वान्नां अथ                          | ३७    | स्थिरताके निम्न                                  | ६८    |
| मंत्रोक्तो अथ                           | ३७    | राष्ट्रके ऐश्वर्यकी वृद्धि ( कां. १, पृ. ५४ )    | ६९    |
| विषाद ( कां. ८, पृ. १० )                | ४७    | राजाका राज्याभिषेक ( कां. ५, पृ. ८ )             | ७०    |
| विषाद                                   | ५०    | राजाका राज्याभिषेक                               | ७२    |
| कामवेनुहा हुय                           | ५०    | राज्याभिषेक                                      | ७२    |
| ( १ ) विषाद, दिव्य कामवेनु              | ५०    | समुद्रतक राज्याभिषेक                             | ७२    |
| ( २ ) विषाद, दिव्य कामवेनु              | ५१    | कौन राजा होता है ?                               | ७३    |
| ( ३ ) विषाद, गी                         | ५१    | राजा और राजाके वनामेवाले ( कां. १, पृ. ५ )       | ७३    |
| राष्ट्रीय उपदेश                         | ५१    | राजा और राजाके वनामेवाले                         | ७३    |
| राष्ट्री देवी ( कां. ४, पृ. १० )        | ५३    | वर्ण-प्रति                                       | ७४    |
| राष्ट्री देवी                           | ५३    | राष्ट्रका निम्न बनना                             | ७५    |
| राष्ट्री देवी                           | ५३    | राजाकी निर्णय करनेवाले                           | ७५    |
| आध्यात्मिक भाषा                         | ५३    | राजाका पुत्राद ( कां. १, पृ. १२८ )               | ७६    |
| आध्यात्मिक भाषा                         | ५३    | प्रजा कल्याण राजा कृते                           | ७६    |
| आध्यात्मिक भाषा                         | ५३    | राजाकी स्वराज्यपर पुनः स्थापना ( कां. १, पृ. १ ) | ७७    |
| इति राष्ट्रिय वर्षका वन                 | ५३    | राजाका पुत्राद ( कां. १, पृ. ४ )                 | ७७    |
| राष्ट्रसभाकी अनुमति ( कां. ७, पृ. १२ )  | ६०    | राजाका पुत्राद                                   | ८०    |
| राष्ट्रसभाकी अनुमति                     | ६१    | पूर्व वर्ष                                       | ८०    |
| राज्यासनको लोकसंरक्षि- वापकता           | ६१    | आयुर्वेद   | ८१    |
| राष्ट्रसभा                              | ६१    | सौभाग्यी पथ                                      | ८१    |
| जनसभाका अधिकार                          | ६१    | विद्वान्नां वृद्ध                                | ८१    |
| राजाके विवर                             | ६१    | वृद्धों का                                       | ८१    |
| राजाके शिक्षक                           | ६१    | राजाका पुत्राद                                   | ८१    |
| समाप्तद् सत्यवादी हों                   | ६१    | प्रजाका राजा                                     | ८१    |
| देव प्रवृत्ता और विद्वान्नां            | ६१    | वर्णोंका विभाग                                   | ८१    |
| राजाका भाष                              | ६१    |  |       |

| विषय                                     | पृष्ठ | विषय                               | पृष्ठ |
|--|-------|------------------------------------|-------|
| शुभसंकल्प                                | ८५    | केवल राष्ट्रके लिये                | १०१   |
| राजाका रहन-सहन                           | ८५    | ' राष्ट्र ' का अर्थ                | १०४   |
| दूतका संचार                              | ८५    | संरक्षक कर ( कां. ३, पृ. २९ )      | १०४   |
| धन                                       | ८६    | संरक्षक कर                         | १०५   |
| विजयी राजा ( कां. ६, पृ. ९८ )            | ८६    | राज्यशासन अर्थात्नेके लिये कर      | १०६   |
| क्षत्रियका-धर्म ( कां. २, पृ. ५ )        | ८७    | श्राविका सोतहृषी भाग               | १०६   |
| क्षत्रियका धर्म                          | ८९    | श्राविके दो साधन                   | १०७   |
| भ्रातृधर्म                               | ८९    | राजा कैसा हो                       | १०७   |
| क्षत्रियका गुण                           | ८९    | करका उपयोग                         | १०७   |
| क्षत्रियका कर्तव्य                       | ८९    | स्वयं सदृश राज्य                   | १०९   |
| राज्यशासन                                | ९०    | कामनाका प्रभाव                     | १०९   |
| प्रजासे सम्मान                           | ९०    | कामकी भावना                        | ११०   |
| श्रीग                                    | ९०    | दुष्टोंका नाश ( कां. ८, पृ. ३ )    | १११   |
| श्रीम और मर                              | ९१    | दुष्टोंका नाश                      | १११   |
| जीवन संग्राम                             | ९१    | दुष्टोंके लक्षण                    | १११   |
| प्रजा-पालक-सूक्त ( कां. १, पृ. २१ )      | ९२    | दुष्टोंका नाश करनेवाला कैसा हो ?   | ११७   |
| भ्रातृधर्म                               | ९२    | रक्तका विभाग                       | ११८   |
| भाषा-पालक-सूक्त ( कां. १, पृ. ११ )       | ९३    | दुष्टनाशन सूक्त ( कां. १, पृ. १८ ) | ११८   |
| भाषा-पालक-सूक्त                          | ९४    | दुष्टनाशन सूक्त                    | १२०   |
| विशाल                                    | ९४    | दुष्टोंके लक्षण                    | १२१   |
| वेदमें चार विशाल                         | ९४    | दुष्टोंका सुधार                    | १२१   |
| भाषा और विशा                             | ९४    | शत्रुदमन ( कां. ८, पृ. ४ )         | १२२   |
| मूलका मनुष्यवाचक भाषा                    | ९५    | शत्रुदमन                           | १२७   |
| मनुष्यमें चार द्वारोंकी चार भाषाएँ       | ९५    | दुष्टोंका दमन                      | १२७   |
| विद्वत् द्वारसे प्रवेश                   | ९६    | दुष्टोंका लक्षण                    | १२७   |
| आरोग्यका भाषा                            | ९७    | साधका रक्त ईश्वर                   | १२७   |
| कानदान                                   | ९७    | वपरेक                              | १२७   |
| कामभोग                                   | ९७    | देससे विकास देना                   | १२८   |
| अपनका नाश                                | ९७    | दुष्टोंका तपसा                     | १२८   |
| अमर विशाल                                | ९७    | दुष्टोंसे द्वेष                    | १२८   |
| हवनसे पूजन                               | ९८    | पापीको उपयोगिता                    | १२८   |
| पावभोग                                   | ९८    | आत्मबंध                            | १२८   |
| धनुष देव                                 | ९९    | शत्रुका निवारण ( कां. ७, पृ. ११७ ) | १२८   |
| वीर्य आपण                                | ९९    | शत्रुका नाश ( कां. ७, पृ. ११० )    | १२८   |
| विशेष दृष्टि                             | १००   | शत्रुका नाश ( कां. ४, पृ. ४० )     | १२८   |
| राष्ट्र-संवर्धन-सूक्त ( कां. १, पृ. २९ ) | १००   | शत्रुका नाश                        | १२८   |
| राष्ट्र-संवर्धन-सूक्त                    | १०१   | शत्रुका नाश                        | १२८   |
| अमीशतमंगि                                | १०१   | शत्रुका नाश                        | १२८   |
| दस सूरतका संवाद                          | १०१   | शत्रु-नाशन-सूक्त ( कां. १, १९ )    | १२८   |
| राजकी गुण                                | १०१   | शत्रु-नाशन-सूक्त                   | १२८   |
| राजचिह्न                                 | १०१   | आत्मिक स्वयं                       | १२८   |
| शत्रुके लक्षण                            | १०१   | शत्रुके दो विभाग                   | १२८   |
| सबकी सहायता                              | १०२   | शत्रुकी भावना साधन-शास्त्रमय       | १२८   |

| विषय                                 | पृष्ठ | विषय   | पृष्ठ |
|--------------------------------------|-------|--|-------|
| अन्य कवच-क्षण कवच                    | १३७   | बुद्धोंका सुधार                              | १५७   |
| शासनायका नाश                         | १३७   | मित मोहन करो                                 | १५८   |
| शत्रुदमन ( कां. ७, सू. ७० )          | १३८   | बुद्ध जीवनका दृष्टान्त                       | १५८   |
| शत्रुका नाश ( कां. ६, सू. १३४ )      | १३९   | परमेश्वरका कार्य बताने                       | १५८   |
| बन्धुविशेषका उपयोग                   | १३९   | बुद्धोंकी शासनायके बुद्धि                    | १५९   |
| शत्रुका नाश ( कां. ६, सू. १३५ )      | १४०   | परमका दूत                                    | १५९   |
| शत्रुका नाश ( कां. ६, सू. १३६ )      | १४०   | शत्रुओंकी दृष्टि                             | १५९   |
| शत्रुका दमन                          | १४१   | शास्त्र और शत्रुओंके प्रयत्नका प्रमाण        | १५९   |
| शत्रुका पराजय ( कां. ६, सू. १०४ )    | १४१   | यातुधान-नाशनम् ( कां. १, सू. ८ )             | १६०   |
| शत्रुको दुरुक्ता                     | १४२   | यातुधान-नाशनम्                               | १६१   |
| शत्रुके तेजका नाश ( कां. ७, सू. १३ ) | १४२   | भगवत्प्रेषका परिणाम                          | १६१   |
| शत्रुका तेज पराना                    | १४२   | नव प्रविष्टका शत्रु                          | १६१   |
| शत्रुको दूर करना ( कां. ६, सू. १७ )  | १४३   | बुद्धोंकी शत्रुताका सुधार                    | १६२   |
| शत्रुको दूर करना                     | १४४   | परमों प्रचार                                 | १६३   |
| विजयके साधन                          | १४४   | शत्रुसेनाका संमोहन ( कां. ३, सू. १ )         | १६३   |
| यस कंठा हो                           | १४४   | शत्रुसेनाका संमोहन ( कां. ३, सू. २ )         | १६४   |
| शत्रुको दूर करना ( कां. ६, सू. ७५ )  | १४४   | शत्रुसेनाका समोहन                            | १६५   |
| शत्रुको भयाना                        | १४५   | सेनाका समोहन                                 | १६५   |
| शत्रुपर विजय ( कां. ६, सू. ६५ )      | १४५   | इत   | १६६   |
| शत्रुपर विजय ( कां. ६, सू. ६६ )      | १४६   | मरणम्  | १६६   |
| शत्रुपर विजय ( कां. ६, सू. ६७ )      | १४६   | बुद्धम्                                      | १६६   |
| शत्रुको दधाना ( कां. ५, सू. ८ )      | १४७   | मरत  | १६६   |
| शत्रुको दधाना                        | १४७   | बतव  | १६७   |
| शत्रुका नाश                          | १४७   | मणिः   | १६७   |
| ईश प्रार्थना                         | १४७   | शत्रुमें धरणात् वेदा करनेकी रीति             | १६८   |
| नास्तिकोंकी मत्तकता                  | १४७   | मन्त्रोंकी समानता                            | १६९   |
| शत्रुके नाशका उपाय                   | १५०   | असत्य आपणादि पापोंसे छुटकारा                 | १६९   |
| शत्रुओंको दूर करना ( कां. ४, सू. ६ ) | १५०   | ( कां. १, सू. १० )                           | १६९   |
| शत्रुओंको दूर करना                   | १५१   | असत्य आपणादि पापोंसे छुटकारा                 | १७०   |
| बुद्धोंका दमन करनेका उपाय            | १५१   | पापोंसे छुटकारा पानेका मार्ग                 | १७०   |
| अपमर्षिणाका नियम                     | १५१   | गुरु शत्रुका ईश्वर                           | १७०   |
| बुद्धोंका संहार ( कां. ७, सू. १०८ )  | १५३   | शत्रु और मणि                                 | १७०   |
| बुद्धका नियमन ( कां. ७, सू. १० )     | १५७   | प्रापित                                      | १७१   |
| यातुधान नाशन ( कां. १, सू. ७ )       | १५५   | पापी मरणम्                                   | १७१   |
| यातुधान नाशन                         | १५५   | पापसे बचनेकी प्रार्थना ( कां. ११, सू. ६ )    | १७१   |
| मणि कौन है ?                         | १५५   | पापसे बचनेकी प्रार्थना                       | १७२   |
| मानी उपदेशक                          | १५५   | इत सुकृताका विचार                            | १७२   |
| महू शत्रिय                           | १५५   | पृथ्वी स्थायीय देवता                         | १७३   |
| ईश कौन है ?                          | १५५   | अक्षरिस्वाधीय देवता                          | १७३   |
| भगवत्प्रेषका भेद                     | १५५   | सुत्वाधीय देवता                              | १७३   |
|                                      |       | पापी सत्त्वोंको दूर करना ( कां. ७, सू. ११५ ) | १७५   |
|                                      |       | पापसे बचना ( कां. ६, सू. ११५ )               | १७५   |
|                                      |       | निवार करनेके तीन प्रकार                      | १७७   |

| विषय                                       | पृष्ठ | विषय                                 | पृष्ठ |
|--|-------|--------------------------------------|-------|
| पाप नाशन ( कां. ४, सू. २३ )                | १७८   | दुःखमोचन और विजयप्राप्ति             |       |
| पापको दूर करना                             | १७८   | ( कां. १९, सू. १ )                   | १०७   |
| पापी विचारका त्याग करो ( कां. ६ सू. २६ )   | १७९   | दुःखमोचन और विजयप्राप्ति             | ११०   |
| पापी मन                                    | १७९   | विजयकी प्राप्ति                      | ११०   |
| पाप मोचन ( कां. ४, सू. २६ )                | १८०   | विजयके प्रकार                        | ११०   |
| पाप मोचन                                   | १८१   | आध्यात्मिक विजय                      | १११   |
| आत्मपुष्पी                                 | १८१   | इन्द्रियप्राप्ति                     | १११   |
| पाप मोचन ( कां. ४, सू. २६ )                | १८२   | आधिभौतिक विजय                        | १११   |
| पाप मोचन                                   | १८२   | स्वप्न                               | ११४   |
| पापसे मुक्ति                               | १८३   | विजय                                 | ११५   |
| पापकी निवृत्ति ( कां. ३, सू. ३१ )          | १८४   | अपने अभ्युदयके लिये प्रार्थना        |       |
| पापकी निवृत्ति                             | १८५   | ( कां. १७, सू. १ )                   | ११६   |
| पापनिवृत्तिसे तिरोगता और दीर्घायु          | १८६   | अपने अभ्युदयके लिये प्रार्थना        | ११६   |
| पाप और पुण्य                               | १८६   | कोकविद्य करना                        | ११६   |
| पापको दूर करना                             | १८७   | बीरके गुण                            | ११७   |
| देवोंका उदाहरण                             | १८८   | उपासकके गुण उपासकको                  | ११७   |
| अग्निका आराधना                             | १८८   | अभ्युदय                              | ११७   |
| धर्मका महत्त्व                             | १८८   | पराक्रम                              | ११७   |
| स्वानामागते भवात्                          | १८८   | यथा सीताय                            | ११७   |
| स्वभावसे शब्दात्                           | १८९   | य नम आना                             | ११७   |
| दान  | १८९   | आपका मार्ग                           | ११७   |
| अपनी गतिमें रहना                           | १८९   | आत्मा और संसार                       | ११७   |
| देवकी वाचन शक्ति                           | १८९   | भूत, अद्विष्ट, वर्तमान               | ११७   |
| सूर्यका बीज                                | १९०   | आराधनेज                              | ११७   |
| बीजपात्र प्राप्त करनेवाले                  | १९०   | अपनी शक्त                            | ११७   |
| बीजधरम                                     | १९०   | पराक्रमसे विजय ( कां. ८, सू. ८ )     | ११७   |
| पापसे दयाय ( कां. ७, सू. २४ )              | १९१   | पराक्रमसे विजय                       | ११७   |
| पापसे मुक्तता ( कां. ७, सू. २४ )           | १९१   | पुत्रकी गोति                         | ११७   |
| ज्ञानसे पापको दूर करना ( कां. ६, सू. ११३ ) | १९२   | इत्येवमुक्तं धृष्टा                  | ११७   |
| शापसे हानि ( कां. ६, सू. १७ )              | १९३   | विजय                                 | ११७   |
| शापसे हानि                                 | १९३   | विजयकी प्रार्थना ( कां. ७, सू. ११८ ) | ११७   |
| पापसे हानि                                 | १९३   | विजय सूक्त ( कां. १, सू. २ )         | ११७   |
| पाप मोचन ( कां. ४, सू. २७ )                | १९४   | विजय सूक्त                           | ११७   |
| पाप मोचन                                   | १९५   | संस्कृत विजय                         | ११७   |
| मनसे देवता                                 | १९५   | सिद्धि के गुण-धर्म-वर्ण              | ११७   |
| पाप मोचन ( कां. ४, सू. २८ )                | १९६   | आपकी गुण-धर्म-वर्ण                   | ११७   |
| मन और सर्व                                 | १९७   | पुत्रके गुण-धर्म-वर्ण                | ११७   |
| पाप मोचन ( कां. ४, सू. २९ )                | १९८   | एक शत्रुमत्त जलकार                   | ११७   |
| पाप मोचन                                   | १९९   | कुटुम्बका विजय                       | ११७   |
| मित्र और वरुण                              | १९९   | कुटुम्ब-संबन्ध                       | ११७   |
|  |       | कुटुम्बका आराधना                     | ११७   |
|  |       | बीजवि प्रयोग                         | ११७   |



| विषय   | पृष्ठ | विषय  | पृष्ठ |
|--|-------|---|-------|
| ईश्वरके गुण                                    | २९०   | निर्मयताके लिये प्रार्थना ( कां. ६, सू. ४० )  | ३०८   |
| हमारी रक्षा ( कां. ६, सू. ७९ )                 | २९१   | कल्याणप्राप्तिकी प्रार्थना ( कां. ६, सू. ४८ ) | ३०९   |
| ईश्वरके भक्त                                   | २९१   | कल्याणके लिये यत्न ( कां. ६, सू. ९९ )         | ३०९   |
| यत्न प्राप्त करना ( कां. ६, सू. १०१ )          | २९१   | कल्याणका मुख्य साधन                           | ३१०   |
| भार प्रकाशका यत्न                              | २९२   | अपनी पवित्रता ( कां. ६, सू. ६२ )              | ३१०   |
| अपनी शक्तिका विस्तार ( कां. ६, सू. ४१ )        | २९२   | उत्तम मार्गसे जाना ( कां. ६, सू. ५५ )         | ३११   |
| अपनी शक्तिका विस्तार                           | २९३   | अंतर्गता श्रुद्धता ( कां. ६, सू. ५१ )         | ३११   |
| अपनी शक्तिका                                   | २९३   | योगका महात्म्य                                | ३१३   |
| शक्ति  | २९३   | लोकका महात्म्य                                | ३१३   |
| आत्मबल ( कां. ५, सू. १६ )                      | २९४   | बोह न करना                                    | ३१३   |
| सत्यका विजय ( कां. ५, सू. १५ )                 | २९४   | पुष्टिकी प्रार्थना ( कां. ७, सू. ४८ )         | ३१३   |
| सत्यसे यत्न                                    | २९५   | सुखकी प्रार्थना ( कां. ७, सू. ५९ )            | ३१४   |
| यत्नसंबर्धन ( कां. ५, सू. ४ )                  | २९५   | उत्तम ज्ञान ( कां. ७, सू. ५९ )                | ३१५   |
| यत्नसंबर्धन                                    | २९७   | बंधनसे मुक्तता ( कां. ६, सू. १२१ )            | ३१५   |
| ज्ञानबल-संबर्धन ( कां. ५, सू. २२ )             | २९७   | बंधनसे मुक्ति ( कां. ७, सू. ७७ )              | ३१६   |
| ज्ञानबल-संबर्धन                                | २९९   | बंध-मुक्तता ( कां. ७, सू. ७८ )                | ३१७   |
| स्पर्धा  | २९९   | योग बंधन                                      | ३१८   |
| सत्यका यत्न ( कां. ५, सू. ३६ )                 | २९९   | क्रोधका शमन ( कां. ६, सू. ४३ )                | ३१८   |
| सत्यका यत्न                                    | ३०१   | भय  | ३१८   |
| सत्यका यत्न                                    | ३०१   | सिद्धिकी प्रार्थना ( कां. ७, सू. ४६ )         | ३१९   |
| बुद्ध समुप्य                                   | ३०१   | सुखसाधन रथ ( कां. ६, सू. १२५ )                | ३१९   |
| वैश्वानरकी बंधुता                              | ३०२   | हुंहुमि ( कां. ६, सू. १२६ )                   | ३२०   |
| सुधारके दो उपाय                                | ३०२   | हुंहुमिका घोष ( कां. ५, सू. २० )              | ३२१   |
| आत्मशुद्धिके लिये प्रार्थना ( कां. ६, सू. १९ ) | ३०३   | हुंहुमिका घोष ( कां. ५, सू. २१ )              | ३२४   |
| मैं उत्तम धर्मुगा ( कां. ६, सू. १५ )           | ३०३   | गणना  | ३२५   |
| मैं धैर्य धर्मुगा                              | ३०४   | राजाकी स्वयंता ( कां. ६, सू. ८७ )             | ३२६   |
| सत्यसे श्रेष्ठ हो ! ( कां. ६, सू. ८६ )         | ३०४   | राजाकी स्थिति                                 | ३२६   |
| सत्यसे श्रेष्ठ बनना                            | ३०५   | शूर धीर ( कां. ७, सू. ६२ )                    | ३२७   |
| यशस्वी होना ( कां. ६, सू. १९ )                 | ३०५   | धीर पुष्ट ( कां. ६, सू. ६ )                   | ३२७   |
| यशस्वी होना                                    | ३०६   | धीर पुष्ट                                     | ३२९   |
| हजारों सामर्थ्य                                | ३०६   | अन्यथाकी अपेक्षा                              | ३२९   |
| यशका स्वरूप                                    | ३०६   | आनुवंशिक संस्कार                              | ३२९   |
| प्रभुकी भक्ति                                  | ३०६   | अनुराग  | ३२९   |
| यशकी दृष्टि ( कां. ६, सू. ५८ )                 | ३०६   | निष्पत्तिका मार्ग                             | ३२९   |
| यशके लिये प्रार्थना ( कां. ६, सू. ९९ )         | ३०७   | विश्वकी तैयारी                                | ३३०   |



अथर्ववेद-

भाग-दूसरा

## मातृभूमि और स्वराज्यशासन

### भूमिका

#### मातृभूमि और सुयोग्य राज्यशासन

उत्तम राज्यशासनसे प्रजाका सुख बढ़ता है, वह राज्य समृद्ध होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर उत्तम राज्य-शासन कौनसा है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। आज इस पुस्तकमें अनेक प्रकारके राज्यशासन हैं। हममें साम्यवादी राज्यशासन है, तो अमेरिकामें प्रजातन्त्रीय राज्यशासन है। इसीप्रकार अन्यत्र देशोंमें भी विभिन्न राज्यशासन हैं।

प्राचीन समयमें भी विभिन्न राज्यशासनकी प्रणालियाँ थीं, राज्य, महाराज्य, साम्राज्य, स्वराज्य, सामन्तपर्यायी राज्य, ग्रीक्य, वैराज्य, आधिपत्यवाय राज्य, जाल-राज्य आदि अनेक तरहके राज्यशासन हमें देखीं और आधुनिक-युगमें देखनेको मिलते हैं। आज जिसप्रकार विभिन्न राज्य-शासन हैं उसीप्रकार वैदिककालमें भी थे। साहजिक-संयोगोंसे किस दिशामें किस तरहका राज्यशासन था, इस सबका वर्णन है। इनके धराशास्त्रात्मक हैं समूहमें पुस्तकी एक

राज्यकी कल्पना भी देखनेकी मिलती है। ऐतरेय-ब्राह्मणका वचन है—

समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्याः एकराट् ॥ ( ऐ. ब्रा. )  
“समुद्रपर्यन्त जितनी पृथ्वी है, उस सब पृथ्वीका राजा एक हो और राज्यशासन भी एक हो”। आज जिसप्रकार संयुक्त-राष्ट्र-संघ (यू. नो.) की कल्पना है, वैसी ही “पृथिव्याः एकराट्” की कल्पना है। अलग अलग राज्य हों और वे भी स्वतन्त्र हों, तो उनमें बराबर युद्धकी सम्भावना बनो रहती है। यह युद्ध होकर मानवताका संहार न हो, इस हेतुसे अधिपतिने “पृथिव्याः एकराट्” की कल्पना लोगोंके सामने रखी। आजका “संयुक्त राष्ट्र-संघ” भी उसी प्राचीनकालकी कल्पनाका आधुनिक रूप है। इसे अपने अदृश्यमें कितनी सफलता प्राप्त हुई यह और बात है। पर पुस्तकपर एक राज्य हो, उसका विधान एक हो, यह कल्पना आजकी ही है, प्राचीनकालमें यह कल्पना मगधव्याप्तिके अस्तित्वमें कभी आई ही नहीं थी, यह कहना सर्वथा असंगत है।

सबका लक्ष्य जानी सज्जन संतुर्ण मानवजातिका हित हो, मानवोंका धर्म संतुष्ट हो, इसलिये उसीतरह विचार करते हैं और उससे संयुक्त राज्यशासनकी कल्पना उद्भूत होती है। जैसी कल्पना इस समय उत्पन्न हुई है वैसी ही प्राचीन नेताओंमें भी उत्पन्न हुई थी, जो हम "पृथिव्या एकपाद" में देखते हैं।

"पृथिवीपर एक राज्यशासन हो" यह कल्पना आधुनिक-ग्रंथोंमें तो हम देखते हैं, पर इतिहासमें ऐसा शासन कभी बना भी था, ऐसा हमें देखनेमें नहीं आता। अतः हम इतना ही कह सकते हैं कि यह कल्पना प्रचिन्यों या उस समयके नेताओंके मस्तिष्कमें उत्पन्न हुई थी, पर यह कार्यकल्पमें परिणित नहीं हो पाई।

आज "संयुक्त-राष्ट्र-संघ" (यू. नो.) का अस्तित्व है तो जरूर, पर उसे संसारमें किसी तरहकी सकलता प्राप्त हुई यह कहना कठिन हो है। क्योंकि हर एक राष्ट्रका हर्षार्थ धीरे-धीरे जाता है और उससे मूल उद्देश्य नष्ट हो जाता है। मानव स्वभावही ऐसा है। वह भड़के भी बैठा था और आज भी बैठा ही है।

यहां हमें इतना ही बताना है कि, प्राचीन समयमें इस पृथिवीपर अनेक राज्य थे, जिनमें लड़ाई सगरे होती थी और उनमेंसे "पृथ्वीपर एक राज्य" की इस कल्पनाका भाविकभी हुआ; पर ऐसा संतुर्ण पृथ्वीपर एक राज्य कभी बना नहीं। मानवोंकी बौद्धिक उत्पत्ति राज्य, साम्राज्य और स्वराज्य तक हो गई। इसके आगे संतुर्ण पृथिवीपर एक राज्यशासनके होनेतक उन्नति नहीं हो पाई।

इस कारण हम केवल राज्य, साम्राज्य और स्वराज्यकी कल्पनाकी ही पृथिवीपर परिणित हुआ हुआ देखते हैं। स्वराज्यका अर्थ वैसीमें "यहुपाय्य स्वराज्य" है। एक राजाके अधिनियंत्रित-राज्यशासनको "राज्य" और लोक-नियंत्रित-राज्यशासनको "यहुपाय्य स्वराज्य" कहा जा सकता है। वेदोंमें ये सब प्रकारके शासन हैं, जिनमें "यहुपाय्य स्वराज्यशासन" की पहिला चिन्ता है।

### मातृभूमिपर प्रेम

किसी प्रकारका भी राज्यशासन हो, पर हर राज्यशासनमें जनतामें मातृभूमिके विषयमें प्रेम होता आवश्यक है। वेदोंमें मातृभूमिका सूक्त इस बुद्धिसे सज्जन करने योग्य है। किसी भी अन्य धर्मग्रंथमें मातृभूमिकी अधिकते विषयमें कुछ भी नहीं कहा है। केवल वेदोंमें ही यह सूक्त है और इतना

विस्तृत सूक्त है कि हर एक बिचारेको इसके विषयमें आधुनिक प्रतीत होता।

वेदके मानवधर्मकी पूर्णता इससे स्पष्ट होती है। मानवके जीवन व्यवहारमें जितने पहलू हैं, जिनमें सब पक्षोंमें उत्तम उपदेश देकर देता है। इस पुस्तकमें पाठक मातृभूमि और राज्यशासनके विषयमें साथ संबंध रखनेवाले सब विषय देख सकते हैं।

प्रथम भागमें जैसे "ब्रह्मविद्या" के सूक्त रिये हैं, वही तरह इस द्वितीय भागमें "मातृभूमि और राज्यशासन" विषयके साथ संबंध रखनेवाले सब सूक्त रिये हैं—

१ "मातृभूमि"—माता भूमि, विपद्, राष्ट्रविपद्, राष्ट्रसमाजी राजाके सिधे अनुमति।

२ "राजा"—राजाका कर्तव्य, राजाकी स्थिरता, राष्ट्रके ऐश्वर्यकी बुद्धि, राजाका राज्यनियंत्रण, राजाके बलबलबले, राजाका धनधन, विजयी राजा, राजाकी राज्यपर पुनः स्थापना।

३ "राजाका धर्म"—राजाका धर्म, राजाका धर्म, राजाकी धर्म और राजा, राष्ट्रका संवर्धन तथा संरक्षण करना।

४ "दुष्टोंका नाश"—दुष्टनाश, दुष्टधन, दुष्टोंका नाश, सेना संयोजन, धनधन, दुष्टविधोषन, विजय प्राप्ति।

५ "विजयकी प्राप्ति"—अन्धधर्मकी प्राप्ति, परा-कर्मके विजय, विजयकी प्राप्ति, कर्म और विजय, धर्म-प्राप्ति, साध और धर्मकी ओजसविता, सेनाविता से लम्बुरन, सेनाविताकी प्राप्ति, अन्धधर्मकी विनाश।

६ "संरक्षण"—सुरक्षा, धनप्राप्ति, आत्मशुद्धि, उत्तम और श्रेष्ठ धर्म, धर्मकी होना, विरक्ति, कल्याण, धर्मिता, शुद्धता, उत्तम धर्मके माना।

७ "आनन्द"—शुद्धि, सुख, शाव, धर्मनते सुख, धर्मका समन, सिद्धि।

८ "सुख-साधन"—धर्मके साधन, रप, शुद्धि, राजाकी स्थिरता, धर्मिक।

इतने धर्मिकके अनन्तत करीब ११२ सूक्त और एक हजार संज्ञ इस प्रकारमें हैं। इन संज्ञोंके विचार करनेसे वेदके राज्यशासन-प्रकारका पूर्ण रीतिसे ज्ञान हो सकता है। उदाहरणके लिये कुछ संज्ञ यहां बताते हैं—

## मातृभूमिके धारक-गुण

मातृभूमिका धारण किए गुणोंसे होता है, इस विषयमें मातृभूमिके दूतके प्रथम संश्लेष इस तरह कहा है—

सत्यं पुद्गलं प्रतं उग्रं वीर्यं  
तपो ब्रह्म यशः पृथिवीं धारयन्ति ॥ ( अथर्व. १२।१।१ )

" सत्य, सत्त्वता, उग्रता, ब्रह्मता, परमविद्यमके धारण करनेके समान होनेवाले कर्तव्योंको सहन करना, शान और प्रताप ये गुण मातृभूमिका रखन करते हैं । मातृभूमिकी स्वतन्त्र रखनेके लिये प्रजाशर्मायें इन गुणोंका होना आवश्यक है । जहाँकि प्रजासद इन गुणोंसे अपन्न होंगे, वहाँ मातृभूमि स्वतन्त्र, तेजस्विनी उज्ज्वल तथा कीर्तिमयी हो सकती है । यह मातृभूमि पराक्रमी पुरुषोंकी " जवनी " है—

यस्यां पूर्वं पूर्वजना विचकिरे  
यस्यां देवा अक्षुण्णमभ्यवर्तयन् ॥ ( अथर्व. १२।१।५ )

" जित मातृभूमिमें प्राचीन पूर्वज यद्ये बड़े पराक्रम करते रहे, और जित मातृभूमिमें देवोंने अमुरोंको दूर किया था । " इस इतिहासी यज्ञ यह संश्लेषमें किया गया है । इससे प्राचीन इतिहासका स्मरण होता है और इससे मातृभूमिके विषयमें श्रेय बढ़ता है और ऐसा भाव मनमें उत्पन्न होता है कि अपनी मातृभूमिके विषयमें हमें भी कुछ करना चाहिये, जो हमारे प्राचीन पूर्वजोंके अनुसार हो ।

भजीतोऽह्यतो मर्षयतां पृथिवीमहम् ॥

( अथर्व. १२।१।११ )

" भलेय होकर, युद्धमें म मरकर, वन आदि रहित होकर मैं अपनी मातृभूमि पर मर्षय होकर विरामू । " इस तरह अपनी मातृभूमिमें क्षम्य होकर अण्डाकार्य कर्म । ऐसे विचार मनुष्य मनमें धारण करे ।

स्यज्जाताः त्वयि न्यरन्ति मर्त्याः

सोमे पृथिवि पञ्च मानवाः ॥ ( अथर्व. १२।१।१५ )

" हे मातृभूमि । हम सब पाँचों मानव तुमसे उत्पन्न हुए और तेरे ही अन्नरक्षण करते हैं । " इस मंत्रसे पञ्चजन्यकी मण्डनकी उज्ज्वलताका हृदित होती है । तथा—

यो नो देवस्य पृथिवि यः पुत्रन्वात् योऽपिदा-  
सात् मनसा यो यधेन । तं नो भूधे रंध्य ॥

( अथर्व. १२।१।१४ )

" हे पृथिवि । जो हमसे देव करता है, जो सैन्य भेजकर

हमसे युद्ध करता है, जो हमसे हमें शान्त मनानेका इच्छुक है, उन सबका नाम कर । "

## श्रवियोंका स्मरण

पूर्व समयमें अपनी मातृभूमिमें उत्पन्न हुए हुए स्थितानी श्रवियोंका स्मरण भी इस प्रकारमें किया है—

यस्यां पूर्वं भूतकृत श्रवयो गा उद्यान्धुः ।

( अथर्व. १२।१।२९ )

" जित मातृभूमिमें पूर्व समयमें भूतकालका इतिहास अजानेवाले बड़े श्रवि हुए थे । " इस तरह प्राचीन कालके श्रवियोंके विषयमें उत्तम प्रकारसे स्मरण किया है ।

## मातृभूमिके विषयमें उत्तमभाषण

अपनी मातृभूमिके विषयमें सदा उत्तम भाषण ही करना चाहिये, इस विषयमें कहा है—

ये भ्राता यदरुण्यं याः सभा अधि भूयाम् ।

ये संप्राप्ता समितयस्तेषु चारु पदेन ते ॥

( अथर्व. १२।१।५६ )

" जो धाम, अरण्य, सभा, संपात और समिति हैं, उनमें हम तुम्हारे विषयमें अच्छा ही योग्य । "

दीर्घे सा आयुः प्रतिशुश्रूयमाता

तये भुज्ये वलिद्वयः स्वास ॥ ( अथर्व. १२।१।६२ )

" एवं दीर्घ आयु प्राप्त हो, हम उत्तम जानी मैं और मातृभूमिके लिये अपनी कीर्ति है । "

इस तरह अपनी मातृभूमिके विषयमें रितने उच्च विचार केवलमें बताये हैं, पाठक इनका विचार करें और अपनी मातृभूमिके विषयमें ये ही विचार सदा मनमें धारण करें, तथा मातृभूमिकी सेवा करके इतद्वय होकर अपने जीवनकी सार्थक करें ।

वैदिककालमें जनेक शास्त्र - पद्धतियाँ प्रचलित थीं । उनमें प्रथम " वि-राट् " पद्धति का शास्त्र सामने आता है । का विषयमें वेद यह कहता है ।

## वैराज्यकी व्यवस्था

विराट् पर इदम् अन्न आसीत् तस्या जातायाः  
सर्वे अधिमेद् इयमेवेदे माधिप्यन्ति इति ।

( अथर्व. ८।२।१ )

" विराट् ही प्रथम था । उससे पहले भी भन हुआ कि यदि

सदा यही विराट् रहेगा तो कौन शासन चलेगा? इस विराट्का क्या अर्थ है और उससे प्रजापते भयभीत क्यों हुई, इसका समाधान निम्न है—

“ विराट् । वि-राट् ) ” का अर्थ “ राजा नहीं ” । राजाको बिरोधी अवस्था, राजाहीन स्थिति । प्रारम्भमें राजा नहीं था । लोग ही अपना सब कारोबार करते थे । ग्रामही जनता मिलकर अपने-आपको सब व्यवस्था करती थी । सब प्रायः ऐसे ही जनशासित थे । राजशक्ति नहीं थी, जो नरका शासन कर सके । यह राजबिहीन अवस्था बेशक राजजनोंको भय होने लगा, कि ऐसी ही राज्यहीन स्थिति रहेगी, तो जनताको उससे किस तरह हो सकेगा । यह भय राजजनोंके समक्ष उपपन्न हुआ और यह भय शायद भो था । सोचो सोचो अन्तमें तो शासक स्वस्थित करनेका विचार निरपगत किया, जिससे—

सा उदकामत् सा सभायां न्यक्रामत्  
सा उदकामत् सा समितौ न्यक्रामत्  
सा उदकामत् साऽमन्त्रणे न्यक्रामत् ।

( अथर्व. ८।१०।८-१२ )

“ यह जनशक्ति उत्पन्न होकर-ग्रामसभामें परिणित हुई । यह जनशक्ति और अधिक व्याप्त होकर राष्ट्रसमितिमें परिणित हुई, अन्तमें वह जनशक्ति आधिक्य उत्पन्न हुई और मन्त्रिमण्डलमें परिणित हो गई । ”

इस तरह ग्राममें ग्रामसभा, राष्ट्रमें राष्ट्रसमिति और मन्त्रिमण्डल स्थापित हुए और राज्यशासन चलने लगा और इन सभा समितियोंका जो अन्त्य था, उसीको राजा समर्थक मान अन्तमें प्राप्त हुआ । इस तरह “ विराट् ” अवस्थासे “ राजा ” के शासन होनेका प्रजाशक्तिके उत्पत्तिके फल यह था । इसीका नाम “ राष्ट्री ” रचित है । यह राष्ट्रकी जनशक्ति है यह राजामें केन्द्रित रहती है । इस स्थितिमें कहा है—

राष्ट्री देवी

बह्वं राष्ट्री संगमनी यक्ष्नां  
चित्ररुपी प्रथमा यक्षियानाम् ॥ १ ॥  
यं पापये तं तं उग्रं कृणोमि,  
तं प्रलापं तं क्रुपि तं सुमेधाम् ॥ २ ॥  
अमन्त्रयो मां त उपक्षिपयितु  
शुचि धृत धजेयं ते यदामि ॥ ४ ॥  
महं सुये पितरमस्य मूर्ध्नि ॥ ५ ॥ ( अथर्व. ३।१० )

“ मैं राष्ट्रशक्ति हूँ । मैं धर्मको एकत्रित करनेवाली हूँ । मैं पुनर्जीवोंमें पुनर्जीव हूँ । जिसको चाहती हूँ उसको मैं उग्र-भोर बना देती हूँ, उसको बहमा और उत्तम बुद्धिमत् शक्ति बनाती हूँ । मेरा अपमान करनेवाले राजाको प्राप्त होते हैं, वे बड़ावान् मनुष्य । तुम्हें यह सुन तो मैं स्वयं कहूँगी हूँ । मैं ही इस राष्ट्रपर शासन-कर्ताको नियुक्त करती हूँ । ”

यह राष्ट्रशक्तिका कथन है । राष्ट्रशक्ति कोई मनुष्य नहीं, जो मनुष्यके समान मोल सकती हो । पर यहाँ भारत-कारिक रीतिसे राष्ट्रशक्तिको मनुष्यके रूपमें धोखा हुआ दिखाया गया है, जो मनुष्योंको धोखेपर हो सकता है । राष्ट्रको शक्ति और शक्तिशाली के रूपमें होते हैं । अन्तमें जो राष्ट्र शक्ति और शक्ति हैं, वे ही विशेष रूपमें करते हुए नजर आते हैं । इसका कारण स्पष्ट है । अतः । यह धर्म शक्तिका प्रकाश ऐसा महान् है ।

राष्ट्रसभाकी अनुमति

राष्ट्रशक्तिका कार्य है राष्ट्रकी जनताकी संघर्षित । यह राष्ट्रकी सभामें एकत्रित हुई होती है । राष्ट्रके ज्ञान-विज्ञान-संघर्ष होने पर यह शक्ति प्रभावित होती है, अन्तमें वह शक्ति प्रभावित नहीं होती । इन राष्ट्रसभाओंका प्रभाव नित्यता बना होता है, वह वैधिये—

रामा च मा समितिष्यायतां

प्रजापतेर्विहृतिरौ संविदामे । ( अथर्व. ७।१२।१ )

राजा कहता है— “ सभा और राष्ट्रकी समिति मिलकर मेरा संरक्षण करें, वे राजाकी शक्तिके बचाव करती हैं, इस लिए वे राजाकी शक्ति हैं, अर्थात् राजाकी शक्तिके वे वरूकर शक्तिशाली राज्यव्यवहार करती हैं । अतः राजाका भी वे रक्षण करती हैं । ” राष्ट्रसमिति और ग्रामसभा इनका सामर्थ्य इतना है कि इनको अनुकूलता सम्पादन करके ही राजा राजपथ पर स्थिर रह सकता है, अन्यथा नहीं । इसी शक्ति राजसभाओंकी वैदिक समयमें थी ।

राजा कैसा हो

राष्ट्रका संरक्षण करनेके लिये कोई अच्छा शासक राजा नहीं पर होना चाहिये । उस शासकमें गुण हो होने चाहिये—  
इन्द्रः सुग्रामा स्वयां अयोमिः  
सुसृष्टीको मयतु विम्बपेदाः ।  
वायतो द्वेपो अमयं ना कृणोतु  
सुवीर्यस्य पतयः स्वाम् ॥ ( अथर्व. ७।१२।१ )  
“ राजा ( सु-ग्रामा ) प्रजाका उत्तम संरक्षण करनेवाला

हो, (स्वर्वा) अपनी शक्ति का प्रयोग करना हो, (अयोध्या) संरक्षण शक्तियों से युक्त हो। (सुमृडीका) प्रजाको उत्तम सुख देनेवाला हो, (विश्वयेदाः) सब वनों और शान्तियों युक्त हो। यह शत्रुओं को बाधा पहुँचावे और हमारे लिए निर्विघ्नता करे। हम उत्तम पराक्रम के अपना पनके स्थायी बनकर रहें। "

ये राजा के गुण हैं। राजा ऐसा हो। राजाजी सुखवत्सा ऐसी हो कि प्रजा उसपर निर्भर होकर सुखी और पतौयने। विश्वा अमीबाः प्रमुञ्चन् मानुषीभ्यः शिवाभिः यद्यपि पादि नो गयम्। (अथर्व ७।८।३१)

" सब रोगोंको दूर कर, मानुषोंके कल्याण करनेके समर्थने हमारे पक्षी सुरक्षा हो। "

राज्यकी सुखवत्साते प्रजा रोगमुक्त होनी चाहिये और सर्वत्र सुरक्षितता रहनी चाहिये। उसका लक्षण यह है—

अपानुदो जने अभिप्रयन्तम्। (अथर्व ७।८।३२)

" समुदा करनेवाले लोगोंको दूर करे। " समाजमें शत्रु न रहें इसप्रकार सुरक्षाका प्रकथ राजाको करना चाहिये, तथा—

भूयोऽच्युतः प्र कृणीहि शत्रून्

शत्रुयतोऽध्वरान् पादपस्य ।

सर्वा दिशः संमनसः सधीवी

धुपाय ते समितिः कल्पतामिह । (अथर्व ६।८।३३)

" राजा अपने सर्वशत्रुपर विजय रहे, सर्वशत्रु न हो, शत्रुओंका नाश करे, शत्रुता करनेवालोंको नीचे गिरा देवे। सब दिशाओंमें रहनेवाले लोग एक उत्तम विचारके हों। राजाकी विजयके लिये राष्ट्रसमिति स्थापित हो। "

राजाकी विजयता राष्ट्रसत्ताकी अनुकूलतासे ही होती है, यह महर्षि तात्पर्य है।

### राजाके निर्माता

प्रजापति ही राजाके निर्माता हैं। प्रान्तके लोग ग्रामसभाके सदस्य चुनते हैं, राष्ट्रके लोग राष्ट्रसमितिके सदस्य चुनकर बैठते हैं और ये सदस्य अपनेमेंसे सभिमुख बनते हैं और यह सभिमुख एक धुरीरकी नियुक्त करने उसे राजपदी पर बिठाता है।

ये राजानो राजकृतः सृताः ग्रामव्यथा ये ।

उपस्तान् पर्ण मह्यं त्वं

सर्वान् कृणु भमितो जनान् ॥ (अथर्व ३।१।७)

" जो शासक हैं, जो राजाको बनानेवाले लोग हैं, जो भूत और ग्रामके नेता हैं, इन सबको राजाके अनुकूल रचना चाहिए। "

इसके अनुकूल रहने पर ही राजा यहीवर सुरक्षित रह सकता है। राजाजी शक्ति प्रजाजनोकी अनुकूलता पर ही अवलम्बित रहनी है। इसी विषयमें और देखिये—

त्वां विशो कृणतां राज्याय

त्वां इमाः प्रदिशः पञ्च देवाः ।

वर्षन् राष्ट्रस्य ककुद्दि धयस्य

सतो न उग्रो वि भजा वसुभिः ॥ (अथर्व ३।१।२)

" हे राजा । ये चारों दिशाओंमें रहनेवाले जो पञ्चजन हैं, वे सब राज्यके शासनाधिकारके लिये तुझे चुनें। बलवान् बनकर तू राज्यके उच्च स्थान पर विराजमान हो और शक्ति हमें धन निश्चित करके दे। " एवं शेष रीतिले प्रन प्राप्त हो ऐसी सुखवत्सा कर। तथा और देखिये—

स्वस्तिरा दिशां पतिर्गृह्णा विमृषो यदी ॥ १ ॥

वि न इन्द्र मृषो जहि सीमा यच्छा पृतन्यतः ॥ २ ॥

(अथर्व ३।१।३)

" प्रजाका पालक राजा प्रजाजनोका कल्याण करनेवाला हो, यह शत्रुका वध करे, ताकि वे शत्रु स्वतन्त्र न रहे और वे कभी उत्पन्न न हों। ईश्वर हन पर जो धाराई करते हैं उनको नीचे गिरा दे। ह्वारे शत्रुओंको राजा परास्त करे। "

### राजाका कर

राजसत्ता के लिये भ्रम होता है। यह भ्रम प्रजा अपनी आपदायित्व देती है। इसको 'कर' कहते हैं। इस विषयमें कहा है—

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य

पोदशं यमस्यामी सभासदः ।

अधिः तस्मात् प्र मुञ्चति

दत्तः शितिपात् स्वया ॥ (अथर्व ३।२।११)

" राजा प्रजासे उनके कामकी शोचनीय भाग कर के रूपमें लेते हैं। नियामक राजाके राष्ट्रसभाके जो सदस्य हैं, वे इस करका अनुमोदन करते हैं। यह (अधिः) परसक कर है, यह प्रजाको विनाशसे बचाता है। "

यहाँ आमदनीका शोचनीय भाग कर रूपमें लेनेका विधान है। स्मृतिधर्ममें प्रजाकी व्यवहारीका छठा भाग लेनेका विधान है। वेदके समयमें १६ वें भागसे राजाका कार्य धनता पा, पर स्मृतिधर्मके समयमें उही कार्यको करनेके लिये छठे भागकी

आवश्यकता हुई। अर्थात् किसीकी प्राप्ति १००] व हुई तो वैदिक समयमें ६] व करके हथके लेते थे। और स्मृतियोंके समयें १६] व, [॥ तने। आज पनिहोति तौमें ८०] या ९०] व, तक सेनेकी आवश्यकता इस समयके राज्यशासकोंकी प्रतीत होती है। समयका यह परिवर्तन है।

### दुष्टोंका नाश

‘ग्रहादिपे ऋष्यादे घोरचक्षसे

द्वेषो धत्तमनघायं किमोदिभे ॥ (अथर्व ८७१२)

“जो जानते द्वेष करता है, जो कष्टका मांस खाता है, जिसकी बुद्धिमें कूरता है, जो यह क्या है? यह क्या है? कहकर सब खा जाता है ऐसे क्रूरकर्मा लोगोंके साथ द्वेष करो।” ये लोग समाजमें उपद्रव पैदा करनेवाले हैं। तथा—

उत्कृष्ठातुं शुशुतृरुपातुं

जाहि श्वयातुमुत फोक्पातुम्।

सुपर्णपातुमुत शृगयातुं ह्यदेय प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥

(अथर्व ८७१२२)

“उत्कृष्टके समाज की असाती हूँ, शेरियोंके समाज को छोधी हूँ, कुत्तोंके समाज को आपसमें झगड़ती हूँ, चिड़ियोंके समाज को अतिकारी हूँ, पक्षियोंके समाज की धमकी हूँ, मीथोंके समाज की लोभो हूँ, उन सबका नाश कर और हमें सुरक्षित रख।” ये छे अनौशिकार है, शिर्षा काश, भोज, लोभ मोह, मर और मत्सर कहते हैं। मनुष्योंकी इन विकारोंसे दूर रहना चाहिये। समाजमें भी ऐसे लोग कम होने चाहिये। राजाके नियंत्रणसे [॥] किया जा सकता है। राजदण्डके अन्तर्गत यह नियंत्रण राज्यमें रखा जा सकता है। इन छे दुर्बुद्धि की दूर रहते हैं, ये ही सज्जन हैं। समाज वही अच्छा है जिसमें ये छे प्रकारके दुर्बुद्धि सरप्राय कम हों और सद्गुणों सत्त्वार्थ अधिक हों।

### घसटदण्ड

राज्यशासन दृष्टिको घसटदण्ड से सकता है। इस विषयमें ये मन्त्रमात्र देखने की व्यर्थ हैं—

अग्निः हतं स्योपतं। अशंसं तदहं यद्यं वर्तयतम्।

तुहः भगुपपतः रदासः हतम्।

पिनुनेभ्यो यद्यं शिरीते।

(अथर्व ८७४)

“भोयी, पापी, श्रेही, चिन्ताकर, चुपची करनेवाले, राजसी वृत्तिवाले, इनको घसट देना चाहिये। तथा—

ये नः स्वो यो वरणः सजात  
उत निष्ठा यो अस्मां अभिदासति।

रुद्रः शरव्यैयतान् ममामिषान् वि विष्यतु ॥ १ ॥

यः सधत्नो योऽसधत्नो यद्य द्विपन् छपाति नः।

देवाः तं सर्वे धूर्वन्तु ग्रह्य यमं ममान्तरम् ॥ ४ ॥

(अथर्व ११११)

“जो अपना स्वजातीय है, जो परकीय या हीन है, जो नीच है, जो हमें यश बनाता है जो हमारा सौतेला है और सदा भाई है जो हमें श्राप देता है और सदा हमसे द्वेष करता है, सब देव उनका नाश करें। सत्यता सेरा कष्ट हो।”

इस तरह शत्रुके नाश करनेके विषयमें वरुण कहा है। शत्रुओंके नष्ट हो जाने पर ही राज्य सुखी हो सकता है, निर्भय हो सकता है और उन्नतिके मार्ग करनेमें दृढचित रह सकता है।

### शत्रुसेनाका समोहन

शत्रुकी सेनाको समोहित करके उसका नाश करना वैदिक युद्धनीतिके अनुसार योग्य है। देखिये—

स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्ताथ पृणवत् ॥१॥

इन्द्रः सेनां मोहयामिश्याम ॥ ५ ॥

इन्द्रः सेनां मोहयतु मदतो इन्तु ओजसा।

चक्षुष्यशिरा दत्तां युमरेतु परानिता ॥ ६ ॥

(अथर्व १११२)

“यह शत्रुकी सेनाको मोहित करे, शत्रुकी सेनाको हस्त-रहित करे, और शत्रुसेनाको मोहित करे और तैलिक उनका नष्ट करे। उनकी आँखें मलिन बिगारे और आँखें सदा शत्रुसेना पराकृत हो जायें” और अपनी विजय हो। और देखिये—

अक्षी या सेना मरुतः परेषां

अस्मान्निष्ठभ्योऽज्ञा स्वर्णमाना।

तां विष्यत समसापमतेन

यथेषां मरुतो अन्यं न जानात् ॥ (अथर्व १११६)

“यह शत्रुकी सेना स्वर्णकारी हुई हमारे ऊपर जा रही है, उस सेनाको समसापमते से बोधो, जिससे कि एक तैलिक दूसरे तैलिकको न पहचान सके, ऐसी पराहाट उनमें पैदा हो। ताकि उनके नष्ट हो जानेपर अपनी विजय हो। यह युद्धकी नीति है।

### पापीमादनाको दूर करो

राष्ट्रमें अथवा व्यक्तिमें जो भी दोष होते हैं वे पाप-जाबनासे ही होते हैं। इसलिये राज्यशासन द्वारा ऐसा सर्व

होना चाहिये कि जिससे राष्ट्रमें पानीपावना न्यून होती काम और पुनर्भावना अधिकाधिक बढ़े। इससे राष्ट्रकी उन्नति अवश्य होगी। इसलिये बेदमें पापभावको दूर करनेके लिये अनेक आदेश दिये हैं जो राष्ट्रहितके पोषक हैं, देखिये—

यद् विद्वांसो यद्विद्वांस वनासि चरमा वयम् ।

यूय नस्तस्यान्मुञ्चत विश्वे देवा सजोपसः ॥१॥

यदि जाग्रत यदि स्वपथेन एनस्योऽकरम् ।

भूत मा तस्माद् भग्ध च व्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥२॥

( अथर्व १।१।१५ )

“ जागते ॥ सपथा न जानते ॥ हमने जो पार किया है : हे देवो ! उन पापोंसे तुम मिलकर हमें मुक्त करो । यदि जागते हुए सपथा सोते ॥ मैं पार करूँ तो उस पाप प्रकृतिसे मुझे उत्तीर्णकर मुक्त करो। भिक्षाप्रकार वस्तुकी वधवन्तः ।

अभ्युदयके लिये

अभ्युदयके लिये देवके आदेश बड़े अच्छे हैं। वेद कहता है कि मानवोंकी अभ्युदय अवश्य प्राप्त करना चाहिये। इस समयमें वह सब काम करने योग्य है—

विषासर्द्धि सहमान सासहान सहोवाधम् ।

सहमान सहोजित स्वर्जित भोजिते सधनाजितम्

ईत्य नाम ह इन्द्रमायुष्मान् भूयासम् ।

( अथर्व १।१।११ )

“ अत्यंत सामर्थ्यवान्, अत्यंत बलवान्, शक्ति विजयी, शत्रुकी हडानेवाले, बहादुरिष्ठ, यत्ने विविधजय करनेवाले, अपने निज सामर्थ्यसे शत्रुकी जीतनेवाले, गौरवकी प्राप्ति करने वाले वनकी जीतकर प्राप्ति करनेवाले, प्रशस्तीय वनवाले शत्रुकी से प्राप्ति करता है जिससे मैं आयुष्मान् होऊँ । ”

यह शत्रुकी प्राप्ति है, इन्द्रकी श्रापणा है। इसमें इन्द्रके ऊर्ध्वी श्रुतीकी कहा है कि जो विजय और अभ्युदयके साथ साथ रहनेवाले हैं। इस श्रुतीका सतत विचार करनेसे अभ्युदय का हम सुखसे प्राप्त कर सकते हैं और अभ्युदय प्राप्त कर सकते हैं। इस श्रापणमें जो कुछ कहें, वे कुछ सामर्थ्यकी अपने शरीर पररूप करने और ध्याने चाहिये। ऐसा करनेसे क्या होता है वह इसी श्रुतिमें कहा है, देखिये—

मियो देधाना भूयासम् ॥ २ ॥

मिय प्रजाना भूयासम् ॥ ३ ॥

मिय समानाना भूयासम् ॥ ५ ॥ ( अथर्व १।१।१ )

“ मैं देवोंका शिव बनूँ, मैं प्रजाओंको प्रिय होऊँ और मेरे समान जो लोग हैं उनका भी मैं प्रिय बनूँ । ” यही अभ्युदयका स्वरूप है। सब लोगोंके आदर जिसके विषयमें प्रेम हो यही अभ्युदयको प्राप्त हुआ हुआ अभ्युदय है।

अभ्युदय विजय चाहता है अतः एव उसकी पराक्रम करना चाहिये। पराक्रमके बिना विजय असम्भव है। अतः कहा है—

पराक्रमसे विजय

“ बृहद्भि जाल बृहत् शक्तस्य घातिनीवतः ।

तेन शत्रून्भि सर्वान् न्युञ्ज

यथा न मुच्यते कतमथनैवाम् ॥ ६ ॥

बृहत् से जाल बृहत् इन्द्र शूर सहस्रापस्य शतधीर्य ।

तेन शत सहस्रामयुत स्युर्द जघान

शत्रो दस्यूना भिक्षाद्य सेवया ॥ ७ ॥

( अथर्व ८।८ )

“ तेनाके साथ रहनेवाले महान् इन्द्रका जाल की महान् ही है। हे इन्द्र ! उससे शत्रुओंको सब ओरसे अपने आधीन कर, जिससे इनमेंसे एक भी न छूट सके। हे शूर इन्द्र ! यहसे शत्रु संपूर्णित और संकषी सामर्थ्यवाले तैरा जात प्रजा है। उस आद्यसे घेर कर अपनी सेना द्वारा इन्द्र शत्रुओंके शत्रुओं, हजारों और लाखों तथा करोड़ों वैनिकोंको मारता है । ”

यह है इन्द्रका पराक्रम। ऐसे पराक्रम करनेसे इन्द्र विजयी होता है। इससे सिद्ध होता है कि यदि हम भी वंशा पराक्रम करें, तो हमारी विजय हो सकती है। पराक्रम ही विजयका मूल है। अतः अभ्युदय पराक्रम करनेकी भिक्षाया धारण करें और विजयी हों।

समाग्रे यच्चो विह्वयेष्यन्तु यय त्वे-धानास्तन्य पुपेम् ।

अथ भगन्ता प्रविशत्यतः

स्वयाध्यक्षेण घृतना जयेम ॥ ( अथर्व ५।१।१ )

“ घृद्धों मेरा तेज प्रकाशित होता रहे। हम तुम प्रवीण करके अपने शरीरको बुद्ध करें। चारों दिशाएँ मेरे समुद्र चर होकर रहें। तुम अध्यक्षके साथ रहकर हम सत्राओंमें विजय प्राप्त करें । ”

योरका तेज हरएक कार्यमें प्रकाशित हो, शरीर हृष्टबुद्ध और बलवान् हो, जिससे शरीर सपन्न हो। चारों दिशाओंमें वह चोर पराक्रम करे और चारों दिशाओंमें रहनेवाले लोग इस चोरके सामने अपना तिर मुकने ऐसा इतना प्रभाव हो। हरएक युद्धमें इसको विजय होती रहे। और देखिये—



कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।

गोजित् भूयासं अभ्यजित् धनंजयो द्विरप्यजित् ॥

( अथर्व. ७।५।१८ )

“ पुरुषार्थ में मेरे दाहिने हाथमें है और मेरे बायें हाथमें जय है । मैं गोजों और घोड़ोंको जेतनेवाला, सुवर्ण तथा धनका विजय करनेवाला हूँक । ”

इस गद्यमें जो शासनविचार प्रकट हैं, यह प्रायः मनुष्य राजा मनमें धारण करे । “ मेरे एक हाथमें पुरुषार्थ है और दूसरे हाथमें विजय है । ” यह विचार सदा मनमें रहे । शासनविचारका यह विचार है जो जनको जस्ताहित करता है और कार्यकर्ताको विजयो यज्ञको ओर ले जाता है । इस विचारको मनमें स्थिर करनेके लिये शास्त्रकार है कि हमारा ज्ञान और कर्मको सुलभता विद्याल हो, इस विचारको मनमें स्थायी रखनेके लिये मनुष्य अपनी भरपूर तैयारी करे और कहे कि मेरे एक हाथमें पुरुषार्थ है और दूसरे हाथमें विजय है ।

### ज्ञान और शौर्य

यदि विजय प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो ज्ञान और शौर्य ये दो गुण जरूर चाहिये । इस विषयमें कहा है—

संशितं म इदं ब्राम संशितं धीर्यं यत्नम् ।

संशितं क्षयं अजरं जस्तु

जिष्णुर्येषामसि पुरोहितः ॥ १ ॥

समहमेपां राष्ट्रं स्वामिं समोजो धीर्यं यत्नम् ।

बुध्नामि शत्रूणां पाहूननेन क्षिपिहम् ॥ २ ॥

मीधैः पथन्तां अधरे भवन्तु

ये नः स्मरि मघयानं पृतग्यात् ।

क्षिणांमि ग्रक्षणांमिशानुप्रयामि स्वाजहम् ॥ ३ ॥

( अथर्व. ३।१९ )

“ मेरा यह ज्ञान तेजस्वी है, मेरा यह धैर्य और बल तेजस्वी है । मेरा तेजावी बना हुआ साधन कभी क्षीन न हो, जिनका मैं विजयी पुरोहित हूँ उनको विजय हो । मैं इनका राष्ट्र तेजस्वी बनाता हूँ, मैं इन प्रजापतियोंका बल, धैर्य और भीम तेजस्वी बनाता हूँ । मैं शत्रुओंको बाधना करता हूँ । हमारे शत्रु कोषे विरत, हमारे शत्रु अवनत हो जायें । जो हमारे पनवानों और विद्वानोंपर चढ़ाई करके उनको काट देते हैं उन शत्रुओंका मैं मारा करता हूँ । मैं भागी शत्रुओंका नाश करता हूँ और अपने लोगोंको उत्तम

राष्ट्रहितोंको मनुष्योंको ऐसे विचार मनमें धारण करने चाहिये । उन्हें अपने लोगोंका उद्धार करने और शत्रुओंको नीचे गिरानेका यत्न करना चाहिये । अपने राष्ट्रके सोप उठे और शत्रुके सैनिक विनष्ट हो जायें । ऐसा यत्न करना चाहिये कि जिससे शत्रु बड़ न सके, शत्रुकी शक्ति तथा योग होती रहे । अपनी हर प्रकारकी शक्ति बड़े और शत्रुकी शक्ति क्षीण हो । चोरका जो चतुर्धर्ष है उसका उपयोग । प्रकाशकी भावोजनकोंके लिये होना चाहिये ।

राष्ट्रको प्रतिष्ठा ऐसे प्रकारके कार्योंसे बढ़ती है । राष्ट्र अपनी शक्तिये बढ़ता है । जनताकी उत्पत्तिपर राष्ट्रको उत्पत्ति व्यवस्थित रहती है । इसलिये वेदकी श्राद्ध-धोना इस बातकी धृतिना साक्षात् या परंपरासे बारबार होती है ।

### उत्तम राजाका स्वरूप

राज्यशासन भी करता है यह राजा होता है, यह उत्पत्तिको प्राप्त होकर किस मर्यादाकप्रतिष्ठित होता है, उसका विचार नीचे विषे यथोक्त किया है—

इममिन्द्र वर्धय शश्विं म

इमं पिशामेकपृषं कृणु त्वम् ।

निरमिधानस्तुहास्य सया-

स्ताव रन्धय असा अहमुत्तरेषु ॥ १ ॥

अप्यं क्षमाणामयमस्तु राने-

न्द्र शत्रुं रन्धय सत्यमस्मै ॥ २ ॥

अयमस्तु धनपतिर्भनातां

अयं पिशां विषयतिरस्तु राजा ।

अस्मिन् इन्द्र गहि यथासि घेरा-

वर्धसं हृषुहि शत्रुमस्मै ॥ ३ ॥ ( अथर्व. ४।२२ )

“ हे इन्द्र । इस क्षत्रियको बड़ा । हमारे प्रजापतियों अग्नितीय प्रत्यक्ष कर । इसके सब शत्रुओंको निर्बल कर और स्वयंके समय इसके सब शत्रुओंको गच्छ कर । यह राजा क्षत्रियोंके शत्रुओंको लापाद मूर्ति हो । इनके सब शत्रुओंको गच्छ कर । यह राजा सब प्रकारके यत्नोंका स्वामी हो । यह राजा प्रजापतियोंका उत्तम पादक हो । हे इन्द्र । राजाको बड़े बड़े तेज से और इसके शत्रुको नितेत कर । ”

राजायें नीचेके गुण विशेष शीतले होने चाहिये इस बातका विचार यथेन इन मन्त्रोंमें किया गया है । सामान्यतः तपस्विते क्षत्रिय चाहिये । इसी ही शत्रुओंको दूर किया जा सकता है । यज्ञ हुआ बल उसमें होना चाहिये । निर्बल, अज्ञान अथवा रोगी मनुष्य उत्तम राजा नहीं हो सकता ।

राजसौकी यह अपने राज और राजके मन्त्रों के करे और अपनी ओर सब प्रजाका प्रेम आकर्षित करे। राजसौकी को यह मूर्ति हो। राज्यशासनके लिये सभी आवश्यक गुण उसमें भरपूर हों। यह सब पत्नीका स्वामी हो। उसका स्वामी सभी राजा न हो, वह सब भरपूर भरा रहे। सब प्रजाजन उसको प्रेमपूर्वक धरना राजा मानें। प्रजायें उसके विरोधी बल न पाये हों। उसके प्रतिपक्षी नितेज हों और वह ऐसे कर्म करे कि उसका तेज सब बढ़ता ही जाय।

राजाको ऐसे गुणों से युक्त होना चाहिये। राजा अपने सब गुणों से सब प्रजाका मन अपनी ओर आकर्षित करे। क्योंकि प्रजाको अनुमति हो तो उसे राजतद्दीप्तर रहता है। इसलिये बिनापर सब प्रजा प्रेम करे वही राजा राज्यपर स्वामी रह सकता है।

### आत्मशुद्धि

राजाको पवित्र आचरणवाला होना आवश्यक है। उसे ही सब गुण हों पर आचरण शुद्ध न हो, तो उसके सब गुण दुर्गुण ही बन जाते हैं। इसका मुख्य आत्मशुद्धिका है मतः कहा है—

पुनस्तु मा देवज्ञता। पुनस्तु मतयो धिया ।  
पुनस्तु धिम्भा भूतानि पयसानः पुनातु मा ॥ १ ॥  
पयसानः पुनातु मा फले दक्षाय जीयसे ।  
अथो अरिपतातये ॥ २ ॥

( अथर्व. ६।१९ )

“ विद्यमान भूमे पवित्र करें। जनशरीर सभी लोग अपने मनसे और श्रद्धासे भूमे पवित्र बनायें। सब भूत भूमे पवित्र करें। पवित्र आचरण करनेवाला भूमे पवित्र करे। कर्म, बल और शक्ति आधुने लिये पवित्र आचरण करनेवाला सभी भूमे पवित्र करे। इस कल्याणका विचार हो। ”

राजा रक्षित होने, राजाके आचरण और कार्य व्यवहारसे किसी तरहका दोष और पाप न रहे। सब विषयजन इसकाकर शुद्ध करनेमें राजाको सहायता करें। सभी लोगोंका यह कर्तव्य हो है कि वे पवित्रता, करनेमें सहायता करें। वहाँ दोष हो वह जानकर, उस दोषको दूर करनेमें सब सभी लोग सहायक हों। शरीर, मन, इन्द्रियों को शोध हों, तथा राज्यके व्यवहार करनेमें को शोध होता हो, वह दूर होना चाहिये। सार्वजनिक आचरण परिशुद्ध होना चाहिये। जो राज्यके अधिकारी हों, वे तो परिशुद्ध आचरणवाले ही

२ [ अथर्व. भा. २ भाग ० हिन्दी ]

होने चाहिये। क्योंकि उनका ही मार्ग जनताके सामने रहता है।

### सबसे श्रेष्ठ बनना

जिस तरह पवित्र बनना यह धर्म है, उसी तरह सबसे श्रेष्ठ भी बनना चाहिये, इस विषयमें कहा है—

समुद्र ईशे स्रवतां आग्निः पृथिव्या चरी ।  
चन्द्रमा नक्षत्राणां ईशे त्वमेकदृपो भव ॥ २ ॥  
( अथर्व. ६।८६ )

“ नवियोज स्वामी समुद्र है, पृथिवीको वरमें रतनेवाला अग्नि है, चन्द्रमा नक्षत्रोंका स्वामी है, इस तरह तुम भी बलवान् बनो। ”

अहमस्मि यशस्तमः । ( अथर्व. १।१९।१ )

“ मैं अधिक यशस्वी होऊँ । ” सबसे अधिक यश मेरा हो, यह बहुलाकांक्षा है। सर्वोच्च यश पवित्र आचरणसे मिल सकता है। हरएक इस तरहकी बहुलाकांक्षा अपने मनमें धारण करे और इससे अनुकूल बननेके लिये वह प्रयत्नशील भी हो। तथा—

यशसं मेन्द्रो मययान् कृणोतु  
यशसं चावापुषिषी उभे इमे ।  
यशसे मा देवः सविता कृणोतु  
विषो दानुर्दक्षिणाया इह स्वाप् ॥ ( अथर्व. १।५।८।१ )

“ यवान् इन भूमे बसवा करे, वीरों से और पृथिवी भूमे बसवा करे, सविता देव भूमे यशस्वी करे। इतिहास देनेवालेका से शिव होऊँ । ” सब देव मेरे यशस्वी होनेमें सहायक हों यह प्रार्थना है। और—

यय विषेयु पर्य सर्वेषु यशसः स्वाप ।  
( अथर्व. १।५।८।२ )

“ हम सब देवोंमें यशस्वी हों । ” सर्वत्र हमारा यश रहे। वहाँ भी वहाँ हमें यश मिले। सर्वत्र हम यशस्वी हों। पवित्रताको प्राप्त करने के लिये इस तरह बसवा चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे यशस्वी होनेमें देव भी हमारे अनुकूल रहें।

### निर्मयताकी इच्छा

सब राज्यव्यवस्था इसीलिये है कि सब प्रजाजन निर्मय होकर मानसके रहें। इस हेतुसे कहा है—

अज्ञानः इन्द्रो अगर्भः नः छेषोयु  
अन्धध राताममि यातु मनुः ॥ २ ॥

अनमित्रं नो अधरावनमित्रं न उत्तरात् ।

इन्द्रानमित्रं न । पश्चात् अनमित्रं पुरस्तद्धि ॥ ३ ॥

( अथर्व. १४० )

“ अतृप्त इन्द्र हमें निर्भय करे । पनाथोंका जोय दूसरे स्थानमें जाय । मोचेते, ऊपरसे, पोछेते और सामनेसे अर्थात् सब ओरसे हमें निर्भयता प्राप्त हो । ” किन्तु हमें भय प्राप्त न हो । हम सब निर्भय हो कर रहें ।

राष्ट्रमें निर्भयता होनेपर ही सब प्रकारकी उपलब्धिकायें किये जा सकते हैं । मनुष्य अपने निर्भय होकर बिचरें ऐसी राष्ट्रमें स्थिति होनी चाहिये ।

### उत्तम मार्गका अवलम्बन

सब सौध उत्तम मार्गका अवलम्बन करें, जिससे सबको यश और निर्भयता प्राप्त हो, इस विषयमें यह आयेता है—

ये पश्यामो यद्यो देययाना

अन्तरा द्यावापृथिवीं संचरन्ति ।

तेषामग्र्याणि यत्नो यदाति

तसौ मा देयाः परि धेहेह सधे ॥ १ ॥

( अथर्व ६५५ )

“ जो मार्ग देवोंके लाने लायेके हैं, जो धु और पृथिवीके बीचमें हैं, उनमें जो मार्ग उत्तम समृद्धि लाता है, उसपर सब देव चले चलें । ” अर्थात् वे उत्तम मार्गसे चान् और अधिक कल्याण प्राप्त करें । इसलिये और पितामहोंके मार्गसे न चान् । देवोंके मार्गोंमें जो उत्तमसे उत्तम मार्ग है उससे वे जाऊँ और उपलब्धिकायें प्राप्त करें और अन्त्याधम व्यवहारोंमें न रहें ।

मनुष्यकी इच्छा यदि जगत होनेकी हो, तो उसे अन्तर और बाहरसे पूर्णरूपेण मुक्त होना चाहिए, इसलिये कहा है—

यत् कि चेदं वदण देव्ये जने-

ऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरन्ति ।

अचिरं चेत्तम धर्मा युषोपेम

मा नस्तस्माद् घनसो देयं रीरिषः ॥

( अथर्व. ६५१२ )

“ साधारण मनुष्य जो भी ईद्राचार विषयनोंके विषयमें करते हैं और पिना जाने तेरे धर्मको तोड़ते हैं, उस भाषते हय राक्षसो नष्ट न कर । ”

उपनि बरनेरी इच्छावासे मनुष्यको कर्मके उत्तम नियमोंका पालन करना ही चाहिये, अन्यथा उपलब्धिकायें प्राप्त करना असम्भव है । राज्यशासनके द्वारा भी जनताके हितके लिये ऐसा प्रबंध होना चाहिये कि जिसमें रहते हुए लोग दण्ड-भरणकी ओर ही प्रवृत्त हों और अनुद्राचरणकी ओर कभी न जायें ।

राज्यकी सुरक्षाके लिये राज्य रक्षण ही पड़ता है । तथा मृद बरनेकी हस्तारूपे तैयारी रखनी पड़ती है । जिना

सैन्यके अन्तर्बोद्ध धातुके अर्पण राज्यका रक्षाप नहीं दिया जा सकता । इसलिये युद्धका रथ, कुतुमी साहि साधन रखनेही पड़ते हैं—

विद्वद्यं वैमनस्यं च दामिमेपु दुन्दुभे ।

विद्वेषं फडमशं भयमामित्रेषु नि दध्मसि

अथैवान् दुन्दुभे जहि ॥ ( अथर्व. ५१२११ )

“ हे कुन्भे ! तू धातुओंमें हृदयकी व्याकुलता और मनकी उदासीनता उत्पन्न कर । द्वेष, शत्रुता, भय शत्रुओंमें बढे । इन धातुओंका पराभव कर । ”

कुन्भिके प्रत्य सुनकर धातु पराभूत और भयभीत हो कर भाग जाय । ये दुन्दुभिमैं शिवर न रह सकें । अपनी कुम्भीका शब्द धातुके अन्त करणमें भय उत्पन्न करे अर्थात् अपनी तैयारी ऐसी हो कि जिसकी दृष्टिकर धातु डर कर भाग जाय ।

### सूर्यचिह्नका ध्वज

वैदिक समयका ध्वज सूर्य चिह्नका था । इस विषयमें नीचे लिखा ग्रन्थ देखिये—

एता देवसेनाः सूर्यैकतथा सचेतसाः ।

अग्निमाधो जयन्तु स्वाहा ॥ ( अथर्व. ५१५१११ )

“ वे ईश सेनाएं सचेत रहती हैं और इनका ध्वज सूर्य चिह्नका है । वे सेनाएं धातुपर विजय प्राप्त करें । ”

### राजाकी स्थिरता

राष्ट्रपर राजा स्थिर रहे, इसलिये उत्तम विज्ञेय गुण चाहिये, ये गुण गुण ये हैं—

विशस्वस्य सर्वं याज्यन्तु

मा स्पद्राधूममि अद्रात् ॥ १ ॥

इहेधैवि माय व्योष्टाः पर्यत इयाविचापलद् ।

इन्द्र इयेह भुयस्तिष्ठेह राष्ट्रसु धारय ॥ २ ॥

( अथर्व. ६८७ )

“ सब प्रजाजन ‘यही राजा रहे’ ऐसी इच्छा करें । राजाके शासनमें राष्ट्रकी गिरावट न हो । राजा पर्वतके समान सुस्थिर रहे, वह कभी अग्रत न हो । राजाहीन स्थिर रहे और राष्ट्रकी उपलब्धिकायें प्रदान करें ।

राज्यका राज्यशासन ऐसा हो कि जिससे राष्ट्रकी उपलब्धिकायें होती रहें, कभी राष्ट्रकी गिरावट न हो । ऐसा राजा राष्ट्रपर सुस्थिर रहे सकता है और ऐसे राजाको राजाहीन रहनेके लिये प्रजाजन भी उत्सुक रहते हैं ।

इसप्रकार “ मातृभूमि और स्वराज्यशासन ”

विषयक इस हमारे भागका परिचय है । इस परिचयको देखकर वाचक समझ सकते हैं कि इस विषयका स्वरूप कैसा है ।

निदेशक

श्रीवाद्द दामोद्द सातपलेकर

अध्यक्ष-स्वाम्याय मद्रस ( वाररी )



अथर्ववेद -

भाग-दूसरा

## मातृभूमि और स्वराज्यशासन

मातृभूमिका वैदिक-भक्ति

कांड १२, सूक्त १

( भूमि- देवता । देवता- भूमि । )

सुर्यं बृहद्भुतमुग्रं द्वाष्वा तपो ब्रह्मं यज्ञः पूषिर्वी चारयन्वि ।  
सा नो भूवस्य भव्यस्य पत्न्युकं लोकं प्रेषिरी नः कुणोतु

॥ १ ॥

अर्थ — ( बृहद्भुतमुग्रं ) बृहत्तमस्य ( बृहत् ) यथावत् तान, ( उग्रं ) शक्ति, ( तपो ) यथावत्, या यथावत्, ( द्वाष्वा ) हस्तकालके करनेमें, यथावत्, ( यज्ञः ) यथावत्, ( पूषिर्वी ) यथावत्, ( चारयन्वि ) यथावत्, ( भूवस्य ) यथावत्, ( भव्यस्य ) यथावत्, ( पत्न्युकं ) यथावत्, ( लोकं ) यथावत्, ( प्रेषिरी ) यथावत्, ( नः ) यथावत्, ( कुणोतु ) यथावत् ॥ १ ॥

भावार्थ — श्री मनुष्य यह चाहता हो कि राष्ट्रपर अपनी सत्ता या अधिकार बना रहे, उसमें निम्नलिखित गुणोंका होना आवश्यक है- सारथिकता, यथोपयोगिता, महत्वाकांक्षाके साथ कार्य आरम्भ करने और उसकी सिद्ध करनेका उत्साह, वस्तुस्थितिका उसका ज्ञान, धर्म, साहस और तेजस्विता, यथोपयोगिता, इतिवृत्तिका निष्ठ, उत्तम प्रयोगका यत्न और व्याख्या सुनना, शांत स्वभाव और महाउत्साह, यथोपयोगिता, ईश्वरभक्ति, अस्वीकार करनेवाले कार्यमें रजता, निवृत्तकार करनेका अभ्यास, सब प्रयत्न, सर्व सहायक यथावत्तम विपुल संप्रदाय, यथावत्तम एक दूसरेका सहकार करना, एतत्तम रहना, युद्ध और यथावत्तम पड़े हुए लोगोंकी सहायता करना, सब अर्थोंका स्वार्थव्यवहार करना, यथावत्तम प्रत्यक्ष विद्या रचना इत्यादि । जिन मनुष्योंमें ये गुण होते हैं, वे ही अपने राष्ट्रको संभाल सकते और नया राष्ट्र प्रगल्भ कर सकते हैं। इस पहिले मन्त्रमें राष्ट्रसंरक्षक मनुष्योंके लिये आवश्यक गुणोंका स्पष्ट उल्लेख करके यह प्रार्थना की गयी है कि- हे मातृभूमि । हम पूर्णतः संपूर्ण प्रताप गुणोंसे युक्त होकर तेरा संरक्षण करते हैं और सदा ऐसा करनेको तैयार हैं; तु अपने आभारसे भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालोंके संपूर्ण यथावत्तम उत्तम प्रगल्भके योग्य करनेमें समर्थ है । हम राजा दिन तेरा संरक्षण करते हैं यथावत्तम श्री हमारे कीर्ति बढ़ानेवाली हो ॥ १ ॥

असुधाघं वंश्यतो मानवानां यस्यां सुहृदाः प्रवर्तः सम बहू ।  
 नानावीर्या ओषधीर्वा विमर्शि पृथिवी नः श्वतां राष्ट्र्यतां नः ॥ २ ॥  
 यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामर्षं कृष्टयः संवभुवुः ।  
 यस्यामिदं जिन्वन्ति प्राणदेजस्ता नो भूमिः पूर्वेष्वे दधातु ॥ ३ ॥  
 यस्याश्वत्थाः अदिशः पृथिव्या यस्यामर्षं कृष्टयः संवभुवुः ।  
 पा विमर्शि बहुधा प्राणदेजस्ता नो भूमिर्गोष्वप्यर्षे दधातु ॥ ४ ॥

अर्थ— ( यस्या ) जिस हमारी मातृभूमि ( मानवाना ) मानवश्रील मनुष्यों ( य [-म-] व्यत ) सम्पन्न ( प्रवृत्त ) नीधता उच्चता सहकर भी परस्पर ( बहू ) बहुत ही ( सम ) समता ( अस्वधाघ ) और ऐश्व मा नैत्रीभाव है, ( या ) जी ( नः ) हमारे ( पृथिवी ) मातृभूमि ( नानावीर्या ) लोगोंको दूर करनेवाली शक्त उत्तम गुणयुक्त ( ओषधी ) बनस्पति ( विमर्शि ) धारण करती है वह मातृभूमि ( नः ) हमारी ( प्रवृत्ता ) नीति या धाराको वितरित ( राष्ट्र्यता ) करे ॥ २ ॥

( यस्या समुद्र ) जिस हमारी मातृभूमिमें महासागर ( उत ) और ( सिन्धु ) शनैक तब नदी, ( आप ) शरभे शील और शाल तत्वां बहुत ह, ( यस्या ) जिस मातृभूमिमें ( अर्ष ) सब भौतिके जन्म और फल तथा प्राप्त द्वापादि बहुतायतसे उपकते ह ( यस्या इदं प्राप्यत् ) जिसमें प सत्राव ( पृजत् जिन्वन्ति ) प्राणी चलते फिरते ह, जिसमें ( कृष्टय ) खेती करनेवाले मनुष्य, सिन्धुस्यविशारद वातेपर तथा पशोवर्गीय जन ( संवभुवुः ) संगठित होते ह, ( सा ) इस तरह की ( भूमि ) हमारी मातृभूमि ( नो ) हनको ( पूर्वेष्वे ) समस्त भोग ऐश्वर्य ( दधातु ) ॥ ३ ॥

( यस्या ) जिस हमारी मातृभूमिमें ( पृथ्वी ) उद्यमशील तथा शिष्टप्राकृतिकोंमें निपुण निज परिश्रमसे श्रेष्ठ करनेवाले ( संवभुवुः ) हुए ह ( यस्या पृथिव्या श्वत्स प्रदिशः ) जिस भूमिमें चार दिगामों और चार विदिशामें ( अश्व ) चाबल गहू आदि उपजाती ह ( या बहुधा ) जो शनैक प्रकारसे ( प्राणत् पृजत् ) प्राण धारण करनेवाली और चलने फिरनेवाली ( विमर्शि ) धारण-वैयर्थ्य करती है ( सा न भूमि ) वह हमारी मातृभूमि हन सबरा ( गोषु अपि अने दधातु ) गोशों और जग्राविते धारण-वैयर्थ्य करे ॥ ४ ॥

भावार्थ— जिस हमारे राष्ट्र या देशके मनुष्योंमें परस्पर श्रेष्ठ नहीं है प्रयुक्त जनमें गुण ऐश्वर्यभाव है। शिष्टोपकार हमारे नदा लीनोंमें जमात हमारी सब प्रकारकी वस्तु करनेवाले लीलाधर्मियोंमें परस्पर पश्य धन है और वे राज्य ही भितकर सब काम करते ह। जिस भूमिमें उत्तम प्रकार की दुष्टिधारक रोषविनाशक शनैक औषधियां और सब तरह की वनस्पतियां पैदा होती ह, वह हमारी प्रिय मातृभूमि हमारी नीति और वाग्य विनियमोंमें रहते ॥ २ ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें सागर, महासागर, नद, नदी, साक्ष्य, कुतं, जावली, नहर शीघ इत्यादि खेतीकी जीवनेके सब बट साधन है और जिस भूमिमें सब तरहके जिनल जन्म पैदा होकर सबको पानको निरता है। जिससे सब प्राणीमात्र मुक्ति ह तथा जिसमें काटीगर लोग कन्यकालमें कुपत ह, किसान लोग खेतीके काममें प्रयोग ह और सब सोय नो खेतीगी ह बहु हमारी मातृभूमि हमें सर्वत्र उत्तम उत्तम भोग पराव और पदव्य देनवाली होवे ॥ ३ ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें अत्यन्त खेतीगी तथा खेती-बाड़ीमें प्रबोध और परिश्रमों सोय होते आये ह और जिस भूमिमें चारों दिशा और विदिगाओंमें उत्तम धन धान उत्पन्न होता है जिसके कारण सम्पूर्ण प्राणीकी, बनस्पति और अन्य औषधधारियोंका उत्तम प्रकारसे पालन, पोषण और सरक्षण होता है वह हमारी मातृभूमि हमें सर्वत्र गाध, घोड़े और अन्य प्वादि देनवाली हो ॥ ४ ॥

मस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्षिते यस्यां देवा असुरानम्बर्वस्यन् ।

गयामथानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्षेः पृथिवी नो दधातु

॥ ५ ॥

विश्वमरा वसुधानीं प्रतिष्ठा हिरण्यवशा जगतो निवेक्षनी ।

वैश्वानरं विश्वतो भूमिरग्निमिन्द्रकृत्पथा द्रविणे नो दधतु

॥ ६ ॥

यां रक्षन्त्यस्वना विश्वदानां देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।

सा नो मधुं प्रियं दुहामयो उक्षुतु वर्चसा

॥ ७ ॥

अर्थ— ( यस्यां ) जिस हमारी मातृभूमिमें ( पूर्वजनाः ) बल, बुद्धि, शीर्ष और ऐश्वर्यसे सम्पन्न पुराने समयके कार्य लोग ( पिछोकरे ) विक्रय, पराक्रमपूर्ण कर्षण करने लगेह करते आए हैं, ( यस्यां देवाः ) जिसमें विद्वान् और शीर ( असुरान् ) हितानिष्ठ शत्रु अर्थात् राक्षसी स्वभाववाले लोगोंको ( मम्बर्वस्यन् ) कीलते आए हैं । जो ( गायं ) अध्यानां ध्ययसः य ) शीर्ष, शीरे और पशुपक्षियोंको ( वि-ष्ठाः ) विशेष सुख देनेका स्थान है, ( सा नः पृथिवी ) वह हमारी मातृभूमि हमको ( भगं ) ऐश्वर्य और ( वर्षेः ) तेज, शीर्ष, शीर्ष, विशाल ( दधातु ) देवे ॥ ५ ॥

जो ( विश्वमरा ) तबका पोषण करनेवाली भूमि ( वसुधानी ) लोहा, चाँदी, हीरा, पन्ना आदि अनैत राजकी शान है, ( प्रतिष्ठा ) सब वस्तुओंकी आभारभूत ( हिरण्यवशा ) सुवर्ण आदिकी सार्व जिसके वस्त्रधनमें हैं ऐसी ( जगतः ) सभी जगत्, जीव या पदार्थोंको ( निवेक्षनी ) बसानेवाली ( वैश्वानरं ) अति भांतिके मनुष्योंके समूहके भरे हुए राष्ट्र या देशको ( विश्वतो ) पारण करती हुई हमारी ( भूमिः ) मातृभूमि ( अग्निं ) अन्नगामी, नेता ( इन्द्र-कृत्पथी ) मनुष्योंका मार्ग करनेवाले दूरदूर और शक्तिपूर्ण स्थि तथा ( न ) हमारे लिए ( द्रविणे ) पन ( दधातु ) पारण करनेवाली हो ॥ ६ ॥

( मधुःपन्ताः ) निद्रा, तन्द्रा, आसक्त्यसे रहित ( देवाः ) विद्वान् और शीर कुशल जन ( विश्वदानां ) ॥ प्रकारके पशुओंकी देनेवाली और हमारे लिये ( मधुमियं य पुहं ) अन्न प्रिय हितकर पशुओंकी बूझनेवाली ( यां पृथ्वीं ) भूमि ) वही या विलुप्त हमारी जिस मातृभूमिकी ( अग्रमादं ) प्रचाररहित हो ( रक्षन्ति ) रक्षा करते हैं, ( सा ) वह भूमि ( न ) हमको ( यद्येसा ) मृत्ता, पीत्ता, क्षान तथा ऐश्वर्यसे ( उक्षुतु ) पूर्ण करे ॥ ७ ॥

भाषार्थ— जिस हमारी मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने-बाह्यजोंने करने साम्राज्य, शक्तिपूर्वक अपनी शीरता द्वारा, वैश्वाने अपनी वास्तव्य-कुशलता द्वारा और करोड़ोंने अपनी कारीपरीसे अनेक बड़े बड़े पराक्रम किये थे; जिस हमारे देवके विद्वान्, शीर, शीर, व्यापारी और शरीरकर लोगोंने जिसकर सम्पूर्ण हिसक, सातताप्ये, प्राप्तको और दुष्ट लोगोंने नष्ट किया या और जो सुन्दर भूमि सब पशुपक्षियोंकी भी उत्तम निवास-स्थान वेतो है, वह हमारी मातृभूमि हमारा शान, विशाल, शीर्ष, तेज, शीर्ष और ऐश्वर्य पूर्ण स्वयं बसानेवाली होवे ॥ ५ ॥

सबका पोषण करनेवाली, रत्नोंको शरण करनेवाली, सब पदार्थोंको आभय देनेवाली, सुवर्ण आदिकी सार जगत्के अन्नर रक्षनेवाली, सभी प्रकारके जगत् जोंको या पदार्थोंकी स्थान देनेवाली, सब प्रकारके मनुष्योंके पुन राष्ट्र या देशकी जमलिते सहायता देनेवाली, मातृभूमि हमारे नेता, शानियों और शीर पुष्पों तथा हमारी सब प्रकारके ऐश्वर्य देनेवाली हो ॥६॥

निद्रा, तन्द्रा, आसक्त्य, क्षान आदिबोध रहित सब बलाओं अन्न और उत्तम, परीरकारी, विद्वान्, शीर और पशुपक्ष लोग सब पदार्थोंकी देनेवाली जिस विलुप्त भूमिकी प्रचाररहित होकर रक्षा करते हैं, वह हमारी मातृभूमि सब उत्तम और प्रिय तथा हितकारी पदार्थोंके हमें पूर्ण सुखपूर्वक करे और हमें शान, मृत्ता और जन उत्पन्न कर हमारी रक्षा करे ॥७॥

यार्णवेऽधिं सलिलमग्र आसीत्वां मायामिरेन्वर्चन्यनीपिणः ।

यस्या हृदये परमे व्योमिन्सत्येनामृतममृतं पृथिव्याः

सा नो भूमिस्त्रिषिं बलं राष्ट्रे दधातुचमे

॥ ८ ॥

यस्यामायः परितराः समानीरहोरात्रे अग्रमादुं धरन्ति ।

सा नो भूमिर्मूरिधारा पयो दुहामयो उद्युतु वर्चसा

॥ ९ ॥

यामिधनावमितां विष्णुर्वस्यां विचक्रमे ।

इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां अक्षीपतिः ।

सा नो भूमिर्षि संजता माता पुत्राय मे पयः

॥ १० ॥

अर्थ— ( या ) ओ भूमि ( अग्ने ) पहले ( अर्धवे ) समुद्रमें ( सलिलं अधि ) जलके भीतर ( आसीत् ) वो, ( यस्याः पृथिव्याः हृदये ) जिस पृथ्वीका अन्तर्भाग ( अमृतं ह्य ) अमर स्थायके समुद्र ( सारपेन ) साथ संलग्नके बलसे ( आवृतं ) व्याप्त है, वो भूमि ( परमे व्योमन् ) महत् आकाशमें है, ( मायामिः ) शुचलताके साथ ( मनीपिणः ) मनमणील विद्वान् ( यां ) जिसको ( अमृतचरन् ) अच्छी तरह सेवा करते भाये हैं, ( सा नः भूमिः ) वह हमारी भूमि ( उत्तमे राष्ट्रे ) उत्कृष्ट राज्यमें ( त्रिषिं ) तेज या बौद्धि, ( बलं ) बलता, शीरता, शारीरिक बल अथवा सम्पत्ति ( दधातु ) द्यापित करे ॥ ८ ॥

( यस्यां ) जिस भूमिमें ( समागताः ) समुद्रमें ( परितराः ) सब ओर जानेवाले परिधानक सम्पाती ( मायः ) जलकी भांति ( महोरात्रे ) रात दिन ( अग्रमादुं ) सत्यमान रहकर ( धरन्ति ) परिभ्रमण करते हैं, ( अयो ) शीर वो ( भूरि-धारा ) अनेक तरहके ( पयः ) खाने तथा पीनेकी वस्तु-सौम्य या घेय, दूध, घी इत्यादि ( दुहां ) ॥ ९ ॥ ( सा नो भूमिः ) वह हमारी मातृभूमि हमारे ( यद्येसा ) तेज, प्रताप, बल, दीर्घ आदि ( उद्युतु ) दधाये ॥ ९ ॥

( यां ) जिस भूमिको ( अमित्राः ) अमित्रगण अर्थात् शीर हस्तः शूरवीरवर्ग ( अमित्रातां ) माया, ( यस्यां विष्णुः ) जिसमें पालकने ( विचक्रमे ) भांति भांतिका पराक्रम दिशाना, ( इन्द्रः ) अश्रुविनाशक ( अक्षीपतिः ) शक्ति-यति कर्मकुशल साधवान् पुण्यने ( यां आत्मने अनमित्रां ) जिसको अपने लिए शत्रुदहित किया, ( सा नः माता भूमिः ) वह माताके समान हमारी मातृभूमि ( पुत्राय पयः ) जैसे माता पुत्रको दूध देती है उतप्रकार ( पुत्राय मे ) हम सब पुत्रोंको ( विरजतां ) ज्योतीनीकी वस्तु प्रदान करे ॥ १० ॥

भाष्यार्थ— ओ भूमि पहले समुद्रके गर्भमें थी । जिसके बाहर, भीतर परपरस्पर व्याप्त है, ओ आकाशमें अमर है और जिसकी सेवा विचारवान् लोग विशेष प्रसन्नमें, मूल प्रयत्नसे तथा कुशलतासे करते हैं, ॥ ८ ॥ हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्टमें ऐतत्त्विकता, मित्रता, शूरता, क्षतिप्रताप इत्यादि गुण सर्वे बढ़ानेवाली हो ॥ ८ ॥

जैसे मैथीका जल प्राजिमानको एक समान निरता है, वैसे ही निरन्तर उपदेश सबके लिये एक सामान होता है ऐसे परोपकाररत सम्पाती जिस भूमिमें उत्तम आचरण न छोड़ेंगे हुए सर्वे एक समान संभार करते रहते हैं ओर वो भूमि हमें सब प्रकारके भय-सत देती रहती है, वह हमारी मातृभूमि अपनी ऐतत्त्विकताके द्वारा हमारे रक्षा करे ॥ ९ ॥

सोमोंका पोषण करनेवाले और क्षत्रियोंका हवन करनेवाले लोग जिसको सर्वे भलाई किया करते हैं, जिसमें पालन करनेवाले घरे बड़े पराक्रम करते हैं और खाने और पुत्र बन्ने अपना श्रेष्ठ सन्तानें हैं, वह हमारी भूमि, जिस प्रकार माता अपने बच्चोंको दूध पिलाती है, उसीप्रकार हमें सर्वे उपयोगिक पदार्थ देवे ॥ १० ॥

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यां ते पृथिवि स्योनमस्तु ।

वृक्षं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।

अजीतोऽहं तो अक्षतोऽस्पृष्टां पृथिवीमहम्

॥ ११ ॥

यत्ते मयं पृथिवि यच्च नम्यं वास्तु ऊर्ध्वस्तन्वुः संवसुवुः ।

तासु नो घेद्यामि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः । पञ्चन्याः पिता स उं नः पिपेतु ॥ १२ ॥

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्मायः ।

यस्यां भोवन्ते स्वरवः पृथिव्यामर्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् । सा नो भूमिर्वर्धयुद्धर्धमाना ॥ १३ ॥

अर्थ— हे ( पृथिवि ते गिरयः हिमवन्तः पर्वताः अरण्यां च ते ) मातृभूमि ! तू पहाड़, चकते इके पर्वत और वन तुझे ( स्योनं ) तुझके देवेवाले ( अस्तु ) हों, उन पर्वतोंमें वन न रहें, वे वनुरहित हों, इतलिये ( वृक्षं ) सबके भरन पोषण करनेवाली ( कृष्णां ) कृषिकर्मके उपयुक्त, ( रोहिणीं ) वृक्षारिर्को उपजावेवाली, ( विश्वरूपां ) सब तत्पुष्पा रूप वापण करनेवाली, ( ध्रुवां ) स्थिर ( पृथिवीं ) यही विलुप्त मन्वी चौको ( इन्द्र-गुप्तां ) भीरवी रक्षित इस ( भूमिं ) मातृभूमिका ( अक्षितः ) जिसे वनभूमिमें नहीं जाता, ( अहम् ) पुत्र आदिमें जिते हूँ मैं नहीं पड़ूँगी, ( अक्षतां ) कहींपर किसी जगमें जितके पाव नहीं हुआ, ( अहं अस्पृष्टाम् ) ऐसा मैं अपिच्छता या स्वागो होऊँ ॥ ११ ॥

हे ( पृथिवि यत् ते मयं ) भूमि ! जो तेरे मयमें है ( यत् च नम्यं ) जो नमार्थमानमें है, ( ते याः ऊर्ध्वः ) जो ऊपर वलपुस्त या ऊपर आदि पोषणयुक्त पदार्थ हैं, उनको रक्षारके तितुँ जो ( संवसुः ) सारीरपारी मर्णात् मनुष्य ( सवभूतुः ) आपसमें संगठित हुए हैं, ( तासु ) उनके सभाकमें ( नः ) हमको ( घेद्यामि ) स्वापित कर और इस तरह ( नः ) पवस्व ) हमारी रक्षा कर, ( भूमिः ) भूमि हमारी ( माता ) माता है ( अहं ) हम उस ( पृथिव्याः पुत्रः ) पृथिवीके पुत्र हैं, [ नरकसे या दुल्लते भी जान वा रक्षा करे वह पुत्र है । भूमि ! हम तेरे दुल्लते दूर करनेवाले होनेके कारण हम तेरे पुत्र हैं । ] ( पञ्चन्याः ) जलकी वृष्टिसे पोषण करनेवाला मेघ हमारा पिता अर्थात् जलसंवसितसे पालन करनेवाला है ( स उं नः ) वह हमारा पितापदसे ( पिपेतुं ) बालन करे ॥ १२ ॥

( यस्यां भूम्यां वेदिं परिगृह्णन्ति ) जिस भूमिमें सब ओरसे वेदिया रखी जाती है । ( यस्यां विश्व-कर्मायः ) विश्वमें उत्पत्तिके काम करनेवाले सब लोग ( यज्ञं तन्वते ) ऐसा यज्ञकर्म करते हैं, जिसमें भले लोगोंका साकार हो या ऐसे लोगोंका सत्संग हो, ( यस्यां च पृथिव्यां पुरस्तात् ) जिस पृथिवीमें रहते ( ऊर्ध्वः ) बड़े तन्में, ( शुक्राः ) सौर्ध्वयुक्त ( आहुत्याः ) साहुतिके साथ ( स्वरवः ) पतिय वन पक्षे किए जाते हैं, अहाँ लक्ष्ये अण्डे उपदेश ( भोवन्ते ) वही जाते हैं, ( सा नो भूमिः वर्धमाना ) यह पृथ्वी हम लोगों द्वारा बढाई जाकर, हम लोगोंकी ( वर्धयतु ) उत्पत्ति करे ॥ १३ ॥

भाषार्थ— हे मातृभूमि ! तुझपर जो पहाड़ और वनकले इके हुए पर्वत हैं तथा जो छोटे बड़े वनगत हैं, उनमें तेरे शत्रु कभी न रहें, वृक्षानुरहित होकर सर्वत्र सबका पोषण करनेवाले जलराज उत्तम वृक्षारिसे युक्त, स्थिर और वीरोंद्वारा रक्षित हो, ऐसी संधैरतन्मय तुझपर हम शत्रुओं द्वारा वरजित न होते हुए तथा मृत अथवा पावल न होते हुए अतन्वते रहें और महान् पर्वतोंको प्राप्त हों, शत्रुको अपने अधिकारमें रखें ॥ ११ ॥

हे मातृभूमि ! तेरे भीतर और ऊपर जो भी पदार्थ हैं उन सबको और तेरी, शत्रुओंके हाथसे रक्षा करनेके लिये जो बिज्ञान, यज्ञवान् और यववान् मनुष्य एकत्र होकर बल करते हैं, उनके उस संघमें हमें स्थान दे और हमारी रक्षा कर, क्योंकि ॥ हमारी माता और हम तेरे पुत्र दुल्लते छुड़ानेवाले हैं, इस पञ्चन्या ( मेघ ) द्वारा वायव्यविक उत्पन्न होते हैं, इतलिये हम सबका वह पिता ( पालक ) है, यकार्थमें वह नियमित समयमें वर्षाकर हमारी रक्षा करे ॥ १२ ॥

जिस भूमिके लोग यज्ञकी वेदोंके पास जाकर हुषन करनेके लिये संसार रहते हैं, जिस भूमिमें लोग सर्वत्र परीपकार और उत्पत्तिके काम करते रहते हैं और जिसमें बिजोष कर उत्पत्तिजनक तथा मन्वीपादरा धरा क्रिये जाते हैं, इसी प्रकार उत्पत्ति देनेवाले भाषण और उपदेश सर्वत्र किये जाते हैं । हमारे द्वारा उत्पत्ति कामेवाली यह हमारी मातृभूमि हमारे लिये सब प्रकारसे उत्पत्तिका कारण ॥ १३ ॥



यो नो हृष्येत्पृथिवि यः पृतन्यालोऽभिदासान्मनसा यो जयेन । तं नो मृगे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥

स्वजातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं विमर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।

तवेमे पृथिवि पञ्च मान्वा येभ्यो ज्योतिर्मृतं मर्त्येभ्य उच्यन्त्येषो रश्मिमिरान्नोति ॥ १५ ॥

ता नः प्रवाः सं दुहता समग्रा वाचो मधु पृथिवि वेदि महाम् ॥ १६ ॥

विश्वस्वमातरमोपधीना भ्रूवां भूमि पृथिवी धर्मिणा वृताम् । श्रिवां स्योनामनुं चरेम विश्वहा ॥ १७ ॥

अर्थ— हे ( पृथिवि या नः ज्ञेयत् ) मातृभूमि ! जो हमसे द्वेष करता है, ( यः पृतन्यात् ) जो तोड़ते हमारा पशुभय करना चाहता है, ( यः मनसा ) जो मनसे हमारा अविष्ट चाहता है ( अभिदासान् ) जो हमें दास या गुलाम बनाना चाहता है, ( यजेन ) जो यज या जल कर हमें कष्ट पहुँचाना चाहता है, हे ( पूर्वकृत्वरि ) पहिलेसे ही शत्रुनाश करनेवाली मातृभूमि ! ( तं रन्धय ) उसका नाश कर ॥ १४ ॥

हे ( पृथिवि ) हमारी मातृभूमि ! जो ( मर्त्याः ) मनुष्य ( स्वजाताः ) तुझमें ही पैदा हुए हैं, ( त्वयि चरन्ति ) तुझपर ही चलते हैं, जिन ( द्विपदः ) दो पाँचवाले सर्वाणि मनुष्योंको ( चतुष्पदः ) चोपत्तीको ( एवं विमर्षि ) मारण करती है ( येभ्यः मर्त्येभ्यः ) जिन मनुष्योंके लिये ( अमृतं ) जीवनका हेतुमूल ( ज्योतिः ) तेज ( उच्यन्त्येषः ) रश्मिमिः ) उचित हुआ सूर्य अपनी किरणोंके ( आतमेति ) रंजता है, ( इमे ) ये हम लोग ( पंच मानवाः ) पाँच प्रकारके मनुष्य ( वृष ) तेरी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १५ ॥

हे ( नः पृथिवि ताः ) हमारी मातृभूमि ! हम ( समग्राः ) सबलोग तेरी ( प्रजाः ) प्रजायें एकत्र ही ( मधु वाचः ) मधुर प्रेमपूर्ण वाचिण्यां ( संदुहतां ) बोधें, ( महाम् वेदि ) हमको भी पशुपचयनशालाके दक्षिण दे ॥ १६ ॥

( विश्वस्वम् ) सब ( मोपधीनां मातरं ) जनरक्षि, वृष, तथा आदिपक्षी मत्ता ( भ्रूवां पृथिवीं ) विश्वीर्ण, कण्ठी, पीडी, शिरः ( धर्मिणा ) साथ, ज्ञान, सुरता, बीरता आदि धर्मसे ( वृतां ) दक्षिण मोड़ि ( श्रिवां ) कल्याणमयी ( स्योनां ) गुलामी देनेवाली इत ( भूमिं ) मातृभूमिकी हम ( विश्वहा ) सब ( अनुचरेम ) सेवा करें ॥ १७ ॥

भाषार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! जो हमसे शत्रुता द्वापा द्वेष करता है, जो सेवा से हमपर बढ़ाई कर हमें जीतना चाहते हैं, जो हमारा नाश करनेके लिये उद्यत है, जो हमें परतन्त्र और युष्माक बनावा चाहते हैं, जो मनसे हमारा अविष्ट सोचते रहते हैं, हमारे उन सब शत्रुओंका पुर्णरूपसे नाशनाश कर ॥ १४ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तुम लोग तुमसे उत्पन्न होकर तेरे ही आधारसे अपने सम्पूर्ण व्यवहार करते हैं; सम्पूर्ण वन, पक्षी, मनुष्य और अन्य सम्पूर्ण प्राणिमात्रकी तु आधार केकर पाखरी पोषती है; जिस हमारे जीवनके लिये यह वैदोष्य-मान् सूर्य अपनी अमृतमय किरणोंकी चार्चों और फैलता है; ये हम पाँच प्रकारके मनुष्य विद्वान्, सूरवीर, व्यापारी, कारीगर और सेवाश्रितियोंके मनुष्य तेरी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १५ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! हम सब लोग आपसमें जो बातचीत करें, यह साथ, हितकारी, मधुर और परस्पर प्रेमपूर्ण हो; मूढ अहितकारी तथा कटु न हो; हम सब लोगोंमें एकत्र होकर आपसमें प्रेमसे गोठे बन्धन बोलनेकी दक्षिण दे ॥ १६ ॥

जिसमें सब तरहकी जायज औषधियाँ और कल्याणकारी उपायों हैं; जो सबी लम्बी पीडी और शिरः है; विद्वान्, वृष, सूर्य, स्त्री आदि सदाचार और सन्तुष्टकृत पुण्य जिसकी रक्षा करते हैं; जो कल्याणमयी और सब प्रकारके सुखसाधन हमें देती है; उक्त मातृभूमिकी हम सब सेवा करें ॥ १७ ॥

महत्सधस्य महती रंभूविष महान्मे एजयुर्वेयुष्टे । महास्तेन्द्रो रक्षत्प्रमादम् ।

सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव संदक्षि मा नो दिक्षत कश्चन ॥ १८ ॥

अग्निर्मम्यामोपधीन्प्रदिमापौ विश्रवाधिरज्मसु । अग्निरन्तः पुरुषेषु गोप्यसंभवः ॥ १९ ॥

अग्निर्दिव आ संपत्युदेवस्योर्वेन्तरिष्युः । अग्निं भवीत इच्छते हव्यवाहं धृतमिषम् ॥ २० ॥

अग्निर्वासाः पृथेन्यसितव्रूस्त्विषामन्तं संक्षितं मा कृणोत ॥ २१ ॥

अर्थ— हे मातृभूमि ! हम सबका ( महत् सधस्यं ) एक साथ मित्रकर रहनेका स्थान होनेसे तू ( महती रंभूविष ) बड़ी होती रही है । ( ते ) तेरा ( एजयुः वेपथुः ) क्षिप्रता डोलना ( महान् ) बड़ा ( वेपः ) वेप या घटित्व होता है। इस प्रकारको ( रंभू ) तेरी ( महान् इन्द्रः ) यजुके साथ कल्पेबाले बड़ा धान, धान, उत्ताह, ऐश्वर्य, संपत्तिपुत्र और और ( अग्रमात्रं ) निरलसभावसे ( रक्षति ) रक्षा करते हैं । ( भूमे ) हे मातृभूमि ! ( सा ) वह तू ( संदक्षि ) समकरी हुई ( हिरण्यस्य इव ) सोनेके तरह ( न. प्र रोचय ) हमें तेजस्वन कर, हममें ( कव्यम् ) कोई भी आपसमें ( मा दिक्षत ) वैरभाव न रहे ॥ १८ ॥

( भूयां ) पृथिवीके मध्यभागमें ( अग्निः ) अग्नि है; ( ओपधीषु ) ओपधियोंमें ( अग्निः ) अग्नि है, जिन ओपधियोंके सेवनेसे अन्न पचता है, बीचमें अग्नि भूय लगती है, ( आपः ) जल ( अपि ) जब मेषरूपमें होता है तब वह ( विध्रति ) टिपटके रूपमें अग्निको घारन करता है । ( अदमसु ) परातमें एकमक इत्यारिमें ( अग्निः ) अग्नि है, ( पुरुषेषु ) मनुष्योंके ( अग्रः ) मोहर अहोरात्रिके रूपमें ( अग्निः ) अग्नि है, ( सोषु मध्येषु अपि ) गो, घोड़े आदि पशुओंमें ( अग्निः ) अग्नि है जिससे उनका भोजन पचता है ॥ १९ ॥

( दिवः ) आकाशमें ( अग्निः ) सूर्यके रूपमें अग्नि ही ( आतपति ) जब और प्रकाश देता हुआ तब रहा है । ( वेपस्य अग्नेः ) प्रकाशमय उस अग्निके प्रकाशसे ( उहः ) विप्रास ( अग्रतदिह ) मध्यस्थित प्रकाशित होता है, इस तरह अनेक रूपमें अग्नि विद्यमान है । ( हव्यवाहं ) होम को हुई मातृभूमिके से पानेवाले ( धृत-मिषं ) पीनेवाला प्यार करनेवाले ( अग्निः ) भौतिक अग्निही मनुष्योंके बलनेवर रोचके वाशके लिये ( मर्नासः ) मनुष्य लोभ ( इच्छते ) प्रयत्नित करते हैं ॥ २० ॥

( अग्निर्वासाः ) अग्निके व्याप्त होनेके कारण उसके ( असितव्रूः ) काले पुर्वसे बानी पानेवाली वह ( पृथिवी ) पृथिवी है, वह ( मां ) भूमिके ( रिवपीमन्तं ) प्रकाशपुत्र ( कृणोतु ) कर ॥ २१ ॥

भाषाार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! तू हम सबको एकत्र रहनेका स्थान देती है; हम सब लोगोंने रहनेके लिए तेरा विस्तार परीक्षा है; तू आकाशमें हिलते दुली हुए पतिते जाती है वह पति बहुत ही तेज है; जानी घूर, घोर, उत्ताही और ऐश्वर्यवाली, शत्रुका नाश करनेवाले और प्रुष्य ही श्रीकृष्णके साथ तेरी रक्षा कर सकते हैं; मनाओ और भोव पड़ी बर सकते; तू स्वयं सोनेके समान तेजस्वी है; उन्नीप्रकार हमें भी तेजस्वी कर और ऐसा कर कि हममेंसे कोई भी परास्पर द्वेष न करे, सब एक महत्से व्यापक कर ॥ १८ ॥

सब पदार्थ अग्निमय हैं । उस अग्निके कारण भूमि, ओषधीय, वनस्पति, जल ( वेपथिक ), वायु, मनुष्य, नाग, घोड़े इत्यादि प्राणियोंके शरीर जैसे तेजस्वी हो सकते हैं, उन्नीप्रकार हम मनुष्य को उन सब पदार्थोंके भोजन है, अपने ब्रह्म चर्मको रक्षा कर और ओषधीय अग्निके प्राणोंमें प्रयत्नित कर सबसे अधिक तेजस्वी हों ॥ १९ ॥

आकाशमें घातों और क्षया प्रकाश फैलनेवाली सूर्य नायकी एक बड़ी भारी अग्नि है । उत्तरा हुए इन्द्रको हमनद्वारा घातों और फैलनेके लिये तथा धुपको अग्नि और धुपको विधुलिके लिये मनुष्य जिस अग्निके पूत मादिते होय करते हैं । उसी अग्निके हम भी दिन रात हमन करते हैं ॥ २० ॥

जित हमारी मातृभूमिके घातों और अग्नि व्याप्त है और जिन भूमिकार बर्ष बाछा है, वह भूमि हमारे ज्ञान कीर्ति और पतको बलनेवाली हो ॥ २१ ॥

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हन्वमरंकृतम् । भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वर्णपात्रेन मर्त्याः ॥

सा नो भूमिः प्राणमार्गुर्दधातु जरदधि मा पृथिवी कृणोत ॥ २२ ॥

यस्ते गन्धः पृथिवि संवभूय यं विअस्तोषवयो समापः ।

यं गन्धर्वाः अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्रिषत कश्चन ॥ २३ ॥

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजन्तुः सूर्यावा विवाहे ।

अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्ने तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्रिषत कश्चन ॥ २४ ॥

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो र्षिः । सो-अग्नेषु वीरिषु यो मृमेपुत इत्तिषु ॥

कन्यायां वचो यज्ञमे तेनास्मां अपि सं संज मा नो द्रिषत कश्चन ॥ २५ ॥

अर्थ— मनुष्य-जित भूमिमें ( भूम्यां अवैकृतं ) अवैकृत सुवैकृत ( हव्यं ) मानुषियुक्त ( यज्ञं ) यत्त ( देवेभ्यः ) देवताओंको ( ददति ) देते हैं । इससे जित भूमिमें ( स्वर्णपात्र अत्रेन ) उत्तम अन्न पात्रेवीनेकी पशुके ( मर्त्याः मनुष्याः ) मरणपर्यन्त मनुष्य ( जीवन्ति ) जीते हैं । ( सा नो भूमिः प्राणं आयुः ) यह भूमि हमें वत्त आयु ( दधातु ) देवे और यही भूमि ( मा ) मेरी ( जरदधि ) अच्छी वृद्धि या उदरति ( कृणोतु ) करनेवाली हो ॥ २२ ॥

हे ( पृथिवि ! ) यस्ते गन्धः संवभूय पृथिवी । जो तेरेमें गन्ध पैदा होता है, ( यं ) जिस गन्धको ( भोग-घयः पिब्यति ) भोगधियां धारण करती हैं, ( ये ) जिसे ( आपः विअसि ) सब धारण करता है, जिसे ( गन्धर्वाः ) सूर्य और ( अप्सरसः ) च । फिरसे धारण करती है, ( य गन्धं ) जिस गन्धकी प्राणी ( भेजिरे ) भोगते हैं ( तेन ) उस सुगन्धिते ( मा ) मृत्तकी ( सुरभिं ) सुगन्धियुक्त ( कृणु ) कर । ( नः ) हम लोगोंमें ( कश्चन ) कोई भी ( मा द्रिषत ) किसीसे द्वेष न करे, सब लोग आपसमें मित्रतासे रहें ॥ २३ ॥

हे ( पृथिवि यः ते गन्धं पुष्करं ) जो तुम्हारी गन्ध कमलमें ( आविवेश ) प्रविष्ट हुई है, ( अग्ने ) वहिले ( यं गन्धं अमर्त्याः ) जिस गन्धको वायु आदि देवताओंने ( सूर्यायाः ) तथाके ( विवाहे ) विवाहके समय ( संजन्तुः ) धारण किया या ( तेन मां सुरभिं कृणु ) उस सुगन्धिते हमें सुगन्धित करो । ( कश्चन ) कोई भी ( नः ) हम लोगोंसे ( मा द्रिषत ) द्वेष न करे ॥ २४ ॥

हे ( भूमे ) भूमि ! ( वीरेषु पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु यः ते गन्धः भगः ) वीरपुरुषोंमें, स्त्रियोंमें, सामान्य पुरुषोंमें जो तेरा गन्ध बहुत तेजोमय कान्तिमय है, ( यः अग्नेषु उत मृमेषु इत्तिषु ) जो धोड़ोंमें, घोड़ाओंमें, हाथियोंमें, ( यत्त यज्यः ) जो तेज है, ( कन्यायां वचो ) बिना व्याही कन्याओंमें जो तेज है, ( तेन ) उस दिग्ध तेजसे ( अस्मन् अपि ) हमें भी ( संजन्तुः ) संवृत्त कर । ( यज्ञमे मा द्रिषत ) हममें कोई किसीसे द्वेष न करे ॥ २५ ॥

भावार्थ— जिस हमारी भूमिमें मनुष्य यत्त करते हैं और उसमें उत्तम उत्तम पदार्थोंका हवन करते बायु और सत्त आदिको मुद्रा करते हैं, जिस भूमिमें यज्ञोंके कारण उत्तम वृद्धि होकर विपुल सत्त उपजता है, जिसको खाकर मनुष्य मानवते निवास करते हैं वह मातृभूमि हमको उत्तम प्राण और पूर्ण आयुष्य देनेवाली हो ॥ २२ ॥

हे मातृभूमि ! जो तुझमें उत्तम सुगन्धि है, वह भोगधियां और यत्तसृष्टियोंमें प्रगट होती है, उसी सुगन्धिको हमें अपनी किरणोंसे तेज करते हैं । हमें उस उत्तम सुगन्धिते भूषित कर और हमारे बीच कोई आपसमें किसीसे भी द्वेष न करे, सब लोग परस्पर मैत्रीभावसे रहें ॥ २३ ॥

हे मातृभूमि ! जो सुगन्धि तुम्हारे कमलोंमें है, सुखोंवयके समय जिसे वायु से जाती है, उस सुगन्धिते हमें सुगन्धित करो । हममें कोई किसीसे द्वेष न करे । हममें सबका एक दुआरेके साथ स्नेह-बन्धे और सब समानके हैं ॥ २४ ॥

हे मातृभूमि ! वीर पुरुषों तथा सामान्य स्त्री, पुरुषोंमें, हाथी, घोड़े, घोड़ावें आदिमें, कन्यायाँ, कन्याओंमें जो तेज है, वह हममें भी वषणवसे ही हो । हममें कोई भी किसीसे द्वेष न करे ॥ २५ ॥

शिला भूमिरदमा पांसुः सा भूमिः संवृता घृता । तस्यै हिरण्यवससे पृथिव्या अरुं नमः ॥२६॥  
यस्यां वृक्षा वानस्पत्या भ्रुवास्तित्थन्ति निश्वाहा । पृथिवीं निश्वाहायसं घृतानुच्छावंदामसि ॥ २७ ॥  
उदीराणा उतासीनास्तित्थन्तः प्रक्षामन्तः । पञ्चा दक्षिणसन्ध्याभ्यां मा व्यधिष्यहि भूम्याम् ॥ २८ ॥  
विमृश्वरीं पृथिवीमा वंदामि सुमां भूमिं जज्ञाणा वावृष्टानाम् ।  
ऊर्जे पुष्टं विभ्रतीमन्नमागं घृतं त्वाभि नि वीदिम भूमे ॥ २९ ॥  
ब्रह्मा न आर्यस्तन्ये हरन्तु यो नः सेदुरक्षिये तं नि दंभः । पवित्रेण पृथिवि मोर्त्युनामि ॥ ३० ॥

अर्थ— जो ( शिला अदमा पांसुः ) जिला, पर्वत, पत्थर और घृतवृक्ष ( भूमिः ) भूमि है ( सा भूमिः ) वह भूमि हम लोगोंके बिना, अनेक विमान और चोरतले ( घृता ) भलीभांति रक्षित हुई, ( संघृता ) अच्छी तरह पोषताके साथ पारण की हुई है, ( तस्यै हिरण्यवससे ) सोनेकी सवोंवाली उस भूमिसे हम ( नमः ) नमस्कार करते हैं ॥ २६ ॥

( पञ्चा ) जिलों ( वानस्पत्याः ) वनस्पति ( वृक्षाः ) पेड़ और लता आदि ( दिग्भ्रता ) लता ( धव्या ) निचर ( तित्थन्ति ) रहते हैं, ( दिग्भ्रतायसं ) घुबोलत गुबोलते की सबकी पारण करनेवाली है, उस ( घृता ) पारण की गई अर्थात् भलीभांति सुरक्षित रखी गई, ( पृथिवीं अष्ट ) पृथिवी की हम भक्त्या ( आचक्षामसि ) प्रशंसा करते हैं ॥ २७ ॥

( उदीराणाः ) बल्ले किरते ( उता आसीनाः ) हुपे ( तित्थन्तः ) लगे हुए ( दक्षिणसन्ध्याभ्यां पञ्चपां प्रक्षामन्तः ) बाहिनें या बायें पांखों बहलते हुए हम ( भूम्यां मा व्यधिष्यहि ) इस भूमि पर किसीकी बुलन्द हैं ॥२८॥

( विमृश्वरीं ) विशेष सोचनेके योग्य ( प्रक्षणा ) परमात्माके ( आचक्षामां ) बड़ाई गई ( ऊर्जे ) बल बढ़ाने-वाली ( पुष्ट ) पुष्टि करनेवाली ( घृतं अन्नमागं च ) घी और आनेके पदार्थ अन्न आदि ( निभ्रतां ) पारण करनेवाली ( पृथ्वीं ) लम्बी चौड़ी ( सुमां ) प्राणिमात्रके निवास योग्य ( भूमिं ) मातृभूमिसे ( आचक्षामि ) प्रार्थना करते हैं । हे ( भूमे ) हमारी मातृभूमि ! ( रक्षां ) रक्षा ( अभिमिषीदेम ) हम आसुरा के ॥ २९ ॥

है ( पृथिवि ) नः लगे भूमे । हमारे शरीरकी गूँड़िके लिये ( शुद्धा आर्यः ) निर्मल जल ( हरन्तु ) बहा करें । ( या न ) जो हमको ( अमिये ) अनिष्ट है या शत्रु नहीं है ( सेदुः ) उसे जलग कर । ( पवित्रेण ) पवित्र करने ( मा उरपुनामि ) अपनेकी से पवित्र करता हू ॥ ३० ॥

भाषार्थ— जिला हमारी मातृभूमिके ऊपर जिला, पत्थर और घृत हैं और जिले भीतर सुवर्चरतादिक बहुतसे अमूल्य वस्तु हैं, उस मातृभूमिसे हम नमस्कार करते हैं । जबतक शान, दीर्घ आदि शुभ हममें बने रहते हैं तभी तक हमारी मातृभूमिकी रक्षा होती रहे ॥ २६ ॥

जिला हमारी मातृभूमिके घृत और वनस्पति बहुतप्रकारसे हैं और सब हिस्सा होकर रहते हैं जो अनेक अनेक प्रकारसे पारण किया है, अन्न बढ़ानेवाले, पुष्ट और पुष्टिकारक अनेक भोजनके पदार्थ अन्न आदि जो उत्पन्न करती है, सबी चौड़ी और प्राणिमात्रों रहनेके योग्य है, उस भूमिसे हम प्रार्थना करते हैं कि हे मातृभूमि ! तुम हमें सहारा दो ॥२७॥

हे हमारी मातृभूमि ! ॥ पाठों मोरसे हमारी गूँड़िके लिये निर्मल जल बहाओ हो । जो कोई हमारा अशुभ करनेकी इच्छा करे अपना अनिष्ट करे, उसके साथ हम भी बंधा ही बर्ताव करें और जगृष्ट उद्योग करके हम अपनी हर प्रकारसे उन्नति करें ॥ ३० ॥

हम किसीके बुलन्द कारण न करें ॥ २८ ॥

जिसके ऊपर की सतहकी लक्ष्मा करनेसे अनेक लाभ हो सकते हैं, जितो अन्न सब दक्षिणान् पारमेस्वरने अपनी दक्षिणसे पारण किया है, अन्न बढ़ानेवाले, पुष्ट और पुष्टिकारक अनेक भोजनके पदार्थ अन्न आदि जो उत्पन्न करती है, सबी चौड़ी और प्राणिमात्रों रहनेके योग्य है, उस भूमिसे हम प्रार्थना करते हैं कि हे मातृभूमि ! तुम हमें सहारा दो ॥२९॥

हे हमारी मातृभूमि ! ॥ पाठों मोरसे हमारी गूँड़िके लिये निर्मल जल बहाओ हो । जो कोई हमारा अशुभ करनेकी इच्छा करे अपना अनिष्ट करे, उसके साथ हम भी बंधा ही बर्ताव करें और जगृष्ट उद्योग करके हम अपनी हर प्रकारसे उन्नति करें ॥ ३० ॥

चास्ते प्राचीः । अदिशो या उदीर्चास्ते भूमे अधराचार्य पथात् ।

स्योनास्ता मद्यं चरेते भवन्तु ता नि पंथं भुवने शिथियाणः ।

॥ ३१ ॥

मा नः । पश्चान्मा पुरस्ताद्भुदिष्टा मोत्तरादधरादुत् ।

स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन्परिपन्थिनो वरीषो यावया वृषम् ।

॥ ३२ ॥

यावत्सेऽभि विपद्यामि भूमे ध्वेण मेदिना । तार्वन्मे चक्षुर्मा मेष्टोचरामुचरां समां ।

॥ ३३ ॥

यच्छपांनः पर्यावन्ते दक्षिणं सम्पद्यामि मम पार्थम् । उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत्पृष्टीभिरधिमेमे ।

॥ ३४ ॥

मा हिंसीस्त्वन्नं नो भूमे सर्वस्य प्रतिशोषारि

अर्थ— हे ( भूमे ) मातृभूमि ! ( याः ते प्राचीः ) जो तुम्हारी पूर्व दिशा है, ( याः उदीचीः ) जो उत्तरकी दिशा है, ( याः ते अदिशः ) जो तेरी उपविष्टा अर्थात् अग्नि, नैर्ऋत्य, वायव्य, ईशान ये चार कोनोंकी दिशाएं हैं, ( याः ते अधरात् ) जो तेरे नीचे है, ( याः ते पश्चात् ) जो तेरे पृष्ठभागमें या पीछे है ( ताः ) उन सब दिशाओंमें ( चरते ) चलते फिरतेवाले ( मद्यं स्योनाः भवन्तु ) मुझे लोग तुझ के हैं । ( भुवने ) इस देशमें ( शिथियाणः ) खूनेवाले हम ( मा निपथं ) कहीं भी नीचे न गिरें ॥ ३१ ॥

हे ( भूमे ! पश्चात् नः मा भुदिष्टाः ) मातृभूमि ! जो तुम्हारे पृष्ठभाग हैं वे हमारा पाठ न करें, ( मा पुरस्तात् मा उत्तरात् उत अधरात् मा भुदिष्टाः ) जो तुम्हारे पूर्व हैं, उत्तर हैं, या नीचे हैं, वे भी हमारा पाठ न करें, ( स्वस्ति ) हमारा कल्याण हो । ( परिपन्थिनः ) शत्रु लोग हवें ( मा विदन् ) न जानें, ( किञ्च ) उन शत्रुओंके ( पथं ) पथके लिये ( वरीषः ) हम लोगोंमें सबसे श्रेष्ठ पौर ही ( यावया ) जाय ॥ ३२ ॥

( भूमे मेदिना ) हे हमारी मातृभूमि ! अपने प्रकाशसे आनंद देखते ( सूर्येण ) सूर्यकी सहामतासे ( यावत् ते अभि विपद्यामि ) बहातक सब ओर हम तुम्हारे विस्तारको देखते हैं, ( तावत् उत्तरां उत्तरां समां मे चक्षुः मा मेष्ट ) बहातक मेरी उपर बहने पर भी मेरी इन्द्रियां नेत्र आदि अपना काम करनेमें शिथिल न हों, अपितु कहींसे उनमें कमी न हो, अपनी पूरी उपर तक हम सब उत्तम कर्म करते रहें ॥ ३३ ॥

हे ( भूमे ) हमारी मातृभूमि ! ( यत् ) जब ( शयानः ) सोते हुए ( दक्षिणं सर्वं पार्थम् ) दाहिने ओर घावें ( अभिपर्यावन्ते ) करबट के ( यत् रजः ) जब सुषर ( प्रतीचीं ) पश्चिमकी ओर पांव कर ( उत्तानाः पृष्टीभिः ) पीठ नीचे कर ( अधिशोमे ) शकन करें, उन स्थानमें ( सर्वस्य प्रतिशोषारि ) सब लोगोंको सहारा देनेवाली ( भूमे नः मा हिंसी ) हे हमारी मातृभूमि हमारा पाठ न कर ॥ ३४ ॥

भाषार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! तुम्हारी जो जो दिशाएं और उपविष्टाएं हैं, उनमें सब मनुष्य तुम्हारे हित करनेवाले होंगे, इसीप्रकार मैं हितके लिए बल करते हूँ हम भी उन सबका कल्याण करें, हम जहाँ कहीं रहें अपनी योग्यता बढ़ाते रहें, मुझसे रहें और हमारा अपमान कभी न हो ॥ ३१ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! हमें किसी प्रकारसे हानि न पहुँचे, सब तरफसे हमारी उन्नति ही हो । हमारी चालोंको हमारे शत्रु न समझ सकें और हमारे नेत्र लोग सदा हमारे शत्रुओंके नाश करनेका प्रयत्न करते रहें ॥ ३२ ॥

हे मातृभूमि ! जबतक हम प्रकाश और ज्ञानकी सहामतासे मेरी बाहरी भीतरी स्थिति सुख दुःखसे देखते रहें, तबतक हमारी बाहरी इन्द्रियां और भीतरी बुद्धि अपना अपना काम करनेमें समर्थ रहें ॥ ३३ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जिस समय हम तेरे नष्ट विधाम करनेके लिये जाएँ, जाएँ मरया सोये हूँ उपर सोवें उस समय तुम हवें आशय की, विचारों कि हम बेतकके सोवें और कोई हमारा पाठ न कर सके ॥ ३४ ॥

यत्ते भूमे विरुनामि विप्रं तदपि रोहत । मा ते मयि विभृम्वरी मा ते हृदयमपिम् ॥ ३५ ॥

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षारिं शरदैवन्तः शिखिरो वसन्तः ।

ऋतवस्ते विदिता हायनीरहोरात्रे प्राथिवि नो दुहाताम् ॥ ३६ ॥

पार्ष सपे विजमाना विभृम्वरी यस्यामार्सन्नप्रयो ये अप्सवन्तः ।

परा दस्यन्दर्दती देवपीप्तिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृषम् । भृकार्य दध्रे वृषमाप वृष्णे ॥ ३७ ॥

यस्यां सद्यो हविर्धाने यूषो यस्यां निर्मीयते । भृक्षाणो यस्यामर्थन्त्यग्निमः सात्रा पञ्जुर्विदः ।

युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पार्थिव ॥ ३८ ॥

अर्थ— हे ( भूमे ) हमारी मातृभूमि ( ते ) तुममें ( यत् विरुनामि ) हमने जोतकर हम जो बोधे ( तत् विप्रं रोहतु ) वह जल वगे और बड़े । ( विभृम्वरी ) हे शिखी जोतनेके योग्य भक्तभूमे । ( ते ) तुम्हारे ( मयि ) नाक स्थानोंमें बिताती तरहकी क्षति या चोट न पहुँचि और ( ते अपिम् ) तुम्हारा अर्पित ( हृदय ) मन या चित्त ( मा ) दुःखित न हो ॥ ३५ ॥

हे ( प्राथिवी भूमे ) विस्तृत मातृभूमि । ( ते ग्रीष्म वर्षारिं शरदैवन्तः शिखिरा वसन्तः ) तुममें जो गर्मी, शरत्काल, शरद्, हेतल, शिखर, वसन्त ( ऋतवस्ते हायनीरहोरात्रे ) ये छ ऋतु वर्षाभरने ( विदिता ) स्थापित की गईं हैं ये और ( दुहाताम् ) शिर तथा रात ( नः दुहातां ) हमको मृत देनेवाले पदार्थ देवें ॥ ३६ ॥

( या विभृम्वरी ) जो विशेष सौजन्यके योग्य है, ( विजमाना अप्सवन्ते ) जो हिलती हुई चलती है, ( ये अप्सवन्ते ) जो मेघोंमें ( अन्तः शरत्काल ) शिशिरके रूपमें अग्नि है ये ( यस्यां आसन् ) निजमें हैं, ऐसी हमारी मातृभूमि ( देवपीयूषम् ) वैश्वेति हितक ( दस्युन् ) शान्तमार्गमें उन्मत्तक अनावर्तके नाशकर्ता ( शक्राय ) समर्थ ( युज्यन्ते ) दीर्घपुत्र और ( वृषमाप ) सिवम करनेवालेके ( दध्रे ) धारण करती है और दस्युको ( पयददती ) दूर करनेवाली वह मातृभूमि ( इन्द्रा वृणाना ) इन्द्र अर्थात् पीरली करती है स्वीकार करती है, ( गृन्ते म ) पुत्र का अर्थात्की नहीं ॥ ३७ ॥

( यस्यां सद्यो ) जिस भूमिमें घर है ( हविर्धाने ) जिसमें हविष्य अर्पित हवनके पदार्थ मुरझित रह सकते हैं ( यस्यां यूषा निर्मीयते ) जिसमें यज्ञस्तन बनाये जाते हैं, ( यस्यां पञ्जुर्विदः ऋत्विजः ) जिसमें ऋतुर्वेदके गानेवाले ब्राह्मण या करने वा करनेवाले ( यस्यां भृक्षाणः कृतिविधिः उन्मत्ताः च अर्चन्ति ) जिसमें श्वाधेय और सामवेदके गानेवाले ब्राह्मण श्वाधेय वन करमाणाका पूजन करते हैं और ( सोम पातये ) सोमपानके लिये ( इन्द्राय युज्यन्ते ) इन्द्रका पूजन करते हैं ॥ ३८ ॥

भाषा— हे हमारी मातृभूमि ! बड़ी तुम ऊँची कीची हो उसे तप करके जो हम बोध वह जल वगे और बड़े । तुम्हारे ऊँचा नीचा स्थानों हमारे अन्तर्गत और निर जानेकी सम्भावना है, जो तुम्हारे लिये मल करते हुए वर्षास्थानमें और क्षति न पहुँचे और तुम्हारी उन्नतिके लिये जो अपना तन, मन अर्पित किये हैं वे कभी दुःखित न हों, हम सदा प्रसन्न चित्त रहें ॥ ३५ ॥

हे मातृभूमि ! छ ऋतु होनेके उत्तम पुत्र तुम्हारेमें ही हैं और किसी देशके भूमिमें छ ऋतु नहीं होती । जो वर्षोंकी ये छ ऋतुयें अपने अपने समयमें अपने फल कृत पाविते हैं सल बेठी रहें, उन उरभूतके रात और दिन रात्र मणि हमें पृथक्ने हीं ॥ ३६ ॥

जो हमारी भूमि ऐसी है कि इसे जितना ही सोचते रहो इन्हीं सामरायक सार वस्तु मिलती रहें, हिलते, डोलते, चलते मेघोंमें विजलके आकारमें अग्नि जिसमें है वह हमारी मातृभूमि सज्जनोंको कुछ देनेवाले गुणोंका कली शरीरोंके लिये लाभ करती है, हमारी मातृभूमि दानुनायक शरीरोंकी ही अर्थमें धारण करती है ॥ ३७ ॥

जहाँ वेदके ज्ञाननेवाले ब्राह्मणोंके बार बार मत किया हैं सते विद्वद्भ्यः कि वह हमारी मातृभूमि पवित्र वन भूमि है ॥ ३८ ॥

यस्यां पूर्वं भूतकृत प्रथमो वा चंदानृचुः । सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तर्पसा सह ॥ ३९ ॥

सा नो भूमिः दिशतु यद्धनं कामयामहे । मर्गो अनुप्रवृद्धाभिर्न्द्र एतु पुरोगवः ॥ ४० ॥

यस्यां गापन्ति नृपन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलिवाः । शुष्यन्ते यस्यांमाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ।

सा नो भूमिः प्र शुंदतां सपत्नानसपत्नं मां पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥

यस्यामर्थं व्रीहिपयौ यस्यां इमाः पञ्च कृषयः । मूर्ध्न्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु धर्मदेसे ॥ ४२ ॥

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्यां विकुर्वते ।

प्रजापतिः पृथिवी विश्वगर्भमाशांमाशां रण्यां नः कुषोतु ॥ ४३ ॥

अर्थ— ( यस्यां पूर्वं भूतकृतः ) जिस भूमिमें पहिले अद्भुत काम करनेवाले ( प्रपयः वेधसः ) अतीन्द्रिय-  
वर्षा और ज्ञानी ( सप्त सत्रेण ) सप्त प्रकारके सत्र आदि ( यज्ञेन ) यज्ञसे या संस्कार दान दान आदि उत्तम कार्यसे तथा  
( तपसा ) वनसे ( गाः चंदानृचुः ) उत्तम जानकीके द्वारा स्तुति करते रहे हैं ॥ ३९ ॥

( सा नो भूमिः ) यह हमारी मातृभूमि ( यत् धनं ) जो धन हम ( कामयामहे ) चाहते हैं वह हमें  
( दिशितु ) दे, ( मर्गः ) ऐश्वर्यसंपन्न सोप अपने ऐश्वर्यसे दूर और पुरोकि ( अनुप्रवृद्धां ) सहायक हों और  
( इन्द्रः ) इन्द्र दानका नाश करनेवाले बीरोंका ( पुरोगवः ) नेता होकर ( एतु ) दान वर वसाई करे ॥ ४० ॥

( यस्यां भूम्यां मर्त्याः ) जिस भूमिमें मनुष्य ( गापन्ति ) गाते हैं, ( नृपन्ति ) राजते हैं, ( व्यैलिवाः )  
चित्तवर्धन और लोग अपने राज्यकी रक्षाके लिये ( शुष्यन्ते ) मृद करते हैं, ( यस्यां माक्रन्दः ) जिसमें शीघ्रके हिन-  
हिनतेका शब्द होता है, ( दुन्दुभिः च वदति ) नगाडा बजता है ( सा नो भूमिः ) यह हमारी मातृभूमि ( सपत्नान् )  
सपत्नीको ( प्रणुदतां ) दूर भगा दे । वह ( पृथिवी ) भूमि ( मा ) हमें ( असपत्नैः ) सपत्नीहित ( कृणोतु ) करे ॥ ४१ ॥

( यस्यां व्रीहिपयौ ) जिसमें चावल, जौ, गेहूँ आदि दान बहुत उपलब्ध हैं, ( अर्धं ) धानके पक्षमें जहाँ अधिक-  
ताते हैं, ( यस्यां इमाः पञ्च कृषयः ) जहाँ पाच प्रकारके सोप विज्ञान, दूरबीन, व्यापारी, कारीगर और शीकर रहते हैं,  
( धर्मदेसे ) बरतता होनेसे जहाँ धर्म आदि अष्टके उपलब्ध हैं, ( पर्जन्यपत्न्यै ) पर्जन्य वर्षात् बसति जिस भूमिका  
पालन होता है, उस ( भूम्यै नमः अस्तु ) मातृभूमिमें नमस्कार है ॥ ४२ ॥

( यस्याः क्षेत्रे विकुर्वते ) जिसके  
प्रत्येक प्रायतनमें मनुष्य अपने अपने काम अच्छे तरहसे करते हैं, ( प्रजापतिः ) प्रजापति पातक ( विश्वगर्भो ) सब पदार्थोंके  
पैदा करनेवाली ( पृथिवी ) उस हमारी मातृभूमिकी ( आशां आशां ) प्रत्येक विशालीमें ( रण्यां ) रमणीय करे ॥ ४३ ॥

भावार्थ—हमारी मातृभूमि ऐसी है जिसमें अतीन्द्रियवर्षा, सख्तियोंकी रक्षाके लिये धर्म बड़े काम करनेवाले,  
मर्मभूमिका और आज्ञापालने सुशील मनुष्य हुए हैं, उस मातृभूमिकी हम स्तुति करते हैं ॥ ३९ ॥

जितने सुखकी हम इच्छा करें उत्तम मातृभूमि हमें दे । ऐश्वर्य और धनसम्पन्न सोप अपने ऐश्वर्य और वनसे  
शीरोंकी सहायता करें और और पुरुष पुरोभ होकर धर्मके साथ शत्रुओंका नाश करनेके लिये जागे बने ॥ ४० ॥

जिस भूमिमें मानवके बाने बस रहे हैं, जहाँ लोग प्रसन्नतासे नाचते हैं, यहाँ हैं और और सोप घोरताके असह्य  
भरे अपने राज्यकी रक्षाके लिये मृद करते हैं, यहाँ जहाँ हिनहिनाते हैं, नगाडे बजते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे धर्म  
वोका नाश करके हमें अनुदित करे ॥ ४१ ॥

जहाँ चावल, गेहूँ, जौ आदि तथा और और धानके पक्षमें बहुत होते हैं, जहाँ विज्ञान, दूर, व्यापारी, कारीगर  
तथा तेजस लोग यह पांच प्रकारके मनुष्य आनन्दसे बसते हैं, जिस भूमिमें निर्यात समर्थ बुद्धि होकर सम्पूर्ण पारंपरिक  
उत्पन्न होनेसे लोगोंका योग्य पालन होता है, उस मातृभूमिकी नमस्कार है ॥ ४२ ॥

जिस मातृभूमिमें वेदोंद्वारा बसाये अनेक प्रकारके, जिसके प्रत्येक प्रायतनमें मनुष्य अनेक प्रकारके अच्छे अच्छे उद्योगोंमें  
वर्धन लगे रहते हैं, वर्षाकी जो पानी बसी है, जोई भाग जिसका सुखा और उज्ज्वल बनी है, जहाँ सब तरहके पदार्थ पैदा होते  
हैं, उस भूमिकी प्रजाका पालन पूर्ण करे वर्षात् जहाँ विशालका अधिक प्रचार करे और वह भूमि प्राकृतिक पदार्थों तथा  
तत्त्वोंके सुलभ रहे ॥ ४३ ॥

मूलं पित्रंती गुरुभृद्भद्रपापस्य निषर्गं तितिक्षुः ।

नरादेणं पृथिवी संविदानां संक्रात्य वि जिहीते मुगायं

॥ ४८ ॥

ये त आरण्याः पशवो मृगा वनं हिताः सिंहा व्याघ्राः पुंसादुत्थान्ति ।

उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामितं श्लोकां रसो अर्प बाधयासत्

॥ ४९ ॥

ये गन्धर्वा अंशुरसो ये चारायाः किमीदिनः । पिशाचान्त्सर्वा रक्षसि तान्स्मज्ज्मि यावय ॥ ५० ॥

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसा सुपर्णाः शकुना वयांसि ।

यस्यां वार्तां मातरिश्वयंतु रक्षांसि कुण्डंश्चयवयंश्च बुधान् वार्तस्य प्रवाप्तुं वामनुं वास्यांसिः ॥ ५१ ॥

अर्थ— ( गुरुभृद् ) भारी पशुपक्षी अपनी ओर खींचनेवाली और ( मूलं ) धारण करनेकी शक्ति ( पित्रंती ) धारण करनेवाली ( भद्रपापस्य ) धर्मात्मा और पापात्मा मनुष्यके ( निषर्गं ) मरगको ( तितिक्षुः ) सहती हुई वह ( पृथिवी ) भूमि ( नरादेणं ) पक्ष्य अल देनेवालेको ( संविदानां ) अच्छी तरह पाकर धर्मात्मा अपनी बरसातवाली होकर ( संक्रात्य ) अच्छी किरणवाले ( मुगायं ) अपने किरणोंसे अशक्तिशालीको पक्षि करनेवाले सुपर्णके चारों ओर ( विजिहीते ) प्रमत्ती है ॥ ४८ ॥

( पृथिवि ये ते वने हिताः ) हे हमारी मातृभूमि ! जो तेरे वनमें रहनेवाले ( सिंहा, व्याघ्रा, पुंसादः ) सिंह, बाघ और दूसरे प्राणियोंकी हिंसा करनेवाले मांसहारी जीव ( आरण्याः पशवः मृगाः ) वनमें रहनेवाले मनुष्यव शृंगभारी भूपाशिक ( चरन्ति ) चलते फिरते हैं उनको और ( उलं वृकं दुच्छुनां ) वनस्पत, पापल कुत्ते ( श्लोकां ) भालू, भेड़िये आदि हिंसक पशुओंको ( इतः अस्मत् अपमायय ) वहाँ हमसे दूर रख ॥ ४९ ॥

हे ( भूमे ये गन्धर्वाः ) मातृभूमि ! जो हिंसक आलतायी हमारे सब करनेको उद्यत हैं ( अंशुरसः ) कर्मपरायण अलतायी हैं, ( ये चारायाः ) जो निर्धन हैं ( किमीदिनः ) पर धनके हारनेवाले हैं, ( पिशाचान् ) मांस खानेवाले हैं, ( रक्षांसि ) रक्षकों स्वभाववाले हैं, उन ( सर्वान् यस्मत् यावय ) सबको हमसे दूर हटा ॥ ५० ॥

हमारी वह मातृभूमि है ( यां द्विपादः हंसाः सुपर्णाः शकुनाः वयांसि पक्षिणः संपतन्ति ) वहाँ दो पाँखवाले जीव हंस, गवय आदि पक्षी उड़ते हैं, ( यस्यां भततिश्चा यात ) जिसमें अलतायों रहनेवाली या संभार करनेवाली हवा ( रक्षांसि कुण्डम् ) घूल उड़ती हुई ( पुंसांश्च व्यावयन् ) वनोंको अपनी उल्लासती हुई ( रंयन्ते ) रहती है। ( तस्य यातस्य प्रयां उपयां ) उड़ जानेकी गतिवा ( अर्थः ) तेज या प्रकाश ( अनुवाणि ) अनुसरण करना हुआ चलता है ॥ ५१ ॥

भावार्थ— सुब पशुपक्षी अपनी ओर खींचने लगे। धारण करनेकी शक्ति जिसमें है, उसे ओर घूरे दोनोंको जो धारण किये है, दोनोंके मरगको जो सह लेती है। अच्छा अल बरसातवाले देखते सुब सुब जिसकी अशक्तिशाली अपनी किरणोंसे हटा देता है, ऐसी हमारी मातृभूमि विशेष प्रकारसे सुपर्णके चारों ओर प्रमत्ती है ॥ ४८ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो तेरे हित जीव, शिकारी जानवर, चौपाये, भेड़िये, पापल कुत्ते, भालू इत्यादि हैं; उन सबको हमसे दूर रख ॥ ४९ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो हिंसक, आलसी, निर्धन, धरम हारनेवाले, मांसहारी, अमात्मवारी नास्तिक और आलतायी हैं, उनको दूर कर ॥ ५० ॥

जिस भूमिमें सर्वदा आलतायों हंस आदि सबके आलसमें उड़ते हैं, वहाँ भूमिमें उड़ते हुए, पक्षोंकी उल्लासते हुए-पामु मेरोबंदीक लगातेसे रहता है और अंधधुंध अल वहाँ ओरसे अलती है, वह हमारी प्रिय मातृभूमि है ॥ ५१ ॥



यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोसत्रे विहिते भूम्यामग्निं ।

वर्षेण भूमिः पृथिवी श्रुतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि ॥ ५२ ॥

यौत्रे म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे ज्यत्नः अग्निः स्वर्पे आपो मेघा विद्यं देवाश्च सं ददुः ॥ ५३ ॥

अहर्बन्धि सहमान उत्तरे नाम भूम्याम् । अमीषादसि विष्वापाडाद्यामाशां विषासहिः ॥ ५४ ॥

अदो यद्वि प्रथमाना पुरस्ताद्वैरुक्ता न्यसर्पो महित्वम् ।

आ त्वां सुभुवमविश्वत्तदानीमकल्पयथाः अदिश्वयवंसः ॥ ५५ ॥

ये ग्रामा यदरुणं याः सुभा अग्नि भूम्याम् । ये संग्रामाः सामेत्तपस्तेषु चार्क वदेम ते ॥ ५६ ॥

अर्थ— ( यस्यां भूम्यां कृष्णं अरुणं च ) जिस भूमिमें तपोमय अथकार और प्रकाशमय दिन ( संहिते ) अहर्बन्धि होकर ( अहोरात्रे ) दिन और रात [ अधिविहिते ] बनते हैं, ( सा पृथिवी भूमिः ) वह धातु भूमि ( वर्षेण वृता-वृता ) वृष्टिसे ढकी हुई ( भद्रया ) कल्याणके साथ ( प्रिये धामनि-धामनि ) हितकारी स्थानोंमें ( नः ) हमको ( दधातु ) स्थापित करे ॥ ५२ ॥

( यौः ) प्रकाशमय आकाशः पृथिवी भूमि ( अन्तरिक्षं ) आकाश और पृथ्वीके बीचका स्थान ( अग्निः सूर्यः ) अग्नि और सूर्य ( विश्वे देवाः ) च ) सब प्रकाश करनेवाले देव तथा विद्वान् सोम, विजयी वा व्यवहारचतुर ( इदं ) ये सब ( मे ) मुझको ( मेघां ) धाराप्रवृत्तवासी हुई और ( ज्यत्नः ) तेज ( संददुः ) लपकी तराहें ॥ ५३ ॥

( अहं राहुमासः ) मैं भगनी, सररी, तुल, कुल, अहू सेनेवाला ( नाम ) वन और अग्निलोके ( उत्तरः ) उत्तरातर ( भूम्यां ) भूमिनी ( अद्यां आशां ) हरएक दिशाओंमें ( विषासहिः ) विशेष विजयी, अमीषात् ) सब और पराक्रम करनेवाला ( विश्वापाद् ) सब जगुओंका मात्र करनेवाला ( अदिः ) हूँ ॥ ५४ ॥

हे ( देवी ) विष्व मानुषी । तू ( यत् ) जब ( पुरस्तात् ) पहिले ( देवेः ) देवों और विद्वान् विजयीवृद्धा व्यवहारचतुस्र लोको के द्वारा ( प्रथमाना ) प्रथमतः होकर ( उत्ता ) प्रवृत्त हुई, तब ( व्यसर्पे ) विजय जगत्को वृद्धी ( तदानीं ) तब तुझे ( चतस्रः प्रदिशः ) चारों दिशाओंमें ( सुभूतं महित्वं ) बड़ी प्रतिष्ठा ( अकल्पयथाः ) प्राप्त हो गई, हे भूमि वह तेरी प्रतिष्ठा ( तया ) तुझमें ( आविद्रात् ) अब भी बढ़ती ही हो ॥ ५५ ॥

( ये ग्रामाः ) वो गांव या नगर ( यत् अरुणं ) वो वन ( याः सुभा ) वो राजतला ग्वातला, पर्वतला भावि ( ये संग्रामाः ) वो युद्ध ( याः च समिपयः ) वो बड़ी बड़ी परिवर्त ( अधिभूम्यां ) हमारी भूमिमें ( सन्ति ) हैं ( तेषु ) उन सबमें ( ते ) तुम्हारे बारेमें ( चाय वदेम ) बजला कहें ॥ ५६ ॥

भाषार्थ— जिस भूमिमें ओक प्रकाशले रात और दिन होते हैं और उसकी सहा पुत्री व्यवस्था रहती है, वह हमारी विसृष्ट मातृभूमि हमें हितकर स्थानोंमें सुखसे रखे ॥ ५२ ॥

स्वापद य ज्वनम, घेतन य अवेतन सब पराजितोंको सहस्रवृत्तों हमारी हुई बड़े और कीर्तिशायी चारों ओर व्यापक हो ॥ ५३ ॥

मे अपनी मानुषीने लिये तथा उसके कुल विचारण करनेके लिये हर तरफके ऋतु ग्रहण करनेको तबराह ॥ और प्रयावने सब जगुओंको परास्त बरका । एक भी धातुरी रहने नहीं देना ॥ ५४ ॥

हे मातृभूमि । पहलेके तोय जब तुम्हारी स्तुति करते थे, जब समय तुम्हारी कीर्ति चारों दिशाओंमें फैल गयी थी, बड़ी तुम्हारा सब अब भी बँगा हो चले ॥ ५५ ॥

हे हमारी मानुषी । तुम्हारेमें कहाँ कहाँ नगर, नद, सम, परिवर्त, संग्राम बिना अनुपम वृद्ध हो, कहाँ कहाँ हम तुम्हारी प्रशंसा करें । अर्थात् बड़ी तुम्हारे अहितनी बात न कहें ॥ ५६ ॥

अमं इत् रजो दुधुवे वि तान् जनान्य आक्षिपन्पृथिवीं यादज्ञावत् ।

गन्नाग्रेत्वंरी सुर्वेनस्य गोपा वनस्पतीनां गृधिरापेधीनाम्

॥ ५७ ॥

यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि यदीधे चर्द्धनन्ति मा । त्विषीमानस्मि जूतिमान्वान्यान्हन्मि दोषतः ॥ ५८ ॥

शन्तिषा सुरभिः स्योना कीमालोघ्नी पर्यस्वती । भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पर्यसा सह ॥ ५९ ॥

यामन्यैच्छद्विषां विमर्कमन्तरण्ये रजसि प्रविष्टाम् ।

भुजिष्ये पात्रं निहितं गुहा यद्राविर्मोर्गे अमवन्मातृमर्शः

॥ ६० ॥

अर्थ— ( याद् ) जब ( पुथिरी ) भूमिमें कोई अन्यायके ( आक्षिपन् ) आकार बने, तब ( तान् जनान् ) उन राजावाले मनुष्योंको ( अम्यः रजः इय वि दुधुवे ) नित्यप्रकार चौका अपने शरीरको हिलाकर दाँवरकी घुलकी झाड़ देता है, उसीप्रकार यह भूमि झाड़ दे अर्थात् मर कर दे । यह भूमि ( गन्ना ) प्रत्यक्ष, ( अग्रेत्वंरी ) मध्यभागमें पतव जानेवाली, ( भुधनस्य गोपा ) संसारको रक्षा करनेवाली ( वनस्पतीनां ओषधीनां च गृभिः ) वनस्पति और औषधियोंको ग्रहण करनेवाली है ॥ ५७ ॥

( याद् ) मैं अपने राष्ट्र या देशके सम्बन्धमें जो ( घदामि ) कहूँ ( तन् मधुमत्तं यदामि ) यह हितकर और मधुर शब्दोंमें हो कहूँ ( यद् ईधे ) जो वेसता हूँ ( तद् ) यह सब ( मा ) मेरा सहायक हो, ( अहं विषयीमान् ) मैं प्रकाशमान, तेजस्वी, शोषिताम् और ( जूतिमान् ) शानवान् होकर ( अन्यान् ) दूसरे, जो हमारी भूमिके दुश्मन हैं ( अयहन्मि ) उनका नाश करता हूँ ॥ ५८ ॥

( शन्तिषा ) शान्तिकारक ( सुरभिः ) सुगन्धियुक्त ( स्योना ) पुष्प देनेवाली ( कीमालोघ्नी ) मलकी देनेवाली ( पर्यस्वती ) बहुत जलमाली ( मे पृथिवी भूमिः पर्यसा सह ) हमारे भूमि शीघ्र पर्याप्त होके हमें ( अधी ब्रवीतु ) कहे-हमारे सहायता करे ॥ ५९ ॥

( याद् ) जब ( विमर्कमर्शः ) निरन्तर ( रजसि अर्थात् ) अन्तरिक्षके ( अन्तः प्रविष्टां यां ) भीतर प्रविष्ट नित भूमिकी ( हविषा ) अन्नानि पदावति ( अम्यैच्छद् ) ऊपर निकास, सब ( गुहा निहितं ) गुप्तस्थानमें रखे ॥ ( भुजिष्ये पात्रं ) भोजनके बोध अथ अन्न ( मातृमर्शः ) मातृमर्शके ( भोगे ) उपभोगके लिये ( भाविः अभवत् ) प्रकट हुए ॥ ६० ॥

भावार्थ— युद्धमें विजयी होकर लड़ाई समाप्त होनेके बादमें केवलमें प्रति उठकर मनुष्योंके शिरोंको प्रत्यक्ष करता है । अथवा जब किसी विशेष कारणके लिये मनुष्य अपना संयत्न एकत्रित होते हैं, तब उस संघमें जो फलस्वरूपमें एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न होती है, ॥ शान्ति सबको आनन्द देनेवाली, सब देशका संरक्षण करनेवाली और औषध आदि मध्य पर्याप्त देनेवाली होती है । इसलिये उसे मातृभूमिके संपूर्ण अन्न सर्वत्र व्याप्त करने ॥ ५७ ॥

हम जो कुछ भी भाग्य करें वह सब हमारी मातृभूमिके लिये हितकारी हो, जो कुछ हम जानोते ॥ वह भी मातृभूमिके लिये ही सहायक हो, इसी प्रकार हमारे सब काम मातृभूमि ही ॥ अर्थ हैं, हम तेजस्वी और बुद्धिमान् हैं, जो हमारे धनु हमारी मातृभूमिका बोझ करे उनका हृद नष्ट करे ॥ ५८ ॥

शान्ति, सुख, अन्न, पानी आदि जो देनेवाली हमारी मातृभूमि हमें सब भोगके पर्याप्त और ऐश्वर्य देनेवाली हो, इस तरह हमारी रक्षा करती रहे ॥ ५९ ॥

जहाँ सब तरहके उद्योग करनेवाले कुशल पुण्य मातृभूमिकी सेवा करनेके लिये कटिबद्ध होते हैं, वहाँ मातृभूमिके गुप्तस्थानमें रक्षा हुआ तथा परस्य हुआ चात ( जो केवल भक्तों ही के लिये है ) आकर उनके सामने प्रकट होता है । अर्थात् उनके उपभोगके लिये पर्याप्त उन्हें रहन हो मिल सकते हैं ॥ ६० ॥

स्वर्मस्यावर्पनी जनानामर्दिनि। कामदुषा पप्रथाना।

यत्त ऊनं वत् आ पूरयति प्रजापतिः प्रथमजा श्रवस्य

॥ ६१ ॥

उपस्थास्ते जनमावा अंशमा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।

दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं वलिहृतः स्वाम

॥ ६२ ॥

भूमे मातृनि धेहि मा भद्रया सुप्रविष्टितम्। संविदाना दिवा कवे श्रिषा मा धेहि मूष्याम् ॥ ६३ ॥

अर्थ— हे मातृभूमि ! ( त्वे जानानां अर्दिनिः ) तु लोगोंको कुछ न बेनेवाली ( कामदुषा ) इच्छित परावोंकी बेनेवाली ( पप्रथाना ) स्तुतिके योग ( आचपनी ) जिसमें अन्वो तरह खोनेसे बहुत क्षत्र उपजता है ( अस्ति ) ऐसी है, ( यात् ते ऊनं ) जो तुममें कभी है ( तत् ते श्रवस्य ) पथमजो तेरे वत् कयीकी ( प्रथमजाः ) स्तुतिसे आदिमें प्रसूत हुआ हुआ ( प्रजापतिः ) यस्मैऽवर ( आपूरयति ) तुम्हें कर देता हूं ॥ ६१ ॥

हे ( पृथिवि ते प्रसूताः ) भूमि ! तुममें उत्पन्न हुए लोक ( अन्वमीयाः ) रोगरहित ( अयह्माः ) क्षय-रोगरहित ( अस्मभ्यं उपस्थाः ) हमारे पास रहनेवाले ( सन्तु ) हों, ( नः आयुः दीर्घं मय्यु ) हमारी उमर यही हो, हम बहुत दिन जीवें ( वयं प्रतिबुध्यमानाः ) हम जान बिज्ञानयुक्त होकर ( तुभ्यं वलिहृतः स्वाम ) तुमों वलि, करवार, बेनेवाते हों ॥ ६२ ॥

हे ( माता भूमे ) मातृभूमि ! ( भद्रया ) बस्यानको बढानेवाली बुद्धिसे ( मा ) हमें ( सुप्रविष्टितं निधेहि ) सुविचार कर, ( दिवा ) प्रतिदिन ( संविदाना ) सब बातको ज्ञाननेवाली ( कवे मां ) हे ज्ञानदाता भूमे ! हमें ( भूष्यां श्रिष्यं धेहि ) पृथिवीमें संपत्ति प्राप्त हो ॥ ६३ ॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! तू हम सबको कुछ बेनेवाली है, इच्छित परावोंकी बेनेवाली है, ह्वातिमें जो तेरे में कभी हो उसे परमेस्वर दृष्ट करे ॥ ६१ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो हम लोग तुममें उत्पन्न हुये हैं वे निरोग, युवावृद्ध, दीर्घायु, बुद्धिमान्, जागृतिमय रहें और मातृभूमिके हितके लिये अपने निजके स्वार्थ को भलि बेनेवें उपाय रहें, सब भक्ति सेर हित करनेमें तत्पर रहें ॥ ६२ ॥

हे मातृभूमि ! मुझे बुद्धिमान् कर और तेरे विषयमें प्रतिदिन बिन्ता करनेवाले तुमने विचारो और दूरदर्शी मनुष्यको तथा मुझे अपनी भूमिगत सम्पत्ति प्राप्त करानेवाली हो ॥ ६३ ॥

## मातृभूमिका वैदिक-गीत

जिहा देशमें जो लोग रहते हैं वह उनको 'मातृभूमि' कह-  
मातो है। जैसे भारतीयोंकी भारतभूमि, चीनी लोगोंकी चीनभूमि, अंग्रेजोंकी इंग्लैण्डभूमि और इसी तरह दूसरे दूसरे लोगोंकी अपना अपना मातृभूमि है। जिहा तरह ज्ञानाके रत्न-  
मांस आदिते बचनेकी देह बनती है, उसी तरह मातृभूमिमें उत्पन्न होनेवाले अनाज, पानी, वहाँकी हवा और कलाप-

जिधनि जस देशके मनुष्योंके वारीर धरते हैं। इसलिये जस  
देशको अपनी मातृभूमि समझना उच देशके निवातियोंका  
वर्तम्ब होना है।

परमेस्वरका यह नियम है कि माताके पुत्रपर बचनेका  
ही अधिकार रहता है, क्योंकि माताके लीनोंमें जो रूप परमेस्वर  
उत्पन्न करता है, वह जस माताके उत्पन्न होनेवाले बचने

लिये ही होता है। बच्चेका वास्तव उसकी माताके रूपसे ही होना चाहिये। माताका रूप पीना बच्चेका जन्मसिद्ध अधिकार है और वह उसका धर्म भी है। यदि कोई श्वरदत्त बालक अपनी माताका दूध पीकर दूसरे बालककी माताका भी दूध जबरदस्तीसे पियेगा और दूसरे बच्चेकी मूखा रखेगा, तो उसका वह कार्य परमेश्वरके नियमोंके विरुद्ध होगा और वह श्वरदत्त बच्चा ईश्वरके नियमोंके अनुसार अपराधी समझा जायेगा। इसी तरह एक देशके बालक दूसरे देशके बालकोंको परतप्त बनाईं और उस देशमें उत्पन्न होनेवाले उपभोगके पदार्थ उस देशके निवासियोंको न देकर अपने ही मुखके लिये उपभोग करें, तो यह वनवा जन्तु बना अवराध होना। किसीको भी भूलना नहीं चाहिये, कि जो विधित माता और बच्चेकी है वही मातृभूमि और उससे बच्चोंकी भी है।

प्रायः मनुष्य जानता है कि जिस घरमें वह रहता है उस घरपर उसका कितना प्रेम होता है। रामिके समय यदि कोई चौर साकर उस घरमेंसे कोई बस्तु अपने भोगके लिये ले जाये, तो ग्याही सरपार ऐसे चौरकी पकड़कर लाया देती है, क्योंकि अपने घरमें पूर्णबोले चली आई घरकी वस्तु पर सबका अधिकार सिद्ध रहता है। ग्यायका उद्देश्य होता है। चौरका उस पर अधिकार नहीं है, इसलिये वह सजा देनेके योग्य होता है। जिस तरह एक छोटासा घर किसी एक कुटुम्बका रहता है, उसी तरह देश वह एक बड़ा घर है और यह घर सब वैजनासियोंका है। यदि उस राष्ट्रव्यवस्था पर पर दूसरे देशोंके बलवान् लोग मिलकर हमला करें और वहाँकी वस्तुओंपर अपना अधिकार बतावे, तो वास्तवमें एक घर पर हमला करनेवाली डाकूके समान ही वह अवराध है। अतः यह कहना चाहिये कि यह एक सामान्य डाकूके अपराध की अपेक्षा कहीं भयंकर अपराध है। यह सिद्ध करनेकी क्या आवश्यक नहीं है। इस संसारके बड़े बड़े तत्त्वज्ञानी लोग यही कहते हैं। लेकिन संसारका राजकारण तत्त्वज्ञानियोंके हाममें न होनेसे व्यवस्था के रूप में इस तरहकी राष्ट्रीय संहारकी अवराध नहीं समझते और इस बड़े अपराधीकी इसी कारण सजा नहीं होती। परंतु ईश्वरके नियमोंमें इस तरहका पक्षपात नहीं हो सकता।

हमें यहाँ यह बिलालना नहीं है कि अपराधीको सजा मिलना आवश्यक है या नहीं। यहाँ तो हमें सिर्फ यही दिखाना है कि माताके रूपपर उसने बच्चेका, घरपर उस घरके भातिकका, राष्ट्रपर उस राष्ट्रके लोगोंका और मातृभूमि की उपयोगी वस्तुओंपर उस मातृभूमिके बच्चोंका

बच्चा अपनी माताका दूध पीता है। इसलिये उसका अपनी मातापर बहुत प्रेम रहता है। मनुष्य अपनी मातृभूमिमें पैदा होनेवाले अनाज, फल, फेंद, मूल इत्यादि खाते हैं और मुष्ट बसते हैं, इसलिये उनका अपनी मातृभूमि पर प्रेम रहता है। इसलिये यदि जिस तरह मातृभूमि पर प्रेम बनाते हैं, उसी तरह लोग माता पर भी प्रेम करते हैं और बच्चोंको उत्साहित करते हैं।

यह अनुभूत है कि माता और मातृभूमिके विषयमें किसी काय्य नैतिकता जितनी उपजाती है। काय्यके भिन्न भिन्न रसोंमें प्रेमरस श्रेष्ठ है। मातृदेवताके काय्यमें भी प्रेमरस भरा रहता है, यँता अन्य किसी काय्यमें नहीं। माता क्या है? एक माता प्रेमकी मूर्ति। उसका प्रेमके लिए क्या कोई उपमा ही नहीं की जा सकती, उसका प्रेम वास्तवमें अनुपम है। यदि माताके प्रेमको कोई उपमा बेनी ही हो, तो वह मातृ-प्रेमकी ही हो सकती है, दूसरी नहीं।

वह मनुष्य विरक्त ही होता है जिसे माताके प्रति भाव न हो। माताके प्रेमसे ही प्रत्येक मनुष्यका पालन होता है। मातृभूमि पर भी मनुष्यका प्रेम होता है। वह देशप्रेम भी अतीत होता है। कौनो भी आपत्ति, बीदा भी संकट क्यों न हो, मनुष्य मातृभूमिका त्याग करनेकी तैयार नहीं होता। माताकी या मातृभूमिकी रक्षामें शरीर निजवर करनेतक की मनुष्य तैयार रहता है।

यह अतीत प्रेमही है जिससे प्रेरित होकर सब देशके लोगोंने अपनी जन्मभूमिके पीत बड़े भक्तिभावसे बनाए हैं। मातृभूमिके लिये लोगोंने काय्य बनाये हैं। सभी देशोंमें यह प्रथा है कि मार्गशीर्षमासमें, विजयोत्सव देशवासी अपने अपने राष्ट्रगीतका गान करते हैं।

इस प्रकारका कोई राष्ट्रगीत या मातृभूमिगीत भारत-वासियोंमें है या नहीं, इसके विषयमें कई विद्वानोंके भिन्न भिन्न मत हैं। कई विद्वान् यह मत रखते हैं कि भारतवासियोंका एक राष्ट्र गीत भी नहीं था, इसलिये उनमें राष्ट्रगीत होता असम्भव है। व्यवकालमें इस विमृत देशके बहुतेरे छोटे छोटे राज्य बने बने थे। इसलिये यदि कहा जाय कि उस कालमें एक राष्ट्रियत्वकी कल्पना भी न थी तो यह सच हो सकता है। परन्तु जब विद्वानोंका यह मत सर्वथा निराधार एवं तर्कहीन है, क्योंकि हममें प्रारम्भसे ही राष्ट्रियताकी ब्रह्माची, यह अधिष्ठाता कालसे भारतक घटती आयी है और उसका निवास राष्ट्रगीत भी हमारे पास है। इसीका समर्थन करनेके लिये इस अंशमें मातृभूमिके वैदिक सूक्तका विचार किया है। यह सूक्त अधर्ववेदके १२वें काण्डका पहला सूक्त है।

## सूक्तका उपयोग

जिस सूक्तके विषयमें हम यहाँ लिख रहे हैं, उसका मूल्य राष्ट्रीय है या नहीं, यह हम उसके उपयोगसे जान सकते हैं। इसलिये इसका उपयोग कहा किया जाता है, देखिए—

१. ग्रामपञ्चतादिरक्षणार्थम् । ( सायणभाष्य )

( अथर्व १२।१।१ )

“ ग्राम, पत्तन, नगर आदि की रक्षाके समय इसका उपयोग करना चाहिये । ” अर्थात् ग्राम, नगर, ग्राम, राष्ट्र, स्वदेश आदि की रक्षाके समय इसका उपयोग करना चाहिये । स्वदेशकी रक्षाके लिये जब कोई काम करना हो, तब इस सूक्तका पाठ करना चाहिये । इससे यह सिद्ध है कि स्वराष्ट्र रक्षासे इस सूक्तका निकट सम्बन्ध है। सब देशोंमें राष्ट्रप्रीतका उपयोग इसी कामके लिये अर्थात् राष्ट्रीय रक्षाके लिये ही किया जाता है। इसका विचार और अधिक करनेके लिये नीचे भीर प्रमाण देते हैं।

२. पार्थिव्यं भूमिनामस्य । ( नवमवर्ण १७ )

“ पृथ्वीकी इच्छा करनेवाला और पार्थिवी महाप्राप्तिके करनेके समय इसका उपयोग करे । ” देशमें का राष्ट्रमें अनातिके उपस होनेपर उस अवस्थाकी दूर करनेके लिये को प्रयत्न किया जाता है, उसे देखते “ पार्थिव्यं महा-प्राप्ति ” कहा गया है। इसमें कई महत्वपूर्ण बातें कायी पड़ती हैं। ऐसे समयमें इस सूक्तका पाठ करना चाहिये। यह नक्षत्र-वचनार्था कहा जाता है। “ भूमिनामः अर्थात् भूमिकी इच्छा करनेवाला या अपनी मातृभूमिमें प्राप्ति स्थापन करनेकी इच्छा करनेवाला जो समुच्च है, उसे वह काम करते समय इस सूक्तका पाठ करना चाहिये। इस सूक्तके पाठसे मातृभूमिके हितका नाथ करनेमें उत्साह मिलता है। इसी प्रकार—

भूमिस्त्य दतिकर्मणि । ( कौशीतकी सूत्र ५२ )

“ (भूमि) प्रदेशकी वा राष्ट्रके ( दतिकर्म ) आदिके लिये जो काम करना हो, उस काममें इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये । ” “ दति ” का अर्थ है “ आदर ”। “ दतिकर्म ” का अर्थ है आदरके लिये किया हुआ काम। राष्ट्रभिमहोत्सव विषयोंके समय इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये। सायणभाष्यजीने अपने भाष्यमें यह भी बतलाया है कि इस सूक्तका उपयोग कौन कौन कर सकते हैं—

१. पुष्टिपामः ।

२. अग्निहोत्रप्रयामः ।

३. मणिद्विपयकामः । ( सायणभाष्य अथर्व १२।१ )

“ पुष्टिकी इच्छा करनेवालेको, अग्निहोत्र करनेवालेको और दान, पुष्टि आदिकी इच्छा करनेवालेको इस सूक्तका पाठ करना चाहिये । ” वास्तव यह है कि इस सूक्तका पाठन उस समय करना चाहिये, जब हम राष्ट्रीय उन्नतिके काम करते हों। अतः राष्ट्रप्रीतके समान इस सूक्तका भी उपयोग ऐसे ही अवसरों पर किया जाना चाहिये, यह अवरोधन सूत्र-कार एक आवश्यकताके रूपमें तत्पर्य है।

इस सूक्तका विचार करते समय हमें देखना चाहिये कि यह सूक्त किस वर्णमें है। पूर्वके ऋषियोंने अथर्ववेदके कुछ वर्ण बना दिये हैं। उनमेंसे “ वास्तोष्पति ” नामका जो वर्ण है उसमें यह सूक्त है। “ पुरुषु ” पर प्रतिष्ठा का प्रत्ययितका एक वर्ण है। लिख करनेवाले सूक्त “ वास्तो-ष्पति ” वर्णमें है। अगर बतलाया गया है कि पूर्वोक्त सूक्त का पाठ उस समय करना चाहिये कि जब किसी देशके निवासी मातृभूमिपर अपना हक बतलाते हों। इसलिये यह सूक्त “ वास्तोष्पति ” वर्णमें प्रामाण्य किया गया है।

जब हम उक्त वर्णोंपर ध्यान दें, तो हमें उक्त सूक्तकी महत्ता दिखाई देगी और विशेषकर यह प्रकट होगा कि मातृ-भूमिका वर्तमान नीति एक प्रकारका राष्ट्रीयता ही है, जिसे राष्ट्रीय अवसरपर ही माना चाहिये।

## मातृभूमिकी कल्पना

इन बाहरी प्रमाणोंका विचार करने अवगत हमने मातृ-भूमिके सूत्रका स्वरूप देखा। अब भीहरी प्रमाणका विचार करते देखेंगे कि इस सूक्तके विचार बहुतक राष्ट्रीयमहत्त्व है। अतएव पहले यह देखेंगे कि इस सूक्तमें तो मातृभूमिकी कल्पना है, वह किस प्रकारकी है। जो लोग समझते हैं कि हमारे पूर्वजोंमें “ मातृभूमि ” की कल्पनातक नहीं गयी, वे इन वर्णोंका विचार अच्छे तरह करें और प्रत्यक्ष देख लें कि हमारे अति प्राचीन साहित्यमें मातृभूमिके विचार विद्यमान है। उससे यह भी सिद्ध हो जायगा कि मातृभूमिकी कल्पना सर्वप्रथम ऋषियोंकी है।

मातृ भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः । ( अथर्व १२।१।२ )

“ भूमि मेरी माता है और मैं मातृभूमि का पुत्र हूँ । ” हमारी देशभूमि ही हमारी माता है और हम सब उस मातृ-भूमिके पुत्र हैं। अर्थात् हम सब देशवासी एव ही मातृभूमि के पुत्र हैं, अतएव हम सब अपने देशपुत्र हैं। अपने देशके निवासीको यही भाव बनने जाना चाहिये। मातृभूमिके लक्ष्मि और पति विषयमें ऋष्येवम्। यह सब स्पष्ट है—

ते अज्येष्ठा भक्तिग्रास वदिदोऽ-

मध्यमासो महसा वि वावृधुः ।

सुजातासो जनुया पृश्निमातरो

दिवो मर्त्या आ नो अच्छा जिगातन ॥ ६ ॥

( ऋग्वेद ५।५।५ )

अज्येष्ठासो भक्तिग्रास पते

सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय । ( ऋग्वेद ५।६०।५ )

“ ( पृश्नि-मातरः ) मातृभूमिको भ्राता माननेवाले सब ( मर्त्याः ) मनुष्य सबके कुलीन हैं । उनमें न कोई ( ज्येष्ठ- ) भोक्त है, न कोई कनिष्ठ है और न कोई मध्यम है । उन सबका दर्जा समान है । वे सब ( उरु-भिदः ) अपने ऊपर आई हुई आपत्तिपोंको भेदकर ऊपर उठनेवाले हैं । सबका विचार एकता है अर्थात् वे ( भ्रातरोः ) सम्बन्धित हैं । अपने ( सौभगाय ) सबको बचानेके लिये ( सं-वावृधुः ) वे सब मिश्रकर प्रयास करते हैं । ”

इस मंत्रमें “ पृश्नि-मातरः ” अर्थात् भूमिको भ्राता माननेवाले सत्पुरुषोंका वर्णन देखने योग्य है । मातृभूमिके भक्त एकही विचारवाले होते हैं । उनमें उच्चमोक्ष भाव नहीं रहता । उन सब लोगोंका दर्जा एकसा रहता है और वे सब मिलकर एक विचारसे मातृभूमिके उद्धारार्थ कार्य करते हैं । वे आपसमें बहुमेल रखते हैं और अपनी उन्नति करते हैं । मातृभूमिको अपनी भ्राता माननेसे लोगोंके भावपूर्ण भी समानता भा आती है, यह इस मंत्रमें स्पष्ट रीतिसे बताया गया है । मातृभूमिको अपने व्यवहारका केन्द्र माननेवाले और न माननेवाले लोगोंके व्यवहारमें यह भेद होता है । दोनोंमें यह बात इतने साफ तीरसे बतलाई है । इसका कारण यह है कि वैदिक ऋषियोंको यह मतलब है कि इससे आगे माननेवाले लोगोंमें मातृभूमिकी भक्ति बढे और वे अपनी उन्नति करें । उसी तरह—

इल्ल सरस्वती मही तिष्ठते देवीर्मायोभुवः ।

यहिः सौन्दन्यक्षिपः । ( ऋग्वेद १।१३।१ )

“ ( मही ) मातृभूमि, ( सरस्वती ) मातृसृष्टि और ( इल्ल ) मातृभाषा ये तीनों मुख देनेवाले देवता हैं । वे हर-समय अलंकरणमें रहें । ”

इस मंत्रकी तीनों देवताओंमें मातृभूमिको भी स्थान दिया है । तीन देवताओंका सबय स्पष्ट करते बतलातेको यहा आवश्यकता नहीं है । क्योंकि यह इतना स्पष्ट है कि यह एकदम समस्तमें भा सकता है । इन सब मंत्रोंका विचार

करनेसे पताचम होगा कि हमारे धर्मदर्पणमें मातृभूमिके महत्व और अत्यन्तक कितना वर्णन किया हुआ है, इतनेके बारेमें और बतें देखनेके पहिले यह मंत्र अत्यन्त है—

भूमे मातर्निधेति मा भद्रया सुमतिष्ठितम् ॥

( मयर्ष १।१।१३ )

“ है ( मातः भूमे ) मातृभूमि ! मूर्ते कल्याणमय भव-स्थानमें स्थापित कर ” अर्थात् मेरा सब प्रकाशसे कल्याण कर । इसमें “ भूमे मातः ” आदि पद्योंसे मातृभूमिको योग्यता ज्ञानी भा सकती है । इसी तरह—

सा नो भूमिः पूर्वये दधातु ॥ ३ ॥

सा नो भूमिर्गोप्यधो दधातु ॥ ४ ॥

सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहाम् ॥ ५ ॥

सा नो भूमिर्धेयद्रुधमाना ॥ ६ ॥

सा नो भूमिर्दिशतु पयानं कामयामहे ॥ ७ ॥

सा नो भूमिः प्रजुवतां सारवता-

नक्षतानं मा पृथिवी कृष्योतु ॥ ८ ॥

( अथर्ववेद १२।१ )

“ यह हमारी मातृभूमि हमें सर्वत्र पौ पदार्थ दे । यह हमारी भूमि हमें गर्ते और अन्न दे । यह हमारी भूमि हमें बहुत दूध देवे । यह हमारी भूमि हमारा सवर्ण करे । हमारी भूमि हमारे इच्छानुसार पान देवे । यह हमारी भूमि हमारे धनुषोंको दूर करे और गुप्त सत्पुरुषोंको बचावे । ”

लिखते सबसका ध्यान रखनेसे विदित होगा कि इन सब मंत्रोंमें ‘ भूमि ’ शब्द ‘ मातृभूमि ’ के अर्थमें आया है । “ मातृभूमि हमारे लिये यह करे, यह करे ” आदि रचना काम्यमय अलंकार है । इसका अर्थ प्राप्त करने यह है कि “ मातृभूमिकी कृपासे हमारे हाथमें प्राण कार्य होवे या यह कार्य होकर वह फल मिले । ” क्योंकि प्रायेक काम्यमें इस तरह की आत्मकारिक वाचना रहती है । उन सब प्रार्थनाओंका आत्मिक अर्थ निम्न रहता है और अदरका भाव निम्न रहता है । इस विषयमें यह मंत्र मननेव है—

सा नो भूमिर्विजुजतां मता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥

( मयर्षवेद १२।१ )

“ यह हमारी मातृभूमि भूमि अर्थात् सबने पुत्रको सन्तत दूध देवे । ” यह मंत्र कितना अल्प और आत्मकारिक है । माता और पुत्रका सम्बन्ध दूध पीनेसे ही दृष्ट होता है । माताका दूध पुत्र पीता है, यह सब जन्मते हैं । पापका दूध हम सब पीते हैं, इसलिये पाप हमारी भ्राता है । भूमिका अभाव रत

आदि रूप हमें मिलता है, इसलिये यह हमारी माता है। यह सर्वसाधारण और सीधा व्यवहार है। उपरोक्त मंत्र भाग्य के 'मेरी माता मुझे ही दूष देवे, मनुभूमिमें उत्पन्न होवे-पावे पदार्थ हमें हो मिले, कोई दूसरा उन्हें हमसे छीन न ले,' आदि वर्णन अच्छे पक्ष घोषण है अतः विचारणीय भी है।

अब कोई यह भी कह सकता है कि "भूमि या हमारी भूमि" यदि शब्दों में "हमारे राष्ट्रभूमि" यह भावार्थ नहीं निकल सकता और इस बातको बिना सिद्ध किये हम यह भी नहीं कह सकते कि मनुभूमिके बारेमें हमारे धर्म-धर्मोंमें पूर्णरूपसे वर्णन दिया गया है। यह संदेह योग्य है, उसके निवारणके लिये हम यह मन्त्र पाठकोंके सम्मुख रखते हैं—

सा नो भूमिस्त्रिषधिं धलं राष्ट्रं दध्यात्तमे ।

( अथर्व १२।१।८ )

"यह हमारी मनुभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें ( उत्तम राष्ट्रमें ) है और इस प्रकार है।"

इसमें "उत्तम राष्ट्र" का अर्थ और "हमारी भूमि" का अर्थ एकाग्र है। "हमारे उत्तम राष्ट्रमें अर्थात् हमारी मनुभूमिमें" तब और बल की बात होये। "हमारी मनुभूमिमें" या "हमारे राष्ट्रमें" यदि शब्दोंका अर्थ यही है कि "हम लोगोंमें" या "हमारे देशवासीमें" में। यह बात साधारण विचार करनेवाला भी जान सकता है। परन्तु "हम लोगोंमें" या "देशवासीमें" तब और बल बढ़े। यह कहनेसे यह कहना कि "हमारे राष्ट्रमें या हमारी मनुभूमिमें तब और बल बढ़े" उच्च भावना प्रदर्शित करता है।

इसी मन्त्रके "उत्तम राष्ट्र" ( हमारे अच्छे राष्ट्रमें ) शब्द और भी एक उच्च भाव प्रदर्शित करते हैं। राष्ट्रमन्त्रोंकी दृष्टिसे राष्ट्र किशु बशमें होना चाहिये, यह इन शब्दोंसे स्पष्ट है। इन शब्दोंसे सूचित होता है कि राष्ट्रमन्त्रोंकी यह बातका होनी चाहिये कि "हमारा राष्ट्र अब राष्ट्रमें उत्तम हो।" "तर, तम 'तुलनात्मक उच्चता प्राप्त करनेवाले अवस्था में।" "उत्तर और उत्तम" उच्चता की तीन सीढ़ियाँ बतलाते हैं। "उत्तम" से सर्वोत्कृष्ट अवस्था मान्य होती है। राष्ट्रमन्त्रों की प्रबल इच्छा होनी चाहिये कि हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रोंमें अति उत्तम हो। इस इच्छासे प्रेरित हो उन्हें चाहिये कि वे अपने राष्ट्रको मायुष्य कीटिका बनानेमें प्रयत्न भर प्रयत्न करें। उच्च शान्तिवादी भी भाव है कि राष्ट्रकी स्वायत्तता का वस्तुतया में ही देशवासियोंके सम्मुख नहीं होना चाहिए, अतः देशवासियोंका स्वयं होना चाहिये कि वे निजी

निश्चित उच्चतम कीटिका बनाने और वे उस लक्ष्य की पूर्ति करनेमें अत्यन्त प्रयत्न करें।

इस मन्त्रका विचार करनेसे साहज हो सकता है कि इस वैदिक मन्त्रमें केवल मनुभूमि ही कल्पना नहीं है, बल्कि राष्ट्रके बारेमें भी स्पष्ट भाव है और अपना राष्ट्र सब राष्ट्रोंके आगे रहे, यह उच्च महत्वाकांक्षा इसमें ध्वनित है। इस प्रकार अपना वैदिक धर्म इतनी उच्च राष्ट्रीय भावना मागृत करने वाला है और यह इस आदर्शके स्पष्ट शब्दोंमें जनताके सम्मुख रखता है।

इतना स्पष्ट उपदेश हमारे धर्मग्रन्थोंमें होते हुए भी हमारे राष्ट्रमें राष्ट्रीय भावना यथोचित रीतिसे जागृत नहीं है। पर इसका कारण हमारे धर्मका अधोद्योग होना नहीं है, अतः धर्मको और व्यापन न देना और दूसरी व्योमय बलोंकी ओर ध्यान देना ही है। जिस वैदिक में वे उच्च राष्ट्रीय भावना जागृत करनेवाले बचन हैं, उसके प्रति लोगोंमें तो अज्ञान का विराट है, वह केवल विज्ञावदी है। सीधे आधुनिक धर्मोंपर ही अधिक विचार करने हैं। इसलिये सच्चा लोग इस पर क्या और सिद्धी प्राप्त करेगा है।

अपनी मनुभूमि और अपने राष्ट्रके बारेमें इस तरहके स्पष्ट विधान अथर्ववेदीय मनुभूमिके मन्त्रोंमें है। इस मन्त्रोंकी देखनेसे सिद्ध होता है कि हमारा धर्म शुरूसे ही राष्ट्रीय भावना जागृत रखनेवाला और उसकी वृद्धि करनेवाला है। यह मनुष्य नहीं चाहिये कि राष्ट्रके शवधर्म जो वर्तमान है, यह अपने धर्मका एक मुख्य भाग है।

## अध्यात्मज्ञान और राष्ट्रभक्ति

हम लोगोंमें धार्मिक बलोंकी और श्रितता कुम्हण हो रहा है, यह अनेक उदाहरणोंसे स्पष्ट हो सकता है। मध्यम शान्ति और मनुभूमिके प्रतिष्ठा एक दूसरेसे संबध है, ऐसा यदि कहा जाय तो उसे कोई लक्ष्य नहीं समझेगा। अध्यात्मविचार करनेवाले वेदवादी सब प्रकारकी ओष्ठर किसी प्रकार के अनेक प्रयत्न करते हैं और जिसकी सब लोग राष्ट्रभक्त कहते हैं वे लोग साफ कहते हैं कि धर्मका राष्ट्रकारणों कोई लक्ष्य नहीं है। इस विरोधके देखते परि कोई बड़े कि "अध्यात्मविद्या और राष्ट्रीय प्रतिष्ठा निरुद्ध संबंध है," तो उसे तीन सच कह सकता है? हम इस बातकी सिद्धिके लिए इतिहासके एक ही उदाहरण देते हैं।

अर्जुन युद्धभूमिमें उत्तर का और शत्रुको मारने की महत्वाकांक्षा रखकर उत्तम युद्ध की तैयारी की। पर युद्ध

प्रारम्भ होनेके समय ही यह मोहमें पड़ गया और जबलमें जाकर तपश्चर्या करनेके लिये तैयार हो गया। यह सोचने लगा कि मुझ कारणे स्वराज्य मेनेसे तपश्चर्या करके उच्च अवस्था प्राप्त कर लेगा कहीं श्रमिक उच्च है। तब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको वैदिक अध्यात्मविद्याका उपदेश दिया। यह भगवद्गीताका उपदेश सुनकर अर्जुनका मोह दूर हो गया, उसे उसकी सबरथाका ज्ञान प्राप्त हो गया और यह शत्रुगो मारनेके लिये तैयार हो गया। इसके बाद उसने युद्ध किया और निष्कण्टक स्वराज्य पूर्णतासे प्राप्त कर लिया।

ब्रह्मा विद्यारूप शीरोरामचन्द्रमीका है। शम्भुदेवकी विद्या-भ्यास पूर्ण होनेपर यह भग्न हुआ कि " सब बातें संवाचीन है और पुत्रपार्थसे कुछ नहीं हो सकता। " इस भ्रमके कारण उन्होंने पुत्रपार्थके काम करने छोड़ दिये। तब बलिष्ठ ऋषिने उन्हें वैशान्वानात्मिका-अध्यात्मशास्त्रका-उपदेश दिया। इस उपदेशके बाद उनका भ्रम दूर हो गया और वे प्रत्यक्ष पुत्रपार्थी बन गये। इसके बाद उन्होंने लकादोषके राजसौंका नाश किया, संपूर्ण भरतखण्डके ३३ कोटी देवोंको धर्मिवासे मुक्त कर पूर्ण स्वतंत्र कर दिया और इस प्रकार आठ धर्मियोंका धर्म उज्ज्वल किया।

इन दोषों पराशुराजोंमें यह यत्नलगा है कि अध्यात्मशास्त्रके बाद प्रत्यक्ष पुत्रपार्थ करने स्वराज्यके शत्रुभूमिका पूर्णतासे नाश करते राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करने चाहिये।

भीतिपाती महाराजकी भी एक दो राग्य उदासीनताने भा घेरा था और वह रामदासस्वामी और तत्त तुलसीदासके उपदेशोंसे दूर हुई। ये बातें महाराष्ट्रके इतिहासमें हैं। इन सब बातोंका विचार करनेपर हमें यह कहना पड़ता है कि अध्यात्मशास्त्र का वेदात्मिकता राष्ट्रीय इच्छाके विरोधी नहीं है। इसके अलावा जित्त मातृभूमिने वैदिक गोलके बारेमें रूप विचार कर रहे हैं, उसके आगे और कोछके तूफानोंमें श्री अध्यात्म विषयका प्रतिपादन है—

यह मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रीय अवधारणके १२वें काण्ड-का प्रथम सूक्त है। इसके पूर्व जो सूक्त हैं, वे सूक्त और उनके विषय हमने आगे दिये हुए हैं—

दशम काण्ड—

- सूक्त १ सूक्त १ केन उपनिषद्का विषय ) ब्रह्मविद्या ।  
 सूक्त ३ से ६ तक शत्रुका नाश करना ।  
 सूक्त ७ और ८ श्वेद ब्रह्मसूक्त ( ब्रह्मज्ञान ) ।

- सूक्त ९ शत्रुपर शस्त्रप्रहार करना ।  
 सूक्त १० भी माताका रक्षण । पीको दू ल डेनेवासे शत्रुका नाश करना ।  
 एकवचन काण्ड—  
 सूक्त १ ब्रह्मोजन सूक्त ( अन्नसूक्त ) ।  
 सूक्त २ ब्रह्मसूक्त ( पशुपतिसूक्त ) ।  
 सूक्त ३ ओवनसूक्त ( भाल, अन्न ) ।  
 सूक्त ४ प्रायसूक्त ( प्रायश्चित्तका वर्णन ) ।  
 सूक्त ५ ब्रह्मधर्म ( ब्रह्मधर्म प्राप्त करना ) ।  
 सूक्त ६ काशजन्मवर्णन ।  
 सूक्त ७ उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त ( संपूर्ण जगत् धारण करनेवाले ब्रह्मसूक्त ) ।  
 सूक्त ८ ब्रह्मसूक्त ( शरीरमें प्रविष्ट होने वाले ब्रह्मका सूक्त ) ।

सूक्त ९ और १० शत्रुकी संपादनीका सूक्त ।

दशम काण्ड— सूक्त १ मातृभूमिका वैदिक गीत ।

इन सूक्तोंके क्रममें युद्ध, शत्रुनाश आदि विषयोंके पहले ब्रह्मज्ञानके सूक्त आये हैं। ब्रह्मज्ञानके बाद शत्रुका नाश करनेका विषय आया है। अथर्ववेदके दशमकाण्डमें ऐसा भी बार निर्देश है। पारहमें काण्डमें मत्त, प्राय, ब्रह्मधर्म, काश आदिके बाद ब्रह्मज्ञान है, उसके बाद युद्धको संपादनीका वर्णन है और उसके बाद मातृभूमिका वैदिक गीत है। सूक्तोंका यह क्रम देखनेसे स्पष्टरूपसे मालूम होता है कि पूर्वकाण्डमें " ब्रह्मज्ञानके बाद ही रवातम्भके लिये युद्ध होता होगा। " शम्भुदेवोंको यह कथन कदाचित् आश्चर्यकारक मालूम होगा। इसलिये अगर लिये हुए सूक्तोंका अर्थ समझनेके लिये और यह जाननेके लिये कि हमारा कथन ठीक है या नहीं, प्रत्येक सूक्तमेंसे शब्दोंके लिये एक एक मंत्र यहाँ देते हैं।

अथर्वनाम नवद्वारा देवार्ना प्रयोध्या ।  
 तस्यो हिरण्यया कोशः स्यो ज्योतिषाभुतः ॥३१॥  
 रास्मिन्धिरण्यये कोशे ज्योते त्रिमतिष्ठिते ।  
 तस्मिन्धिरण्यये कोशे ज्योते त्रिमतिष्ठिते ॥३२॥  
 ( अथर्ववेद काण्ड १० सू २ )

" अथर्वनाम और भी द्वारोंसे मुक्त देवोंको ज्योतिषा नगरी है। उस नगरीमें तैजसुस्त स्वर्णकोश है। उस शीर्षमें जो ज्योतिष देव हैं, उसे ब्रह्मज्ञानीको जानते हैं। " इस दृष्टव्यमानोप ब्रह्मदेव वर्णनके बाद अथर्व सूक्तमें शत्रुको छिन्नमिन्न करनेमें मंत्र है—



तेनारमस्व स्वं शशून् प्रसृणीहि दुरस्यतः ।

( अथर्व० १०।३।१ )

अरातीयोभ्रातृभ्यस्य दुर्हादौ द्विभतः शिर ।

अपि वृश्चाभ्योजसा ॥ ( अथर्व० १०।३।१ )

" बुष्ट शशूँको नास करना शुरू करो । बुष्ट अनुभूत सिर में तोड़ता है । " इस सूक्तके बाद ७ और ८ में सूक्तोंमें फिर बेरातका वर्णन है—

यस्य सूर्यश्चक्षुर्धन्द्रमाश्च पुनर्धरः ।

अग्निं यश्चक्र आस्पृशे

तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥

( अथर्व० १०।७ )

पुन्दरीक मयहार विमिर्गुणेमिरावृत्तम्

तस्मिन् पञ्चसमागमम्यक्षि ब्रह्मविद्मो विदुः ॥ ३४ ॥

( अथर्व० १०।८ )

" ब्रह्मा और सूर्य जिसकी आँखें हैं, अग्नि जिसका मुख है, उस पदेय ब्रह्मको नमन करता है । भी इसके कमलमें भी देव हैं, उसे ब्रह्मज्ञानी ही जान सकते हैं । " इस ब्रह्म-वर्णनके बाद यक्षीके आगेके सूक्तका पक्ष्य मग्न इस प्रकार है—

भापयतामपि नद्या मुखानि ।

सप्तमेतु यक्षसर्वयेतम् ॥ ( अथर्व० १०।११।१ )

" पानी सौगोंका मुह बंद करो और यही सप्त अनुपर मेंको । " इसी तरह तीसरे प्रकारके सूक्तोंका क्रम है । उन सूक्तोंका विषय यहाँ नहीं बतलाते । केवल ११ वें काँष्ठमेंके आठवें सूक्तका एक मग्न यहाँ लिखे हैं और बाकीके प्राण और ब्रह्मचर्यके सूक्तोंमेंका वर्णन विस्तार भवते छोड़ देते हैं ।

तस्माद्धि विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मम्यते ।

सर्धा ह्यस्मिन्नेवता गावो गोष्ठ द्यास्तते ॥ ३२ ॥

( अथर्व० ११।८ )

" इसलिये ब्रह्म ( पुरुष ) पुरुषको कहा करते हैं । क्योंकि जिस तरह गावें अपने आड़ेमें रहती हैं, उसी तरह सब देवता इसीके आधपते रहते हैं । " इस ब्रह्मज्ञानके सूक्तकेआगेका सूक्त इस तरह है—

तेषां सर्वेषामीशानां उत्तिष्ठत

संनक्षत्रं मिथा देवजना द्युषम् ।

इमं संप्रामं संजित्य यथा लोकं विविष्टिष्ट्यम् ॥ २६ ॥

( अथर्व० ११।९ )

५ [ अथर्व० भा २ पालु० द्वितीय ]

" निशी । त्वं पारी करो, उखे । इस पृष्ठमें अंतर्नके बाद अपने अपने देशको जाओ । " उसी तरह—

सहस्राकुण्ठा शेतामममिमी सेना समरे वधानाम् ।

विचिन्ता ककजाकृता ॥ २५ ॥ ( अथर्व० ११।१० )

" अनुकी सेनामेंसे हजारों मुँहें युद्धनृनिमें पड़े । " इस तरहका वर्णन अग्न्यात्मज्ञानके बाद कई बार आया है ।

इसे जन्ममक कालतत्त्वों-स्वाभसे आया हुआ नहीं कह सकते, क्योंकि वह तीन नवह इसी तरह आया है । राम और अर्जुनके उपदेशके समय भी यही हुआ है । इसलिये " अग्न्यात्मज्ञानके बाद इसप्रकारके लिये पुत्र " होना स्थाना-विक है । इन सब सूक्तोंके बाद वैदिक राष्ट्रपोत आया हुआ है । इससे यह समझ सकते हैं कि जिस सूक्तके बारेमें यह कहा गया है, वह सूक्त वास्तवमें राष्ट्रीय महत्त्वका है क्योंकि वह युद्धके समय आया हुआ है ।

इस सूक्तके बारेमें विचार करनेके पहिले हमें यही चेतावनी चाहिये कि अग्न्यात्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान आदि विषयोंका मुद्रादि राष्ट्रीय बलात्ते क्या सम्बन्ध है ।

## [ १ ] अध्यात्मज्ञान

बुद्धि, मन, अहंकार, प्राण, इन्द्रिय और शरीरके सब अंगों-को आत्माका आधार है । ये सब बड़ी शक्तिधरा हैं, इन शक्तियोंका साधन होना अग्न्यात्मज्ञान कहा जाता है ।

ये सब शक्तियाँ हममें हैं । हम विस्तृत बुद्ध नहीं हैं । हमारे आधीन ये बड़ी बड़ी शक्तियाँ हैं । उनको चलावेवाले हम हैं । यह अपनी शक्ति अध्यात्मज्ञानसे प्राप्त होती है । अध्यात्मज्ञान प्राप्त करनेके पूर्व जो मनुष्य अपनेको सुष्ट और निर्बल समझता है, वह यदि अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने पर स्वतः को सुदल और समर्थ समझने लगे तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है । इसलिये अध्यात्मज्ञानसे जो अपनेको वैश्ववीर्य और पराक्रम समझते थे, वे ही अध्यात्मज्ञान प्राप्त होने पर वेकसे भी अपने आधीन समझने लगे और अपने पुत्रवापसे विपरीत देकको भी अपने मनके अनुसार बचानेमें समर्थ समझने लगे । यह शक्ति अध्यात्मज्ञानसे प्राप्त हो सकती है ।

## [ २ ] ब्रह्मज्ञान

विश्वव्यापी सन्निवृत्तान् शक्तिका अस्तित्व स्थिर और पर सबमें पुरस्ता है । ज्ञानसे सब रक्षारक्षी तरह देखने-को बुद्धि बलस आती है ।

प्रायः मनुष्यको चाहिये कि ॥ ऐसी धाकाका पारण करे कि " मेरे राष्ट्रमें मुझे विस्तृत कार्यक्षेत्र प्राप्त हो । " यदि अनकूल परिस्थिति न हो तो उसे प्राप्त करनेमें कुछ कठिन परिश्रम करे । मनुष्यको अपने घरमें व्यवहार करनेमें जैसी पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है, उसी प्रकार स्वदेशमें भी स्वतन्त्रता न हो । लोगोंको अपने अपने देशमें पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये । दूसरे हस्तक्षेप कदापि न करें और देशवासियोंकी चरित्रमें विघ्न दावाए न डालें । अपने अपने घरमें हर एक नातिक हो । अपने देशमें हमें विस्तृत कार्यक्षेत्र मिलनाही चाहिये । दूसरोंकी तो हमारे देशमें विस्तृत कार्यक्षेत्र मिले, पर हमारा कार्यक्षेत्र प्रतिदिन घटता जाय, ऐसी परिस्थिति कभी नहीं मानें ऐसी चाहिए । यह ही हमारा प्रथम आध्यात्मिक कर्तव्य है ।

राष्ट्रकी उन्नतिके लिए राष्ट्रमन्त्रोंमें एकता आध्यात्मिक है । विना ऐवकके सामुदायिक कार्यका सिद्ध होना असंभव है । हय लोच इस धाकाकी मानते तो हैं किन्तु यह नहीं जानते कि यह राष्ट्रीय एकता अपने देशमें किसप्रकार साध्य होगी ? लोगोंका कथन है कि हमारे देशमें भिन्न भिन्न धर्मोंके लोग हैं, अनेक भाषाएँ और विविध जातियाँ हैं । रीति-रिवाजोंमें भी अनेक भेद हैं । ऐसी दशांमें एकता हो ही कैसे सक्ती है ? यह कहकर लोग निराशा होकर चुप बंद आते हैं । ऐवकके लिये ज्यों ज्यों प्रयत्न करते हैं, उन्हींमें बूट ही बडती जाती है । एकताके लिये प्रयत्न या उपाय किया जाता है, बहुमति-कायिक फूटका ही फल देता है । इसी कारण राष्ट्रमन्त्र प्रवक्तृ यम हैं । ऐसे समय भिन्नलिखित वैदिक राष्ट्रगीतका मन्त्र बहुत ही विचारणीय एक बोधप्रद होगा ।

जनं पिभ्रति बहुधा विवाचसं  
नानाधर्माणं धृचिवी यधौकसम् ।  
सहस्रंघारा द्रविणस्य मे दुहां  
ध्रुवेय धेनुजनप्रक्षुरन्ती ॥ ( अथर्व- १३।१।५५ )

" ( वि-वाचसं ) अनेक भाषा पीलनेवासी और ( नानाधर्माणं ) नाना धर्मोंके पणत जो जनता है उसे ( यथा भोक्तृ ) एकही घरके समान पारण करनेवासी मातृभूमि जनकी हजारी गारायें उत्तमकार मुझे दे; विह-प्रशार लक्षकूट न करनेवाली माम दूध देती है, । "

राष्ट्रकी प्रगति उसी हो सकती है जब कि विविध भाषा बोलनेवाले, विविध धर्मोंकी सज्जनेवाले एव विविध रीति रीतोंपर चलनेवाले लोग एक ही कुटुंबके एकही घरमें रहने-वाले भाइयोंके समान एकही देशमें रहें । ( वि-वाचसं

जनं ) अनेक भाषा-भाषी लोगोंके रहते हुए भी और ( नानाधर्माणं जनं ) विविध धर्मोंके अनुयायी होते हुए भी उन सबकी एक भाता-सबकी आदि भाता यही मातृभूमि है, इससे सबको चाहिये कि आपसी भेदभाव भूलकर ही उसके सम्मुख खड़े हों । मातृभूमि की उपासना करनेमें भाषाका भेद, प्रांतका भेद, धर्मका भेद या जातिक भेद आदि नहीं आना चाहिये । सब लोगोंको चाहिये कि वे सब मिलकर यही समझें कि वे सब ( यथा भोक्तृ ) एक ही घरमें रहनेवाले एक ही कुटुंबके लोग हैं ।

एक ही घरके लोगोंमें कुछ बड़े, कुछ छोटे, कुछ मध्यम, कुछ गोरे, कुछ साबके, कुछ न गोरे न साबके, कुछ बूढ़े, कुछ युवा, कुछ पुण्य और कुछ सिनयी रहती हैं । एक ही घरके लोगोंमें इतने भेद रहते हैं । । । इनमेंसे प्रत्येक पक्ष कहें कि " मे अज सबसे भिन्न हूँ " तथा अपनी भिन्नताके कारण उसने कुटुंबके हितकी ओर दृष्टि न दी, तो उस घरका, उस कुटुंबका नाम होनेमें वैर ही क्या ? इसके विरुद्ध यदि उस घरके विवासी उस कुटुंबके घटक सुद भेदोंकी भूल लायें और अपने धर्ममें यही मुख्य विचार रखें कि सारे कुटुंबका हित हो, तो यही घर नष्टनष्टके समान मानते भरा हुआ वीक्षेगा । जहाँ कहीं मनुष्य हैं वहाँ भेद आवश्यक ही होंगे । किन्तु मनुष्यका धर्म यही है कि सुद भेदोंको गौण समझकर सब मिलकर अपने घरका, अपने देशका, अपने राष्ट्रका हित करें । राष्ट्रपोतमें यही बात बतलाई गई है । राष्ट्रके घटक मिल समान जायगी सुद भेदोंकी प्रधानता बैकर आपसमें लड़ते लड़ते है, उस समय राष्ट्रकी शक्ति क्षीण होती है । परन्तु जब भेदभावोंकी गिराकर वे सब मिलकर देशहितका कार्य करनेमें लग जाते हैं, तब उनकी शक्ति बढ़ती है और उनकी उन्नति होती है ।

किसी भी देशमें या राष्ट्रमें भाषा, जाति, धर्म, धर्म आदि अनेक कारणोंसे अनेक भेद तो होते हैं । आज सत्तारमें एक भी राष्ट्र ऐसा नहीं, जिसमें उपमिश्र भेदोंका नाम-निशान न हो । परन्तु विचारणीय राष्ट्रके लोग इन भेद-भाषोंको ओर ध्यान नहीं देते । वे यही समझते हैं कि राष्ट्र-हित ही उनका सधन है । धर्म, अपने सधनपर दृष्टि रखकर वे एकताके उसीकी प्राप्तिमें लग जाते हैं । आपसमें लड़ाई लड़ाई करनेवाली जातियाँ भी जब देखती हैं कि सारे राष्ट्र-पर आपत्ति आई है, तो वे आपसी हाथों छोड़ देती हैं, आपसमें मिल जाती हैं और राष्ट्रीय आपत्तिक सामना करती हैं । परिणाम यही होता है कि जब आपत्तिसे वे बच जाती

हैं। परन्तु इसके विपरीत जो लोग अपने भेदभावोंकी ओर ही धृष्टि रखते हैं, जो राष्ट्रीय हितकी ओर नहीं देखते, जिन्हें राष्ट्रकी ज्येष्ठा अपने भेद ही अधिक महत्वके मान्य होती है, वे धुन भेदभावमें ही रूढ़ि रहते हैं और अपनी उन्नति कभी भी नहीं कर पाते। भेदरि रहते भी जो अनेकका अनुभव करते हैं, वे ही कुछ राष्ट्रहित साधन कर सकते हैं।

केवल हमारे भारतमें ही सब समान्य भेदभावोंके विचार हैं, यह बात नहीं, अन्यथा देशोंका भी यही हाल है। जब क्या इस देशके निवासियोंकी उन्नति है कि वे ही अपने भेदोंकी छाया बढाते रहे और इतने अपने समूहको भयद दें? क्या भारतवासी इस महत्वकी बातका विचार न करेंगे? जो लोग सदैव यही चिन्ताते रहते हैं कि " प्रथम अतृप्ति भेद भावोंकी विधा हो " उन्हे स्मरण रखना चाहिये, कि ऐसी समाज जिसमें भेदभावोंका बिलकुल अभाव हो, न कभी इस पृथ्वीतल पर था, न अब विद्यमान है और न भविष्यत्में भी इसके होनेकी सम्भावना है। किसी भी देशमें किसी भी समय जो बात कभी न हुई, वह इस देशमें इस समय कैसे हो सकती है? जब देशोंमें एक बात साम्य हुई है और वह है आपसी भेदोंकी मर्यादाका उत्कटन न करने देना। वस, यही बात हमारे देशमें भी साम्य हो सकती है। अतएव उचित यही है कि लोग असाध्यकी साधनेके प्रयत्नमें न लगें, अपितु साम्य बातोंकी ही करें और अपनी उन्नति करें।

भारतवर्षमें तीन धर्म विद्यमान हैं, ( अर्थात् ) हिन्दू-मुसलमानों की और ईसाई। इन तीन धर्म धर्मोंके रहते हुए भी सबको मिलकर मातृभूमिची पपातनाके लिए तैयार होना चाहिये। यह तो सर्वथा असम्भव है कि तीनों धर्म सबके लिये गन्ध हो जाय। इन धर्म धर्मोंके रहते भी सबको चाहिए कि अपना " अन्तिम राष्ट्रधर्म " देखें। जातिभेद, भाषाभेद, धर्मभेद आदि अनेकानेक भेद अवश्य ही रहेंगे। इन भेदोंका सबके लिए नष्ट होनाना यदि सम्भव भी असम्भव, तो भी उन्हीं इतना अधिक समझ लगेगा कि इसका कोई सम्बन्ध भी नहीं समाया जा सकता। अतएव हरएक समूहको, हरएक व्यक्तिको यही सीखना चाहिए कि अनेक भेदोंके रहते भी उन्हें मूलकर एक धरके, एक कुटुम्बके भाइयोंके समान एकतासे रहे। इस धर्मका यही उपदेश है और हरएक राष्ट्रवक्ता उत्तर ध्यान दे। जब आयेका सब बैलिंग—

असंवाधं बध्यतां मानवात्तां  
यस्यां उल्लता प्रवताः सुमे षड्।

नानावीर्या औपधीर्या विमर्ति।

पृथिवी न प्रथतां राष्ट्रतां नः॥ (मन्वं० १२।१२)

" जिस मातृभूमिके मनुष्योंमें उन्नता, नीचता और समताके सम्बन्ध ( बहुत स्व-समाध ) बहुत हो निर्बलता है अर्थात् समते नहीं हैं और जो मनुष्योके युक्त औपधी उत्पन्न करती है, यह हमारी मातृभूमि हमारी ( प्रथतां ) कीर्ति वा स्वाधि बढावे। "

विषमता होते हुए भी राष्ट्रीय हित कैसे करना चाहिये यह बात यह सब बताता है। मनुष्यका भेदभाव पूर्णतया मिटानेकी चेष्टा भले ही की जाय, पर शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके भिन्नभिन्न विकासके कारण तथा उनकी व्यवहार कुशलताकी भिन्नभिन्नतासे जन्ममें ऊँच, मध्यम आदि भेदोंका रहना स्वाभाविक है। अतएव तब नहीं कि सब समान्य समान योग्यताके ब बिलकुल एकसे दें। ऐसी असमानता रहनेपर भी प्रयत्न यह होना चाहिए कि उनकी भिन्न समर्थता की ओर ही हो।

प्रथम " अ-सं-वाध " शब्द है। यह अतीव महत्वका है। योग भेदोंकी परि प्रधानता की जगह। एक समाजमें मनुष्योंका दूसरे समाजसे विरोध होने लगेगा। एक समाज दूसरेकी विटाकर स्वयं ही मोचित रहनेका प्रयत्न करने लगेगा। ऐसा होनेसे जातिधर्म " संवाध " उत्पन्न होता है। परस्पर विरोध करने की का नाम " संवाध " है। समाजका अर्थ है आपसी युद्ध। जब युद्ध होने लगते हैं, तब राष्ट्रकी प्रतिष्ठा घीब होती है। जब तक समाज दूसरे समाजकी भाषा पहचानता है, एक जाति जब दूसरी जातिकी कष्ट पहुचाने लगती है, तब राष्ट्र शीघ्र होता है। इसीलिए राष्ट्रहितकी दृष्टिसे जाति-जाति, समाज-समाजमें एकताका होना परम आवश्यक है। यही बात अल्लताके हेतु सत्रमें कहा है—

" यस्याः मानवात्तां बध्यताः सद्गुणसंवाधम् । "

" जिस मातृभूमिके मनुष्योंमें बहुत निर्बल भाव है। " यही मातृभूमि अपने धुनियोंके उत्तम धन दे सकती है। परन्तु जिस भूमिके लोग आपसमें बैर भाव रखते हैं, वहाँकी जनता आधा पेट रहती है। कोई ऊँचा हो, कोई गरीब हो, कोई अमीर हो पर शरीरों वह हृष्टपुष्ट हो। सबको चाहिए कि वे जो कुछ करें मातृभूमिके लिये करें। अपने गुणविकासके सम्बन्धसे उन्हें गुणहीनता की या अन्य मुक्तताओंकी न दबाया चाहिये। कुछ लोग नुन ही और कुछ बाबास हों, तो दोनों मिलकर, आपसमें न सख्कर दोनोंको अपनी प्रतिष्ठा के लिये बेल करे।

चाहिये और उन्हें मातृभूमि की सेवापर बड़ा देना चाहिए। तभी राष्ट्र की उन्नति होगी। मनुष्यमें जो (उद्धतः) उच्चता, (समं) समता और (प्रवृत्तः) नीबटा रहती है, वह एक दूसरेका प्राप्त करनेके लिए नहीं रहती। एक मनुष्य यदि किसी एक बातमें अंधा है, तो वह दूसरी बातोंमें मोबा होया। एक विद्वान् यदि ज्ञानमें अंधा होया, तो शक्तियें उसका दुर्लभ कण भी हो सकती है। यदि कोई शक्तिशास्त्री पहचानान् हो, तो ज्ञानमें उसका हलका होना संभव है। किन्तु मातृभूमिको दोनों प्रकारके मनुष्योंकी आवश्यकता है। ज्ञानी मनुष्य ज्ञानके धमधमते और बलवान् शक्तिके धमधमते एक दूसरेके द्वार में कोढ़ें, शक्ति शोनोंकी चाहिए कि वे मिलकर देशके सन्तुष्टिमें दूर करें और अपनी उन्नति करें।

मातृभूमिका कार्यक्षेत्र यही है कि सर्वत्र भेदोंके रहते भी समतेपावती अपना मार्ग निकाले। जो भव्य करनेमें समर्थ है उसीको मान्य कहते हैं। मान्य करनेवाला समते उत्पन्न नहीं करता, वह सोच विचार कर समते कण करता है और उन्नतिके मार्गमें जाने जाता है। जो अपनी परिस्थितिका विचार नहीं करते, अपनी उन्नतिके लिए प्रयत्न नहीं करते, किन्तु मान्यके समते ही बढाते हैं, वे जो पिरकते होनेपर भी मान्य या मनुष्य नहीं बने जा सकते।

इस मंत्रका उपदेश हम लोगोंको वर्तमान ज्ञानमें अच्छी तरह उपयोगी हो सकता है। उपमृष्ट मंत्रोंके पढ़नेसे ज्ञात होता कि इस वैदिक राष्ट्रगीतके द्वारा वेदशास्त्रियोंमें एकता बढानेके लिए जो कुछ कहा जा सकता है, कह दिया गया है। यदि हम उससे लाभ न उठावें तो उसमें धर्मबंधका क्या बोध ? बोध है अनुयामियोंका। ऐश्वर्या उपदेश पुन सेनेपर प्रत्येकको जान सेना चाहिए कि अपने देशके प्रति हमारा पुत्रत्वका नाता किस प्रकार है। इस संबंधको जानकर उसे सर्वत्र अपने मर्कमें जागृत भी जाना होगा। वह मातृभूमि सेवाका बोध करता है—

त्वन्नातास्त्वपि श्रान्ति मर्थो-  
स्वयं पिभार्यं द्विपदस्त्वं चतुष्पदम्।  
तथेमे पृथिवि पंच मानवा  
येभ्यो यथोत्तरमृतं मर्येभ्य उधन् सूर्यो-  
रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

“हे मातृभूमि। तेरेसे उत्पन्न हुए हम सब मनुष्य तुझ पर ही घूम रहे हैं। तू ही द्विपद और चतुष्पदका पोषण करती है। हम पौर्वा प्रकाशके मनुष्य तेरे ही हैं। तुझ

मान्योंकी प्रतिबिम्ब उपनेवाला सूर्य अपनी चिरमंति तेज और अमृत देता है।”

इस मंत्रमें सर्वप्रथम यही मतलबका गया है कि ‘हम सब मनुष्य भूमिशास्त्र (स्वभू-जन्तः) ही उत्पन्न हुए हैं और उस पर ही घूमते फिरते हैं।’ यह भाव स्पष्ट एवं अर्थग्राह्य है। प्रत्येक राष्ट्रमन्त्र अपने मतमें यही भाव रखता है। तभी वह राष्ट्रकी उन्नतिके योग्य कार्य करनेमें समर्थ होता है। मातृभूमि हमारी आत्मकारिक या कात्मिक माता नहीं, अपितु वास्तविक भवता है। यह द्विचार जितना दीर्घ होना, उतनी ही बृह भावनासे त्वा मनुष्य मातृभूमि की सेवा कर सकेगा।

हमारे देशमें भी भारतीय समते होते हैं उनका कारण यह है कि इस देशके निवासियों में समते कि मनुष्य हम सब मातृभूमिके पुत्र हैं। भोग अपने अपने पंचके हितकी बुद्धि रखते हैं। तबका जो एक राष्ट्रधर्म है उसका पालन कोई नहीं करता। इसीसबसे एक राष्ट्रधर्मका बंधन नहीं रहता। प्रत्येकको अपना पंच ही अधिक प्रिय होता है। सार्व-राष्ट्रीय धर्मके पालनकी कोई चिन्ता ही नहीं करता। ऐसे घातक विचार किसी भी देशके निवासियोंमें किसी भी जातिके लोग न रहें, इसी धर्ममें स्पष्ट दर्शनोंमें कहा गया है कि ‘हम सब मातृभूमिके बासक हैं।’ बासकी फूटकी यह एक अश्लील दवा है। मनुष्य किसी भी धर्मके या पंचके रहें, या धर्ममें जाति और धर्मके कारण सेसी भी भिन्नता श्यों न हो। यदि वे एक राष्ट्रधर्ममें बंध जायेंगे, तो परस्पर वैरभाव उत्पन्न ही न होगा।

हमारी मातृभूमि हम द्विपदोंका और अन्य चतुष्पदोंका उत्तम प्रकारसे पोषण करती है। त्वा स्वर्गो वृष्टिसे भी यदि वैश्व तब भी हरएक मनुष्यके लिए उत्तम घात पड़ी होगी कि वह हृदयमें मातृभूमिकी अहित रखे और उसको रक्षानेके लिए सर्वत्र तैयार रहे। हम अपने सक्ताकी रक्षा करते हैं, अपनी धनीकी रक्षा करते हैं, यह सब हम इसीलिए करते हैं कि उससे हमारा हित होत है। हमारा हित मातृभूमिसे भी होत है। क्योंकियही मातृभूमि मनुष्योंकी और पशुपक्षियोंकी अन्न, चरक आदि देती है और उनकी रक्षा करती है। यदि त्वा मातृभूमि की रक्षा न करेंगे, तो यह किता दूसरेके आधीन हो जायेंगी और तब हमारी आकत होगी, हमारे भूमी मरनेकी नीमत आ जायेंगी।

इस समय भारतीयोंका यही हाल है। उन्होंने योग्य समयमें मातृभूमिकी रक्षा नहीं की, अतएव अन्न वन्ध सहने पड़ रहे हैं।

इस भाषितके समय भी हम साफ़ी जगहोंको नहीं मूलते, और एकतासे मातृभूमिकी सेवा करनेको तैयार नहीं होते । परन्तु कालमें हम लोगोंने जो गलतियाँ कीं सो तो हो चुकीं । उनके बारेमें अब कोई कितना ही क्यों न कहे, वे बदल नहीं सकतीं । परन्तु उन गलतियोंका फल भोगते समय भी उनसे उचित शिक्षा न लेकर पुनः पुनः वेहो भूलें करना और प्रतिदिन आपसी भेदभावोंको पकाना धक्कर धावी भाषितकय किम्बू है ।

सर्वप्रथम हम अपने राष्ट्रके हैं, तत्पश्चात् अपने पंचके हैं । यही धारणा हरएक मनुष्यमें होनी चाहिए । हमारी वर्तमान गिरी जमानें मधर्मबेवक्रे से शर्मोल उपवेश रत्न-ही हमारा उद्धान कर सकते हैं । इसका हो नहीं के हमारा बस चारों विश्वामर्मे फैला सकते हैं ।

यहां तक के लेखमें मतलब था क्या कि मातृभूमिके वैदिक गीतकी स्थापना बातें क्या हैं, तथा यह भी विचार्यया क्या कि जनतामें भिन्नता रहते हुए भी एकताका साधन कैसे किया जा सकता है और मातृभूमिकी सेवाके लिये सब मिलकर किस प्रकार तैयारी करें । पिछले पृष्ठोंमें यह स्पष्ट होचका होगा कि वैदिक राष्ट्रगीतमें राष्ट्रकी उत्पत्तिके उच्च तत्त्वोंका जसा समावेश है, वैसे तत्त्व अन्य किसी देशके राष्ट्रगीतमें नहीं है । तथापि आवश्यक यह है कि इस राष्ट्रगीत-पर और भी कई दृष्टिमें विचार किया जाय ।

जनतामें मातृभूमिके लिये प्रेम उत्पन्न होना चाहिए । यह प्रेम तभी हो सकता है जब कि देशके नगरों, ग्रामों एवं जगाम्य स्थानोंके प्रति आदर हो । मन्त्रर किसी विशेष महत्त्वके कारणसे ही हो सकता है । यदि हम कहें कि इसका आदर करो, तो हमारे कहनेसे कोई आदर न करेगा । किसी महत्त्वकी पुष्ट्यभी घटनासे संबंध हो, या उसका किसी महाभासे संबंध हो, या अन्य किसी विशेष घटनासे उसका संबंध हो । अतएव हमें यह देखना है कि वैदिक राष्ट्रगीत इसकी सूचना किस प्रकार देता है—

### देवीद्वारा बसाए हुए स्थान

यस्याः पुरो देवकृतः शोभे यस्या विकुर्वते ।

प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगमर्मा—

महाशामाशां रण्यां सः कुपोतु ॥ (अथर्व. १२।१।४४)

“ हमारी जिस मातृभूमिके नगर देवों द्वारा बसाए गए हैं और जिसके क्षेत्रोंमें सब मनुष्य विविध काम करते हैं, उन सब पशुपतियों अपने गर्भमें बाराए करनेवाली मातृभूमिके परमेश्वर सब विद्याओंमें हमारे लिये रमणीय बनाने । ”

( यस्याः देवकृतः पुरा ) “ जिसके नगर देवों द्वारा बनाये गए हैं ” बड़े भावसे जनताको विश्वास होना चाहिये कि हमारी मातृभूमिके नगर देवोंने बसाए हैं, हमारे नगरोंमें देवोंका संबंध है, देवीका देवत्व हमारे नगरोंमें है । इसप्रकारका धोखित विश्वास यदि जनताके मनमें स्थान बना ले, किञ्चय ही है कि अपने देशके बारेमें भी मनमें प्रेम प्राप्त होगा ।

इतिहासमें ऐसा उल्लेख है कि हमारी मातृभूमिके विविध नगरोंका संबंध देवोंसे है । मगवान् भी रामचन्द्रजीका संबंध ज्योष्वा और रविश्वरसे है । श्री कृष्णजीका संबंध शोकुल, युदावन तथा इन्द्रासे है । इसका संबंध इन्द्रासे है । हमारे देशके आवासगृह जाते हैं कि इसप्रकार भले नगरोंमें देवोंका संबंध है । नरियार्, ताताब, तारावर, पर्वत श्रृंग, मुकाम आदि स्थानोंमें देव देवताओंका वा पुष्प वृक्षोंका संबंध रहा है । इसका संबंध पर्वतों में भी पाया जाता है और सब स्त्रीपुरुषोंकी भी कथा—पुराण आदिके अध्ययनसे मातृभूमि ही सकता है । गौरीशंकर और कंसातके पर्वत शिखरोंका संबंध साक्षात् भववान् शंकरके साथ है । बड़ीकराके आशमन्त्र संबंध नर—नारायण नामक ऋषिपुत्रियोंसे है । मातृभूमिको बुद्ध भक्तिके लिए परम आवश्यक है कि यह संबंध देशके सब स्त्रीपुरुषोंकी विविध होवे ।

कुछ विदित लोग कहेंगे कि “ यह भवविशाल किस लिए ? बिजकुल व्यावहारिक दृष्टिको दुमिले भी मातृभूमिके प्रति भक्ति हो सकती है । ” बात बिल्कुल ठीक है । पर व्यावहारिक कारणसे साथ ही यदि लोगोंके हृदयमें ऊपर बताए गए संबंधोंका भी विचार हो तो भी मुकलान कुछ न होया । बलक अपनी मातापर प्रेम करता है । पर इसलिये नहीं कि माता सुंदर है, या माता लाल देवी है । यह प्रेम करता है क्योंकि “ मातृदेवी सब ” के अनुसार माता एक देवता है । बालकका माताके प्रति प्रेम इसी विषय बाबतके कारण रहता है । बालकका माताके प्रति और माताका माताके प्रति अकृत्रिम प्रेम रहता है । परन्तुकी आशा न कर जो प्रेम किया जाता है, वही रिष्य प्रेम है, वही निरपेक्ष अकृत्रिम प्रेम है । इसीलिए मातृप्रेम व्यावहारिक नहीं है । मातृभूमिका प्रेम जो इसप्रकार अकृत्रिम, निःसीम, अशक्तिक और रिष्य होना चाहिए । लोगोंमें अकृत्रिम प्रेम उत्पन्न हो इसलिए उपर्युक्त संश्रममें लिखा है कि अपने देशके नगरोंका संबंध देवोंसे है ।

जो आशोयोग आधिक या व्यावहारिक दृष्टिको दृष्टिसे मातृभूमिके भक्ति करते हैं, वे भले ही वेता हैं । उसमें

किस्मोको व्यपति नहीं । परन्तु सब जनता उसकोटिकी जानी नहीं हो सकती । अतएव सामार्य छोड़ोंमें भी मातृभूमिके प्रति विशेष प्रेम उत्पन्न हो, इसी कारणसे सबको मातृभूमि होना आवश्यक है कि हमारे देशके स्वार्थोंका समर्थ देखेंति या श्रद्धाविषंति है ।

प्रतापगढ़ तथा सिंहगढ़से शिवाजी महाराजका संबंध, चित्तौड़गढ़से महाराणा प्रतापसिंहका समय, झांसीसे रानी लक्ष्मीबाईका समय, गढ़ मंडलासे रानी दुर्वास्तीका समय, परजीसे स्वामी रामदासका संबंध और इसीप्रकार भिन्न भिन्न इतिहासप्रसिद्ध स्थानोंसे ऐतिहासिक व्यक्तियोंका संबंध मालूम होना परम आवश्यक है । सिंहगढ़का या अन्य किसी उस स्थानका जिससे शिवाजी महाराजका संबंध रहा है, यदि कोई भग्न बंदे या अन्य इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तिके स्थानका कोई अपमान करे तो उस दुष्ट कायोंसे संपूर्ण भारतके हृदयमें शोक पड़सती है । संपूर्ण भारत उस दुष्टहृदयका जवाब पूछनेकी तैयार हो जाता है । इसीमें राष्ट्रीय उन्नतिकी बीज है ।

इसीलिए जब विदेशी सरकारें दूसरे देशपर अपना अधिकार जमाती है, तब उस देशके ऐसे इतिहासप्रसिद्ध स्थानोंको भुला देनेमें लग रहती है । वह तत्पर रहती है कि ऐसे स्थानोंका लोगोंको पता भी न रहे । इसका भी मर्म यही है । मृतक-मानोंने प्रयागका नाम मज्जाहाबाद रखा, सहजरीयंका नाम झन्जानाबाद रखा, मार्तण्डकी मठन बहू, ग्राम महर्षिका माप शोधितनिस कर डाला, श्रीसरकाबायेंके स्थानको तत्त-शुभेमान कहा और इसीप्रकार हजारों शहरोंके और स्थानोंके नाम बदल गये । इसका रहस्य हम ऊपर बतसा चुके हैं ।

जब अंग्रेजोंका राज्य हुना, तब उन्होंने पंचालगिरीके गीरी-शकरना नाम पीठ परदेष्ट रखा दिया और सिमला, पहा-बोखर आदि पर्यटनार्थके जगहों नाम बना दिये । इसी प्रकार अन्य कई स्थानोंका अंग्रेजीकरण हुआ ।

मृतकमानोंने मदिरा और मूर्तियोंका विषय किया और मत्तकारोंसे लोगोंको अपने धर्ममें मिलाया । अब ईसाई लोग धर्मागत करा रहे हैं । वे ग्राम प्रत्येक वेष्टमान और सर्व-स्थानमें जाकर उसकी निंदा करते हैं । इसका भी कारण यही है कि जिससे अपने देशके स्वार्थोंका हमारा अभिमान गल्ट हो जाय ।

विद्योता भूलमलमल हों, अंग्रेज हों या जापानी हों उनका तपका स्वभाव पुरहीसा होता है । जिन लोगोंके हृदयसे मातृ-

भूमिकी महति गल्ट करनेके लिए वे जो कुछ कर सकते हैं वह करनेमें चुकते नहीं । मातृभूमिके शिष्यमें प्रेम और भक्ति रखनेके लिए अपने देशके तीर्थस्थानोंका प्रेमपूर्ण इति-हास जनताके हृदयमें सर्वे जागृत रहना चाहिये । जबतक जनतामें मातृभूमिका प्रेम जागृत रहेगा, तबतक विदेशी जंताओंके पैर जम नहीं सकते । यही सार्वत्रिक नियम होनेसे सब नेता बीबी हैं । पादाक्षत जनताकी मातृभूमिके प्रेम्हो सब चिन्तु मन्त्री मित्रोंका प्रयास करते हैं । सरकारें इति-हाससे वाकफ़ इसकी पुष्टिके उदाहरण स्पष्टतया देत सकते हैं ।

ऊपरके मंत्रमें और दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—  
( १ ) योग अपने अपने क्षेत्रमें स्थानसे कार्य करें । और  
( २ ) देशके निवासियोंको चारों दिशाएँ समीप मालूम हों । अपने ही देशकी चारों दिशाएँ हमकी समीप नहीं मालूम होतीं, इसका कारण हमारे मनवर अपनी मातृभूमिके प्रति स्वाभिमानकी कमी है । स्वाभिमानी लोगोंको सब दिशाएँ समीप मालूम होती हैं । वह कहता कि ' सब दिशाएँ हमें समीप दिवें ' ' हूय स्वाभिमानी हों ' कहनेके बराबर है ।

देशके गहरोंके प्रति अपनेपनका भाव बहुत महत्वका है । इतर धर्मावलम्बियोंमें बनारस, रामेश्वर आदि पवित्र तीर्थ-स्थानोंके प्रति अपनेपनके भाव नहीं हैं । इससे उन्हें भारतवर्ष अपने मातृभूमि नहीं मालूम होता । इससे राष्ट्रीय उन्नतिकी दृष्टिसे इस देशका बड़ा भारी मुकामल हुआ है ।

### श्रुति—श्रुत्य

यस्यां पूर्वं भूतकृत श्रुतयो गा वदानुभू ।

सप्त संधेण घेषसो यथेन तपसा सह ॥ ३९ ॥

" जिस मातृभूमिमें पूर्वके साधियोंने, देशका भूतकृत स्थानोंकी श्रुतियोंने तब और तब करते तथा तब करते तप ( गा ) भूमियोंका उद्धार किया " यह हमारा भेद्य मातृभूमि है ।

( भूतकृत श्रुतयः ) हमारे देशका भूतकृतका इतिहास जनताके तपस्यो श्रुति में । देशवासी यदि तप दाताका विश्वास करें तो उन्हें प्राचीन कालके विषय समझना निश्चय हो । पूर्वकालके विषयका एक उत्तमताका निश्चय हो जानेपर उन्हें इच्छा होगी कि भविष्यकाल में ऐसा ही उन्नत हो और इस इच्छासे प्रयत्न भी करेंगे । जिसका भूतकृत तेजस्वी है, उनका भविष्यकालभी तेजस्वी हो सकता है, यदि उसके लिए प्रयत्न किया जाय तो ।



भगवान् विष्णुने पराक्रम किया, अतितराती दुश्मन मिले अपने लिए शत्रुर्हित किया, वही हमारी मातृभूमि, यैसे माता अपने बालकको दूध देती है वैसे ही, मुझे उपभोगके पदार्थ देवे । ”

इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें बातलाया है कि देवोंने इस मातृ-भूमिके लिये क्या क्या किया । अश्विनोषुमारोंने देवदेवों तरेकि क्षेत्रोंकी नाप की, देशोंकी सीमाएँ निर्दिष्ट कीं, जमीन मापी और इसप्रकार मातृभूमिकी सेवा की । मरुतम विष्णुने भी पराक्रम किये थे सबको विरहित ही है । इन्होंने हजारों युद्ध किये और इस मातृभूमिकी सम्पत्ति कायेंसि छुड़ाया । इसप्रकार मायाय देवताओंने भी इस मातृभूमिके लिए जो कुछ मन सकता था किया । उसमें कुछ कसर न रही । देव और अशुरोंने युद्धमें हजारों देवदोरोंने इस मातृभूमिके उद्धारके लिए युद्धक्षेत्रमें अपना बलि-दान किया और इस भूमिकी स्वतन्त्रताका तीव्रभाव प्रकट किया । वही देवोंका मत हमें भी भजना चाहिए । देवोंके द्वारा विरचित किए मांगपर ही हम लोग भी चलें । यह जानकर कि हम लोगोंके लिए देवोंने तथा उस समयके पुरुषोंने क्या क्या किया, हमें उनके श्रमसे छुटकारा पानेका प्रयत्न करना चाहिए ।

श्रुतिश्रुत सीनता है तो बतला दिया गया, देवदेव सीनता है तो भी बतला दिया गया । इन श्रुतिसि मूल होनेके लिए हमें प्रयत्नशील बनना चाहिए । मरुतको सीनना चाहिए कि हम श्रमपुस्त होनेकी चेष्टा कर रहे हैं या नहीं । इस देवदेवके द्वारेने एक और मंत्र देवोंने दीया है—

यां रक्षन्त्यश्वत्था विश्वदूरीं देवा

भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।

सा नो मधुमियं हुहामथो उल्लतु धर्चसा ॥ ७ ॥

“ देव जिस मातृभूमिकी रक्षा गलती और अलसता न करते करते जाएं, यह मातृभूमि हम लोगोंकी तेज और मीठा शहद यदि सानेके पदार्थ ॥ ”

( अ-स्तव्नाः देवाः ) लांछन न करते हुए देव इस भूमिकी रक्षा करते जाएं हैं । लांछन न करते सर्वत्र काम करनेवाले उन देवोंके सम्मुख सब होनेमें बालक सी लोगोंको गरम जानो चाहिए । न करते हुए, विधर्षित न होते हुए हम लोगोंके लिए जिन देवोंने ऐसा भारी परिश्रम किए, उनके उस परिश्रम कार्यके बदलेमें हम लोगोंने क्या किया ? उनका स्वातन्त्र्यशाका कार्य क्या हम लोगोंने भूल दिया है ? और कुछ नहीं तो क्या हम लोगोंने राष्ट्रीयताका कार्य सर्वत्र री रक्षनेका भी विधाय किया है ?

ऊपरके मंत्रमें यह भी कहा है कि ( देवाः अग्रमाद रक्षन्ति ) देव गलती न करते हुए रक्षा करते हैं । देवोंने गलती न करते हुए मातृभूमिका रक्षण किया, इसीसे तो वे बध्मते छुटकारा पा सके । अशुरोंने अनेक बार देवोंकी चिरबासकी पराधीनताकी बंधीमें जकड़ देना चाहा । राघव, लक्ष्मी और इनके समस्त अन्य राजाोंने इस प्रयत्नमें कुछ भी कसर न रखी । किन्तु ऐसे सब अवसरोंपर देवोंने पुरुषार्थकी पराकाष्ठा की, अपनी स्वाधीनता बनाए रखी और अशुरोंको भगा दिया । गलती न कर दक्षतासे कर्तव्य करनेकी भी बोझ देवोंने हमें दी, क्या हमें उसका सम्पात सावधानीसे न करना चाहिए ? स्वदेवके कर्तव्यमें हम लोगोंकी बसता क्या बंसी है, अच्छी होनी चाहिए ? हम लोग निर्रे हुडके कारण पग पग पर क्या भारी भूले नहीं कर रहे हैं ? वास्तवमें राष्ट्रकार्यके लिए आत्मसमर्पण करनेकी हमें सर्वत्र तैयार रहना चाहिए । किन्तु आत्मसमर्पणका सम्यक् आशय उरकी और व्याज न देनेवाले स्थितमें ही लोग हमें हैं ।

### विद्वानोंका श्रम

श्रुतिर्वाक राष्ट्रकार्य हमें चुकै । देवोंने क्या किया तो भी देन किया । हमें अब वैद्यना है कि बध्मशील बुद्धिमान् पुरुषोंने सीनता कार्य करके राष्ट्रकी सेवा की—

याऽर्चयेऽधि सलिलमग्र आसीदां

मायभिर-वचरज्मनीपिपाः ।

सा नो भूमिस्तृपिं शलं राष्ट्रे दद्यात्समे ॥ ८ ॥

“ हमारी जो मातृभूमि आरममें तपुद्रके भीषे दी और जिसकी सेवा मयवशील विद्वानोंने अनेक प्रकारके काम करके की, यह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तैल और बल प्राप्त करावे । ”

इस मंत्रका “ यां मायपि । भगवदरज्मनीपिपाः । ” यह भाग प्रस्तुत लेखके प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे सतिशय महत्व रखता है । इसका “ माया ” शब्द अतीव महत्वका है । इस माया शब्दका अर्थ अद्वैतमतका मायावाद नहीं है । माया शब्दके कई अर्थ हैं— “ ( १ ) कुशलता, कामकी कुशलता, कोनसरी कृपा तुम्हें कारीमरीपण बाप, भातृप, ( २ ) कलत्र शक्यं निरको मायव्यस्ता राजनीतिमें है, अशुकी शक्यता देनेकी विद्या । ” ये तय अर्थ माया शब्दके ही हैं । इन दोनों अर्थोंसे माया शब्द मंत्रमें आया है । ( मनीपी ) मयवशील शेष सम्यक् देखकर कुशलतासे, चतुराईसे, कपटसे या राजनीतिसे निषेधित मातृभूमिकी सेवा करते हैं । यही इस मंत्रका आशय है ।



इसप्रकार वेद, ऋषि और अन्य विद्वानोंने हमारे मातृ-  
भूमि की सेवा की है। जो पात्र ऋषि, वेद और अन्य बड़े  
बड़े नामों लोगों ने दिया दिया, उसी रास्ते से हमें जाना  
चाहिए। सभी हमारे भलाई होगी। हम सब लोग ऋण है;  
ऋषि-ऋष, वेद-ऋण और अन्य ज्ञानियों का ऋण। हमें इन  
ऋणों को बेलना चाहिये और उनसे मुक्त होने की चेष्टा  
करनी चाहिये।

इस सेल के मंत्रिक राष्ट्रीय गीत के मंत्र हमारे राष्ट्रीय चतुष्पदा  
संबंध ऋषि-काव्य को बड़ी विभूतियोगिता मिलते हैं। हमारा  
समस्त राष्ट्रीय चतुष्पदा ऋषियों ने आरंभ किया, देखो उनको  
गुड्डि को और अन्य विद्वानों ने उसे बढ़ाया। इस त्रिवेणी-  
संममने से वह हमारे पास आया है। इससे हमें उसे आगे  
कलना चाहिये। उसे अज्ञान हमारा आकाशक चतुष्पद हो  
है। यदि हम उस कार्य को नहीं करते तो ऋषि और वेद  
हमसे कदापि छूटेंगे। हर एक को वह बात अच्छी तरह समझ  
रखनी चाहिए।

मोग ॥ मंत्र के उपदेश पर अच्छी तरह ध्यान में और वेदों  
कि हमारा धर्म जैसे बिलाल और उच्च राष्ट्रीय धर्म का  
उपदेश करता है। और ये उनके अनुसार आचरण के लिए  
तात्पर्य हैं। हमारे राष्ट्र को संसार के राष्ट्रों में उच्चतम उच्च  
स्थान पर पहुंचाने की लड़ाई हमें ही है। उसे निभाने के  
लिए हमें सर्वे संसार रहना चाहिए।

## मंत्रोक्ती संगति

यहां इस विवरण की समाप्ति करते हुए हम इस सूचक के  
मंत्रोक्ती संगति का पीछता विचार करते हैं। इस सूचक में  
कुल ६१ मंत्र हैं। इनमें सबसे प्रथम के मंत्र में मातृभूमि का  
पारण किन गुणों से होता है यह बात कहो है, इसलिये यह  
मंत्र सबसे अधिक महत्वका है। अथवा राष्ट्रभवन को उचित  
है कि वह इस मंत्र को देखे, विचारें, मनन करें और इन  
गुणों को अपने अंदर बसाकर अपने आचरण में मातृभूमि की सेवा  
करने के लिये सुयोग्य बनावें।

द्वितीय मंत्र में जो राष्ट्र के लोगों के अंदर आचरण की एवता  
चाहिये, तथा आपसी शान्ति नहीं चाहिए इसका महत्वपूर्ण  
उपदेश बड़े है, उन्हें सदा स्मरण रखना चाहिए। तृतीय और  
चतुर्थ मंत्र में सामाजिकता सूचन है, यह सुनने ( छापः  
संयोजक )। जिसमें जो गद्यभाषा को बर्णन है वह समाज  
महत्त्व का विषय है।

पंचम मंत्र में पूर्वोक्त पराक्रमी ( पूर्व पुर्यजना विचारिते )  
को स्मरण करने की जो सूचना दी है वह आकाशवाणी के  
द्वारा कभी भूलना-बोधा नहीं है। जो अपने पूर्वजों का मह-  
त्त्वपूर्ण इतिहास नहीं जानते वे निराश्रित बनेंगे नहीं करते।  
इस कारण यहां गुरु उपदेश दिया है। सातवें मंत्र में जो  
( अस्त्वन्मूर्ध्नि अग्रमादं रक्षन्ति ) आकाशवाणी होकर  
मातृभूमि की रक्षा करने का महत्त्वपूर्ण उपदेश है। इसका  
पंचम मंत्र के साथ संबंध देखकर पाठक बहुत मोघ प्राप्त कर  
सकते हैं।

अथ ६ और ७ में मातृभूमि का मनोहर वर्णन है। नवम  
मंत्र में उद्धारचरित संघातियों के संघारों सर्वत्र शान्तस्तर  
होकर सब प्रजाजन के अन्तःकरण ज्ञानविज्ञान के द्वारा शांति  
पर्यूर होकर बोधकर वर्णन है। इसमें नवम और  
द्विचतुके पराक्रमी का वर्णन है, वह ५ वें और ७ वें मंत्र के  
साथ मिलकर पढ़ना चाहिए, तब उसकी संपूर्ण गंभीरता  
प्राप्त होगी। ११ वें मंत्र में ( असीतो अक्षुधुधियों  
अरुणः ) ' स अक्षय होकर मातृभूमि का अविच्छाता बन् '   
यह वाक्यपूर्ण महत्त्वपूर्ण राष्ट्र के आगे के अन्तर्गत  
होती चाहिये, ऐसा जो सुचित किया है वह विशेष ही उत्तम  
पदेश है।

१२ वें मंत्र में ' माता भूमि और उसका भू पुत्र हैं ' यह  
वाक्योक्ति और बलका मेम सुचित करनेवाला वाक्य पढ़कर  
अनेक पाठक मेम से सन्तुष्ट होंगे इसमें संदेह नहीं है। १३ वें  
मंत्र में यज्ञकर श्रेष्ठ पाठक वेदों। १४ वें मंत्र में वीरोचिन  
भावा बड़े स्तत्रज्ञेय बड़ानेवाली है। ' जो हमारा माता  
करेगा, उसका माता हय करेंगे और भागे बर्धन ' इसे पढ़कर  
जिसमें वीरता न बढेगी ? १५ वें मंत्र में एवही माता से  
जगत्त हूए वाच मानवजातिपों की अनेक एवतारा सुवर  
वर्णन है। १६ से १८ तक के मंत्रों में ( भूमि विभयदा अनु-  
छेदः ) ' हय मातृभूमि को प्रतिदिन सेवा करें ' यह प्रतिज्ञा  
मनने अपने मनमें धारण करने योग्य है। क्या कभी ऐसी  
प्रतिज्ञा करनेवाले मातृभूमि को उपेक्षा करेंगे ?

१९ वें मंत्र में ११ वें मंत्र के मातृभूमि का स्वर वर्णन  
असंशयित पर्यूर करता हुआ है। अति, यममें हय,  
पृथ्वी का मन्वसु, अनपतिधौरी उत्तमता, प्राचीन परता  
आदि वर्णन देखने से मन्वसु हयका आनंद बढ़ता है। मंत्र  
२२ वें में ( परिधिपिने यधं ) राष्ट्रभूतों का वध करने  
शक्त करने की सूचना है। मंत्र २३ वें में सुदृढता से सेवा  
रहितों का लालन करने का महत्त्वपूर्ण अर्थ दिया है।

३४ में मंत्रमें 'अहिता' और ३५ में मंत्रमें अग्निदेवता न करनेका उपदेश विस्तारपूर्वक दिये गये हैं।

३६ में मंत्रमें छ अक्षरों, दो व्यंजनों और अक्षराक्षरों के उल्लेख सवस्तररूपकी परिपूर्ण कल्पना बता रहा है। ३७ में मंत्रमें इन्द्रवज्रपृष्ठके विषये अपनी मातृभूमिके सब अक्षरोंको दूर करनेकी सूचना बड़ी मनोवश है। ३८ में मंत्रमें सोमजल का उदाही मनोरंजक वर्णन है। सब और यज्ञसम्पत्तियों के लिये अक्षरोंके अपूर्व सत्कर्णमार्गका प्रशस्तपूर्ण उल्लेख ३९ में मंत्रमें है।

४० में और ४४ में मंत्रमें धनकी कामना प्रमुख स्थान रखती है। ४१ में मंत्रमें जनसत्ताका पालन, गर्तन और जलानेके साथ नगरक्षेत्रका उल्लेख है। यह राष्ट्रिय जीवनकी ऐक्यता बता रहा है। ४२ में मंत्रमें मातृभूमिको मन्त्र किया है।

४३ में मंत्रमें अपने राष्ट्रमें बेचोड़ारा जनाने और बड़ाये मगरोंके विषयमें पुत्रप्राप्त्यारण करनेका उपदेश है। अपने लिये जलती सब हिंसाय रमणीय होनेका महत्त्वपूर्ण भाव इसमें पाठक मनपूर्वक देख सकते हैं।

४५ वां मंत्र 'मानाभर्षोवति और मानाभाषावाते विविध जनोंकी एकता राष्ट्रभक्तिसे होगी' यह महत्त्वपूर्ण उपदेश देता है, इसलिये यह मंत्र अनेक भेदोंसे विभक्त रहनेवाले और कारकके बिना आपसी साथके बहनेवाले लोगोंकी बड़ाही

बोधप्रद है। ४६ में मंत्रमें सहरोते ओषोंके भाव मानवोंमें न आये, ऐसा कहकर स्वभाव भ्रान्तका उपदेश अपूर्व रीतिसे किया है।

४७ में मंत्रमें सार्वजनिक स्थानपर सबका समान अधिकार होनेकी घोषणा की है। दुराचारी और सदाचारी मार्गपर समान अधिकारसे चलते हैं। इस सार्वजनिक स्थानमें हर एक मनुष्य जा सकता है। वहाँ एकको भासा और दूसरेको प्रति-कष नहीं हो सकता।

मातृभूमिको पापी और सदाचारी पुत्ररूपेण समान है, यह भाव मंत्र ४८ में देखने योग्य है। ४९ से ५१ के तीन मंत्रोंमें यज्ञों, पित्राचारों और पतिव्रता वर्णन है। मंत्र ५२ और ५३ में शिव धाम और वैष्णवी प्राप्ति का कथन है।

५४ में मंत्रमें अपने शिष्यवर्गकी महत्त्वकांक्षा है। ५५ में मंत्रमें चारों दिशाओंमें उत्कर्ष फलानेका संदेश है। और ५६ में मंत्रोंमें सर्वजनिक सभाओंमें मातृभूमिके विषयमें शुभ भावसे भाषण करनेका उपदेश है। ५७ में मंत्रमें सेवाकी तैयारीका वर्णन है। मंत्र ५९ से ६१ तक सर्वसाधारण उपदेश है। ६२ में मंत्रमें मातृभूमिके हितके लिये आरमत्तवर्ण करनेका आदेश है और ६३ में मंत्रमें सब प्रजाओंकी सुप्रतिष्ठा स्थिर करनेका संदेश देकर सूक्तकी पूर्णता की है।

इसप्रकार इस सूक्तगत मंत्रोंकी संगति है।

## चिराट्

कांड ८, सूक्त १०

( अथि - अवर्षावात् । देवता - चिराट् । )

( १ ) चिराट् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमपि मेदिनयेवेदं मविष्मतीति ॥ १ ॥  
 सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ २ ॥  
 गृहमेधी गृहपतिर्मवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

अर्थ— [ १ ] ( चिराट् ) चिराट् ही निष्कयसे ( अग्रे इद आसीत् ) प्रारम्भमें यह भवत् पा । ( तस्या जाताया ) उसके उत्पन्न होनेपर ( इय एव इदं मविष्मति इति ) यही ऐसा [ तया ] रहेगा, इस कारण ( सर्वमपि मेदिनये ) सब भवती होगी ॥ १ ॥

( सा उद क्रामत् ) यह उत्पन्न हुई और ( सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ) यह गृहपतिरूपाने परिणत होगी, ( य एव वेद ) जो ऐसा जानता है यह ( गृहमेधी ) गृहगत करनेवाला होकर ( गृहपतिः भवति ) गृहात्मक होता है ॥ २-३ ॥

|   |        |
|---|--------|
| सोदक्रामत् माहवनीये न्यक्रामत्  | ॥ ४ ॥  |
| यन्त्यस्य देवा देवहूतिं त्रियो देवानां भवति य एवं वेद                     | ॥ ५ ॥  |
| सोदक्रामत् सा दक्षिणाधौ न्यक्रामत्  | ॥ ६ ॥  |
| यज्ञतो दक्षिणीयो वासतेषो भवति य एवं वेद                                   | ॥ ७ ॥  |
| सोदक्रामत् सा सुभायां न्यक्रामत्  | ॥ ८ ॥  |
| यन्त्यस्य सभां सम्बो भवति य एवं वेद                                       | ॥ ९ ॥  |
| सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत्  | ॥ १० ॥ |
| यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद                                  | ॥ ११ ॥ |
| सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत्  | ॥ १२ ॥ |
| यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद                              | ॥ १३ ॥ |
| ( १ ) सोदक्रामत् सान्तरिक्षे चतुर्धा विक्रान्ताविष्ट                      | ॥ १४ ॥ |
| तां देवमनुष्या अमुवन्निषमेव तद् वेदु यदुभयं उपजीविमामाधुर्पं ह्ययामहा इति | ॥ १५ ॥ |
| तामुपाह्वयन्त   | ॥ १६ ॥ |

अर्थ— ( सा उद् अक्रामत् ) वह उक्रान्त हुई और ( सा माहवनीये न्यक्रामत् ) वह माहवनीय मन्त्रिसंस्थान परितः होगई । ( या एवं वेद ) जो इसप्रकार जानता है वह ( देवानां त्रियोः भवति ) वह देवोंका त्रिप बनता है और ( देवाः अस्य देवहूतिं यन्ति ) तब देव इसके देवोंके मुखात् जानेके स्थानपर आते हैं ॥ ४-५ ॥

( सा उद् अक्रामत् ) वह उक्रान्त हुई और ( सा दक्षिणाधौ न्यक्रामत् ) वह दक्षिणादि संस्थान परितः होगई । ( या एवं वेद ) जो इसप्रकार जानता है वह ( यज्ञतो दक्षिणीयो वासतेषोः भवति ) योग्य रीतिते यज्ञ करनेवाला संवागयोग्य और यज्ञतोको रहनेका स्थान केवलता होता है ॥ ६-७ ॥

( सा उद् अक्रामत् ) वह उक्रान्त हुई और ( सा सुभायां न्यक्रामत् ) वह सुभावे परितः होगई । ( या एवं वेद ) जो यह जानता है वह ( सभां सम्बो भवति ) सभाके योग्य होता है और लोग ( अस्य सभां यन्ति ) इसकी सभामें आते हैं ॥ ८-९ ॥

( सा उद् अक्रामत् ) वह उक्रान्त हुई और ( सा समितौ न्यक्रामत् ) वह समितिमें परितः होगई । ( या एवं वेद ) जो यह जानता है वह ( समित्यो भवति ) समितिमें योग्य होता है और लोग ( अस्य समितिं यन्ति ) इसकी समितिमें आते हैं ॥ १०-११ ॥

( सा उद् अक्रामत् ) वह उक्रान्त हुई और ( सा सामन्त्रणे न्यक्रामत् ) वह मन्त्रिसंस्थान परितः होगई । ( या एवं वेद ) जो यह जानता है वह ( सामन्त्रणीयोः भवति ) मन्त्रीगणकने योग्य होता है और लोग ( अस्य सामन्त्रणं यन्ति ) इसकी सभामें आते हैं ॥ १२-१३ ॥

{ २ } ( सा उद् अक्रामत् ) वह विराट् उक्रान्त हुई और ( सा सान्तरिक्षे चतुर्धा ) वह सान्तरिक्षमें चार प्रकारसे ( विक्रान्ताः अविष्टाः ) विभक्ता होकर लिये हुई ॥ १४ ॥

( देवमनुष्याः तां अमुपयन्त ) देव और मनुष्य उसके विषयमें सोते कि ( इयं पृथु तद् वेद ) यही वह जानती है, ( यत् उभये उपजीविम ) मिलते हम दोनों जीवित रहते हैं । अतः ( इमां उपह्वयामहे इति ) इसको हम बुलाते हैं ॥ १५ ॥  
( तां उपाह्वयन्त ) अतः उन्होंने बुलाया, बुकारा ॥ १६ ॥

ऊर्जे एहि स्वघ एहि घृत्तु एहीरावृत्तेहीति ॥ ४ ॥

तस्या इन्द्रो यत्स आसीद् गाव्यमिषान्वग्रमृषः ॥ ५ ॥

बृहद्य रथन्तरं च द्वौ स्तनावास्ता यज्ञाधिर्यं च वामदेव्यं च द्वौ ॥ ६ ॥

ओषधीरेव रथन्तरेण देवा अदुहन् व्यचो बृहता ॥ ७ ॥

अपो वामदेव्येन यज्ञे यज्ञायजिरेन ॥ ८ ॥

ओषधीरेवास्मै रथन्तरं दुहे व्यचो बृहत् ॥ ९ ॥

अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायजिरे य एवं वेद ॥ १० ॥

( ३ ) सोदक्रामत् ॥ वनस्पतीनामञ्छत् तां वनस्पतयोऽधत्त सा संवत्सरे सममवत् ॥ १ ॥

तस्माद् वनस्पतीनां संवत्सरे वृषणमपि रोहत् वृक्षतेऽस्यामिषो आहृष्यो य एवं वेद ॥ २ ॥

सोदक्रामत् सा पितृनामोऽधत्त तां पितरोऽधत्त सा मासि सममवत् ॥ ३ ॥

तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्र पितृयानं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ— ( ऊर्जे एहि ) हे शक्ति ! आ । ( स्वघे एहि ) हे धारण धनि ! आ । ( घृत्तुते एहि ) हे सत्य ! आ । ( इरावति एहि ) हे समवाली, आ ॥ ४ ॥

( तस्याः इन्द्रो आसीत् ) उसका कछा इन्द्र था, ( गाव्यमिषाधनी ) गावयो रक्षी थी और ( अग्रं ऊग्रः ) मेघ शुभस्थान आ ॥ ५ ॥

( बृहद्य च रथन्तरं च ) बृहत् और रथन्तर ( द्वौ स्तनी आस्तां ) ये दो स्तन थे और ( यज्ञायजिरे च वामदेव्यं च द्वौ ) यज्ञायजिरे और वामदेव्य ये भी दो स्तन थे ॥ ६ ॥

( देवाः ) रथन्तरेण ओषधीः अदुहन् ) देवोंने रथन्तरे ओषधियां रोहन करने निकाली और ( बृहता व्यचः ) बृहत्से बिलारपुत्र आकाशको निकाला ॥ ७ ॥

( अपो वामदेव्येन यज्ञे ) वामदेव्यसे जल निकाला और ( यज्ञायजिरेन यज्ञं ) यज्ञायजिरेसे यज्ञको निकाला ॥ ८ ॥

( यः एवं वेद ) जो यह जानता है ( अस्मै रथन्तरं एव ओषधीः दुहे ) उसके सिधे रथन्तर ओषधियां देता है, ( बृहत् व्यचः ) बृहत् सबका देता है, ( वामदेव्यं अपः ) वामदेव्य जल देता है और ( यज्ञायजिरेन यज्ञं ) यज्ञायजिरे से देता है ॥ ९-१० ॥

( सा उदक्रामत् ) वह उठकर हुई और ( सा वनस्पतीन् आमञ्छत् ) वह वनस्पतिपत्रों को पाल मारई । ( तां वनस्पतयः अग्रतः ) उसको वनस्पतिपत्रोंसे मारा, परंतु ( सा संवत्सरे सममवत् ) वह जगते वर्ष पुनः होगयी । ( तस्माद् वनस्पतीनां वृषणं अपि रोहति ) इसलिये वनस्पतिपत्रोंके वन भर करने हैं । ( यः एवं वेद ) जो यह जानता है ( अस्य अमिषः आहृष्यः वृक्षते ) उसका अमिष भन्नु कष्टा जाता है ॥ १-२ ॥

( सा उदक्रामत् ) वह उठकर हुई और ( सा पितृन् आमञ्छत् ) वह पितरोंको पाल मारई, ( तां पितरः अग्रतः ) उसको पितरोंसे मारा, परंतु ( सा मासि सममवत् ) वह प्रतिमास उत्पन्न होने लगी । ( यः एवं वेद ) जो यह जानता है वह ( पितृयानं पन्थां प्रजानाति ) पितृयान मार्ग जानता है और ( तस्मात् ) इसलिये ( पितृभ्यः मासि उपमास्यं ददति ) पितरोंको प्रतिमास दान दिया जाता है ॥ ३-४ ॥

|   |       |
|---|-------|
| सोदक्रामत् सा देवानामञ्छत् तां देवा अघ्नन् सर्धमासे समभवत्                  | ॥ ५ ॥ |
| तस्माद् देवेभ्योऽर्धमासे वषट् कुर्वन्ति प्र देवयानं पन्थां जानाति य एवं वेद | ॥ ६ ॥ |
| सोदक्रामत् सा मनुष्याङ्गनाञ्छत् तां मनुष्या अघ्नन् सा सद्यः समभवत्          | ॥ ७ ॥ |
| तस्मान्मनुष्येभ्य उभययोरुप हरन्त्युपास्य गृहे हरन्ति य एवं वेद              | ॥ ८ ॥ |
| ( ४ ) सोदक्रामत् सामुस्रानाञ्छत् तामुस्रा उपाह्वयन्त माय एहीति              | ॥ १ ॥ |
| तस्यां विरोचनः प्राह्नादिवत्स आसीदयस्यात्र पात्रम्                          | ॥ २ ॥ |
| तां द्विपूर्धाभ्यर्च्योऽधोक् तां मायामेवाधोक्                               | ॥ ३ ॥ |
| तां मायामस्रा उपे जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद                          | ॥ ४ ॥ |
| सोदक्रामत् सा पितृनाञ्छत् तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति                    | ॥ ५ ॥ |
| तस्यां यमो राजा वत्स आसीद् रजतपात्रं पात्रम्                                | ॥ ६ ॥ |
| तामन्तर्को मार्त्येवोऽधोक् तां स्वधामेवाधोक्                                | ॥ ७ ॥ |
| तां स्वधां पितर उपे जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद                        | ॥ ८ ॥ |

अर्थ— ( सा उदक्रामत् ) ॥ उक्तान् हई और ( सा देवान् आगच्छत् ) वह देवोंके पास आई । ( तां देवा अघ्नत् ) उक्तो देवोंने मारा, ( सा अर्धमासे समभवत् ) वह आधे मासमें होने लगी । ( यः एवं वेद ) जो यह जानता है वह ( देवयानं पन्थां प्रजानाति ) देवयान मार्गको जानता है और ( तस्मात् ) इसीलिये ( देवेभ्यः अर्धमासे वषट् कुर्वन्ति ) देवोंके लिये अर्ध मासमें वषट् कर्म करते हैं ॥ ५-६ ॥

( सा उदक्रामत् ) वह उक्तान् हई और ( सा मनुष्यान् आगच्छत् ) वह मनुष्योंके पास आई । ( तां मनुष्याः अघ्नत् ) उक्तो मनुष्योंने मारा, ( सा सद्यः समभवत् ) वह तत्काल उत्पन्न होगई । ( यः एवं वेद ) जो यह जानता है । अस्य गृहे उपहरन्ति ) उक्तके घरमें लोग उपहार लाने हैं और ( तस्मात् ) इस कारण ( मनुष्येभ्यः उभययोरुप उपहरन्ति, ) मनुष्योंके लिये दोनों ओरोंकर अन्न करते हैं ॥ ७-८ ॥

[ ४ ] ( सा उदक्रामत् ) वह उक्तान् हई और ( सा मनुष्यान् आगच्छत् ) ॥ मनुष्योंके पास आई, ( तां मनुष्याः उपाह्वयन्त ) उसे मनुष्योंने पुकारा कि ( माधे एहि इति ) ' हे माधे ! आ ' इत्यन्वार । ( तस्याः प्राह्नादि विरोचनः पालः आसीत् ) उक्तका प्रहार पुत्र विरोचन बच्चा था । उनका ( अयस्यात्र पात्रं ) लोहेका पात्र था । ( तां द्विपूर्धाभ्यर्च्यः अधोक् ) उक्तका बहुत पुत्र द्विपूर्धन होहल किया, ( तां मायां पय अधोक् ) उक्तने उतनी मायाको ही बुझा । ( तां मायां मनुष्याः उपजीवन्ति ) उक्त मायापर मनुष्योंका जीवन चलता है । ( यः एवं वेद ) जो यह जानता है ( उपजीवनीयः भवति ) वह जीविकाका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १-४ ॥

( सा उदक्रामत् ) वह उक्तान् हई और ( सा पितृन् आगच्छत् ) ॥ पितरोंके पास आई । ( तां पितरः उपाह्वयन्त ) उसे पितरोंने इत्यन्वार बुलाया कि ( स्वधे एहि इति ) ' हे अपनी पारकपरिण ! यहाँ आ ' ( तस्याः यमः राजा वत्सः आसीत् ) उक्तका यम राजा बच्चा था और उक्तका ( रजतपात्रं पात्रं ) चाँदीका पात्र था । ( तां मर्त्यः मार्त्येयः अधोक् ) उक्तका मनुसंबंधी मर्त्यने बोहल किया । ( तां स्वधां पितरः उपजीवन्ति ) उक्त मर्त्यके पारक परिणने पितरोंका जीवन होता ही बोहल उतने किया इसलिये । ( तां स्वधां पितरः उपजीवन्ति ) उक्त मर्त्यके पारक परिणने पितरोंका जीवन होता है । ( यः एवं वेद ) जो यह जानता है वह ( उपजीवनीयः भवति ) जीविकाका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ ५-८ ॥

सोदक्रामन् सा मनुष्यादेर्नागच्छत् तां मनुष्यादे उपाह्वयन्तेरावदयेहीति ॥ ९ ॥

तस्या मनुर्वैवस्वतो वृत्त आसीत् पृथिवी पार्श्वम् ॥ १० ॥

तां पृथीं वैन्पोऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ॥ ११ ॥

ते कृषिं च सस्यं च मनुष्यादे उर्यं जीवन्ति

कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

सोदक्रामन् सा संसृक्कृषीनामच्छत् तां संसृक्कृषव उपाह्वयन्तु ब्रह्मवृत्तेहीति ॥ १३ ॥

तस्याः सोमो राज्ञा वृत्त आसीच्छन्दः पार्श्वम् ॥ १४ ॥

तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक् तां ब्रह्मं च तपथाधोक् ॥ १५ ॥

तद् ब्रह्म च तपथं संसृक्कृषव उर्यं जीवन्ति

ब्रह्मवर्चस्य उपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥

( ५ ) सोदक्रामन् सा देवानामच्छत् तां देवा उपाह्वयन्तोर्जं एहीति ॥ १ ॥

तस्या इन्द्रो वृत्त आसीद्यमुसः पार्श्वम् ॥ २ ॥

तां देवाः सविताधोक् तामूर्जामेवाधोक् ॥ ३ ॥

तामूर्जा देवा उर्यं जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ — ( सा उदक्रामत् ) यह उदक्राम हुई और ( सा मनुष्यान् आगच्छत् ) यह मनुष्योंके पास आई, ( तां मनुष्याः उपाह्वयन्त ) उसको मनुष्योंने इस प्रकार बुलाया कि ( इराधति एहि इति ) 'हे ब्रह्मणाती ! यहाँ आ ।' ( तस्याः मनुः पृथिव्यतः आसीत् ) उसका विषयमनुका पुत्र मनु बछड़ा था । उसका ( पृथिवी पार्श्वं ) पृथिवी पार्श्व था । ( तां पृथीं वैन्पोऽधोक् ) उसका केन पुत्र पृथिवीने बोहन किया । ( तां कृषिं च सस्यं च अधोक् ) उक्त बोहनमें कृषि और सस्य उत्पन्न हुआ । इस कारण ( ते मनुष्याः कृषिं च सस्यं च उपजीवन्ति ) मनुष्य कृषि और पापपर ही जीवन बिताते हैं । ( यः एवं वेद ) जो यह जानता है वह ( कृष्ट-राधिरः ) कृषिमें निधि प्राप्त करनेवाला होकर ( उपजीवनीयः भवति ) दूसरोंकी अधिकारका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १-१२ ॥

( सा उदक्रामत् ) यह उदक्राम हुई और ( सा संसृक्कृषीनां आगच्छत् ) यह संसृक्कृषियोंके पास आई । ( तां संसृक्कृषवः उपाह्वयन्त ) उसको संसृक्कृषियोंने इस प्रकार बुलाया कि ( ब्रह्मवृत्ते इति ) 'हे ब्रह्मणाती ! यहाँ आ ।' ( तस्याः सोमो राज्ञा वृत्त आसीत् ) उसका सोम राजा बछड़ा था और ( उन्दः पार्श्वं ) छत्र पार्श्व था । ( तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक् ) उसका अंगिरसकुलोत्पन्न बृहस्पतीने बोहन किया, ( तां ब्रह्मं च तपथाधोक् ) उसको उक्त ब्रह्म और तपः धारण । ( तद् ब्रह्म च तपथः च ) इसलिये सत्य और तप पर ( संसृक्कृषवः उपजीवन्ति ) सत्य कृषि अपना जीवन धारण करते हैं, ( यः एवं वेद ) जो यह जानता है वह ( ब्रह्मवर्चसी ) सत्यवर्ध होकर ( उपजीवनीयः भवति ) अधिकारका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १३-१६ ॥

( ५ ) ( सा उदक्रामत् ) यह उदक्राम हुई और ( सा देवान् आगच्छत् ) यह देवोंके पास आई । ( तां देवा उपाह्वयन्त ) उसको देवोंने इस प्रकार बुलाया कि ( ऊर्जं एहि इति ) 'हे ब्रह्मणाती ! यहाँ आ ।' ( तस्याः इन्द्रो वृत्त आसीत् ) उसका बछड़ा इन्द्र था और ( यमुसः पार्श्वं ) यमुस पार्श्व था । ( तां देवाः सविताधोक् ) उसका बोहन सविता देवने किया । ( तां ऊर्जाम् एव अधोक् ) उसको उक्त ऊर्जा देवा उपाह्वयन्ति ) उक्त बछड़ पर देवोंका जीवन होता है, ( यः एवं वेद ) जो यह जानता है वह ( उपजीवनीयः भवति ) अधिकारका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १-४ ॥

|  |        |
|--|--------|
| सोदकामत् सा गन्धर्वाप्सरस आगच्छत्                              |        |
| ता गन्धर्वाप्सरस उपाह्वयन्त पुण्यमन्त्र एहीति                  | ॥ ५ ॥  |
| तस्याश्चित्ररथः सौर्यचर्यसो वत्स आसीत् पुष्करणीं पात्रम्       | ॥ ६ ॥  |
| तां वसुरुचिः सौर्यचर्यसोऽधोक् तां पुण्यमेव गन्धर्वधोक्         | ॥ ७ ॥  |
| त पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति                        |        |
| पुण्यगन्धिरूपजीवनीयो भवति य एवं वेद                            | ॥ ८ ॥  |
| सोदकामत् सेतारज्जनानामन्तत् तामितरज्जना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति | ॥ ९ ॥  |
| तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्र पात्रम्                | ॥ १० ॥ |
| तां रज्जुनाभिः कापेरकोऽधोक् तां तिरौधामेवाधोक्                 | ॥ ११ ॥ |
| तां तिरौधामितरज्जना उप जीवन्ति तिरौ धत्ते सव                   |        |
| पाप्मानमपजीवनीयो भवति य एवं वेद                                | ॥ १२ ॥ |
| सोदकामत् सा सर्पानामगच्छत् तां सर्पा उपाह्वयन्त विष्वस्येहीति  | ॥ १३ ॥ |
| तस्यास्तक्षको वैश्रल्लेयो वत्स आसीदलानुपात्र पात्रम्           | ॥ १४ ॥ |
| तां धुतराह पेरारुतोऽधोक् तां विषमेवाधोक्                       | ॥ १५ ॥ |
| तद् विष सर्पा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद              | ॥ १६ ॥ |

अर्थ— ( सा उदकामत् ) यह उक्तता हुई और ( सा गन्धर्वाप्सरसः आगच्छत् ) यह गन्धर्व और अप्सरा भेदि पाता आई । ( ता गन्धर्वाप्सरसः उपाह्वयन्त ) उसको गन्धर्व लोग अप्सराओंने इस प्रकार बुलाया कि ( पुण्यमन्त्रे एहि इति ) ' हे उत्तम मुवातवाली ! वहाँ आ । ' ( तस्याश्चित्ररथः सौर्यचर्यसो वत्सः आसीत् ) उसका सूर्यचर्य पुत्र चित्ररथ ब्रह्मा था और ( पुष्करणीं पात्रम् ) कमलका पता पात्र था । ( सा वसुरुचिः सौर्यचर्यसो अधोक् ) उसका सूर्यचर्यपुत्र वसुरुचि बोहन किया । ( ता पुण्यं गन्धं एव अधोक् ) उसने उसका मुवात ही उगी श्रावत हुआ । इसलिये ( त पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरसः उपजीवन्ति ) उस मुवातपर गन्धर्व और अप्सराएँ जीवित रहती हैं । ( य एवं वेद ) जो यह जानता है वह ( पुण्यमन्त्रे ) उत्तम मुवातबुद्ध होकर ( उपजीवनीय भवति ) जीविकाका विवाह करनेवाला होता है ॥ ५-८ ॥

( सा उदकामत् ) यह उक्तता हुई और ( सा इतरज्जनाम् आगच्छत् ) यह इतर जनोंके पास आई, ( ता इतर जना उपाह्वयन्त ) उसने इतर जनों इस प्रकार बुलाया कि ( तिरौधे एहि इति ) ' हे संतपान गति ! वहाँ आ । ' ( तस्याः कुबेरः वैश्रवणः वत्सः आसीत् ) उसका विषवाण पुत्र कुबेर पुत्र था और ( आमपात्र पात्रम् ) कलपात्र पात्र था । ( ता रज्जुनाभिः कापेरकः अधोक् ) उसका कापरक पुत्र रज्जुनाभिने बोहन किया । ( ता तिरौधा एव अधोक् ) उसने अन्तर्भाग गति श्रावत की । इसलिये ( इतरज्जना सा तिरौधा उपजीवन्ति ) इतर जन उस तिरौधाल गतिपर जीवित रहते हैं । ( य एवं वेद ) जो यह जानता है वह ( एषं पाप्मानं तिर धत्ते ) तम पापको हट रजता है और ( उपजीवनीय भवति ) जीविकाका विवाह करनेवाला होता है ॥ ९-१२ ॥

|   |       |
|---|-------|
| ( ६ ) तद् यस्मा एव विदुषेऽलापुनामिपिञ्चेत् प्रत्याह्न्यात्    | ॥ १ ॥ |
| न च प्रत्याह्न्यान्मनसा त्वा प्रत्याह्न्यमीति प्रत्याह्न्यात् | ॥ २ ॥ |
| यत् प्रत्याहन्ति विषमेव तत् प्रत्याहन्ति                      | ॥ ३ ॥ |
| विषमेवास्याग्रियं आर्त्तव्यमनुविधिष्यते य एवं वेद             | ॥ ४ ॥ |

अर्थ— [ ६ ] ( तद् एव विदुषे यस्मै ) इसलिये ऐसा नानेवाले जिस विद्वान्के लिये ( अलापुना ममिपिञ्चेत् ) अलापुने अभिषेक किया जाए, वह सदा ( प्रत्याह्न्यात् ) प्रतिहार करे ( न च प्रत्याह्न्यात् ) और यदि न प्रतिहार करे तो ( मनसा त्वा प्रति-आहन्ति ) मनसे ' तेरा प्रतिधात करता हूँ ' ( इति प्रत्याह्न्यात् ) ऐसा प्रतिहार करे । ( यत् प्रत्याहन्ति ) को प्रतिहार होता है ( तत् विषं एव प्रत्याहन्ति ) यह विषका ही प्रमाणात करता है । ( यः एव वेद ) को यह जानता है ( विषं एव अस्य अभियं आर्त्तव्यं ) विष ही इसके अभिय आर्त्तव्य पर ( अनुविधिष्यते ) जा गिरता है ॥ १-४ ॥



## बि रा द्

### कामधेनुका दूध

इस सूक्तमें जगन्माता विराट् वैश्वदेवी कामधेनुका दुध किन लोगोंमें किसप्रकार निकाला इसका उत्तम वर्णन है । कामधेनु भी सबकी एक लक्ष्मी माता है, उसमें कोई भेद नहीं है, परंतु उसको पास लानेवाले भिन्न हैं, उनका नाम भिन्न प्रकारका है, उनकी कामनायें भिन्न होती हैं, उनके दुष्टार्थ भिन्न होते हैं, इस कारण परिणाम भी भिन्न हुआ करते हैं । यामके दूधके हाँके पेटमें जानेपर यही उत्तमा विष्य जन्मता है और यही दूधको उत्तम मानके भूममें लींचा जाए तो यहीसे उत्तम स्वानुरक्त तैयार होता है । इसी प्रकार एक ही समृद्धता जल मेघोंमें जाकर दृष्टिकल्पसे नीचे आता है और धूपमें बुझ अवसर्पितोंपर पड़ता है, इसी एक ही जलसे छः

प्रकारके रस छः प्रकारके वृक्षोंमें उत्पन्न होते हैं, ईशमें मयूर, इमलीमें कट्टा, धिरचमें कट्ट इस प्रकार विभिन्न रस हो जाते हैं । येधेति जानेवाला पानी एकसा होता है, परंतु वनस्पतियोंके भेदसे रसमें भिन्नता उत्पन्न होती है । भूमि भी एक है परंतु उसीमें उपजे गुलाब की सुगंध और प्रकारकी है, चनेली की अन्य प्रकारकी और पारिजातका भी और प्रकारकी होती है । एक ही भूमिमें रसोदपाक वास्तव्य भिन्न भिन्न होनेके कारण भिन्न रसोंकी उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार विराट् यही दिव्य कामधेनु एक ही है, परंतु उससे वेध, ऋषि, पितर, क्षत्र, मनुष्य, सर्प, गन्धर्व आदि भिन्नभिन्न वृक्ष प्राप्त करते हैं, इसका वर्णन इस सूक्तमें वेदमें योग्य है, यही बात निम्न वास्तव्योपे लिखते हैं—

### १ विराट्, दिव्य कामधेनु

| लोकः    | वोहनकर्ता           | वस्तुः             | वोहन       | सुलानेका  | दूध        | जीवन साधन   | पदा करता है       |
|---------|---------------------|--------------------|------------|-----------|------------|-------------|-------------------|
|         |                     |                    | पात्र      | नाम       |            |             | अथवा फैला होता है |
| मयूरः   | द्विगुर्धः<br>अर्धः | विरोधकः<br>प्रहारी | अवस्थानं   | माया      | माया       | माया        |                   |
| पितरः   | अन्तर्कोमार्गः      | यम-राज्य           | स्वभाव     | स्वभाव    | स्वभाव     | स्वभाव      |                   |
| मनुष्यः | पृथ्वी वैश्वः       | मनुः               | पृथिवी     | इरावती    | इषि, सत्य  | कुट्टि सत्य | कुट्टि - राशि     |
|         |                     | वैश्ववतः           | ( मिट्टी ) |           |            |             |                   |
| सप्तऋषि | यहूस्पतिः<br>आपिरसः | सोमोदरः            | छन्दः      | अहाण्यातो | मह्यः, तपः | मह्यः, तपः  | मह्यवर्धनी        |



| लोक   | दोहनकर्ता   | वस्तु       | दोहन<br>पात्र | मुलानेका<br>नाम | दूध          | जीवन साधन    | क्या करता है<br>मधवा कैसा होता है |
|-------|-------------|-------------|---------------|-----------------|--------------|--------------|-----------------------------------|
| ॥     | सवितादेवः   | इन्द्रः     | घमसः          | ऊर्जा           | ऊर्जा        | ऊर्जा        |                                   |
| माधव  | वसुदेवः     | विश्वरथः    | पुष्करपर्ण    | पुष्पगन्धः      | पुष्पगन्धः   | पुष्पगन्धः   | सुगन्धित होता है                  |
| मफराः | सौर्यवर्षसः | सौर्यवर्षसः | (कमलपत्र)     | (पुष्पगन्धः)    | (पुष्पगन्धः) | (पुष्पगन्धः) |                                   |
| इतरमन | रजतवानिः    | कुबेरः      | आम्यपार्ण     | तिरोषा          | तिरोषा       | तिरोषा       | मग्न दूर करता है                  |
|       | कावेरकः     | वैश्वरथः    |               |                 |              |              |                                   |
| सर्प  | भुतराष्ट्रः | सहस्रकः     | मलामुपात्र    | विषवती          | विष          | विष          |                                   |
|       | ऐरावतः      | वैशालेयः    |               |                 |              |              |                                   |

## १ विराट्, दिव्य कामधेनु

| दोहनकर्ता  | दुग्धाशय | घास    | रसमा             | गौके   | स्नान  | दूध        |
|------------|----------|--------|------------------|--------|--------|------------|
|            | ऊषस्     |        | गौ वांधनेकी दोरी | नाम    |        |            |
| देव मनुष्य | मध       | इन्द्र | वापनी            | ऊर्जा  | बहुत   | मधः (माया) |
|            |          |        |                  | स्वभा  | रचना   | श्रीधरः    |
|            |          |        |                  | सुनुता | महापति | पति        |
|            |          |        |                  | इरावती | साधदेव | माय        |

## २ विराट् गौ

| किसके पास गई | पुनः धननेका समय | क्या होता है                 | कान           |
|--------------|-----------------|------------------------------|---------------|
| यनस्पती      | संवासर          | कबमें क्या करता है।          |               |
| पितर         | मास             | मासिक दान देते हैं           | विशुद्धाज्ञान |
| देव          | पक्ष            | अर्धमासमें बपट् करते हैं।    | देवपालमान     |
| मनुष्य       | सप्तः           | प्रतिदिन अन्न ग्रहण करते हैं |               |
|              | सप्तकास         |                              |               |

इस साहित्यकारों की पता लगता है कि इस विराट्दूधपो कामधेनुसे किस प्रकारका दूध प्राप्त किया। कामधेनुके पास जो मांसा जाता है, वही उसको प्राप्त होता है। माय पाहे अमृत मांगे अथवा विष। एक ही कामधेनु अमृत मांगनेवालेको अमृत देगी और विष मांगनेवालेको विष देगी। कामधेनु ॥ घर मांगनेवालेको इच्छा। गुप्त कर। सफ़ाई है। यहां घर मांगनेवालेकी धीमी बुद्धि होनी चाहिये। नहीं तो विराट् देवताके प्रसाद होनेपर जो बेंडगा घर मांगकर अपना ही भाग कर लेगा।

पूर्वोक्त साहित्यकारों के मतमें से पता चलेगा कि असुरोंने उस विराट् देवीको 'माया' नामसे पुकारा है, मायावा अर्थ है—'छल, बपट्, धोखा, धंसा बीसता है' बीस कात्विक

न होना, धन, कौशल्य। असुरोंने विराट् देवीमें से गुण देखे और उनसे वेही गुण मंगे और उनको ये ही गुण मिले। जो असुरोंने मांग वही उनको मिला। प्राचीन और अर्ध-प्राचीन कालके असुरोंने बपट् और धोखा ही विराट् देवता है। इस ही धोखेबाजोंके कृत्योंने असुर पहचाने जाने हैं। असुरोंका सब इतिहास धोखेबाजीका ही इतिहास है।

उसके विराट् कामधेनुसे देवोंने दान और अन्न प्राप्त की और उनको अन्न और दान प्राप्त हुआ। इस दानसे देवोंने असुरोंका पराजय किया और देवोंका राज्य इस दुनिया में हुआ।

असुरोंने विराट् देवीको हवि और दान मांगी की प्रार्थना की और यह हवि दिया उन्होंने प्राप्त की, आनन्द मनुष्य हविसे अपना जीवनका निर्वाह कर रहे हैं।

सर्वोत्तम देवता को उपसत्ता करके जो कुछ गाया, वह न उनके लिए साधकारी है और न दूसरोंका हित कर सकता है। ऐसे बड़े देवता आदिमाता की प्रसन्नताके बाद उससे तर्प ऐसी चीज मांगते हैं कि जो जगत्का नाश कर सकती है। उससे सर्वोत्तम 'विष' माँगा, जो आधिमात्रका नाश कर सकता है। यदि सर्व उस देवतासे मित्रप्रेम ग्रहणीय प्रकृत होते, तो वह भी उनकी भित्त प्रकृत होती, परन्तु उसके लिये जो वृद्ध वृद्धि चाहिये। उसके अभावमें ऐसा हो होय। इसका तात्पर्य यह है कि जड़ोसे बड़ी शक्ति भी हाथमें आना, तो भी अगुणका कोई लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि कि उस शक्तिके उत्तम उपयोग करनेका ज्ञान उसमें चाहिये। जब ज्ञानके अभावमें यदि ज्ञान ही ईर्ष्या ईर्ष्या यद्यपि कि ईर्ष्या ही करेगी। जैसे तर्प और मसूर इस देवताकी कृपासे लाभ न उठा सके। परन्तु यदि, वेब और धानमें जलसे बड़ा लाभ प्राप्त किया। विद्येय कर अविद्येयके इस देवतासे 'ब्रह्म' और तप 'प्राप्त किया, जो सब मायामात्रिकी उत्पत्तिका एकमात्र साधन है।

इस सूक्तकी अग्य कर्तों का पूर्णतः उपदेशका मोरव मन्त्रोंके हैं, जिनके विशेष विचारकी कोई आवश्यकता नहीं है।

यह विराट् देवता केवल अक्षर, मितर, देव, मनुष्य, इत्यादि, सर्व आदिर्गोपर ही प्रसन्न हुआ और हम सब मनुष्योंको वह कर देनेकी तैयार नहीं ऐसी बात नहीं है। यह आधिमाता जगत्माता हम सबकी भी चाहें ही देनेकी तैयार है, हम सब भी चाहें ही लेते भी हैं, परन्तु जो सेवा चाहिये वह नहीं लेते। अयोग्य कर्तव्य लेकर हम अपनी भजनति कर रहे हैं, इसलिये देवने हमें इस वृक्षद्वारा यह उपदेश देकर कहा कि उससे अच्छी शक्ति ही माँगनी चाहिये और कोई हानिकारक वर नहीं माँगना चाहिये।

प्रत्येक मनुष्य मनमें सत्य कर रहा है, इच्छा करता है, कामना करता है वह सब पूर्वोक्त कामधेनुसे माँग ही होता है। प्रत्येक मनुष्य कामधेनुके साथी है। यह सब 'विराट्' कामधेनु ही है और उसके सामने बैठकर मनुष्य इच्छा करता है। कल्पवृक्षसे भीचे अपना कामधेनुके सामने बैठकर मनमें भली या बुरी जो भी कामना की माँगनी, तत्काल सिद्ध होय। भली कामना यदि मनमें उत्पन्न हुई तो कोई दोष नहीं होया, परन्तु बुरी कामना जहाँ तो हानि होनेमें कोई भी संदेह नहीं। यत जो हानि मूल सत्य करनेसे होती है, उस हानिकी जिम्मेवारी अपनेपर ही है। इस प्रकार विचार

करनेपर पता लगेगा कि मनुष्य स्वयं क्या नाश कर रहा है। इसमें बुरी कामना की और कामधेनुसे घंसा फल मिला, तो उसमें कामधेनुका क्या दोष है? दोष तब कामना करनेवालेका ही है।

## राष्ट्रीय उपदेश

इस सूक्तका जो पहिला भाग है वह राष्ट्रीय उत्पत्ति विषयक है। उसमें जनताकी उत्पत्ति कैसे हुई, राष्ट्रीय स्वयंसेवा कैसे हुई और लोगोंकी प्रतिनिधिक सेवा कैसे होगी, सब विषयोंका उपदेश इस सूक्तमें है। यहाँ 'वि-राट्' या 'वि-राज्' शब्दका अर्थ 'राजहीन स्थिति' है। जिस समय राजा बना नहीं था, राजा बनानेकी कल्पना अपना राजाकी स्थापना भी जिस समय जनतामें नहीं थी, उस समयकी जनताकी अवस्था 'वि-राज्' उच्च द्वारा यहाँ बतायी है। राजसत्त्वके शुरु होनेके पूर्वकी स्थिति इस समयमें यहाँ प्रकट की है। यह शब्द 'अ-राज-फ' शब्दका पर्यायशब्द नहीं है। अराजक लोग राजाकी उत्पत्तिके परचाह होते हैं। पहिले राजाकी उत्पत्ति हुई, पश्चात् राजा और राजपुरुष प्रजापर आधाधार करने लगे, उनके आधाधारसे ब्रत होकर राजाके ब्रत करनेकी इच्छासे 'अराजक' लोगोंका जन्म हुआ है। अर्थात् राजाके उत्तरागतमें 'अराजक' की उत्पत्ति और पूर्वकालमें 'विराज्' की स्थिति होती है। इस प्रकार विचार करनेसे विराट्का अर्थ स्पष्ट हो सकता है। जयता विराज् स्थितिमें थी, इसका अर्थ यही है कि उस समयमें लोग विचरे हुए थे, उनमें कोई स्वयंसेवा नहीं थी।

तापश्चात् सबसे प्रथम जो सगठनका प्रारम्भ हुआ वह 'स्त्रीपुरुषोंके मेल' से ही प्रारम्भ हुआ। माया और मर तो मनुष्योंमें भी मिलते हैं, परन्तु ये अपना गृहपर सत्कार नहीं लगाते। उदाहरण के लिये केवल कामधेनुके समयमें ही होता है। मनुष्यमें वृद्धि है, शत है और श्रेष्ठ भी है। प्रारम्भिक मनुष्योंमें वसुक् स्त्रीपुरुष सत्त्व होते थे, जब उनका श्रेष्ठ अधिक बढ़ होने लगा, तब ये एकत्र रहने लगे। इस एकत्र निवास पर धर्मका नियन्त्रण होनेसे 'गृहपति' सत्त्वकी उत्पत्ति हुई। धर्मके नियन्त्रणसे साथ प्रतिनिधिके अतिगुण तथा धर्मका गृहस्थमें प्रत्येकके साथ सम्बन्ध होगये। तबसे वह मनुष्य घर बनकर रहने लगा। घरमें रहनेसे घरके स्वामी, स्वामीकी सहायिका स्त्री और उसके सहानुभूति भाई और पुत्र इस सबकी कल्पना मनुष्यमें उत्पन्न हुई और यही कल्पना बढ़ते बढ़ते साम्राज्यमें परिणत हुई। इसी उत्पत्ति का नाम इस सूक्तमें बताया है।

गृहपति, आहवनीय और दक्षिणाग्नि ये तीनों सत्पाए गृहस्थ्यस्यार्थमे ही अधिराधिक संरक्षणको और सचेत कर रही हैं। गृहपति सत्पायें या भी छोटे होते हैं। आहवनीय और दक्षिणाग्निमें दह बढ जाते हैं और उसके कारण मानव सपठन भी बढ जाता है। परन्तु ज्योतिषक धामसत्पायका अस्तित्व नहीं हुआ था। अनेक कुटुम्ब एक स्थानपर रहते थे, परन्तु धामसत्पायों वषणते ये बढ नहीं थे। एक स्थानपर अनेक कुटुम्बों रहनेके कारण लोगोंमें धामसत्पायों रक्षणा उत्पन्न हुई। उससे अनेक कुटुम्बोंका सपठन हुआ और इस प्रकार धामसत्पाय अस्तित्वमें आई। गृहपति सत्पायें परब्राह्मणों और धामसत्पायी कल्पना स्वभावतः ही उत्पन्न हुई। क्यों कि गृहपति सत्पायें जो घरके नियन्ताको धारणा और संप्रदायसे भुजका अनुभव हुआ उसी अनुभवसे अनेक गृहस्थियोंकी मिला कर एक कुटुम्ब बनाने और उससे अपना समयक प्रदानेकी कल्पनाका अनुभवोंमें उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

इससे ही 'समा' की उत्पत्ति हुई है। यहां समाका अर्थ 'धाम-समा' है। 'धाम' शब्दका हो अर्थ 'संचालित समाज' है, अनेक कुटुम्ब एक नियमसे बंधकर एकत्र रहते हैं उसका नाम 'धाम' है। इस धामकी ओ सभा उसका नाम धामसभा है। यह 'सभा' उस धामके पुने हुए प्रतिनिधियोंकी ही होती है। कोई बाहरका अनुष्ठान समाका सदस्य नहीं हो सकता। जो उस धामका रहनेवाला है, जिसका परचार धाममें है और जो उस धामके कुटुम्बोंका पुना हुआ प्रतिनिधि है, वह उस समाका सदस्य ही सकता है। इस प्रकारके जो लोगोंके प्रतिनिधि थे उन्हींकी यह धामसभा बनी। और यह समा धामकी रक्षा, आरोग्य प्रवर्धन, शिक्षाध्यवस्था आदि कार्य करले लगी। इस धामसभाके उस धामका नियन्त्रण धारू हुआ।

इस प्रकार जब अनेक धाम बने, उनकी व्यवस्थाविधा समान बनीं, तो उनमें सापत्न्य 'संघाम' भी होने लगे। ऐसे 'सं-धाम' के परब्राह्मणों संगमोंमें होनेवाले बट्ट परिणामोंका ज्ञान हुआ और अनेक धामोंकी एक संप्रदाय सभा पराजनेकी कल्पना उसके दिव्य लगी।

इसी कारण 'समिति' को निर्मित हुई ऐसा ज्ञान इस मूलतः कहा है। प्रबोला धामसभाओंके द्वारा पुने हुए प्रतिनिधियोंकी ही यह राष्ट्रसमिति अथवा राष्ट्रिय सभा बनी और इसके द्वारा राष्ट्रका शासन चला हुआ। इसके बीचमें प्राप्त समस्त छोटी अथवा बड़ी होनेवाली अनुष्ठान पाठ्य

कर करते हैं और इसके बंधक साधारणमहाभाका होना भी पाठकोंके रक्ष्यमार्थ हो सकता है।

महासभा अथवा समिति राष्ट्रकी हीनी है और इसमें सब धामोंके प्रतिनिधि धामोंके प्रतिनिधियोंकी सभा भी बड़ी होती है। जब बहुत कम लोगोंमें प्रतिनिधि होते हैं, तब उनका उपस्थित होना और एक सत्ते का चलना अत्यंत कठिन होता है, इसलिये उनमेंसे कुछ लोगोंसे पुने हुए अधिराज्य का कार्यकर्ताओंका 'प्रतिमंडल' बनाना आवश्यक हुआ करता है। कार्य करनेके समय इसकी अत्यंत आवश्यकता होती है। यह इसी प्रकार अन्तिम भागमें 'सामंभोज' विषय ब्यापक उत्तेज है। धामसभा अथवा सभा का कर्तव्यका ही धर्ममंडल होता है। यह सब राष्ट्रके शासन व्यवहारका विचार करता है और तदनुसार तब जोहोकरों द्वारा राष्ट्रका तथा तदनुगत धामोंका शासन व्यवहार करता है। इस विषय, वेदमें लोकाशासन सत्पायों की उत्पत्ति का ज्ञान बताया है।

अनुष्ठानों की व्यवस्था है वह बड़ी प्रभावशालिनी है। उस व्यवस्थाविधमें धाम, वीरता, सत्य और धर्म ये चार धर्म हैं। जहां धारका है वहां ये चार धर्मविभाग धूमनामि रीतिमें हैं। अनुष्ठानों में ही ब्रह्म, अत्र, विद, मूत्र नामोंके प्रतिष्ठ हैं। ज्ञानतंत्र, राष्ट्रशासन, धर्मसंघ और धर्म-कोशस्य ये इनके कार्य बचतुमें सुप्रसिद्ध हैं।

जब अनेक कुटुम्ब एक स्थानपर जाते हैं, तब उनमें कई लोग शासनका सत्य करनेवाले, विचारसंपन्न, वैदिक ध्या-धारणामें रहते हैं, वे अपने-अपने धामोंके शासन नहीं करते।

इससे कई लोग ऐसे होते हैं कि जो अपने बाहुबलसे धामकी रक्षा करनेमें सक्षम होते हैं। इनके बलसे होनेवाली रक्षासे अन्य लोग अपने आपकी सुरक्षित समाने हैं। इसीसे जो रक्षकों लिये व्यवस्थापन करनेमें ही इनका धर्म होता है। ये धाम या राष्ट्रों रक्षकों लिये अपने जीवनकी भी समर्पित कर देते हैं। परदेरक्षाके लिये ये क्षत्रिय लोग बड़ी बड़ी धारणाओं सहन करते हैं, और अपने जीवनकी धारणाओं और राष्ट्रोंके धारणाओं को देने हैं और सर्व्व जनताके प्रेमके योग्य बनते हैं।

धर्म लोग सेतो और ध्याधारका व्यवहार करते हैं, धर्म कमाने हैं और जनताके हितके कार्य करनेके लिये उस धनका समर्थन भी करते हैं। ये धर्म लोग संप्रदायों की चतुर होने हैं और धनमें भी चतुर होते हैं। इसीसे इनका धर्म होता है।

चोपे कमंडोर हं, इनको झूठ कहते हैं- अनेक हुनर वा कारीगरीके कर्म करना इनका कर्तव्य है। विविध प्रकारके कुशलताके कर्म करके ये अनेकानेक सुखके साधन निर्माण करते हैं। सब अन्य लोग इनकी कारीगरीसे सुखके साधन प्राप्त करते हैं। जो लोग इन चारों वर्गोंमें नहीं सम्मिलित होते, उनको अवर्गहित पचम वर्गमें सम्मिलित किया जाता है। ये पांच प्रकारके 'पंच-जन' हैं। इन पंचजनोंका ही ग्राम, नगर, पत्तन और राष्ट्र होता है। ॥ यहाँके प्रतिनिधि मनुं इच्छते होते हैं, उस जनका नाम 'पंचायत' है, यही ग्रामसभा, नगरसमिति, राष्ट्रसभा और आमत्रक-परिवृत्त है।

यहाँ सभा होती है यहाँ उसके सम्पत्त, यन्त्रे आदि

यन्त्रिकारी होते ही हैं, इस कारण वाचसनामें ग्रामसभास्य, राष्ट्रसमितिके उसके अध्यक्ष और मन्त्रिमंडलमें उसके मुख्य मंत्रीका होना स्वाभाविक है। जिस प्रकार घरमें घरका स्वामी होता है, उसी प्रकार सभामें सभाके निष्पादकका होना आवश्यक है। आगे चलकर गुडादि प्रसंगके छिन्नजानेपर युद्धनायक सेनपति विशेष मनु हाथमें आनेसे अप्यस हो स्वयं शासक राजा या महाराजा बनता है। अथवा जिसकी प्रजाजन राज्यका अध्यक्ष चुनते हैं वही अपना बल बढाकर स्वयंशासन राजा बनता है। यह राजाका विषय यहाँ नहीं है, यहाँ केवल ग्रामसभा, राष्ट्रसमिति और मन्त्रिमंडल प्रजाजनोद्धार के लिए प्रतिनिधित्व करते हैं, इसीका वर्णन है।



## राष्ट्री देकी

कथा ४, सूक्त ३०

( ऋषिः - कवर्षा । वेत्ता - सर्वकथा धर्मरक्षितः सर्वदेवकी वात् । )

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादिरयैस्तु विश्वदेवैः ।

अहं मित्रावरुणोमा विमर्ग्यहर्मिन्द्राग्नी अहमग्निमोमा

॥ १ ॥

अहं राष्ट्रीं संगमनीं वर्धनां चिकितुषीं प्रथमा युशियानाम् ।

ता मा देवा व्यदधुः पुरुषा भूरिस्थात्रां भूर्याविश्रयन्तः

॥ २ ॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मातृपाणाम्

यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधां

॥ ३ ॥

अर्थ— ('अहं') मैं परमेश्वरसम ( रुद्रोमिः वसुभिः आदित्यै विश्वदेवैश्चरामि ) 'रुद्रों, वसुओं, आदित्यों और विश्वदेवोंके साथ चलती हूँ । ('अहं उमा मित्रावरुणा विमर्गि') मैं दोनों मित्र और वरुणको धारण करती हूँ और ('अहं इन्द्राग्नी, अहं उमा अग्निना') मैं इन्द्र और अग्नि तथा मैं दोनों अग्निपत्नीको धारण करती हूँ ॥ १ ॥

('अहं राष्ट्रीं') मैं प्रकाशक शक्ति ('वसुनां संगमनीं') वसुओंके प्राप्त कथनेवाली और ('चिकितुषीं') जान देनेवाली हूँ इसलिये ('युशियानां प्रथमा') सब पूजनीयोंमें पहिली पुखने योग्य हूँ । ('तां भूरिस्थात्रां मां') उस भविष्य प्रकारसे स्थित मुझको ('भूरि आवेशयन्तः देवाः') बहुत प्रकारके आवेशको प्राप्त होनेवाले देव ('व्यदधुः') विशेष प्रकारसे धारण करती हैं ॥ २ ॥

('देवानां उत मातृपाणां जुष्टं') दोनों और वसुओंके द्वारा स्वीकार करके योग्य ('जुष्टं') यह भाषण ('अहं स्वय एव वदामि') मैं स्वयं ही बोलती हूँ । ('यं कामये') जिस जिसको मैं योग्य लगती हूँ, ('तं तं उमे कृणोमि') उस उसको मैं उप ही बनाती हूँ तथा ('तं ब्रह्माणं, तं ऋषि, तं सुमेधां') उसीको ब्रह्मा, ऋषि अथवा उसीको उत्तम बुद्धिमान् करती हूँ ॥ ३ ॥

मया सोऽर्चमस्ति यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम् ।

॥ ४ ॥

अमन्तवो मां त उर्षं धियन्ति श्रावे श्रुत ध्रुवेयं ते वदामि

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरैरे हन्तवा उ ।

॥ ५ ॥

अहं जनाय समदं कुणोम्यहं चावांशुविषी आ विविश

अहं सोममाहृतसं विमर्ष्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।

॥ ६ ॥

अहं वधामि द्रविणा हविष्मते सुप्राभ्याः पञ्चमानाव सुन्वते

अहं सुवि पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वः सन्तः समुद्रे ।

॥ ७ ॥

ततो वि तिष्ठ शुर्वनानि विश्रोतामं धां धर्मणोषं स्पृशामि

अहमेव वातं ह्य प्र धाम्यारभमप्या शुर्वनानि विशां ।

॥ ८ ॥

पुरो विवा पर एना पृथिव्यैतावेती महिम्ना सं चभूय

अर्थ— ( यः विपश्यति ) जो यह विशेष रीतिसे देखता है ( सः मया अर्चं अस्ति ) यह मेरी कृपासे अर्च जाता है । ( यः प्राणति ) जो प्राण लेता है और ( यः ईं उर्षं शृणोति ) जो भाषण सुनता है वह सब मेरी शक्तितो ही है । जो ( मां अमन्तवः ) मुझे न जानेनेवाले हैं, ( ते उर्षं धियन्ति ) वे क्लिष्टाको प्राप्त होते हैं । हे ( धृत ) हनुनेवाले ! ( श्रुधि ) भजन कर । ( ते ध्रुवेयं वदामि ) तेरे लिये भन्ना रखने योग्य यह उपदेश मैं करता हूँ ॥ ४ ॥

( ब्रह्म-द्विषे शरये हन्तव्ये उ ) शत्रुके द्वेषी पात करनेवालेको शत्रु करनेके लिये ( अहं रुद्राय धनुः आतनोमि ) मैं रुद्रके लिये धनुषको तावती हूँ, ( अहं जनाय समदं कृणोमि ) मैं जनोरे लिये हर्ष देनेवाले वदार्थ उच्यते करता हूँ, ( अहं चावांशुविषी आविशेता ) मैंने आवांशुविषीमें प्रवेश किया है ॥ ५ ॥

( अहं सोममाहृतसं सोमं विमर्षि ) मैं सोम करने योग्य सोम राजाको चारण करती हूँ । ( अहं त्वष्टारं उत पूषणं भगम् ) मैं त्वष्टा और पूषाको चारण करती हूँ । ( अहं द्रविष्मते सुप्राभ्याः पञ्चमानाव ) मैं द्रव्य करने और सोम-सवन करनेवाले पञ्चमानके लिये ( सुप्राभ्याः द्रविणा वधामि ) उत्तर रत्ता करने योग्य वध करती हूँ ॥ ६ ॥

मं ( अस्य मूर्धन् पितरं सुवे ) इनके निरपर शत्रुको विपुल करता हूँ । ( मम योनिः समुद्रे भवतु श्रमः ) मेरा मूलस्थान प्रकृतिके समुद्रके जागैके अर्थात् है । ( ततो विष्वा भुवनानि पितिष्ठे ) वही सब भुवनोमें विलीन रीतिसे स्थित होती है ( उत धर्मणा अहं धां उपस्पृशामि ) और अपनी महिम्नासे उस धृतीको स्पर्श करता हूँ ॥ ७ ॥

( विष्वा भुवनानि आरममप्या ) सब भुवनोका आरंभ करनेवाली ( अहं एव वाता ह्यप्रयामि ) मैं ही अनेको वायुके तानन करती हूँ और ( विवा परः ) धृतीके परे और ( एना पृथिव्यै परः ) इस धृतीके भी परे ( महिम्ना एतावती संभूय ) अपने महत्त्वसे इतनी विप्राप्त होनी हूँ ॥ ८ ॥

## राष्ट्रीय देवी

## राष्ट्रीय देवी

‘ राष्ट्रिय देवी ’ यह परमात्माकी प्रथम सेविका शक्तिका नाम है। यह शक्ति स्वयं अपनी महिमाका वर्णन कर रही है, ऐसा काव्यमय वर्णन इस सूक्तमें है। तृतीय मन्त्रमें कहा ही है कि “ ( यह एव स्वयं इदं यदामि ) मैं ही यह स्वयं कहती हूँ । इसलिये यह वर्णन अन्य सूक्तोंके वर्णनोंकी अपेक्षा विशेष महत्त्वका है यह बात स्वयं स्पष्ट हो रही है। इस सूक्तमें परमात्म-शक्तिका वर्णन होनेके कारण इस सूक्तके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक अर्थ भी हो सकते हैं। आधिदैविक अर्थ अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंके सम्बन्धमें होता है, यह अर्थ हमने मन्त्रोंके अर्थ करते हुए दिया है। परमात्माकी शक्ति अग्नि, इन्द्र, अश्विनी देव आदि मुख्यतः महाराष्ट्रियोंमें प्रकाशित हो रही है, यह भाव आधिदैविक अर्थमें प्रधान रहता है। अब यहाँ आध्यात्मिक और आधिभौतिक अर्थ देखे हैं। आध्यात्मिक अर्थ अपने शरीरमें देवता होता है और आधिदैविक अर्थमें जहाँ परमात्माकी शक्तिका साध्य जानना होता है, वहाँ आध्यात्मिक अर्थमें जीवात्माकी शक्तिका सत्य भी देखा जाता है। जब यहाँ आध्यात्मिक अर्थ देखिये—

## आध्यात्मिक भाषार्थ

“ मैं जीवात्माकी शक्ति हूँ और मैं ( रुद्रैः ) प्राणोंके साथ ( वसुभिः ) निवासक जलानि आदीरूप पदार्थोंके साथ ( आदित्यैः ) साराण शक्तियोंके साथ तथा ( विश्व-देवैः ) सब इन्द्रियोंके साथ रहकर बहुधा बह्विध रहता हूँ । मैं शरीरके ( मित्रा-वरुणौ ) और और सोम शक्ति-योंकी अर्थात् मानस और रसात्मक शक्तियोंके धारण करती हूँ । मैं ( इन्द्र-अग्नी ) जीवन, विष्णु और शरीरकी उन्नतताको सामय रहती हूँ और मैं ही ( अश्विनौ ) दोनों प्राण और अपानको चलाती हूँ । १ ॥

मैं शरीरकी ( राष्ट्रीय ) प्रजापति शक्ति हूँ अर्थात् मेरे प्रभावके कारण ही इस देशमें तेजस्विता स्फुर रही है, मैं ही यहाँ ( वसुनां संगमती ) रस रक्तानि विविध पदार्थोंको उत्पन्न करके शरीरकी सुरक्षित रखती हूँ । मैं ही ( चिकितुषी ) दान देवता हूँ । इसलिये मैं यहाँ अपना स्वयम्भूत ( यक्षिण्यानां ) प्रथमा ) शुक्लीयोंमें सबसे प्रथम पूजाके योग्य हूँ । मैं ( भूरि-रुधा-र्धा ) विविध अवयवों

और इन्द्रियोंमें रहकर शरीरकी रक्षा करती हूँ और ( वा-घेऽन्यन्तः देवाः ) मेरे प्रवेशके कारण ही सब इन्द्रियोंमानो ( मां ध्येदधुः ) मुझे ही विविध प्रकारसे धारण करती हूँ और मेरी शक्तिते ही अपना अपना कार्य करनेमें समर्थ होती हूँ ॥ २ ॥

देव क्या और मनुष्य क्या, सभी मुझ आत्मशक्तिका ही महत्त्व पाते हैं, मैं स्वयं भी अपना यह वर्णन करती हूँ, जिसपर मैं प्रसन्न होती हूँ यह मनुष्य उपवीर, ब्राह्मण, शूद्र और जलो महारथा जन जात है ॥ ३ ॥

मनुष्य शाता है, वैजता है, स्वात सेता है, शम्भ मुनता है यह धर्म ( मया ) मुझ आत्मशक्तिकी सहायता ही करता है । जो लोग मुझे मनुष्य मानते वे मात्तकी प्राण होती हैं । सब लोग मेरा यह भावण भवण करें और मुझ आत्म-शक्तिपर भ्रष्टा रहें, भ्रष्टाते ही मुझ शक्तिते जनको क्षाम होता ॥ ४ ॥

शत्रुविरोधी घातक शिकारोंको बुर करनेके लिये मैं आत्मशक्ति ही इस शरीरमें ( यद्वाय ) प्राणकी प्रेरणा देती हूँ, मैं ही अन्त्यक्षके जन्म और हर्ष देती हूँ, तात्पर्य कि इस शरीरमें ( धीः ) तिरस्के सेकर ( गृध्रिनी ) वीरता मैं ही शक्तिकृत फँती हुई हूँ ॥ ५ ॥

मे घ्रात करने योग्य ( सोमं ) भस्मकी बहुत धारण करती हूँ, मैं ही ( रथार ) सेरक और ( पूषा ) पोषक शक्तियोंकी शरीरमें धारण करती हूँ । मैं ( दधि ) उत्तम भस्म और रस स्वीकारनेवाली और इस शरीररूपी पतझालमें रस सांघ-स्मरिण साथ करनेवालीको उत्तम मया देती हूँ ॥ ६ ॥

मैं इस शरीरके ऊपर रखक शक्तिकी नियुक्त करती हूँ, मैं यहाँ हृदयके अन्दरके हृदयभाषके जीवनरस में रहती हूँ । यहाँसे हृदयके अवयवमें कार्य करती हूँ और ऊपर तिरस्क फँसती हूँ ॥ ७ ॥

सब इन्द्रियों और अवयवोंको उत्पन्न करती हुई मैं धामुके समान फैलती हूँ और इस शरीरमें तिरस्के सेकर सेरक भस्मकी महिमासे फँती हूँ ॥ ८ ॥

## आध्यात्मवर्णनका मनन

पूर्वोक्त मन्त्रोंका यह आध्यात्मिक आशय है। जो आत्म ज्ञाने अदरकी शक्तियोंका होता है वह आध्यात्मिक कहलाता है। मन्त्रोंमें जो वस्तुएँ दाय्य होती हैं वे ही मनुष्यके शरीरकी

विभिन्न दक्षिणोंके भावक होते हैं, उनको अन्त दक्षिणोंका वाचक जाननेसे आध्यात्मिक अर्थ प्राप्त जाता है। अब इसो सूक्तका आधिभौतिक आशय देखिये । धनत्व सच या प्राणि-समके विषयका जो अर्थ होता है वह आधिभौतिक अर्थ होता है—

### आधिभौतिक भावार्थ

‘ मैं राष्ट्रशक्ति ( रुद्रमि ) यौर्वै ( वसुभिः ) धनिर्को ( आदिभ्यः ) विद्याप्रकाशक विद्वानों और ( विभेदेभ्यः ) सब ज्ञानियोंके साथ रहता हूँ । मैं सोमो ( मित्रावरुणो ) मित्र जनों और वरिष्ठ लोगोंको, ( इन्द्र-अग्नि ) धूरवीरो धीर ज्ञानियोंको तथा ( अग्निनी ) दोनों प्रकारके अग्निनी कुमारोंकी अर्थात् पंडितोंको राष्ट्रमें धारण करती हूँ ॥ १ ॥

मैं राष्ट्रशक्ति हूँ, मैं ही सब धनों और धनिकोंको एकत्रित करती हूँ, मैं राष्ट्रशक्ति ( विकिन्तुषी ) ज्ञान धारणवाली हूँ, मैं पुनर्जीवोंमें सबसे मुख्य हूँ, मैं राष्ट्रके अनेक स्थानोंमें ( भूरि-स्वा-धा ) रहकर राष्ट्रको रक्षा करती हूँ, इस मुख राष्ट्रशक्ति द्वारा ( आधेराशस्त-देवाः ) आवेज अर्थात् स्वरूपको प्राप्त हुए सब पितामह लोग, माता, मुखों को विशेष प्रकार धारण करती हैं ॥ २ ॥

मैं देवजनों तथा सामारण मनुष्योंके द्वारा भी सेवनीय हूँ अर्थात् सब मूल राष्ट्रशक्तिको प्रारम्भ करें । मैं स्वयं कहती हूँ कि जितनवर मैं प्रसन्न होती हूँ वहु उपकार, ज्ञानी, ऋषि भषवा बुद्धिमान् मनुष्य धनता है ॥ ३ ॥

राष्ट्रमें जो पुत्र्य भद्र भोगते हैं, जो देखते हैं सुनते हैं प्रथमा जो श्वसतीध्वास करते हैं वह सब मेरी ही दक्षिणसे आरव है । ( माँ अम्रन्तवा ) मुख राष्ट्रशक्तिका अवमान करनेवाले सबका बुरा मान न देनेवाले लोग नाराजी प्राप्त होते हैं । हे लोगो ! यह बात सुन भद्राते सुनी इतनें तुम्हारा हित है ॥ ४ ॥

( बड़ोद्विषे शरवे हन्तव्ये ) ज्ञान प्रचारके द्वेषी और घात करनेवाले दुष्टोंका नाश करनेके लिये मैं ही ( रुद्राय धनु व्यस्तमोमि ) और पुष्टोंके पास सब दानधारण तैयार रखती हूँ । मेरी कृपासे ही राष्ट्रके लोग धनवर्ध रहते हैं, मागे मैं राष्ट्रशक्ति पृथ्वीसे लेकर दुर्लोकतक अर्थात् सर्वत्र फैली हूँ ॥ ५ ॥

मैं राष्ट्रशक्ति ही प्राप्त करने योग्य ( सोमं ) सोमआदि यक्षत्वर्षियोंको सब धारण करती हूँ । ( अह त्यष्टारं ) मैं शरीरपत्तोंकी और ( युषम भुमः ) शीघ्रमूर्ता धनजनोंको राष्ट्रमें धारण करती हूँ । जो ( रुद्रिममते यजमानाः ) जन्मादि द्वारा ब्रह्म करनेवाले लगान होते हैं, उनकी मैं वज्रता प्रभावमें पन देती हूँ ॥ ६ ॥

मैं ही राष्ट्रशक्ति ( अस्य भूधन् पितर सुभे ) इस राष्ट्रके निरपरा रक्षा करनेवाले राजाको उत्पन्न करती हूँ, मेरी उत्पत्ति ( सं+उत्+भ्रे ) एक हीकर राष्ट्रोंपर बरबसे लिये लिए जानेवाले प्रदत्त होते हैं, सब प्रयत्नोंमें होती हैं । यहां मैं उत्पन्न होकर राष्ट्रके हरएक कोमें फैल गली हूँ, सब देवता प्रणीत होता है कि मैं पृथ्वीसे स्वर्गतक फैली हुई हूँ ॥ ७ ॥

राष्ट्रमें मैं सब घरघाओंको आराम करती हूँ और भक्तता हूँ । मानो, मैं प्रबंध भावोंके समान संभार करती हूँ, पहातक कि ऊपरसे भोक्तेक मेरा अपूर्व कनार होता है, वह मेरी महिमा है ॥ ८ ॥

### इस राष्ट्रीय अर्थका मनन

इस सूक्तके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ये तीनों भावार्थ यहां दिये हैं । भौतिक और राष्ट्रीय इन अर्थोंके विषयमें विषय उद्देश्य प्राप्त करना चाहिये, यदी नि मनुष्यका कर्तव्य ही यह है । इन अर्थोंके साथ तीनों भूमिकाओंमें कित प्रकार अर्थ बताते हैं, यह निम्नलिखित कोष्टकसे ज्ञात हो सकता है—

| संज्ञके शब्द | आधिदैविक भाव             | आधिभौतिक भाव     | आध्यात्मिक भाव |
|--------------|--------------------------|------------------|----------------|
| रा           | मेघरूपानेय विष्णु        | योर              | प्राण          |
| मनु          | भूमिआदि आठ मनु           | मन और धनिक       | गौरवध धातु     |
| भारित्य      | सूर्य                    | ज्ञानप्रकाशक     | सत्तार         |
| विश्वेदेवा   | सब प्रकारमान् अन्तर्द्वि | सब कर्मकारी मनु  | सब ईश्वर       |
| मित्र        | सूर्य                    | प्रकाशक विद्वान् | नेत्र          |
| मदन          | चंद्र                    | ज्ञानज्ञानी      | धन             |
| भू           | विष्णु                   | पुत्र            | आरत मन         |
| अग्नि        | अग्नि                    | वज्रता           | बाणी           |

| मंत्रके राज्य | आधिदैविक भाव     | सांविमौलिक भाव | आध्यात्मिक भाव  |
|---------------|------------------|----------------|-----------------|
| अग्निनी       | अग्निनी          | बंद            | स्वातन्त्र्यवात |
| स्वध्या       | देवश्रुती        | कारीयर         | विभाजनशक्ति     |
| पूजा          | पौरव्य रंभीशक्ति | पौरव्यशक्ति    | पौरव्यशक्ति     |
| संप्रदा       | प्रकृति          | सोपेकी हलचल    | हृदय            |
| श्री          | सुलोक            | ज्ञानो         | सिर             |
| प्रथिनी       | भूतलोक           | सेवक           | पाव             |

मंत्रके राज्य इस रीतिसे जगत्पथ भूमिप्रायोंमें जगत्पथ अर्थोंके वाचक होते हैं। इन अर्थोंके जगत्पथ ही मंत्रका संपूर्ण अर्थ जगत्पथ समझ है। धर्मिकमें मंत्रोंके रूपसे अर्थ देवता है, राष्ट्रमें मंत्री अर्थोंका भाव सेना है और विभागमें जगत देवोंको देवता होता है। अर्थ-आश्रितमें अर्थ मंत्र है, इससे मंत्र दूर किये जाते हैं; इसी मंत्रसे मंत्री बने हुए और अग्निनी और राष्ट्रमें होते हैं, इनमें अर्थ मंत्रका भावपथ होता है, इनका ही रूप विभाग है इन्द्रजति है जो विप्लवमें बीजती है। अश्रितमें अर्थ; राष्ट्रमें शूर और विभागमें विप्लव ये सब वैदिक इन्द्र देवताकी विभूतियां हैं। इसी प्रकार देवताओंकी विभूतियोंका नाम हो सकता है।

इस मंत्रमें "राष्ट्र" शब्द है। राष्ट्र जिसके कारण रहता है, जिस शक्तिसे राष्ट्र उत्पन्न अवस्थामें रहता है, जिस शक्तिसे राष्ट्र बचता है और लक्ष्यरूपसे युक्त होता है उस शक्तिका नाम राष्ट्र है। यह राष्ट्रशक्ति "आदिपति, रुद्र, धनु और विश्वेश्वर" इनके साथ रहती है, यह प्रथम मंत्रका कथन है। ये देवतावाचक चार शब्द मंत्र "आश्रित, अग्निनी, धनु और धनु" अर्थात् करीबगरेके वाचक हैं। बहुवचन पूर्ण आश्रित शब्द बहुवचनके वाचक हैं, धनु, धोरम अग्नि नाम शीर्षाधिके लिये मुद्रित होवेते ये अग्निजगत्पथ वाचक हैं, यह शब्द पत्राओं और पत्रोंका प्रसिद्ध है अतः यह वैदिक वाचक है और विश्वेश्वर शब्द अर्थ स्वयंकार कर्ताओंका वाचक होवेते अवशिष्ट करीबगरेका वाचक है। देवताओंमें इन्हीं अर्थों द्वारा धनुर्वर्धन योगित होता है और इन देवताओंके मंत्रोंसे धनुर्वर्धनके धर्म अर्थोंका योग हो सकता है। यह राष्ट्रशक्ति इन लोगोंके श्वर रहती है, इनमें भाव करती है और इनके द्वारा प्रकट होती है।

यह राष्ट्रीय शक्ति (अग्निः-रुद्र) वाचक, (धनुः-धनु) अर्थों, (मित्र) वाचक, (वदन्तो राजा)।

राष्ट्रपत्नी और (अग्निनी)-अग्निनी कुमारी) वाचकके आश्रितोंका भाव देकर इनका कारण योग्य करती है। राष्ट्रमें इनका योग्य करने इनके द्वारा अन्य साधारण जनोकी कुछ बहुवचनी है। यह इस राष्ट्रीय शक्तिकी महिमा देवने योग्य है।

यह राष्ट्रीय शक्ति (अग्निनी संगमनी) सब प्रकारके धनधारणोंके प्राप्त करती है। राष्ट्रीय शक्तिका जिस देशमें उत्पन्न होने लगता है, वहां उस शक्तिके विकासके कारण सब प्रकारके धन इकट्ठे होने लगते हैं, तथा जिस देशमें राष्ट्रशक्तिका विकास बंद होता है, उस देशमें वरिष्ठता बचती है। पतित राष्ट्र और वरिष्ठ राष्ट्रका यह विपन्नता और संपन्नतासे सब देवने योग्य है।

यह राष्ट्रशक्ति मनुष्योंमें निहित होती है, धर्माल जिस समय वाचक, अग्निनी, बंदम, धनु और निवार अपनी राष्ट्रशक्तिसे एक होकर बने राष्ट्रीय पुत्रधारमें प्रवृत्त होते हैं, उस समय इस राष्ट्रीयदेवीका संचार उन मनुष्योंमें होता है, (अग्नि-आवेशयमन्त्रः) जिससे प्रकरका वैदिक भावना मनुष्योंमें उस समय होता है और ऐसे वैदिक हृदयसे युक्त लोग शक्त्याने बोधे भी नहीं न हों, शक्तिका यथा कार्य करके जिंसा बेटे हैं। यह राष्ट्रीयदेवीके आधिष्ठातृका धर्मकार है। इसीलिये उनके मंत्र (यदिमानां प्रथमा) पुत्रोंमें सर्वप्रथम जगत्पथ है। धर्मों वरिष्ठताकी पुत्रा धर्मने हृदयमें करते हैं और राष्ट्रशक्तिसे मंत्रने हृदय परिपूर्ण करते हैं। देवमें अग्निनी भी कहा है कि—

इथा सरस्वती मही तिष्ठो देवीर्मयोमुयः।

वर्हिः सोदन्वसिषा। (ऋग्वेद. १।१३।१)

"मातृभावा, मातृभावा और (मही) मातृभूमि ये तीन देवियां कस्यापि करनेवाली हैं। इसलिये ये अतः कारणों बिना निस्सरण हुए स्वान प्राप्त करें।" अर्थात् हृदय मनुष्योंके मंत्रने तीन देवियोंको योग्य और समानता



स्वाधन प्राप्त हो और कभी ऐसा न हो कि लोग इन तीन दैवियोंका योग्य आदर न करें। इस मन्त्रके उपदेशानुसार मातृभूमिकी भक्ति हरएकको करने चाहिये और यही उपदेश इस सूक्तके द्वितीय मन्त्रमें “ ( प्रथमा यज्ञिषानां राष्ट्री ) यह राष्ट्रशक्ति पूजनोपयोगी सबसे प्रथम पूजा करने योग्य है, ” इस शब्दों द्वारा कहा है। यदि इस जगत्में युष्म-पूर्वक जीवन व्यतीत करनेको इच्छा है तो इस राष्ट्रदेवताको पूजा करनी चाहिये और उस देवोके लिये अपनी बलि देनेके लिये सदा तैयार रहना चाहिए।

राष्ट्र देवी तब प्रसन्न होती है, जब लोग उसकी शक्तिके लिये अपने सर्वस्वका समर्पण करनेको तैयार होते हैं। मानो जन सदा ही राष्ट्र देवोके लिये अपने सर्वस्वका अर्पण करनेको तैयार होते हैं। इसीलिये ऐसा श्राव्यो पुण्य ( स अद्य अस्ति ) अन्न भोग प्राप्त करता है, ऐसा वस्तुएं मन्त्रमें कहा है।

यदि उक्त मातृभूमि अथवा राष्ट्रशक्तिकी योग्य उपासना न कर उसका अपमान करनेवाले, इसका योग्य सत्कार न करनेवाले ( अ-मानस्यः उपद्रुपसि ) लोग सत्कार प्राप्त होने हैं। यह बात ( अस्मैयं यदस्मि ) विश्वास रखने योग्य है अर्थात् ऐसा होता ही है। राष्ट्रभक्तिके महारको मानकर लोग कभी राष्ट्रशोहका कार्य न करें और सदा राष्ट्रभक्ति करते हुए और राष्ट्रके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करते और अपने जीवनका सर्वविषयक करके निष्पक्षी और यशस्वी हों।

राष्ट्रके अंदर भी जो कुछ लोग होते हैं, वे सज्जनोंको क्लेश देते हैं, तथा राष्ट्रके बाहर भी जो दुश्मन होते हैं, वे भी राष्ट्रपर हमला करके घातपात और लूटपाट करीते हैं। इनका नाश करनेके लिये राष्ट्रके ( उद्धार ) होरपुर्पकी पात ( धनुः ) विविध प्रकारके यन्त्रादि प्रस्फुरन तैयार रखनेका कार्य राष्ट्रशक्तिकी ही है। जो राष्ट्र भोक्तृ और श्रापित होता है, वह अपने शत्रुके निपातके लिये आत्मसर्वस्वका घातपात तैयार रखता ही है और योग्य प्रसन्नमें योग्य शीतिले उनका उपयोग करने विषय भी प्राप्त करता है। अन्तर्गत मान्य करनेवाले राष्ट्रको अपनी रक्षाके लिये जात रहना अत्यंत आवश्यक है।

यह राष्ट्रशक्ति ( रक्षार् ) कारोबारोंका पोषक करती है, इसी प्रकार जो मनुष्य जनोंका पावन पोषक करते हैं उन

( पूज्य ) पोषक जनोंका अथवा उन ( भर्ग ) भाग्य-धानीको उत्तम प्रकार वात्स्य पोषण करती है। ऐसे पुरवोंको कभी व्ययनतिमें नहीं रखते, प्रामुख उन्नत करती हैं, इसी प्रकार जो लोग अपने धनधान्यका ( यत्मान ) व्यय करते हैं अर्थात् अन्तर्गत भोगोंके लिये अपने धनधान्यका समर्पण करते हैं, उनको कभी धनकी स्थिरता नहीं रहती अर्थात् जितना वे व्यय करते हैं उतने अधिक ( द्रविणा दद्यामि ) धन उनको प्राप्त होता है, फिर वे अधिक व्यय करते हैं और फिर उनका धन बढ़ता ही जाता है। इस प्रकार यत्नोद्दिष्ट होशों हैं और जनताका सुख बढ़ता ही जाता है।

राष्ट्रके ऊपर निष्ठापूर्वक और सत्कारको उत्पन्न करना और राजगद्दीपर उठको स्थापना करना, ( अस्य मूर्धन्यपितरं सुखे ) यह राष्ट्रशक्ति ही करती है अर्थात् भोक्तृ और श्रापित राष्ट्रके लोग अपने राजशासनकी व्यवस्थाके लिये सर्वोच्च राजवात्स्यका स्वयं निर्वाचन करते हैं और उसकी रक्षाके ऊपर निष्ठा करते हैं। इस राष्ट्रशक्तिकी उत्पत्ति-स्थान ( समुद्रे अस्ति ) राष्ट्रीय हलचलके महातामरे अन्त होता है। “ ( सं० ) एक होकर ( उद् ) उर्ध्वके लिये ( द्र ) यत्न करना अथवा प्रयास करना राष्ट्रीय हल-चलका स्वभाव है। ” इसका ही नाम ‘ समुद्र ’ ( सं + उद् + द्र ) है। इस हलचलमें यह राष्ट्रशक्ति प्रगट होती है और हरएकके अन्त करके फैलती है, मानो इस प्रकार यह ( विभवा भुवनानि विविष्टे ) संपूर्ण भुवनोंमें फैलती है अर्थात् भूमिसे स्वतंत्र बिस्तृत होती है, हरएक कार्यमें यह प्रगट होती है, हरएक हलचलके सहित यह रहती है। इस प्रकार इसकी महिमा है।

जिसे समय जनतामें राष्ट्रशक्तिकी संसार होता है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रशक्तिकी ( यात इति प्रथमि ) शासनशक्तिकी ओरसे प्रकाश चल रहा है और इसका योग्य शोचना सब अर्थमय है। इस शक्तिकी वेग महान् प्रगट होता है कि ( दिव्यः परः ) दृष्टिको भी परे और ( यना पृथिव्याः परः ) इस पृथ्वीके भी परे वह वेग कार्य कर रहा है। आकाश पारित इस शक्तिके भरे हुए हैं और कोई स्थान शान्ति नहीं है।

राष्ट्रशक्तिकी यह महिमा है। जो इसके उपासक होने हैं वे अपने राष्ट्रको अन्तर्गतके उच्च शिखरपर स्थापित करते हैं।



## राष्ट्रसभाकी अनुमति

कांड ७, सूक्त १२

( ऋषि - चीनक । वेदता - सभा, पितर, इन्द्र, मन । )

सभा च मा समितिधावतां ग्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।

येनां संगच्छा उप मा स शिक्षाचारुं वदानि पितरः संगतेषु ॥ १ ॥

विष ते सभे नाम नरिष्ठा नाम वा अंसि । ये ते के च सभासदुद्वे मे सन्तु सर्वावसः ॥ २ ॥

एषामुहं सुमासीनानां वचो विज्ञानमा ददे ।

अस्याः सर्वस्याः संसदो मामेन्द्र भूमिर्न कृणु ॥ ३ ॥

यदो मनः परागतं यद्वह्मिह वेद वा । तद् वा वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ ४ ॥

अर्थ— ( सभा अ समिति, च ) प्रामत्तमिति और राष्ट्रसभा ये दोनों ( प्रजापतेः दुहितरौ ) प्रजाकाः पालन करनेवाले राजाके द्वारा पुरीवत् पालने योग्य हैं और ये दोनों ( संविदाने ) नरवर ऐकभाव करती हुई ( मा अवतां ) मुझ राजाकी रक्षा करें। ( येन संगच्छे ) जिससे मैं मित्र ( सः मा उपशिक्षात् ) वह मुझे सिखा देवे। हे ( पितरः ) रक्षकों ! ( संगतेषु चार वदानि ) सभाओंमें मैं उत्तम रीतिसे बोल् ॥ १ ॥

हे सभे ! ( ते माम विष ) तेरा नाम होने विहित है। ( नरिष्ठा नाम वै अंसि ) ' नरिष्ठा ' अर्थात् अहितक यह तेरा नाम वा पद है। ( ये के च ते सभासदः ) जो कोई तेरे सभासद है ( ते मे सर्वावस सन्तु ) वे मुझ राजाके सभाका भाग्य करनेवाले हों ॥ २ ॥

( एषां सुमासीनानां ) इन बड़े हुए सभासदोंसे ( विज्ञानमा ददे ) विशेष ज्ञानस्वी लेन में- राजा-स्वीकार करता हूँ। हे इन्द्र ! ( अस्याः सर्वस्याः संसदः ) इस सब सभाका ( मा भूमिर्न कृणु ) मुझे भली बना ॥ ३ ॥

हे सभासदो ! ( यः यत् मनः परागतं ) तुम्हारा जो मन दूर हट गया है, ( यत् वा इह वा इह वा यज ) जो इसमें अबका इस विषयमें मग्न हुआ है, ( यः तत् आवर्तयामसि ) तुम्हारे उस चित्तको मैं पुन लौटा लाता हूँ, अब तुम्हारा ( मनः मयि-रमता ) मन मेरे ऊपर रममाण होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— प्रामत्तमिति और राष्ट्रसभा राष्ट्रमें होनी चाहिये और राजाको उनका पुरीवत् पालन करना चाहिये। ये दोनों सभाएं एकत्रसे राष्ट्रका कार्य करें और प्रजाजन करनेवाले राजाका पालन करें। राजा जिस सभासदसे राज्य-शासनविषयक समझ दूँ, वह सभासद योग्य समझ राजाको देवे। राजा तथा अन्य सभासत् सभाओंमें सम्प्रतापे धार-विधार करें ॥ १ ॥

इन लोकसभाओंका नाम ' नरिष्ठा ' है, क्योंकि इनके होनेसे राजाका भी नाम नहीं होता और प्रजाका भी नाम नहीं होता। इन सभाओंके जो सभासद् हों, वे राजासे अपनी समझ विष्पक्षकारूपसे स्पष्ट करावें कहे ॥ २ ॥

लोकसभाओंके सदस्योंसे राज्यशासनविषयक विशेष ज्ञान राजा प्राप्त करता है और तेमसे पता है। भल राजा ऐसी सभाओंसे राज्यशासनविषयक विज्ञानका भाग व्यवस्थापन करे और भाग्यप्राप्त्यवे ॥ ३ ॥

लोकसभाके कार्य करनेके समय किसी सभासद्का मन दूर उधरके कार्यमें रचने लगे, तो उसको उचित है कि मनको वापस लाकर राज्यशासनके कार्यमें लौ सगा ॥ ४ ॥ सब सभासद् और राजा अपने राज्यशासनके काममें हो अपना मन लगावें ॥ ४ ॥

कारक होगा, इतना महत्व लोकसभाको सर्वसम्मतिवा है तथा यह निर्णय प्रजाके हितों में अत्यन्तकारक होगा ।

### राजाके पितर

राष्ट्रसमितिके सभासद वे राजाके पितर हैं । इस मुक्तमें राजाने उनको, ' पितरः ' करके ही सम्बोधन किया है—

सर्व सदानि पितरः समेतुः । ( म. १ )

" हे पितरों ! अर्थात् हे राष्ट्रमहासभाके सब सदस्यों ! सभासदों में वे योग्य भाग्य कल्याण " अर्थात् सम्पत्तियों युक्त भाग्य कहना । कभी निषेधकाट्ट भेदा भाग्य न होगा । हे सभासदों ! सब सदस्य भी सदा इसी प्रकार सम्पत्तियोंके निमग्नमें अनुकूल भाग्य कल्याण करें । इस वचनभाषमें राजाने लोकसभाके सभासदोंके लिए ' पितरः ' शब्दका प्रयोग किया है । यह शब्द महा वेदमें प्रयोग है ।

लोकसभा धर्मवा राष्ट्रसमिति राजाको पुत्रियां हैं वह ऊपर कहा है । अब यहाँ कहा जाता है कि सभासदोंके सदस्य राजाके ' पितरः ' हैं, यह कैसे हो सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर इसका ही है कि यहाँ केवल वास्तव अर्थ सेना उचित नहीं है, यहाँ भाव और शब्दका मूलार्थ सेना चाहिये । पितर शब्दका अर्थ रक्षक है और उपायक भी है । दोनों अर्थ यहाँ सत्य हैं । राजासभाके सभासद राजाको पुत्रों और उसकी राजाहीनता विरुद्ध हैं, इसलिये वे उसके उत्पन्नक, शत्रु और पितरोंके समान भी हैं, इसी प्रकार राजाके उचित व्यवहार करते रहनेके वे उसकी राजाहीनता रक्षते हैं वर राजा जब अनुचित व्यवहार करने लगता है तो उसकी हटाकर उसके स्थानपर सुयोग्य दूसरा राजा नियुक्त करते हैं, इसलिये वे राष्ट्रसभाके सदस्य राजाके रक्षक भी हैं अर्थात् सब प्रकारसे वे सक्षम राजाके पितर हैं ।

' पितृदेवो भव ' पितरोंके देवताके समान मानकर उसका सम्मान कर, जाता देवमनुकूल है । इसलिये राजाको उचित है कि, वह राष्ट्रमहासभाके सदस्योंका सम्मान करे, उनका गौरव करे और कभी उनका अपमान न करे । राष्ट्रसभाका यह अधिकार है ।

### राजाके शिक्षक

राष्ट्रसभाके सदस्य राजाके गुरु भी हैं । शिक्षक प्रथम मंत्रका भाव देने में योग्य है—

येन संगच्छेत् सः । उपशिक्षात् । ( म. १ )

" हे गुरुजनों ! हे राष्ट्रसभाके सदस्यों ! तुममें से वे राष्ट्रशासनके कार्यमें समर्थ वृत्त, यह उस विषयमें अपनी समर्थ देकर मुझे उत्तम योग्य शिक्षा देवे । " अर्थात् राजाको योग्य शिक्षा देनेवाले उत्तम गुरु राष्ट्रसभाके सदस्य हैं । वे राजाके गुरुसंगोच हैं । ' मानार्थदेवो भव ' अर्थात् गुरु-जनोंका सम्मान करना चाहिये, यह आज्ञा वैदिकधर्मको है । इसके अनुसार वैदिकधर्मों राजाको उचित है कि वह राष्ट्र-सभाके सदस्योंका गौरव करे और उनसे पूर्ण आदरके साथ व्यवहार करे । राष्ट्रसभाके सदस्योंका यह अधिकार है ।

### सभासद सदस्यवादी हैं

राजसभा अथवा किसी अन्य सभाके सभासद ( सदाचर ) सभा में भाग्य करवानेवाले अर्थात् जैसा वेला, जाना और अनुभव किया हो वंसा ही साथ साथ सोचनेवाले हैं । वंसा सत्य एकबार कहें हो, वंसा ही सत्य प्रत्यक्ष आनेपर कहनेवाले हैं उनमें बदल बदल करके ' हाँ ' को ' हाँ ' मिलातेवाले ' हाँसी ' बहुत-से हैं । निर्भय होकर जो साथ हो, वही राजाको कहें । राष्ट्रका हित किता बातमें है, इसका विचार करके जो अपना मत ही, वह योग्य रीतिसे कह देनेमें किसीसे न करें । यह सभासदोंका कर्तव्य है । ( म. २ )

### तेजप्रदाता और विद्वानदाता

राजाका तेज राष्ट्रसभाके सदस्योंमें प्राप्त होता है । शिक्षक विषयमें तृतीय वचन देकरने योग्य है—

एषां सभासदीनां यथैः विद्वानं भव आधे ।

( म. १ )

" राष्ट्रसभाके इन सदस्योंमें वे राजा ( यथै ) तेज प्राप्त करता है और ( विद्वानं ) विषय ज्ञान भी प्राप्त करता है । " यहाँका विद्वानं शब्दशास्त्र ज्ञानके विषयका विशेष शब्द है । शब्दका हित, मित, सित, मित, मित, मित, सित, मित, सित, मित, सित, मित, सित, मित, सित, मित, सित, मित, सित, फलवाक्य हैं ।

इस प्रकार प्रजाकी संमतिसे राज्यशासन करनेवाला राजा विरहासक्त राज्यपर रह सकता है और यही तेजवादी है ।

सकता है। इसके विपक्ष जो राजा समाके प्रतिनिधियोंकी समिति में मानकर, मन माने अत्याचार प्रजापर करता है, वह राजगद्दीसे हटा दिया जाता है। येवही समिति राज्य-शासनके विषयमें यह है।

### राजाका भाग्य ।

राजाका संपूर्ण भाग्य, ऐश्वर्य, अधिकार और स्वतंत्र्य राष्ट्रसभाकी अनुमतिसे ही होता है। अथवा राजा किसी कारण भी 'राजा' नहीं रह सकता। यह बात स्वयं राजा ही कहता है, देखिये—

अरुणः संस्रद्धः मां भगिर्न कृणु ॥ ( प ३ )

"हूँ राजाका सुख भागी कर ।" अर्थात् इस समाकी अनुमतिसे रहनेके कारण मैं भाग्यवान् बनूँ। मैं इस समाकी अनुमतिका भागी बनूँ, अर्थात् जो निश्चय समा करेगी, वह मैं मानूँगा और मेरा कार्य करूँगा। मैं उसके विपक्ष आचरण कदापि न करूँगा। ॥ प्रकार को राजा आचरण करेगा, वह भाग्यवान् बन लायगा, इसमें कोई संदेह नहीं है, अर्थात् राजाका भाग्य समाका मन करनेसे ही बढ़ता है।

### दक्षचित्त समासद्

राष्ट्रसभाके, नगरसमितिके अथवा किसी समाके समासद् अपनी अपनी समाके कार्यमें दक्षचित्त रहें। भित्तिका मर इधर उधर न हो। सब अपना मन समाके कार्यमें निरपेक्ष रखकर समाका कार्य अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर अहंताक हो सके बहुशक्त निर्दोष बनाने। इसका उपदेश इस वृत्तान्त निम्नलिखित प्रकार है—

यद् यो मनः परागतं यद् यदामिह चेह वा ।

तद् आपर्तयामसि ॥ ( प ४ )

"हे राजासद्वी ! यदि तुम्हारा मन दूर भग्न गया हो अथवा नहीं हो इधर उधरके अत्याचार करनेमें लगा गया हो, उपाको मैं वापस लाऊँ हूँ ।" अर्थात् यह अर्थ है, यह

इधर उधर खोडता हो रहेगा। परन्तु दुर्दृष्टिग्रस्त करने उपाको कर्तव्यकर्ममें निरपेक्ष रहना चाहिये। और अपनी संपूर्ण शक्ति लगा कर अपना कर्तव्य अहंताक हो सके बहुशक्त निर्दोष शक्तिके करनेका यत्न करना चाहिये। हरएक समासद् यदि अपने मनको नहीं और ही कार्यमें लगावेगा, तो समा करनेका प्रयोजन कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये हरएक समासद्का कर्तव्य है कि वह अपना मन समाके कार्यमें लगावे और अपनी पूरी शक्ति लगाकर समाका कार्य निर्दोष करनेके लिये भरसक कोशिश करे। इस संक्षेपात्मक समासद्का कर्तव्य बहुत है।

### नरिष्टा समा

इस युक्तके द्वितीय चरणमें समाका नाम 'नरिष्टा' कहा है। 'नरिष्टा' के दो अर्थ हैं। एक ( नरः इष्ट ) नर अर्थात् नेता जनकोंको जो इष्ट है, श्रेष्ठ है अथवा नेता जिसको चाहते हैं। समाकी मनुष्य चाहते हैं क्योंकि इस समाद्वारा ही जनताके कष्ट राजाको धिक्कित हो जाते हैं और समासद् राजा जनको दूर कर सकता है। इस प्रकार ही समाके होनेसे जनताका सुख बढ़ सकता है, इसलिये जनता समाओंको पसंद करती है।

'नरिष्टा' अथवा दूसरा अर्थ है ( न रिष्टा ) अर्थात्क अर्थात् जो किसीका नाश नहीं करती और जिसका नाश कोई नहीं कर सकता। समाके कारण प्रत्याशा नाश नहीं होता और जनताके अनुकार करनेवाले राजाओं भी दक्ष हो जाते हैं, इसलिये राजाका भी नाश नहीं होता। इसी प्रकार जनता स्वयं राष्ट्रसभाका नाश नहीं करना चाहती और राजाका अधिकार हो नहीं है कि जो इस राष्ट्र-समाका नाश कर लें। इस लिये सब प्रकार वह समा 'अविनाशिक' है।

इस प्रकार इस युक्तमें वैदिक राष्ट्रशासनके कुछ निहित अर्थ हैं।



## राज्याका कर्तव्य

कांड ७, सूक्त ९१

( ऋषिः - अथर्वी । देवता - चन्द्रमा । )

इन्द्रः सुत्रामा स्वर्वाँ अबोभिः समृद्धीको भवतु विश्वेदेः ।

वाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोत सुवीर्यस्य पतयः स्याम

॥ १ ॥

अर्थ— ( सुत्रामा स्ववान् ) उत्तम रत्नक आत्मविश्वासे युक्त तथा ( विश्वेदेः इन्द्रः अबोभिः समृद्धीकः भवतु ) सब धनसे युक्त राजा अपनी रत्नमाला उत्तम सुतकरो होवे । ( द्वेषः वाधतां ) शत्रुओंका प्रतिघ्न करे ( नः अभयं कृणोत ) हमारे लिये निर्भयता उत्पन्न करे ( सुवीर्यस्य पतयः स्याम ) और हम उत्तम पतके स्वामी बनें ॥ १ ॥

भावार्थ— राजा उत्तम रत्नक, अपने तापस्पर्शर विश्वास रत्ननेवाला, धनवान्, प्रतापी रक्षा करने उनको युक्त देनेवाला होवे । शत्रुओंको दूर करे और उनको रोक रखे । प्रजाको अभय देने और प्रजाको घनतन्त्र करे ॥ १ ॥

यहां इन्द्रके वर्णनके विषये राजाके गुण वर्णन किये हैं । इसी प्रकार आपेका सुवर भी इसी विषयका है—

## राज्याका कर्तव्य

कांड ७, सूक्त ९२

( ऋषिः - अथर्वी । देवता - चन्द्रमा । )

स सुत्रामा स्वर्वाँ इन्द्रो अस्मद्वाराचिद् द्वेषः सनुतयुषोतु ।

तस्यै वृषं सुमती यज्ञियस्यापि भन्ने सौमित्रसे स्याम

॥ १ ॥

अर्थ— ( सः सु-त्रामा स्ववान् इन्द्रः ) यह उत्तम रत्नक आत्मविश्वासे युक्त तथा शासितजाली राजा ( द्वेषः ) शत्रुओंको ( अस्मद् द्वारा चिद् सनुतः युषोतु ) हमारे पक्षसे निषेधपूर्णक दूर करे । ( वृषं तस्य यज्ञियस्य सुमती स्याम ) हम उस पूजनयोगी सुमतिमें रहें, ( अपि सौमित्रसे स्याम ) और उनके उत्तम मनोभावमें रहें ॥ १ ॥

भावार्थ— यह उत्तम रत्नक आत्मविश्वासे युक्त राजा शत्रुओंको प्रजाप्रतिषेध दूर करे । प्रजा भी उस पूजनयोग राजाके निषेधमें उत्तम धृष्टि धारण करे और राजा भी प्रजा विषयमें सुमति धारण करे ॥ १ ॥

राजा प्रजाकी रक्षा करे, प्रजा भी राजनिष्ठ रहे और दोनों एक दूसरेके विषयमें सुधृष्टि धारण करें । यह गुण भी प्रभुका वर्णन करते हुए राजाके गुण बता रहा है ।

# राजाका कर्तव्य

कांड ७, सूक्त १३

( अग्नि - मनुष्या । देवता इन्द्र । )

इन्द्रेण मनुष्या दयममि प्याम पृतन्यतः । ध्वन्तो वृषाण्यप्रति

॥ १ ॥

अर्थ— ( मनुष्या इन्द्रेण दयं ) उत्ताहयकर इन्द्रके साथ रहकर इस सब ( वृषाणि अग्रति ध्वन्तः ) अशुभोंको

दूरी तरह मारते हुए ( पृतन्यतः अभि-स्याम ) सेना लेकर चढ़ाई करनेवालोंको जीते ॥ १ ॥

इस सूक्तमें भी इन्द्रके वर्चस्वके लिये राजाका ही वर्णन किया है । उसीही धोर राजाके आधिपत्यमें रहनेवाले प्रजाजन ( धृष्य ) आयरक मनुष्यका नाम करनेमें समर्थ होते हैं और सैन्यके साथ चढ़ाई करनेवाले वीरोंको भी हरानेमें समर्थ होते हैं ।

# राजाका कर्तव्य

कांड ७, सूक्त ८४

( अग्नि - मनु । देवता - आतपेरा अग्नि, इन्द्र । )

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विशांते क्षत्रमूर्धादिदिह ।

॥ १ ॥

विष्वा अमीवाः प्रमुञ्चन्मातुपीभिः शिवाभिद्य परि पाहि नो ययम्

इन्द्र क्षत्रममि वाममोतोऽजायथा वृषम चर्षणीनाम् ।

॥ २ ॥

अपानुदो जनममिश्रायन्तमुकुं देवेभ्यो अकुषोह लोकम्

अर्थ— हे जाने ! तू ( जात-वेदाः अनाधृष्यः ) शासवान्, अमर्त्य ( अमर्त्यः त्रिपद् ) क्षमर, विशेष प्रचारका सच्चा और ( क्षत्र-भुक् इह दीदिहि ) क्षत्रवीर्य भरण पोषण करनेवाला होकर यहाँ प्रकाशित हो । और ( विष्वाः शमीवाः प्रमुञ्चन् ) सब रोगोंको दूर करता हुआ ( मातुपीभिः शिवाभिः ) मनुष्य सबको कल्याणोंके साथ ( अद्य नः गयं परि पाहि ) आज हमारे घरकी रक्षा कर ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! ( चर्षणीनां वृषम ) मनुष्योंमें धेड़ । तू ( वामं क्षत्रं भोज्यं अग्निं जायथा ) उत्तम सामग्र्यके लिये प्रसिद्ध हुआ है । तू ( अमित्रायन्तं जनं अयं लुदः ) शत्रुता करनेवाले मनुष्योंको दूर कर । और ( देवेभ्यः उनें लोकं उ व्युषोः ) दिव्य जनोंके लिये स्थान विस्तृत कर ॥ २ ॥

भावार्थ— तू मानी, अजेय, चौधवा, साधकलका पोषणकर्ता, विशेष धेड़ राजा होकर यहाँ प्रकाशित हो । अपने राज्यके सब रोग दूर कर और मनुष्योंके कल्याण करनेवाले साधनोंसे हमारे घरोंकी उत्तम रक्षा कर ॥ १ ॥

मनुष्योंमें धेड़ जन, उत्तम साधन बलकी धृष्टि कर । शत्रुता करनेवालोंको दूर कर और जो धेड़ लोग हैं उनको सब विस्तृत कार्यक्षेत्र बना ॥ २ ॥

१ [ अथर्व. भा. २ मातृ० द्विष्यो ]

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात्परस्याः ।

सुकं संशायं पृथिमिन्द्र तिम्यं वि शत्रून्ताद्वि वि मृधो नुदस्व

॥ ३ ॥

अर्थ— ( गिरिस्थाः भीमः मृगः न ) पर्वतपर रहनेवाले भयंकर सिंह, व्याघ्र आदि पशु के समान तु शत्रु के ऊपर ( परस्याः परावतः आ जगम्यात् ) दूरसे दूरसे स्थानसे भी हमला करता है । हे इन्द्र ! तु अपने ( सुकं पृथि संशाय ) माथ और वज्रकी तोरण करके ( शत्रून् विताद्वि ) शत्रुओंको नष्ट कर और ( मृधः वि नुदस्व ) हितक लोगोंको दूर हटा दे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— इस प्रकार पहाड़ोंपर रहनेवाला व्याघ्र अपने शत्रुपर हमला करता है, उसी प्रकार तु अपने दूरसे शत्रु-पर भी चढ़ाई कर । अपने ज्ञान तोरण कर, शत्रुको घृथ लाट, और हितकोंको दूर भगा दे ॥ ३ ॥

### राजा क्या कार्य करे ?

इस सूक्तमें अग्नि और इन्द्रके मिलते राजाका कार्य बताया है । अपने राज्यके प्रति राजाके कर्तव्योंका वर्णन इसमें है—

- १ जातयेदाः— तान प्राप्त करे और अपने राज्यमें शासक प्रसार करे ।
- २ अनाधृष्यः— राजा ऐसा सामर्थ्यवान् बने कि वह शत्रुके भयंकर हमलेका भी साहससे मुकाबला करे ।
- ३ धि-राट्— विशेष प्रकारका श्रेष्ठ राजा बने ।
- ४ ह्यमभृत्— अग्निदेवता और साधुगणोंका भरणपोषण और संवर्धन करे ।
- ५ अमर्त्यः अग्निः ॥ दीपिहि— अमर अग्निके समान इस राज्यमें प्रकाशित होता रहे ।
- ६ विश्वाः अमीयाः प्रमुञ्चन्— अपने राज्यसे सब रोग दूर करे, राज्यके सब लोग बीरोग हों ऐसा प्रयत्न ॥ ॥
- ७ मातुपीभिः शिवाभिः— उत्तम कल्याणपूर्ण मनुष्योंसे युक्त होवे ।
- ८ गर्गं परिपाहि— राज्यके हर एक घरकी रक्षा करे ।
- ९ कर्षणीनां धृषभः— राजा मनुष्योंमें श्रेष्ठ बने ।
- १० चाम क्षर्भं भोजः— उत्तम वात्रजससे सुवन राजा होवे ।
- ११ अमित्रापन्ते जने अपनुद— शत्रुता करनेवाले मनुष्योंको अपने देशसे दूर करे ।
- १२ देवेभ्य उर्वं लोकं अलुषीः— शत्रुत्वके तिम्यं विस्तृत स्थान बनावे ।
- १३ परस्याः परावतः आजगम्यात्— दूर दूरसे भी शत्रुके ऊपर प्रथम हमला करे ।
- १४ सुकं पृथि संशाय— अपने ज्ञानात्मक उत्तम प्रकार तोरण करके तैयार रहे ।
- १५ शत्रून् विताद्वि— शत्रुओंको नष्ट करे ।
- १६ मृधः विनुदस्व— हितक लोगोंको अपने राज्यसे दूर करे । राज्यसे बाहर निकल देवे ।

इस प्रकार इस सूक्तमें जोष प्राप्त होता है । ॥ सूक्तमें अंत राजाके कर्तव्य बड़े हैं, उसी प्रकार हर एक मनुष्यको भी आपत्कालीन उपदेश इसी सूक्तसे मिल सकता है ।

# राजाका कर्तव्य

कांड ७, सूक्त ८५

( अर्थ :- अथर्वा [ स्वस्वयमरुणम्. ] । देवता - तारुण्यः । )

स्यम् पु वाजिनं देवजुतं सहोवातं तस्तारं रथानाम् ।

अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्ष्णीमिहा हुवेम

॥ १ ॥

अर्थ— ( त्वं वाजिनं ) उक्त बलवान्, ( देवजुतं सहोवातं ) विष्णु पुरुषोद्धार सेवित, शक्तिमान् ( रथानां तस्तारं ) रथोंको जीवगतिसे चलानेवाले, ( अरिष्ट-नेमिं ) सुदृढ़ हथियारवाले और ( पृतना-जिं ) समुपेक्षाको पराजय करनेवाले ( आशुं तार्ष्णीं ) शीघ्रकारी महाएपीको ( स्वस्तये आहुवेम ) कल्याणके लिये यहाँ हम बुलाते हैं ॥ १ ॥

इस सूक्तमें भी तावत् अर्थात् राजाके बहानेसे राजाके कर्तव्य बताये हैं—

१ वाजिनं— राजा बलवान्, जलवाला, धनवाल्मका संग्रह करनेवाला हो ।

२ देवजुतं— ईश्वर अर्थात् दिव्यजनोंके द्वारा सेवित अर्थात् जिसके मोहबेरा, डरावो और विषय होते हैं ।

३ सहोवातं— बलवान् राजा हो ।

४ रथानां तस्तारः— रथोंको जीवगतिसे चलानेवाला राजा हो । अर्थात् राजाके पास जीवगामी रथ हों ।

५ अ-रिष्ट-नेमिः— जिसके हथियार दृढ़ हुए न हों । मरूट धर्मोंवाला राजा हो । अपना ( अरिष्ट-नेमिं ) अरिष्ट अर्थात् संकटोंको हथानेवाला राजा हो ।

६ पृतनाजिः— समुपेक्षाको जीवनेवाला राजा हो ।

७ आशु— शीघ्रकारी राजा हो, हाथमें लिया हुआ कार्य शीघ्रतासे करनेवाला राजा हो ।

८ तार्ष्णीः— ' तार्ष्णी ' का अर्थ ' रथ ' है । रथ जिसके पास होते हैं उसकी तार्ष्णी कहते हैं । राजा बलवान् रथी हो ।

९ स्वस्तये— प्रसादनार्थक कल्याण करनेके लिये राजा प्रयत्न करे ।

ये पाठ भी हरदक मनुष्योंको साधारण आचरणका उपदेश दे रहे हैं ।



# राजाका कर्तव्य

कांड ७, सूक्त ८६

( अर्थ :- अथर्वा [ स्वस्वयमरुणम्. ] । देवता - इन्द्रः । )

आतारमिन्द्रं पवितारमिन्द्रं हवंहवे सुहवं धूरमिन्द्रम् ।

हुवे नु शकं पुरुहवमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मध्वान्कृणोत

॥ १ ॥

अर्थ— मं ( आतारं इन्द्रं ) राजा इन्द्रको ( पवितारं इन्द्रं ) संरक्षक इन्द्रको, ( हवेहवे सुहवं धूरं इन्द्रं ) प्रसन्न कार्यमें इन्द्राने योग्य, उत्तम प्रकारसे बुलाने योग्य, धूर प्रभुको और ( पुरुहवं शकं इन्द्रं हुवे ) यहाँ द्वारा प्रापित शक्तिमान् प्रभुको बुलाता हूँ । यह ( मध्वान् इन्द्रः न स्वस्तिः कृणोत ) ऐश्वर्यवान् प्रभु हमारा कल्याण करे ॥ १ ॥

मंत्र परमेश्वरका वर्णन करता हुआ भी राजाके कर्तव्योंका उपदेश करता है—



- १ आता, अचिता- राजा प्रजाकी उत्तम रक्षा करे ।
  - २ शूरः राजा शूर हो, डरनेवाला न होवे ।
  - ३ शक्रः- राजा शक्तिमान् हो, अशक्त न हो ।
  - ४ मघवान्- राजा अपने पास धनसंग्रह करे, राजा कभी धनहीन न बने ।
  - ५ स्वस्तिः कृणोतु- राजा प्रजाका कल्याण करे ।
- इस प्रकार राजप्रकरणमें इस मन्त्रसे कोष प्राप्त होता है ।



## राजास्की स्थिरता

कांड ६, सूक्त ८८

( ऋषिः - ऋषी । देवता - भुवः । )

ध्रुवा घौर्ध्रुवा घृषिषी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् । ध्रुवासुः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विद्यामयम् ॥ १ ॥  
 ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः । ध्रुवं स इन्द्राद्यादिवर्षं राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥ २ ॥  
 ध्रुवोऽव्युत्तः प्र भृगीहि क्षत्रं न्यस्यतोऽर्षरान्पादयस्य ।  
 सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समंतिः कल्पतामिह ॥ ३ ॥

अर्थ— जित प्रकार ( घौः ध्रुवा ) एकल स्थिर है, ( घृषिषी ध्रुवा ) वृष्णी स्थिर है, ( इदं विश्वं जगत् ध्रुवं ) यह सब जगत् स्थिर है, तथा ( इमे पर्वताः ध्रुवासः ) ये पर्वत स्थिर हैं, उद्योगकार ( अयं दिशो राजा भुवः ) यह प्रजापति राजा करनेवाला राजा स्थिर हो ॥ १ ॥

( राजा वरुणः ते ध्रुवं ) राजा वरुण ( देवः बृहस्पतिः ध्रुवं ) बृहस्पति देव ( इन्द्रः स भक्तिः स ते ध्रुवं ) इन्द्र और भक्ति तेरे लिये ( राष्ट्रं धारयतां ) राष्ट्रको स्थिर करावे ॥ २ ॥

( अव्युत्तः ध्रुवः शत्रून् प्रभृगीहि ) अपने स्थानसे व्युत्त न होता हुआ और स्थिर होकर शत्रुओंका नाश कर । ( शत्रूयतोऽर्षरान् पादयस्य ) शत्रुवत् आचरण करनेवालोंको नोबे गिरा । ( सर्वाः दिशः ) सब दिशाओंमें निवृत्त करनेवाली प्रजाएँ ( सध्रीचीः संमनसः ) एक कार्यमें रत और एक विचारसे युक्त हों, उन लोगोंकी ( समंतिः इह ते ध्रुवाय कवतां ) तथा यहाँ तेरी स्थिरताके लिये समर्थ होंवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— एकल, वृष्णी, पर्वत और यह सब जगत् जित प्रकार स्थिर है उस प्रकार राजा स्थिर होवे ॥ १ ॥

राजा वरुण, इन्द्र, अग्नि और देव बृहस्पति ये इस राजाने लिये स्थिर राष्ट्र धारण करें ॥ २ ॥

राजा स्थिर और लुप्त होकर शत्रुका नाश करे, शत्रुके समान आचरण करनेवालोंको नोबे गिरावे । सब प्रजाएँ एक विचारसे युक्त होकर अपनी राष्ट्रसमाहारा उत्तम राजाकी राज्यदीप्तिपर स्थिर रहें ॥ ३ ॥

## स्थिरताके लिये ।

राजा जिन गुणोंकी धारण करनेसे अपनी राजगद्दीपर स्थिर रह सकता है इसका विचार इस सूक्तमें किया है । यह सूक्त कहता है कि " घौ, घृषिषी, पर्वत, जगत् " ये किस चीजसे स्थिर हुए हैं इसका विचार राजा करे और उनके गुणोंकी धारण करके स्थिर होवे—

१ घोष:- आकाश तथा सूर्य । इनमें तेज है, सूर्य तो स्वयंप्रकाश ही है । इस प्रकार उत्तम तेजस्वी राजा स्थिर हो सकता है ।

२ वृद्धी- वृष्णी सबका उत्तम प्रकार धारण और मोक्ष करती है । जो राजा सब प्रजाजनोंका इस प्रकार धारणपोषण करता है वह स्थिर हो सकता है ।

३ पर्यंत- अपने स्वानुमते स्थिर रहते हैं कभी पीछे नहीं हटते । इस प्रकार युद्धमें भी अपने स्वानुमते स्थिर रहता है, भागता नहीं, वह राजा राष्ट्रमें स्थिर रह सकता है ।

४ जगत्- धनता है, परंतु अपनी मर्यादामें प्रमत्ता है । इस प्रकार जो अपनी मर्यादामें प्रगति करता है, यही स्थिर हो सकता है ।

इस प्रकारके गुण धारण करनेवाला राजा राष्ट्रहीन स्थिर रहता है । इन गुणों में भी और अधिक एक गुण है-

५ विद्या राजा ध्रुव:- प्रजाओंका रक्षण करनेवाला राजा स्थिर रहता है ।

यह गुण सब गुणोंसे श्रेष्ठ और इसके रहनेवाले अन्य गुण कार्य करनेमें सफल होते हैं । ' राजा ' शब्दका ही अर्थ ( प्रजासंरक्षक ) प्रजाओंका रक्षण करनेवाला है । इस प्रकारके प्रजासे प्रसन्नता प्राप्त करनेवाले राजाको ही इन्द्राग्नि देव राजाहीन स्थिर रखनेको कहा जाता है । इन देवताओंसे बोधित होनेवाले राष्ट्रके लोग राजाकी सहायता करें, इन देवतायाचक शस्त्रोंसे बोधित होनेवाले वे लोग हों-

१ गृहस्थपति, धर्मि:- सन्तो, विद्वान् आदि ब्राह्मण, ।

२ इन्द्र:- शूर, धीर, सैनिक आदि क्षत्रिय वक्ता ।

३ घृण्य:- परिच्छ लोग ।

ये सब लोग उत्तम राजाकी सहायता करें और उसकी स्थिरताके लिये प्रयत्न करें । इनकी सहाय्यता प्राप्त करके राजा संपूर्ण शत्रुओंको दूर करे, सब प्रजाजनोंमें एकता स्थापित करे और राष्ट्रीय महासभाकी सहाय्यतासे अपनी स्थिरता करे । राष्ट्रमहासभा भी योग्य राजाको ही अपनी सहानुभूति प्रदान करे और अयोग्य राजाको कभी सहायता न दे ।

## राष्ट्रके ऐश्वर्यकी वृद्धि

कांड ६, सूक्त ५४

( ऋषि. - बृहदा । देवता - अग्निवीर्य । )

हुं तं सद्युज उत्तरमिन्द्रं शुभ्रमाग्नये । अस्व अर्धं त्रिषं महीं वृष्टिरिषं वर्षया तृषम् ॥ १ ॥

अस्मै सत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं रश्मिम् । इमं राष्ट्रस्वामीवृगे कृणुतं युज उत्तरम् ॥ २ ॥

वर्ध- ( हुं तं सद्युज उत्तरं युजे ) मैं इससे साथ उस श्रेष्ठसे संप्लुत करता हूँ । ( अग्नये इन्द्रं शुभ्रमग्निम् ) कल-भोगके लिये प्रभुकी प्राप्ति करना हूँ । हे देव । ( वृष्टिः वर्षा इत्य ) जैसे वृष्टि पालके प्रदाती है, उसी प्रकार ( अस्व क्षयं महीं त्रिषं वर्षय ) मैं राजाके राष्ट्रको तथा मही की संवितको दत्ता ॥ १ ॥

हे अग्निवीर्य । ( अस्मै सत्रं धारयतं ) इसके लिये राष्ट्रको धारण कराओ, ( अस्मै रश्मि ) इनको धन धारण कराओ । ( इमं राष्ट्रस्य अग्नीवृगे कृणुतं ) इसकी राष्ट्रकी मुख्य मंडलीमें स्थिर करो । ( उत्तरं युजे ) मैं भी इसकी अधिक उच्च अवस्थामें नियुक्त करता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ- मैं श्रेष्ठके साथ संबंध करता हूँ, अपनी उन्नति के लिये अस्मै सत्रमग्नीषोमावस्मै दत्ता हूँ । हे देव । हमारे राजाका राज्य बढ़े और धन भी वृद्ध होवे कि जैसे वृष्टिसे धान ॥ १ ॥

हमारे राजाका राज्य स्थिर होवे, धन भी स्थिर रहे । राष्ट्रके दित करनेवाले अग्नीवृगे यह प्रभु होवे और श्रेष्ठतासे साथ दत्ता रहे ॥ २ ॥

सर्वं ध्यासवन्धुषु यो अस्मां अभिदासति । सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्धते ॥ ३ ॥

अर्थ— ( सवन्धुः च असवन्धुः च ) भाइयोंसमेत या भाइयों रहित ( या अस्मान् अभिदासति ) जो शत्रु हमको विनष्ट करना चाहता है, ( मे सुन्धते यजमानाय ) मृत यावक धनधान्यके लिये ( तं सर्वं रन्धयासि ) उस शत्रुको नष्ट कर ॥ ३ ॥

भाषार्थ— हे भनि ! कोई शत्रु जो अकेला या अपने भाइयोंसमेत हमारा नाश करना चाहे, तु उसीका नाश कर ॥ ३ ॥

यह सूक्त स्पष्ट है ! राष्ट्रीय उन्नतिकी प्रार्थना है । अपना खेळोति सर्वं यजमान और ( यजमान ) यज्ञमय जीवन बनाना यह मनव्यका कर्तव्य यही बताया है । इसके अनंतर परमेश्वरकी प्रार्थना की जाय, तो वह निन्दित सफल होगी । अपना राज्य बड़े, धन बड़े, स्वराज्य प्राप्त हो, शत्रु दूर हो चाहे और सब प्रकारकी उन्नति भी होवे । यह इस प्रार्थनाका आशय है ।



## राजाका राज्यारम्भिक

कांड ४, सूक्त ८

( भाषा - समर्वाङ्गिराः । देवता - वज्रवा, आपः, राज्यारम्भिकः । )

भूतो भूतेषु पृथु आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।  
तस्य मृत्युर्धरति राज्ञर्धृष्यं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् \* ॥ १ ॥  
अग्निं प्रेहि मापं येन उपस्थेता संपन्नहा । आ तिष्ठ मित्रवर्धनं तुभ्यं देवा अग्निं वुचन ॥ २ ॥

अर्थ— जो ( भूता ) स्वयं प्रजापतिजी बनकर ( भूतेषु पृथुः आदधाति ) सब प्रजापतियोंकी दुप्याधि उपभोगके पदार्थ रक्षा है ( सः भूतानां अधिपतिः बभूव ) वह ही सब प्रजापतियों अधिपति हो सकता है । ( तस्य राज्ञ-स्य मृत्युः धरति ) उसके राज्यशासनके उत्पन्न होनेकेपर स्वयं मृत्यु ही बन्ध लेकर उसकी सहायताके राज्यमें भ्रमण करती है । ( सः राजा इव राज्यं अनुमन्यताम् ) वह राजा इतने राज्यकी अनुमतिसे बने ॥ १ ॥

हे ( मित्रवर्धन ) मित्रोंकी वरामेवासे राजन् ! तु ( उग्रः खेता संपन्न-हा अग्निं प्रेहि ) प्रतापी, वेतना देनेवाला, शत्रुओंका विनाशक होकर आगे बढ़ । ( ॥ अप येनः ) पीछे चल हट, ( आ तिष्ठ ) अपने स्थानपर बहर जा । ( तुभ्यं देवाः अग्निं वुचन् ) तुम जिज्ञान् जीव योग्य संज्ञा के रहे ॥ २ ॥

भाषार्थ— जो विशेष प्रभावशाली होता है और सब जनताकी विशेष सुख देनेके कार्य करता है, वही लोगोंका अधिपति हो सकता है । जो मृत्यु सब प्राणियोंका जन्म करनेवाला है, वह उस राजाकी शासन बन्धधारिणी होकर उसकी सहायता करती है । इस प्रकारका जो प्रतापी दुष्ट हो वही प्रजाजी अनुमतिसे राज्यशासन चलाने ॥ १ ॥

राजा अपने मित्र यदाये । वह राज्य प्रतापी प्रजामें वेतना करनेवाला और शत्रुओंका नाशक होकर आगे ॥ अपने स्थानमें स्थिर रहे और कभी पीछे न हटे । ऐसे राजाको जिज्ञान् लोग सत्य समयपर योग्य संज्ञा ॥ रहे ॥ २ ॥

आतिष्ठन्तं त्वि विधे अमृतं क्षियं वसन्तशरत्वि स्वरोचिः ।

महत्तद्वृणोः असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्यौ

॥ ३ ॥

व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो मुदीः ।

विश्वस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तस्तपो दिव्याः पर्यस्वतीः ।

॥ ४ ॥

या आपो दिव्याः पर्यसा मदन्त्यन्तरिक्ष उत वा पृथिव्याम् ।

तासां स्वा सर्वासाम्पामभि पिञ्चामि वर्चसा

॥ ५ ॥

अभि स्वा वर्चसासिचक्ष्वाणो दिव्याः पर्यस्वतीः ।

यथासौ मिमृवर्धनस्तथा स्वा सविता फलत्

॥ ६ ॥

अर्थ— ( आतिष्ठन्तं विधे परिमृपन् ) राजगृहपर बैठनेवाले राजाको तब लोच मर्तकृत करें । यह राजा ( धियं वसन्तः रश्मि-रोचि धरति ) लक्ष्मीको पारण करता हुआ अपने तेजसे युक्त होकर राज्यमें बिबरता है । इस ( पृथ्वाः अस्तु-रूप्य तन् महत् नाम ) वसन्तत् और प्रजाको प्राप्त रखकर राजाका यही ध्येय वस्तु है, यह ( विध्यरूपः अमृतानि वा तस्यो ) सब लक्ष्मी, मुक्त होकर विविध सुखोंको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

( वैयाघ्रे अधि व्याघ्र स्वभाववाले वन्योपर बाघ बनकर हुक्म कर, ( मही दिशः विक्रमस्य ) और विशाल दिशामें पराक्रम कर । ( पर्यस्वतीः आपः ) दुष्प्रापि प्राप्त करनेवाली ( सद्योः पिदाः ) । प्रसाद ( स्वा वाञ्छन्तु ) तुझे पाहूँ ॥ ४ ॥

( आतिष्ठस्ते उत वा पृथिव्यां ) अन्तरिक्ष और इस पृथ्वीपर ( या दिव्याः आपः ) जो हिम्य जल अपने ( पपसा मदसि ) सत्य रहते लोगोंकी तुल्य करते हैं ( तासां सर्वासां अपां वर्चसा ) उन सब जलके तेजसे ( स्वा अभिपिञ्चामि , तैरा अभिवेक करता हूँ ॥ ५ ॥

( दिव्याः पर्यस्वतीः आपः ) हिम्य रत्नपूजन करने ( वर्चसा स्वा अभि अभिचन् ) अपने तेजसे तुझे अभिविस्त किया है ( यथा मिमृवर्धनः अस्तु ) जिससे तू मित्रोंकी वृद्धि करनेवाला हो और ( सविता स्वा तथा करत् ) सबका प्रेरक देव भी तुझे उसके योग्य बनावे ॥ ६ ॥

भावार्थ— राजगृहपर बिराममान होनेवाले राजाको प्रजाजन मजकृत करते हैं । यह राजा ऐश्वर्यको प्राप्त रहता हुआ तेजमयी बनकर राज्यमें बिबरता है । प्रजाजनोंके प्राणोंकी रक्षा करनेवाले वसन्तत् राजाका यही ध्येय वस्तु है । यह राजा विविध अधिकारियोंके रूप पारण करके विविध सुखोंकी वञ्छता हुआ अपने स्थानपर रहता है ॥ ३ ॥

राजा दुष्टोंके दमनके लिये योग्य शस्त्र उपभोगी होता करने सब दिशामें पराक्रम करके विजयी होते । ॥ ४ ॥ जल आदि उपभोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले प्रजाजन ऐसे राजाको चाहें ॥ ५ ॥

पृथ्वी और अन्तरिक्षमें जो हिम्य जल है । उन सबके तेजसे यह राज्याधिकार राजाके ऊपर बिना जाता है ॥ ५ ॥

इस हिम्य जलसे अभिविधन हुआ राजा अपने मित्रोंकी संस्था बनावे । और परमेश्वर उस राजाको धेती ही प्रेरणा दे ॥ ६ ॥

एना व्याघ्रं परिपस्वजानाः सिंहं हिन्वन्ति मध्ये सौगन्धाय ।

समुद्रं न सुभ्रुवस्तस्थिवांसं मर्मज्यन्ते द्वीपिनमुत्स्वन्तिः

॥ ७ ॥

अर्थ— ( व्याघ्रं सिंहं परिपस्वजानाः एताः ) व्याघ्र और सिंहके समान पराक्रमी राजाको चारों ओरसे अभिघुसित करनेवाली ये जलधाराएँ ( मध्ये सौगन्धाय हिन्वन्ति ) बड़े सौगन्धके लिये प्रेरित करती हैं । ( सु-भ्रुवः समुद्रं न ) जैसे उत्तम भूमि भाग समुद्रको घेरित करते हैं, उसी प्रकार ( अप्सु यन्तः तस्थिवांसं द्वीपिनं ) जलोंके अन्दर रहनेवाले, द्वीपोंके अपिरति राजाको सब प्रभाव ( मर्मज्यन्ते ) क्षुभ्रित करती हैं ॥ ७ ॥

भाषार्थ— यह राजा नरव्याघ्र जयवा गरुडहू अर्थात् नरबधेय है। इस राज्याभिषेकके इसके भाग्यकी वृद्धि होती है। जिस प्रकार अपनी मर्मादाओं से होनेवाला सब चारों ओरसे भूमावेष्टि क्षुभ्रित होता है, उसी प्रकार चारों ओरसे घेरित राट्टका अपिरति राजा सब प्रभावोंसे क्षुभ्रित होता है ॥ ७ ॥

## राजाका राज्याभिषेक

### राज्याभिषेक ।

राजाके राज्याभिषेकके समयके धर्मविधियों कहनेका उक्त सूत्र है। इस सूत्रके मतानुसार राज्याभिषेक विधिको तात्पर्य हो सकता है। राजगद्दीपर राजाका अभिषेक करनेके लिये विविध अन्ताराधोंका जल लाया जाता है। समुद्र, पवित्र महानदियाँ, भाग्य पवित्र झील और आकाशसे प्राप्त होनेवाला दिव्य जल ये सब लाये जाते हैं। इस मंत्रपुत्र जलसे राज्याभिषेक किया जाता है। इसका तात्पर्य यज्ञ कीर्तन है। राजाका राज्य समुद्रतक फैला हुआ होता चाहिये। यह पहिला धर्म यहाँ मिलता है। की राज्य समुद्रतक नहीं फैले होते, उनका ध्यापार व्यवहार ठीक प्रकार नहीं चल सकता, इसलिये समुद्रके किनारेवक राज्यका विस्तार होना देशोन्नतिके लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसी विचारको स्फूर्ति देनेके लिये सप्तम मन्त्रके 'समुद्र, अप्सु-यन्तः, द्वीपि' ये शब्द हैं। पंचम मन्त्रमें कहा है कि 'तासां सर्वासां जयां धर्चया अभिपिञ्चामि।' अर्थात् जब सब जलोंके तेजों में तुम्हारा अभिषेक करता हूँ, ताकि तुम इस तेजसे युक्त हो।

### समुद्रतक राज्यविस्तार ।

द्वारे राजाके पाससे भिक्षा माँगकर लाया हुआ समुद्रज और महानदियोंका जल राज्याभिषेकके कामका नहीं है। अपने राज्यमें समुद्र होना चाहिये और महानदियोंकी जयने

राज्यमें होने चाहिये। और उससे जल प्राप्त करना चाहिये। इसका विचार करतेते सकारणी चीजें किस प्रकार राज्य-विस्तारके लिये कारणीभूत हो सकती हैं इसका पता लग सकता है।

### कौन राजा होता है ?

की ओर विशेष प्रभावशाली और पराक्रमी होता है और जो बलवान्को (पयः आद्भाति) दुग्न जादि उपभोगके पदार्थ विपुल होता है सत्पा बेकारी कम करता है, यही (अधिपति यभूय) राजा हो सकता है। राजाका सहायक यह मनुष्य ही होता है, मनुष्य देव सब जयतुरी दण्ड देनेवाला होता है, मानो इस मनुष्यका अंगही राजाके स्वयं आकर निवास करता है। इसीको सहायतासे राजा मन्त्र-विषोंकी दण्ड देता है। इस प्रकारका प्रभावशाली राजा प्रकाश ज्ञान करे। [ मंत्र १ ] राजा समुद्रतक और विश्वबंध तथा धूर बनकर अपना राज्य चलाये और बढ़ाये। [ मंत्र २ ] राज्यशासन करनेवाले अनेक ओहदेदार राजाके हो रूप हैं, इस प्रकारसे मानो राजा (रिभ्यरूपः) अनेक रूपवाला होकर राज्य करता है, और (रुचः रोचि) अपने तेजसे तेजस्वी बनकर राज्य चलाता है। यही राजाकी महिमा है। [ मंत्र ३ ] यह राजा भाग्य और सिंह जैसा पराक्रमी बनकर उग्रजोंका धन करे और सब प्रकारकी उन्नति करने कायदा शाली बने।

# राजा और राजाके बन्धनेवाले

कांड ३, सूक्त ५

( ऋषि - अश्विन । देवता - सोम । )

आयमगन्धर्गमुनिर्वली बलेन प्रमृणन्तुपत्तान् ।

ओजो देवानां पप ओषधीनां वर्चसा मा जिवित्वप्रयावन्

॥ १ ॥

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयतात्रयिम् । अहं राष्ट्रस्वामीवर्गे निबो भूयासमुत्तमः

॥ २ ॥

यं निदधुर्वन्स्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मुनिम् । तमुत्सर्ग्यं सहायुषा देवा ददतु मर्तवे

॥ ३ ॥

सोमस्य पर्णः सह उग्रमामग्निर्द्वेष दुष्टो ऋणेन शिष्टः ।

तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुस्वार्यं क्षतघ्नारदाय

॥ ४ ॥

आ महिष्ठ्यर्णमुनिर्महा अरिहतातिवे । यथाहसुं चरोऽस्तान्वर्षम् उत संविदः

॥ ५ ॥

अर्थ — ( अर्थ बली पर्णमणिः ) यह बलवान् पर्णमणि ( यत्नेन स्वयंभूतान् प्रमृणन् ) बली शत्रुओंका नाश करती हुई ( आ अगन् ) आई है । यह ( देवानां ओजः ) देवोंका बल और ( ओषधीनां वर्चः ) औषधियोंका रस है । यह ( आयमयायन् वर्चसा मा जिवितु ) विरोध न करती हुई तेजसे मुझे संयुक्त करे ॥ १ ॥

हे पर्णमणे ! ( मयि क्षत्रं ) मुझमें क्षात्रबल और ( मयि रयि धारयताम् ) मुझमें मित्र धारण करा । ( अहं राष्ट्रस्वामीवर्गे ) मैं राष्ट्रके जालमुख्योंमें ( उत्तमः निजः भूयासं ) उत्तम और बलका अपना बनकर रहूँ ॥ २ ॥

( यं गुह्यं प्रियं मणि देवाः धनस्पतौ निबधुः ) जिस गूढ़ और प्रिय मणिको देवोंने धनस्वतिसमें स्थापित किया था, ( तं देवाः असर्ग्यं आयुषा सह मर्तवे ददतु ) उस मणिको देव हर्षे आयुके साथ पौवपके लिये देंगे ॥ ३ ॥

( इन्द्रेण दत्तः ) इन्द्रके द्वारा दी हुई, ( सत्येन शिष्टः ) सत्य द्वारा उत्तम बनाई गई ( सोमस्य पर्णः ) सोम देवताकी यह पर्णमणि ( उग्रं सहः आ अगन् ) उग्र बलसे युक्त होकर मुझे प्राप्त हुई है । ( बहु रोचमानः ) बहुत तेजस्वी मैं ( दीर्घायुस्वार्यं क्षतघ्नारदाय ) दीर्घ आयुके लिये और तो वर्षके जीवनके लिये ( तं प्रियासं ) उस प्रिय मणिको धारण करूँ ॥ ४ ॥

( पर्णमणिः महौ अरिहतातिवे ) यह पर्णमणि बड़े ब्रह्माणकी बलानेके लिये ( मा आ अगन्तम् ) मुझपर आगूट हुई है । ( यथा अहं अर्थम् ) जिससे मैं थोड़ा बलवान् ( उत संविदः ) और जानीसेभी ( उत्तरः असति ) अधिक थोड़ा हो जाऊँ ॥ ५ ॥

भावार्थ — यह पर्णमणि बल अहंजैवाली, अपने बलसे शत्रुओंका नाश करनेवाली, देवोंकी शक्तिरूप और औषधियोंके रससे बननेवाली है, यह मुझे अपने तेजसे युक्त करे ॥ १ ॥

इससे मुझमें क्षात्रबल और तेजस्व बने और मैं राष्ट्रका हित साधन करनेवाला, जहाँ राष्ट्रका मित्र संबंधों बन कर रहूँ ॥ २ ॥

जिस मणिको देवोंने धनस्वतिसे बनाकर धारण किया था, उस मणिको मैं हर्षे आयु और पुष्टिरी वृद्धिके लिये देवे ॥ ३ ॥

यह धनस्वतिसे बनी हुई, सत्यके द्वारा सुवर्णकारुण्य की हुई और इन्द्रके द्वारा हर्षे पड़के प्राप्त हुई, धीरे और बलकी वृद्धि करनेवाला मणि है । उस मणिको मैं तो वर्षकी दीर्घ आयुके लिये श्रेष्ठपूर्वक धारण करता हूँ ॥ ४ ॥

यह मणि अपने शरीरपर धारण करनेसे मेरा सुख बढावे और इसे पहनकर मैं थोड़ा बलवान् और जानने पुढेपसे भी अधिक थोड़ा हो जाऊँ ॥ ५ ॥

ये धीवानो रथकाराः कर्माता ये मनीषिणः । उपस्तीर्णं मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥ ६ ॥  
 ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये । उपस्तीर्णं मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥ ७ ॥  
 पर्णोऽसि तनूपानः सर्षोनिर्वोतो वीरेण यथा । संवत्सरस्य तेजसा तेन बभ्रामि त्वा मणे ॥ ८ ॥

अर्थ— ( ये धीवानः रथकाराः ) जो बुद्धिमान् रथ बनानेवाले हैं तथा ( ये मनीषिणः कर्माताः ) जो बुद्धिमान् सृष्टार हैं, हे ( पर्ण ) परमेश ! ( त्वं सर्वान् जनान् अभितः मह्यं उपस्तीर्णं कृणु ) तू सब जनोको मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ६ ॥

( ये राजानः राजकृतः ) जो राजा और जो राजाओंको बनानेवाले हैं, ( ये सूताः ग्रामण्यः च ) और जो सूत और ग्रामके नेता हैं, हे परमेश ! तू सब जनोको मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ७ ॥

हे ( मणे ) परमेश ! तू ( पर्णः तनूपानः असि ) परमेश्वर और शरीररक्षक है, ( मया वीरेण समोभिः वीरः असि ) मुझ वीरके साथ समान उत्पत्तिवाला वीर है, इसलिये मैं ( त्वा संवत्सरस्य तेन तेजसा बभ्रामि ) तुझको संवत्सरके उस तेजके साथ बाँधता हूँ ॥ ८ ॥

भाषार्थ— जो बुद्धिमान् रथकार और कुशल सृष्टार हैं वे सब मेरे पास उपस्थित हों ॥ ६ ॥

जो सरदार और राजाका चुनाव करके राजाको बनानेवाले हैं और जो सूत और ग्रामके नेता हैं वे सब मेरे चारों ओर उपस्थित हों ॥ ७ ॥

यह मणि उसम शरीर रक्षक है और वीरता तथा उत्साहको बढ़ानेवाला है, इसको मैं एक वर्ष पर्यंत स्थिर रहनेवाले तेजके साथ बाँधता हूँ ॥ ८ ॥

## राजा और राजाके बनानेवाले

### पर्ण-मणि

इस सूक्तमें पर्णमणिके भाषणका उल्लेख है। यह पर्णमणि इसलिये कही जाती है कि यह औषधियोंके रससे बनायी होती है—

१ पर्णमणिः औषधीनां ययः । ( मं. १ )

२ पर्णः ( पर्णमणिः ) सोमस्य उग्रं सहः । ( मं. ४ )

३ देवाः ( पर्ण- ) मणिं धनस्पतौ निदधुः । ( मं. ३ )

४ ( १ ) पर्ण मणि औषधियोंका द्रव्य भी है । ( २ ) यह

पर्णमणि सोमवत्लोका उग्र बल है । ( ३ ) देवोंने पर्णमणिकी वनस्पतिमें रखा है । " ये इसके पर्णन स्पष्टतः यह बता रहे हैं कि यह मणि वनस्पतिमें निपटे बनायी जाती है ।

' पर्ण-मणि ' यह शब्द भी स्वयं अपना अर्थ व्यक्त कर रही है कि यह ( पर्ण ) पत्तोंका मणि है अर्थात् वनस्पतिके पत्तोंके रससे बनायी है । इसके धारणसे वनस्पति-रसके औषधिके कारण शरीरपर अङ्ग प्रभाव होता है—

१ अयं पर्णमणिः दली । ( मं. १ )

२ पर्णः तनूपानः । ( मं. ८ )

३ यत्नेन संपातान् प्रमृणन् । ( मं. १ )

४ देवानां ओसाः... मा वर्चसा शिष्यन्तु । ( मं. १ )

५ मयि क्षात्रं मयि रयि धारयताम् । ( मं. १ )

६ आयुषे मर्त्ये च तं असाध्यं वदन्तु । मं. १ )

७ पर्णः उग्रं सहः... दीर्घायुत्वाय शतवार्षाय । ( मं. ४ )

८ पर्णमणिः अरिहतास्ये मा नाश्वत् । ( मं. ५ )

" ( १ ) यह पर्णमणि बल बढ़ानेवाली है, ( २ ) यह

( तनू-पानः ) शरीरका रक्षक है, ( ३ ) यह अपने यमके

रोषको शत्रुओंका नाश करती है, ( ४ ) यह ( देवानां )

इन्द्रियोंका बल बढ़ानेवाली है, ( ५ ) मेरा तेज बढ़ाये, ( ५ )

यह मुझमें क्षात्रतेज और शरीरकी कानि बढ़ाये, ( ६ ) शीघ्र

जायुष्य और शरीरको दृढि इससे बड़े, ( ७ ) यह मणि बड़ी

बल बढ़ानेवाली है, इससे वीर वर्षर्षी दीर्घायु मुझे प्राप्त हो,

( ८ ) यह मणि शरीरपर धारण किया जानेवा सेवी प्रशिक्षण करने । "

इस प्रकारके वर्णन करता रहे हैं कि इस ' धर्ममणिय ' के अंदर बड़ा प्रभाव है और इसके शरीरपर धारण करनेसे शरीरमें निगम उत्पन्न रहता है, मन्त्रों का कार्य करनेसे योग्य शरीरकी प्राप्ति होती है, शरीरका तेज बढ़ता है और मनुष्य बड़ा तेजस्वी होनेके कारण अनायासही विजय वैद्य है । यह वरप्राप्ति के रत्नोंका प्रभाव है । वेदा लोग इस मणिकी खोज करें ।

### राष्ट्रका मित्र बनना

" राष्ट्रका भवना " बन कर रहनेका उपदेश इस सूक्तमें विशेष मन्त्र करने योग्य है । ओं ओं राष्ट्रमें रहें के उसके अपने बन कर रहेंगे तो ही राष्ट्रका भला हो सकता है ; इस विषयमें द्वितीय मंत्र मन्त्र करने योग्य है -

महं राष्ट्रस्य समीपमें निजो भूयांसमुत्तमः ॥

( मं. २ )

" मैं इस राष्ट्रके हितचिन्तक वर्गमें उत्तम निज बन कर रहूँ । " यहाँ राजा, राजपुरुष, अधिकारी वर्ग आदि सब राष्ट्रके अपने बनकर रहें यह उपदेश स्पष्ट है । राष्ट्रमें रहता हुआ कोई मनुष्य राष्ट्रके लिये यत्न करना बनकर न रहे । यहाँ निज बनकर रहनेका भव्य वचन है और पराया बनकर रहनेका भाव क्या है यह अत्यन्त वैजना चाहिये । अपने यहाँ का ही उत्साह ले लीजिये । इस भारतवर्षमें जाफानी, चीनी, अमेरिकन और योरोपीय आते हैं और रहते भी हैं, परंतु इनमेंसे कोई भी ' भारतवर्षका निज ' बनकर नहीं रहता । जो ये आते हैं वे ' पराये ' बनकर आते हैं और पराये बनकर ही यहाँ रहते हैं, पराये बनकर यहाँका व्योमहार करते हैं और परदात्त करते आते हैं । इस कारण इनके परायेके भावसे भारतवर्षका अहित हो जाता है । इस लिये परायेके भावसे रहना राष्ट्रके लिये घातक है । जो ' निजमाय ' से रहेंगे, राष्ट्रके हित और अहितको अपना हित और अहित समझेंगे तो उनके राष्ट्रका अहित कभी नहीं होगा । यह तो साधारण मनुष्योंकी बात हुई, परंतु जो राष्ट्रके कर्मकारी हैं, यदि वे परायेभावसे राष्ट्रमें रहने लग जायें, तो राष्ट्रका मुकाम कितना होगा इसका हिसाब लगाना कठिन है ।

इस बुद्धिसे वैजनेवर शात होगा कि ' राष्ट्रका निज ' बनकर रहनेका भाव कितना उच्च है और राष्ट्रहितकी दृष्टिसे कितना आवश्यक है । ' निजमाय ' से रहनेके कारण विदेशी लोग भी स्वदेशीके समान राष्ट्रहित करनेवाले बनेंगे और ' निजमाय ' न रखनेवाले स्वदेशी लोग भी परदेशी लोगोंके समान राष्ट्रहितका ध्यात करनेवाले बनेंगे ।

### राजाका निर्माण करनेवाले

इस सूक्तके सत्यमर्थमें ' राज-कृतः ' शब्द है इसका अर्थ है ' राजाका निर्माण करनेवाले ( King makers ) ' राजाका किस रीतिसे निर्माण करते हैं यह प्रश्न यहाँ उत्पन्न हो सकता है । इसका उत्तर इसके पूर्वके अध्याय सूक्तमें हो दिया है, राजाका चुनाव प्रजा द्वारा होता है और तब यह राजपट्टपर आता है, इसीसे प्रजाद्वारा राजाका निर्वाचन, राजाका नियोजन अथवा राजाका चुनाव कहते हैं । जिसका चुनाव प्रजा करती है, उसका नामो ' निर्माण ' ही प्रजा करती है । इस प्रकार राजाके पितृ या मातृप्राप्तमें प्रजा होती है, इसीलिये राजसभाके सदस्य राजाके ' पितर ' हैं ऐसा वेदमें ही अस्पष्ट कहा है प्रजाके भी महाजन भोग अथवा शिष्ट लोग होते हैं वे राजाका चुनाव करते हैं और उत्तर निर्वाचन करते हैं, इसीलिये प्रजाकी रक्षा करना राजाका परम धर्म कर्तव्य है । मत्स्यशास्त्रे समान ही प्रजा-रक्षका यह राजधर्म है ।

अंश ६ और ७ में कहा है कि रथकार, बर्षा, सुहाव, शानी पुरुष, मोक्ष, भूल, प्रामाण्य, सख्यार तथा राजाका चुनाव करनेवाले ये सब लोग राजाके पास रहें, राजाके अनुयायी बनें, राजाके साथ रहकर राजाकी धीम्य लगाहें । इस प्रकार राजका शासन प्रजाके द्वारा नियुक्त किंसे राजपुरुषोंद्वारा प्रजाके हितके लिये प्रजाकी अनुमतिसे चलाना जाये । इसीसे राष्ट्रका सत्त्व हित हो सकता है ।

यद्यपि यह सूक्त वस्तुतः वर्धमानिका वर्धन करता है, तथापि प्रत्यक्ष राष्ट्रका निज बनकर रहना, राजाका चुनाव प्रजाद्वारा करना इत्यादि महत्त्वपूर्ण बातोंका उपदेश होनेके कारण वैदिक राजनीतिशास्त्रकी दृष्टिसे यह सूक्त अने महत्त्वका है ।





## राज्याका चुनाव

कांड ६, सूक्त १२८

[ श्रुति - धर्मशास्त्रिणः । देवता - सोमः, शक्यधूमः । ]

शक्यधूमं नक्षत्राणि यद्राजानमकुर्वन् । भद्राहर्मस्मै आप्यच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति ॥ १ ॥  
 भद्राहं नो मर्यादिते भद्राहं सायमेस्तु नः । भद्राहं नो अहो प्रातः रात्री भद्राहमेस्तु नः ॥ २ ॥  
 अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् । भद्राहमस्मभ्यं राजन्शक्यधूमं त्वं कृषि ॥ ३ ॥  
 यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमयो दिवा । तस्मै ते नक्षत्रराजं शक्यधूमं सदा नमः ॥ ४ ॥

अर्थ— (यत् नक्षत्राणि शक्यधूमं राजानं अकुर्वन्) जिस प्रकार नक्षत्रोंने शक्यधूमको राजा बनाया और (अस्मै भद्राहं आप्यच्छन्निदं) इसके लिये शुभ स्थिति प्रदान किया, इसलिये कि (इदं राष्ट्रं असात्) यह राष्ट्र बने ॥ १ ॥

(नः मर्यादिते भद्राहं) हमारे लिये मर्यादितता समय शुभ हो, (नः सायं भद्राहं अस्तु) हमारे लिये सायंकालका समय शुभ हो, (नः अहो प्रातः भद्राहं) हमारे लिये दिवसा प्रातःकाल शुभ हो और (नः रात्री भद्राहं अस्तु) हमारे लिये रात्रीका समय भी शुभ हो ॥ २ ॥

हे (शक्यधूम) शक्यधूम ! (तं अहोरात्राभ्यां) तू अहोरात्रके द्वारा, (नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्यां) नक्षत्रों और सूर्य तथा चन्द्रमा द्वारा (अस्मभ्यं भद्राहं कृषि) हमारे लिये स्थिति शुभ कर ॥ ३ ॥

हे (नक्षत्रराज शक्यधूम) नक्षत्रोंके राजा शक्यधूम ! (यः नः सायं नक्तं अधो दिय) जो हमारे लिये सायंकाल, रात्रीको और दिवसे (भद्राहं अकरः) समय शुभ बनाया है, (तस्मै ते सदा नमः) उस तारे लिये सदा वन्दन है ॥ ४ ॥

भाषार्थ— सब नक्षत्रोंने मिलकर अपना एक संयुक्त राष्ट्र बनानेके लिये एक राजा बनाया ॥ १ ॥

इसके बननेके प्रातःकाल, मध्यदिनमें और सायंकाल तथा रात्रीके समयमें सबको सुख होने लगा ॥ २ ॥

राजा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और अहोरात्र इनसे मनुष्योंका कल्याण करता है ॥ ३ ॥

जिस कारण राजा सब प्रजाजनोंका हित करनेमें विवरात तत्पर रहता है, इस कारण उसका सदा सम्मान होना चाहिये ॥ ४ ॥

## प्रजा अपना राजा चुने

प्रजा अपनी उन्नति करनेके लिये सुखीय राजाको चुने और उसको राजगद्दीपर बिठलाये, उसको सम्मान देवे और उसके शासनमें सुखका उपयोग लेवे । इस उद्देश्यके इस सुखमें उत्तम अवसरके द्वारा बनाया है । अर्न्ततः इस प्रकार है ।

"आकाशमें अनेक नक्षत्र हैं, उनका परस्पर कोई संबंध नहीं था । यह दुरवस्था जहाँमें देशी और अपना एक बड़ा राष्ट्र बनानेके लिये उन सबने मिलकर अपना एक राजा चुना, उसका नाम अक्षरथा है । इस राजाके राजगद्दीपर आनेके पश्चात् सबको उत्तम सुख लाभ हुआ और उनकी सब भावति हट गयी ।"

यह ही इसका भावार्थ है, परंतु इसका परास्मिक अर्थ इतिहासकारोंसे जाना जाता है और यह अर्थ इस भूतका गूढ़ अर्थ है । इसमें जो 'न-क्षत्र' शब्द है वह शब्द आश्रयसे रहित सामान्य प्रजा अर्थात् जो प्रजा अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकती ऐसी प्रजा । जानी, व्यापारी और कारीगर आदि प्रजा, इसमें सब वर्ग सम्मिलित नहीं ।

इदं राष्ट्रं असात् कृति । ( गं. १ )

अपना एक बड़ा राष्ट्र निर्माण करनेके लिये—

नक्षत्राणि राजानं अकुर्वन् ॥ ( गं. १ )

“ क्षत्रियोस्ते भिन्न प्रजासोऽस्यथा क्षात्रवृत्तौ रहित प्रजासोऽनेन अपना एक राजा बनाया । ” पुर्वापर संबंधों से वह राजा क्षत्रियोसोंसे चुना गया होगा । यह आशय ‘ शक्यधूम ’ शब्दोंसे भी व्यक्त हो सकता है । स्वयं ( शक्य ) तमयं होकर जो शत्रुओंको ( धू ) क्षापीयमान करता है उसका नाम शक्यधूम है । सब प्रजासोंमें देखो कि ॥॥ तेजस्थी पुरुषको राजा बनानेसे इसके सामर्थ्यके कारण हमारे सब धनु परास्त होंगे और शत्रुओंके परास्त होनेसे हमें कुछ लाभ होगा और हमारा राज्य बड़ा तेजस्वी होगा ।

इस प्रकार राजाका चुनाव करनेसे उनके ‘ मद्राह् ’ ( मद्रा-मह ) कल्याणका समस्त प्राप्त हुआ और वे सब भानंदसे रहने लगे । कोई धनु उनकी कष्ट देनेके लिये उनके पास नहीं आया और सब प्रजा बड़े भानंदके साथ रहने लगी ।

राजाका यह प्रताप देखकर सब उस राजाका उत्तमन करने लगे । इस प्रकार जो मनुष्य अपने राज्यके लिये सुयोग्य राजाको चुनने और उसका आदर करने लघेने, वे सब सुखी होंगे । इसका विचार करके प्रजा अपने लिये उत्तम राजाको चुने और सुखी होंगे ।

## राजाकी स्मरान्जलि पर पुनः स्थापना

### कांड ३, सूक्त ३

( अग्नि - मधवा । देवता - अग्नि, वायुदेवता : )

अचिक्रदस्त्वा ॥॥ सुवदमे व्यपिस्व रोदंसी उरूची ।

युञ्जन्तु स्वा मुक्तो विश्वेदस आमुं नपु नमसा रावईभ्यम् ॥ १ ॥

दूरे चित्सन्तमरुपास इन्द्रमा व्याधयन्तु सस्याय विप्रम् ।

यद्वायुर्वा सुहृत्किमर्कमस्मै सौत्रामण्या दृष्ट्वन्त देवाः ॥ २ ॥

अर्थ— ( इह स्व-पाः भुवत् ) दहा अपना राज करनेवाला मनुष्य सुरक्षित होके देता ( अचिक्रदत् ) पुष्पार-कार कहा गया है । है ( अग्ने ) अग्ने ! ( उरूची रोदंसी व्यपिस्व ) विरत छात्राधिपतिमें अपना तेज देता । ( विश्व-वेदसः भक्तः स्वा युञ्जन्तु ) सब जाननेवाले भक्त तुम योग्य बनाने । ( राव-हव्यं अमुं ) हव्यमी पयाओंसे देनेवाले ॥॥ पुरुषको ( नमसा मानय ) नमस्कारपूर्वक यहाँ ला ॥ १ ॥

( दूरे चित् सन्तं विप्रं इन्द्रं ) दूर रहनेपर भी प्राप्त इन्द्रको ( अस्यायः सस्याय आख्याययन्तु / सौत्रामणीं ) सौत्रामणी के लिये यहाँ से आने । ( यत् देवाः ) क्योंकि सब देव ( सौ-आमण्या ) सौत्रामणीके द्वारा ( वायुर्वा सुहृत् ) अर्क असे दृष्टपत् ) वायुवी बुल्लोक्य सर्वत्र इसके लिये पारण करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— इस जगत्में मनुष्यको अपना संरक्षण स्वयं करना चाहिये, यह बात पुनरुक्त कर सब आप्तपुरुषोंने कहा है । मनुष्य अग्निवत् तेजस्थी घने और अपना प्रकाश जगत्में फैलावे । ऐसे राजाको सब जाननेवाले और शक्तिमान् करें और उसको नमस्कारपूर्वक अपनी राजमहलपर स्थापित करें ॥ १ ॥

राजा दूर भी क्यों न जाता गया हो, उसको अपने राज्यके हितके लिये तेजस्वी और पुत्र के भाने । उत्तम पक्षण करनेके योग्य संबंधसे उसका उत्तम सत्कार करें ॥ २ ॥

अथ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्यतु सोमस्त्वा ह्यतु पर्वतेभ्यः ।

इन्द्रस्त्वा ह्यतु विद्वभ्यः आभ्यः श्येनो मूत्वा विश आ पर्वताः ।

॥ ३ ॥

श्येनो ह्ययं नपत्वा परस्मादन्येष्वेव अर्पकं चान्तम् ।

अश्विना पन्थां कृशुतां सुगं तं इमं सजाता अमिसंविश्वम्

॥ ४ ॥

ह्यन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत । इन्द्रापी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥ ५ ॥

पश्वे इव विवदस्तज्जातो यश्च निष्टयः । अपाञ्चमिन्द्रं तं कृत्वाद्येममिहायं नमय ॥ ६ ॥

अर्थ— ( घृण्यः राजा ) राजा वरुण ( अथ्यः स्वा ह्यतु ) उसके लिये तुम बुलावे, ( सोमः स्वा पर्वतेभ्यः ह्यतु ) सोम तुम पर्वतोंके लिये बुलावे, ( इन्द्रः स्वा आभ्यः विद्वभ्यः ह्यतु ) इन्द्र तुम इन ब्रह्मर्षीके लिये बुलावे । ( श्येनः मूत्वा इमां पन्थां आपत ) तु श्येन पक्षीके समान देव परगन करके इन ब्रह्मर्षीमें जा ॥ ३ ॥

( आभ्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं ह्ययं ) अन्य देशमें छिपकर घूमनेवाले पुनर्जीव राजाको ( श्येनः परस्तात् आनयतु ) श्येनवात् शीघ्र जानेवाले मनुष्य दूसरे देशमें ले जायें । ( अश्विनौ ते पन्थां सुगं कृशुतां ) शीघ्र अश्विनौ तेरा मार्ग सुलभ ज्ञान योग्य बनायें । ( सजाताः इमं अमि सं विश्वम् ) सजातीय लोग इसको प्रसिद्ध करायें ॥ ४ ॥

( प्रतिजनाः स्वा ह्यतु ) प्रायक प्रकारके लोग तुम बुलावे । ( मित्रा अग्नि अवृषत ) मित्र तेरा वन बढ़ायें । ( इन्द्रापी विश्वे देवाः ) इन्द्रापी और सब ॥ ( विशि ते क्षेमं अदीधरन् ) ब्रह्मर्षीमेंतेरे लिये क्षेम बारन करें ॥ ५ ॥

हे ( इन्द्र ) नरेश ! ( यः सजाताः ) जो सजातीय है ( स यः निष्टयः ) और जो दिजातीय है, ( ते ह्ययं विवद्वत् ) तौ मारपीयताका विशेष वर्णन करें । ( तं अपाञ्चं कृत्वा ) उसको बहिष्कृत करके ( अय इमं इह अय नमय ) परचात् इसको यहां ला ॥ ६ ॥

भाषार्थ— जब स्वानकी रक्षाके लिये जगद्भिषति, पर्वतोंकी रक्षाके लिये पर्वतोंका अधिकारी, जनोंकी रक्षाके लिये मनुष्योंका अधिकारी किंवा मुत्सिया सप्ताहकी बुलावें, सब सप्ताह अपने ब्रह्मर्षीमें हीष्टतासे जाकर बिराने ॥ ३ ॥

सब भ्रममें भ्रम देशमें छिप छिपकर फिरनेवाले राजाको भी पुनः अपनी राज्यक्षेत्र पर काकर बिठलाना चाहिए, ज्ञानी उसका मार्ग सुगम करें और सजातीय लोग उसकी अपने राज्यमें प्रसिद्ध करायें ॥ ४ ॥

मित्रजग वस राजाकी सहायता करें, सब देव ब्रह्मके समित उस राजाका करग्राम करें ॥ ५ ॥

अग्नि सत्ताकीय भयका विनाशकीय और मनुष्य इस योग्य राजाका विशेष करकेवाला है, तो उसकी राज्यसे बहूत करके बडे मारर सत्ताकीय राजाका श्रेय अपने राज्यमें कराना चाहिये ॥ ६ ॥

यहां तुल्यी मूलका अर्थ और भाषाये हुआ । इसीके साथ चतुर्थ मूलका आर्थत प्रसिद्ध संबंध है, इसलिये उसका अर्थ और भाषार्थ पहले देखकर परचात् दोनों मूलोंका मिलकर विचार करेंगे ।



# राजाका चुनाव

कांड ३, सूक्त ४

( श्रुतिः - मन्त्रः । वेदः - इन्द्रः । )

आ त्वां गन्तां सह वृक्षैर्दिदि प्राह विष्ठां पतिरेकुराट् त्वं वि राज ।

सर्वीस्त्वा राजन्प्रदिशो ह्ययन्तृपसवो नमस्यो मवेह ॥ १ ॥

त्वां विष्टो वृणतां राजपायि त्वामिमाः प्रदिशः पर्व देवी ।

वर्ष्यन्ताष्टस्य कुरुदि थयस्व ततो न उग्रो वि भञ्ज वधनि ॥ २ ॥

अच्छं त्वा यन्तु हविर्न सजाता अग्निदेतो अजिरः सं चरातै ।

आयाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बह्वृ यतिं प्रति पश्याता उग्रः ॥ ३ ॥

अभिजा त्वाग्ने मित्रावरुणोमा विष्टे देवा मरुतस्त्वा हयन्तु ।

अथा मनो वसुदेवाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भञ्ज वधनि ॥ ४ ॥

अर्थ— हे राजन् । ( राष्ट्रं त्वा आगन् ) यह राष्ट्र तुझको प्राप्त हुआ है, अब ( यत्वेसा सह उदु+दिदि ) तेजके साथ उसको प्राप्त हो । ( विष्टोपतिः प्राह एकुराट् त्वं विष्टाज ) प्रजापति का एक प्रभुत्व स्वामी व एक सम्प्राप्त होकर तू विराजमान हो । ( सवोः प्रदिशः हयन्तु ) सब दिशा और उपदिशाओं तुझे पुकारें और ( ह्य उपसर्गः नमस्यः भय ) यहाँ पास पहुँचने योग्य और नमस्कारके योग्य हो ॥ १ ॥

( विष्टाः त्वां राजपाय वृणतां ) प्रजापति तुझे राजपके लिये स्वीकार करें, ( इमाः देवीः पर्व प्रदिशः ) ये दिव्य पाँच दिशाएँ ( त्वां वृणतां ) तुझे राजपके लिये स्वीकार करें । तू ( राष्ट्रस्य वर्ष्यन्त कुरुदि थयस्व ) राष्ट्रके ऐश्वर्यसम सज्ज स्थानवर बैठ, ( सजाः उग्रः ) पशुवात उग्रपौर बनकर ( नः वधनि वि भञ्ज ) हम सबके लिये पनोंका विभाग कर ॥ २ ॥

( हविर्न सजाताः त्वा अच्छं यन्तु ) भुजानेवाले सजातीय लोग तुझको सम्मानपूर्वक मिलें । ( अजिरः अजिरः वृत्तः संचरातै ) अग्निके सजान वेदके दूत सर्वत्र संचार करें । ( आयाः पुत्राः सुमनसः भयन्तु ) मित्रों और दूत उत्तम मनवाले हों । ( उग्रः बह्वृ यतिं प्रति पश्यातै ) उग्र होकर तू बहुत भेंटको देन ॥ ३ ॥

( अभिजनी, मित्रावरुणौ, विश्वेदेवाः, मरुताः ) अग्निबने, मित्रावरुण सब देव और मरुत ( आग्ने ) सबके सहित ( त्वा त्वा हयन्तु ) तुझको भुजानें । ( अथा वसु-देवाय मनः कृणुष्व ) पशुवात तू धनका दान करनेके लिये अपना मन कर, ( ततो उग्रः नः वधनि विभज ) पशुवात उग्र होकर हम सबको बनकर भाग दे ॥ ४ ॥

भावार्थ— 'हे राजन्' । यह 'राष्ट्र' अब तुझको प्राप्त हुआ है, अब तू अपने तेजको 'प्रकाशित' कर, और 'सर्व' प्रजापति का एक सम्प्राप्त होकर विराजमान हो । सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले सब लोग तुझे हों चाहें और तू सबके लिये प्राप्त होनेवाला बनकर सबसे सुपुत्रिता हो ॥ १ ॥

सब प्रजापति राज्य पालनेके लिये तुझे ही स्वीकार करें । सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले प्रजापति तुझे ही स्वीकार करें । तू राष्ट्रके परम उच्च ऐश्वर्यपूर्ण राजपत्र पर आसक्त होकर, और बनकर, हम सबके लिये पनको योग्य विभागसे बाँट दे ॥ २ ॥

तेरी इच्छा करनेवाले सजातीय लोग सम्मानपूर्वक तेरे पक्षमें रहें, अग्निके सजान तेरे तेजको दूत बारीं देशोंमें संचार करें । तेरे राष्ट्रमें परमपुत्रियों और राजमन्त्रों उत्तम मनवाले हों । तू दूरपौर होकर बहुत भेंट प्राप्त कर ॥ ३ ॥

सब देवता तेरी सहायता करें । तू धनका दान करनेमें अपना मन निधर कर और दूरपौर होकर हम सबके योग्य विभागसे मन बाँट दे ॥ ४ ॥

आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते दावापृथिवी उमे स्ताम् ।

तदुयं राजा वरुणस्तथाहु स त्वायमहस्त उपदेमेहि

॥ ५ ॥

इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि सं ब्रह्मास्था वरुणेः संविदानः ।

॥ त्वायमहस्त्ये सधस्ये स देवान्यहस्त उ कल्पयादित्यः

॥ ६ ॥

पथ्या रेवतीर्वहुधा विरुपाः सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अकन् ।

तास्तथा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वज्रेह

॥ ७ ॥

अर्थ— ( परमस्याः परावतः आ प्र द्रव ) दूर दूर बैठते भी मूर्ख आ । ( उमे दावापृथिवी ते शिवे स्तां ) दोनों दावापृथिवी तेरे लिये कल्याणकारी होंगे । ( तया अयं राजा पथ्यः ) उसी प्रकार यह वरुण राजा । ( तत्प व्याह ) यह कहता है कि ( सः अयं द्वा अहत् ) यह तुझको बुलावे और ( सः इदं उप-आ शहि ) वह तू इस राष्ट्रको प्राप्त कर ॥ ५ ॥

हे ( इन्द्र-इन्द्र ) राजाओं कि महाराजा ! ( मनुष्या- परेहि ) मनुष्यों कि तपान परे का और ( हि वरुणैः संविदानः ) वरुणों कि मिल कर तू ( सं ब्रह्मास्थाः ) ओक प्रकार जल । ( सः अयं स्ये सधस्ये द्वा अहत् ) यह यह अपने धर तुझे बुलावे ( सः देवान् पक्षत् ) यह देवों का वजन करे और ( स उ विदाः कल्पयात् ) यह निरूपते प्रजाओं की समर्थ करे ॥ ६ ॥

( पथ्याः रेवतीः ) लग्नार्थ से चलनेवाली पथ्यालो ( बहुधा विरुपाः सर्वाः संगत्य ) बहुत प्रकारसे विविध रूपवाली सब प्रजा मिलकर ( ते वरीयः अकन् ) तेरे लिये श्रेष्ठ स्थान बनाती है । ( ताः सर्वाः संविदानाः द्वा ह्वयन्तु ) वे सब एकमत होकर तुझे बुलावे, वरुणा तू । ( इह उग्रः सुमनाः दशमीं यश ) यहाँ उग्र और उत्तम मनवाला होकर दशमीं दशक तक राष्ट्रको वसवर्धन कर ॥ ७ ॥

भाषार्थ— यदि तू दूर देश भी जाता क्या हो तो भी अपने राष्ट्रमें सीमाही वापस आ । सब देव तेरी सहायता करें । तू राहा अपने राष्ट्रमें ही रह ॥ ५ ॥

तू साधारण मनुष्यों कि समान ही अपने आपकी मानकर देशमें सर्वत्र भ्रमण कर और राष्ट्रके वरिष्ठ मनुष्यों कि मिलकर सब बातें ओक प्रकार समझ । ऐसा करनेसे लोग अपने घरमें तुझे आकरसे बुलावे और महाराज भी करेंगे । इस प्रकार प्रजाओं कि साथ मिलकर सब प्रजाओं सब प्रकारसे समर्थ कर ॥ ६ ॥

अथ लग्नार्थ से चलनेवाली हो, और घनवान् हो । बहुत प्रकारके रक्षणों कि विविध रक्षणों भी सब प्रजा मिलकर एक भावसे तुझे श्रेष्ठ माने और सब एकमतसे तेरी प्रशंसा करे । इस प्रकार धीरतासे और सुन मनोवासे राज्य करता हुआ तू ही सर्वशक्त राज्य अपने वरुणें रह ॥ ७ ॥

## राजाका चुनाव

### पूर्व संबंध

विश्व प्राप्त होनेके पश्चात् अपने राजाका राज्याधीन प्रवेश होता है, उस समयके उत्तरके ये संज्ञ हैं, अथवा जिसको प्राप्त करने राजाके वरुण मानेपर उसे देने योग्य उपदेश ॥ वो पुत्रांमिं है । तृतीय और चतुर्थ सूक्तकी विशेष प्रशंसा दृष्टिसे देखनेसे और एक बात प्रतीत होती है, वह

यह है कि— “ कभी ऐसा नो होता है कि राजा संवत्सरात्स होकर राजा किसे दूसरे देशमें या जंगलोंमें छिपकर रहता है और उसके राज्यपर दूसरे विदेशी राजाका अधिकार होता है । ऐसे समयमें राज्यमें खूनेवाले लोग तथा पुराने समयके अधिकारसंबन्ध और राज्यकानि करनेका बल करें, पुत्रार्थ प्रयाससे प्रजुका परभाव करें और अपने

पुराने राजाको लाकर बड़े सन्मन्ने से सब पुका राजपट्टीपर स्थापित करें। ' यह भी उपदेश यहाँ विचार्य देना है। दुरागोंमें इन्होंने एक कथा भी इसप्रकारकी है, कि असुरोंके द्वारा इन्द्रका पराजय हुआ, वह भाग गया और छिपकर किसी प्रदेशमें रहने लगा। देवोंने अपने पुरुषार्थ-प्रयत्नसे असुरोंका पराजय करके इन्द्रको ढूँढा और पुनः इन्द्रपद पर स्थापित किया। यह कथा महाभारत उद्योगपर्व अ० १० से १५ तक पाठक देख सकते हैं।

### आत्मरक्षा

तृतीय सूक्तमें सबसे प्रथम आत्मरक्षाका बड़ा महत्त्वपूर्ण संदेश प्रारम्भमें ही देना है। यह संदेश हृष्टक वैदिकधर्मोंकी ध्यानेमें धारण करना चाहिये—

इह नव-पा भुवन् ( इति ) अविक्रान्तम् ॥

( सू० ३, पं० १ )

' यहाँ आत्मरक्षा करनेवाला मनुष्य जाने, ऐसा पुकार पुकार कर रहा गया है। ' इस अर्थमें यदि मनुष्यको संभालते नीलिल रहना है, तो ( स्वयाः ) आत्मरक्षा उसके लिये अत्यावश्यक है। यह बात जैसे एक मनुष्यके लिये सत्य है वैसे ही एक समाज और एक राष्ट्रके लिये भी सत्य है। जब समाज आत्मरक्षामें इस नहीं रहता, तो उसका समाज उसपर हमला करनेमें प्रवृत्त होता है। इसीप्रकार जिस समय एक राष्ट्र आत्मरक्षा करनेमें तत्पर नहीं होता है, उसी समय दूसरा राष्ट्र उसपर आक्रमण करता है और उसकी परतंत्र बनाकर उसपर अधिकार बनाने लगता है। आत्मरक्षा करनेकी अक्षममर्ता बड़ा भारी अपराध है, जो राष्ट्र परतंत्र हो जाता है, वे स्वानुभवसे इस वैदिक उपदेशका महत्त्व जान सकते हैं। आत्मरक्षाका आर्षत यहूत है। इसीलिये इस मंत्रने कहा है कि यह बात बारंबार पुकार पुकार कर कही गई है। जो बात अत्यंत महत्त्वकी होती है, वही बारंबार पुकार पुकार कर कही जाती है। इस कारण जो बात बहरने अनेक बार पुकार पुकार कर कही है, वह मनुष्यमात्रकी उपस्थिती वृत्तिते अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें कोई संदेह ही नहीं है।

आत्मरक्षाका सामर्थ्य न रखनेवाला, राष्ट्र और उसका राजा भी पराजित होता है और आपत्तियमें गिरता है। आत्मरक्षा करनेवालेकी तेजोवृद्धि होती है, इस विषयमें इसी मंत्रका अपला भाग देखिये—

अग्ने । उरुखी रोवसी व्यसस्य ॥ ( सू० ३, पं० १ )

११ [ अर्थः अग्ने २ वातुं क्षिणी ]

' अग्निने क्याज लेखली ! तू इस विशाल सावावृत्तिसे अंबर फँस था। ' आत्मरक्षा करनेवालेका आशय अग्नि है, यह अग्नि सब अर्थ यतिते जलता और प्रकाशता है। ' अग्नेः ऊर्ध्वज्वलन् ' अग्निकी उच्चतमी गति उच्च है। उच्चवृत्तिवाले छाया उज्जल हो होते रहेंगे और अपना तेज फैलावेंगे और संपूर्ण अक्षुको प्रकाशमान करेंगे। आत्मरक्षा करनेवालोंका यह अक्षुमें चारों दिशाओंमें फैलता ही है। आत्मरक्षा करनेवालेकी गति तो अग्निने प्रबंध प्रकाशसे बताई है। आत्मरक्षा न करनेवालेकी मजबूती बर्बा होती है—

अन्यक्षेमे व्यपत्यं वरुणं ॥ ( सू० १, पं० ४ )

' दूसरेके देशमें प्रतिबंधमें भटकता है। ' जो आत्मरक्षा नहीं करता, वह दूसरेके अधिकारमें-प्रतिबंधमें पड़ता है, दूसरे देशमें छिपछिपकर रहता है, किसी न किसी प्रकार कभीसामनें चक्का रहता है। यह आत्मरक्षा न करनेका परिणाम है। यह परज्वलाका भयानक परिणाम आत्मरक्षा न करनेसे होता है, यह मानकर मनुष्य, समाज, राष्ट्र तथा राजा आत्मरक्षाका अपना परममोष्ठ कर्तव्य कभी न भूलें। यह आदेश देना चाहिये कि बारंबार उद्योषित करता है कि मनुष्य आज आत्मरक्षाकी बातको कभी न भूलें।

### सौत्रामणी याग

' सौत्रामणी ' नामक एक बड़ाभारी यज्ञ है। इसमें मुख्य ध्येय अथवा साम्य बना है, वह तीर्तरीय संहिताके यज्ञसे स्पष्ट होता है—

इन्द्रस्य सुपुत्राणस्य दशधेन्द्रियं धीर्यं परापतत् ।  
तदेवाः सौत्रामण्या समभरन् ॥

( सं० सं० ५।१।३।४ )

' इन्द्रका धीर्य शत विश्वामोंमें बिभिन्न रागोंसे बिभक्त हो गया था, यह देवोंने सौत्रामणी यागसे एकत्रित किया। ' यहाँ इस सौत्रामणी यागका साम्य बिचरी हुई शक्तिकी कटुता करना है। ' सु-प्रामन् ' सम्भवा अर्थ है ( सु ) यथा ( प्रामन् ) रक्षा करनेकी बुद्धिपूर्वक शक्ति। यह शक्तिये प्राप्त होती है उसको ' सौ-प्रामणी याग ' कहते हैं। यहाँल तीर्तरीय संहिताके बचनमें भी बिचरी हुई इन्द्रकी शक्ति इन्द्रकी शक्तिके लिये ही सौत्रामणी याग बनाया गया और उस यज्ञसे यह शक्ति बेगरोभूत होगई इत्यादि बात स्पष्ट है। अर्थात् सौत्रामणीयागसे संगठन होता है और राष्ट्रीय शक्ति बढ़ती है। इसीलिये इस तृतीय सूक्तके द्वितीय

पंचमं सोयामगो यत्ते द्वारा राज्यस्य राजाको फिर राज-  
गद्दीपर लाते हैं, ऐसा कहा है—

दूरे सन्तं विप्रं इन्द्रं सरदाय अरपासः आञ्ज्यायन्तु ।

( सु. ३, मं. २ )

‘ राज्यसे दूर ॥॥ तानी मरैन्द्रको सरदारों लिये लेलखी  
लोग उस पुन स्यासते यहाँ सावें । ’ राज्यस्य राजा जलमें  
या ( अथ-क्षेत्रे अपरगच्छे धरन्ते ) । ( मं. ४ ) दूरेसे वेसमें  
छिप छिप कर रहता है, उसकी पुन राज्यपर स्वायत्त  
कारणों लिये तानी लोग अपने राज्यमें से आवें; उसका सत्य  
पुन जनताके साथ पूर्ववत् हो । तानी इन्द्र ही राज्यगद्दीपर  
बैठे; इसलिये यह सत्य प्रयत्न है । वह सब प्रयत्न करनेके  
लिये सोयामगो याग किया जाता है, ऐसा इसी द्वितीय मंत्रके  
उत्तरार्धमें कहा है—

देवाः अस्मै वायभीं पृथ्वीं अर्कं सौमामयथा बध्नुयन्त ।

( सु. ३, मं. २ )

‘ देव इस राजाके लिये वायवी, पृथ्वी वादि एवं अर्ध  
साकार सोयामनी यागके द्वारा करते हैं । ’ राज्यगद्दीपर  
राजाको विदमानेका प्रबंध करनेके लिये सोयामगो याग  
करती है; इस यागसे अपनी विजयी हुई चकितकी इच्छा  
करती है और उस चकित द्वारा उस राजाको अपने राज्यमें  
काकर उसका बड़ा साकार करते हैं । इस साकारका स्वरूप  
हेतुसे—

धरणी राजा स्या अङ्गयः क्षयतु ।

सोमः स्या पर्वतभ्यः क्षयतु ।

इन्द्रा स्या आभ्यः धिङ्मयः क्षयतु ॥ ( सु. ३, मं. ३ )

अभियन्ता ते सूर्य पन्थां क्षुण्ठाम् ॥ ( सु. ३, मं. ४ )

प्रतिजनाः स्या क्षयन्तु, मित्राः प्रति अवृषत ॥

( सु. ३, मं. ५ )

‘ धरण राजा जलस्थानीके सरलणके लिये तुझे बुलावे,  
सोम राजा पर्वतोंकी रसाके लिये तुझे बुलावे, इन्द्र तुझे इन  
प्रजातोंकी मुख्यवस्थाके लिये बुलावे । ’ अविदेव यहाँ  
जानेका तेरा भाग सुगम करें । प्रत्येक प्रजाजन आह्वाने तुझे  
बुलावे और मित्र सदा तेरा बल बढ़ावें । ’

राज्य प्रबंधमें समुद्र किनारेका प्रबंध, पर्वत स्थानोंका  
प्रबंध ये दो प्रबंध अन्तरीष्ट्रीय महत्त्वके हैं और प्रजातोंके  
समग्रपक्ष कार्य राष्ट्रके अन्तर्गत व्यवहारका है । समुद्रमें नौका,  
जलदुर्ग आदिसे रक्षाका प्रबंध करना होता है और पर्वतों  
पर भी कितने कारिका प्रबंध व्यापक होता है । प्रजातों

मुख्यवस्थाका प्रबंध तो राज्यशासनका मुख्य भाग है ही,  
इसमें कोई संदेह नहीं है । इन प्रबंधोंकी करनेके लिये राजाको  
पुन राज्यगद्दीपर स्वायत्त किया जाय, यह तात्पर्य यहाँ है ।  
राजाके कर्तव्योंकी भी सुचना यहाँ मिलती है । सब देवता-  
ओंकी सहस्यता भी इस राजाको प्राप्त हो और इस प्रकार  
देवताओंकी सहस्यतासे बलवान् यत्ना हुआ अपने देशका  
राजा बनने । जगद्गो हो, यह इच्छा प्रजातोंके नेताओंके  
वत् कारणमें होने चाहिये । देखिये, इस विषयमें अगला मंत्र हो  
रहता है—

इन्द्राग्नी विध्ये देवाः विशि ते क्षेमं बदीयन्तु ।

( सु. ३, मं. ५ )

‘ इन्द्र, अग्नि और सपूर्ण अन्य देव प्रजामें तेरा कल्याण  
स्वायत्त करें । ’ अर्थात् इन देवोंकी कृपासे तेरा प्रजाका भी  
कल्याण होने और प्रजाके जलदके साथ तेरा भी कल्याण  
होवे । यहाँ—

ते क्षेमं विशि । ( सु. ३, मं. ५ )

‘ तेरा ( राजाका ) कल्याण प्रजामें जाता है । ’ अर्थात्  
प्रजातोंका कल्याण होनेसे ही राजाका कल्याण होता  
समर्थ है, अवश्य नहीं । जो राजा प्रजाके कल्याणके साथ  
अपने कल्याणका संबंध नहीं जानता, वह सच्चा राजा ही  
नहीं है । यतुवेचमें भी कहा है कि—

विशि राजा प्रतिष्ठितः । ( पञ्च. २०१९ )

‘ प्रजाके लाभवत्ते राजा सुप्रतिष्ठित होता है । ’ प्रजा न  
ही ही राजा कहा रहता ? करतु राजा न होनेकी अवस्थायें  
प्रजा पृथु सरती है, इस कारण कहते हैं कि राजा प्रजाके  
लाभवत्ते रहता है, परंतु प्रजा राजाके लाभवत्ते बिना भी  
रह सकती है । अत एव राजाका कल्याण प्रजाके कल्याणमें  
है । ऐसे राजाओं सदासीय लोग अपने राज्यमें पुनः स्वायत्त  
करें, इस विषयमें इस सूक्तका चतुर्थ मंत्र हेतुसे—

सजाताः इमं ( राजानं ) अग्नि-सं-विश्रयम् ॥

( सु. ३, मं. ४ )

‘ सजासीय लोग इस राजाको ( अग्नि ) शरण और  
( सं ) ठीक शरण ( विश्रय ) प्रवेश करावें । ’ राजा  
यतु राष्ट्रमें आवे तो स्वजातोपरि ताव ही आवे । वे उसकी  
सुरक्षाका प्रबंध करें और चारों ओर उत्तम प्रबंध रतें ।  
राजाकी सुरक्षाके लिये उत्तम बल दिया जाय और स्वराष्ट्रमें  
ऐसे सुबंधके साथ उत्तम प्रवेश कराया जाय । स्वजातीय  
( सजाताः ) लोग ही राजाके रक्षक हो सकते हैं, परजातीय

जोग कित समय भोका रे बे कुछ पता नहीं रहता, इसलिये राजा भी स्वजातीय लोगोंके ऊपर अधिक विश्वास रखे और उनका योग्य सम्मान करता रहे। वहाँ तो कई राजा ऐसे होते हैं कि जो विदेशियों और परकीयोंपर तो अधिक विश्वास रखते हैं और स्वदेशियों तथा स्वजातीयोंपर अधिक विश्वास करते हैं। इस बातमदतसे यथावत् परिणाम उसको लक्षमें बुरी तरह भोगना पड़ता है। इसलिये इस मंत्र जायने पताया है कि राजा स्वजातीय लोगोंका ज्यादा विश्वास रखे। जहाँ स्वजातीय लोग सहायताके लिये तैयार हों, वहाँ राजा बिबाधसे बेपर्वाक जाये और अपना कार्य प्रारम्भ करे, इस विषयमें यह मंत्र देखिये—

इयेनः भूया इमा विशा आपता ॥ ( सू ३, म ३ )

‘ इयेन पकीके समान बेपत्ते इस प्रजामें सर रह । ’ अर्थात् सहा प्रजातमके भद्र पुण्य सहायता करनेको तैयार हों, वहाँ राजाको (बराके साथ पशु) कर अपना प्रजापालनका कार्य करना चाहिये।

### विरोधी मनुष्य

सजातीय लोग प्रायः तथा राजाकी सहायताके लिये तैयार ही रहेंगे, यहाँ कि राजाका मोरच बहनेसे उनका भी मन बहता ही है, तथापि कई लोग राज्यसत्ते मिलकर उत्तम राजाको राज्यमें पुन स्थापित करनेके विरोधी भी हो जाते हैं, उनका क्या किया जाय, यह प्रश्न यहाँ ही खड़ी है इस प्रश्नका उत्तर इस सूक्तके यच्छ मंत्रने दिया है, देखिये—

य सजात, य च निद्रय, ते ह्य विन्द्रय्,

त अपाञ्चं ह्यया, यथ इमं इह अयममय ॥

( सू ३, म ३ )

‘ कोई राजातीय भयका कोई विजातीय या विदेशीय मनुष्य मेरे राज्यारोहणके द्युम प्रसंगके निरुद्ध विवाद सदा करनेवाला हो तो उसको बहिष्कृत करके, वसन्त इत राजाको यहाँ ले आओ । ’

सर्व समिति जित राजाकी राजकी बड़ी बी जाती है, उसके निरुद्ध कार्यवाही करनेवाला यदि कोई मनुष्य हो तो (अपाञ्च त रुद्रया) उसको भलग करके ही अन्य भेद लोगोंको अपना प्रशास कर्तव्य करना चाहिये। राज्यकी आंतरिक व्यवस्था करनेके प्रसंगमें इस प्रकारके कई मन्त्र होते ही रहते हैं, इस लिये उसको दूर करनेका एक उपाय पढ़ा जाता है।

### चतुर्थ सूक्त

यहा तृतीय सूक्तका विचार समाप्त हुआ और अब इसी विषयसे सम्बन्ध रखनेवाले चतुर्थ सूक्तका विचार करते हैं। तृतीय सूक्तका सम्बन्ध बहुर रहनेवाले राजाको पुन स्वराज्यमें लाकर राज्यपर स्थापित करनेके महत्त्वपूर्ण कार्यके साथ है और इस चतुर्थ सूक्तका सम्बन्ध सर्व साधारण राजाको और विशेषतः प्रजाके पुन ह्रा राजाकी राजगद्दीपर विजलनेके कार्यके साथ है, इसलिये इस चतुर्थ सूक्तका सम्बन्ध एक ऐतिहासिक तृतीय सूक्तके साथ है और दूसरे विचारसे बेला जाय तो यह चतुर्थ सूक्त स्वतन्त्र भी है। राजाका राज्याभिषेक इस चतुर्थ सूक्तका मुख्य विषय है। इस सूक्तमें प्रजाद्वारा राजाके चुनाव होनेका वर्णन मुख्य स्थान रखता है, वही पद्य देखें—

### राजाका चुनाव

राजाका पुन हो अपवा नयाही योग्य बीर हो, उसकी प्रजाकी समक्षिसे ही राज्य प्राप्त होता था। श्री रामचन्द्र जैसे सर्वमान्य पुरुषोंकी भी राज्य प्राप्त होनेके लिये प्रजाकी अनुमति लेनी पड़ी थी, ह्रा वाक्यके देखनेसे प्रजाको समक्षि प्रगत क्षति रखती थी ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है, इस सूक्तमें १५ वैदिक ऐतिहासिक द्युत ही उत्तम प्रकाश जाता है, देखिये—

प्रदिशः देशी इमा पञ्चविशः स्या राज्याय कृणुताम्।

( सू ४, म २ )

‘ जित उपविशाओंमें रहनेवाली यह विम्ब पाच प्रकारकी प्रजा तुम्हको राज्यके आपिपायके लिये बुनें । ’ प्रजा राज्य-पातन ब्रह्मनेके लिये मुख्य स्वीकार करे, ऐसा कहने पायसे राजगद्दीपर राजाको रखने या न रखनेका अधिकार प्रजाके अधिकार है यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है। अपयवेदेने ह्रा मन्त्रकी व्याख्यासे कई सूक्त हैं, उनका विचार उत्तरे स्थान-पर प्रयासना होगा। इस प्रकार राजाका चुनाव करके उसकी राज्यपदके लिये स्वीकार करनेका अधिकार प्रजाका है, यह बात इस चतुर्थ सूक्त द्वारा सिद्ध होगी, अब इस सूक्तके इसी भावके योग्य मन्त्र पाय यहाँ देखिये—

हे राजम्। सर्वाः प्रदिशः। (अजाः) त्या ह्यमन्तु।

( म १ )

देविनः सजाता रवा अच्छ यन्तु। ( म ३ )

यहूया यिक्ताप सर्वाः (अजाः) संपद्य ते धीयः। अयन्तु।

( म ७ )



ता. संपिदानाः सखाः ( प्रजाः ) त्वा वयन्तु ।

( म. ७ )

‘हे राजन् । तव पिशाजोऽयं चूनेवालो सब प्रजाओं तुझे पुराएँ । भेंट सानेवाले स्वजातीय लोग तेरे समुल आये । बहुत करके विभिन्न रूपवाली सब प्रजा एकत्र आना करके तुझे योग्य भगाये । यह जाननेवालों सब प्रजाओं तुझे ही मुझाये ।’ इसादि वयशाय प्रजाकी अनुभूति राजाके लिये अत्यंत आवश्यक है यही बात बता रहे हैं । इसलिये इस सूक्तका स्पष्ट आशय यही है कि प्रजाइसरा स्वीकृत होकर ही राजा राजगद्दीपर आये । किसी गुरुवको जन्मते राजगद्दीका अधिकांश नहीं हो सकता, बलितु जिसको प्रजा स्वीकृत करे, वही राजपदके लिये योग्य हो सकता है ।

### प्रजाका पालन

राज्याभिषेकके समय ही प्रजाके धुने और पर्वद किसे राजाको राजगद्दीपर अनिवार्य होनेके समय बताया जाता है कि अब तेरा प्रजापालन रूप कर्तव्य है, देखिये—

१ ॥ यदुं स्या आगन्,

२ यक्षसा सह उदिदि,

३ विशां पतिः प्रा एकराद् रवे विराज,

४ उपसद्यः नमस्यः च इह मय ॥ ( म. १ )

‘हे राजन् । ( १ ) अब तेरे पास यह राष्ट्र आया है, ( २ ) अपने प्रजाके साथ उसकी प्राप्त हो, ( ३ ) प्रजाका पालन मुख्य एक राजा हीकर तु विभेय प्रकाशमान हो, ( ४ ) तथा तब प्रजाओंके पास जाने योग्य और नमस्कार करने योग्य बन ।’ इस प्रथम मंत्रमें ‘प्रजा-पति’ बन, यह आदेश है, पति शब्दका अर्थ प्रसिद्ध अर्थ स्त्रीवादी का शालिक है तथापि यह शब्द ‘पा’ वाहुले बननेके कारण ( पाति रक्षति ) पालन करनेवालेका वाचक ही मुख्यतया यह शब्द है । जो पालन करता है वही पति कहलाने योग्य है, इस लिये प्रजापति ( विशां पतिः ) ये शब्द प्रजापालन रूप राजाका कर्तव्य बताते हैं । राजा शब्द जो वास्तुतः अनियमित राजाका वाचक नहीं है, अत्यन्त रंजयति प्रजाका रजन करनेवाले उत्तम राजाका वाचक है । इसे प्रकार यहाँ प्रजापालन रूप राजाका मुख्य कर्तव्य बताया है । ऐसे राजाको ही प्रजा प्रेमते ( नमस्यः ) नमन करती है अर्थात् उसीका सत्कार करती है । राजा ऐसा ही कि जो आवश्यकता पड़ेपर प्रजाको ( उपसद्यः ) विभक्त सके । जिसका दांग प्रजा कर सके ऐसा राजा ही । जो राजा सब

भविष्यति विभक्त चूता है और वस्तु प्रजाका दांग भी नहीं कर सकता वह प्रजासे नमस्कार कौन प्राप्त कर सकता है ? इससे स्पष्ट हो सकता है कि प्रजाका नमस्कार प्राप्त करनेके लिये प्रजासे विभक्त आवश्यक ही है ।

इस मंत्रके ( राष्ट्रं स्या आगन् ) राष्ट्र तेरे पास आया है, इस वाक्यसे स्पष्ट हो रहा है कि ( राष्ट्र ) अपनी समस्तिते तेरे समीप आया है, अर्थात् राष्ट्रके पाँच प्रकारके प्रजाजनोंने राजगद्दीके लिये तुझे चुना है, इसलिये उसकी मिल समस्तिते ही यह राष्ट्र तुझे प्राप्त हुआ है, कारण तुझे उचित है कि तू राष्ट्रका पालन ऐसा कर कि राजा तबका भविष्य कालमें राष्ट्रकी समस्तिते तेरे अनुकूल हो रहे और कभी प्रति-कूल न बने । इस मंत्रका विचार करो पाठक जानें कि राजाकी प्रजाकी अनुकूल समस्तिकी कितनी आवश्यकता है । प्रजाकी अनुमतिके बिना राजा राजगद्दीपर रह ही नहीं सकता, यह स्पष्ट वाक्य यहाँ प्रगीत होता है ।

### धनोंका विभाग

प्रजाओंमें धनके विभक्त विभाग होनेपर भी लोग निर्धनो-पर बड़ा हजब डालते हैं और उस कारण निर्धन लोग बीते जाते हैं । इसलिये राजाके आवश्यक कर्तव्योंमेंसे एक यह कर्तव्य वेदमें बताया है कि यह प्रजाओंमें योग्य प्रजायसे समुविभाग करे । धनकी विपदाता प्रजामें न हो इस विषयमें वेदमें स्थान स्थान पर आदेश है—

१ राष्ट्रस्य धर्मान् कुरुदि अयस्य

ततः उग्रः ( भूत्वा ) नः ५ स्युनि विभज ॥

( मं. २ )

२ अथ मनः वसुदेवाय कुरुध

ततः उग्रः ( भूत्वा ) ॥ यस्युनि विभज ॥

( मं. ४ )

‘ ( १ ) राष्ट्रके ऐश्वर्यमय उच्च स्थानपर सदकार, उग्र धनकर हमारे लिये धनको विभक्त कर । ( २ ) यथात् अथवा धन धनके हस्तके लिये अनुकूल कर, उग्र धनकर हमारे लिये धनका विभाग करके पाठ ।’ ॥ जो मंत्रभागोंमें पहले कहा है कि ‘हे राजन् । तू सबसे पहले राष्ट्रके आयत उच्च स्थानपर अर्थात् राजगद्दीपर आकर हो, यथात् उग्र मन अर्थात् नरम हितवासा न बन और प्रजामें धनका विभाग कर ।’

यद्यपि राजा प्रजाकी अनुमतिके ही राजगद्दीपर बैठता है तथापि उसको गद्दीपर बैठनेके पश्चात् उग्र बनना चाहिये ।

यदि वह नर न विनयात्मा बनेगा तो उससे राजाके कर्तव्य ठीक प्रकार निभाये जाने अशक्य होजायेंगे। यमर्षिर्मन्त्र निर्णय करके अयमचिरम करनेवालेको योग्य शासन करनेका काम उप बननेके विश्वास नहीं हो सकता। इसलिये राजाको उप बनना अत्यंत आवश्यक है। तब बनकर और पक्षपात छोड़कर अपने कर्तव्य राजाको करना चाहिये।

यह विभाग ठीक प्रकार करनेके लिये राजाको व लो वनिकोंका पक्षपात करना चाहिए और ना हो निर्धनोका पक्ष लेना चाहिये। राज्यमें धन विषम प्रमाणाभेद बड़े बड़े बेलते हुए अपने वस्तुविन्यासका कर्तव्य पूर्ण करना चाहिये। यह बड़ा कठिन है, परंतु राज्यकी सुस्थितिके लिये अत्यंत आवश्यक है। धनकी विषमता, अधिकारको विषमता, ज्ञानकी विषमता और जातिकी व्यवभोजनताको विषमता यदि अनेक विषयमाएं होतीं हैं, उनमें धन और अधिकारकी विषमता सबसे घातक होती है, इस विषयताके कारण दबे हुए मनुष्योंका उठका कठिन हो जाता है और दबी जातिकी को भ्रष्टाचार सिध्ति होती है वह सब जानते ही हैं। इसलिये वस्तुविन्यास नामक राजाके कर्तव्यमें अत्यंत आवश्यक विषयता दूर करनेका उपदेश किया है।

### शुभसंकल्प

प्रजाजनोको सुभसंकल्पवात्ता बनाना भी राजाका एक मुख्य कर्तव्य है, इसका प्रारंभ राज्यकी माताओं और राज्यके सुपुत्रोंके होना चाहिए, इस विषयमें इस प्रकार कहा है—

जायाः पुत्राः सुमनसः भवन्तु । ( मं. ३ )

हे राजन् ! तू अपने राज्यमें शिशुका प्रबंध ऐसा कर कि जिससे ' शिशुओं और बालकन्धे उत्तम विचारवाले बनें ।' जिस राज्यकी माताएं और बालकन्धे सब उत्तम विचारवाले बनें हों, उस राज्यकी गणना स्वर्गमें ही हो सकती है। सुविचारवाली कन्या और सुमनसकल्पवाले कुमारोंके राज्यमें बड़ोंमें ही बड़बर्चसका वायुमंडल बन सकता है, अन्याया को बिगाड़ होना संभव है यह आजकल प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है। राज्यमें विचारके अधिकारी शिक्षक तथा अन्य प्रबन्धोंके शासनविकारियोंके उत्तम चरित्र होनेपर ही राज्यकी सब कन्याएं और सब कुमार उत्तम संकल्पवाले हो सकते हैं। यह एक क्षण उपदेश देनेसे धर्मा प्रतापा है जो प्राचीन समय व्यवहारमें आया था, परंतु अब जहाँ फिर औप व्यवहारमें लायेगा ऐसा दिखाई नहीं देता। यथोक्त औपेक्षिक वायुमंडल ब्रह्म रहा है। अतः लोग कुमारों और कुमारीके संवर पवित्र

विचारका वायुमंडल उत्पन्न करनेका प्रयत्न करें और यह वायुमंडल अपने मनमें सदा वाहता रहे।

### राजाका रहना सहना

राजाका व्यवहार सीधासाधा हो, राजा साधारण मनुष्य जैसा बनकर किसी किसी समय राज्यमें भ्रमण भी करे और प्रत्यक्ष जनताके हृत् दुःखका अनुभूति करे, इस विषयमें आदेश देसिये—

इन्द्रेन्द्र ! मनुष्याः ( यत् ) परेहि,  
यतः संविदन्तः सं भ्रातृणां ।  
स अयं रवा स्ये सधस्ये भद्रत्,  
स उ देवान् पश्यत्, पिताः कल्पयात् ॥ ( मं. ६ )

' हे राजन् ! साधारण लोगोंके समान बनकर दूर दूर तक जनतामें भ्रमण कर, वहाँके भेद मनुष्योंके साथ मिल-जुलकर उनकी सबी अवस्थाको जान । वे तुझे अपने घर कुलायें और पछ करें; इस प्रकार तू प्रजाप्राप्तीके उन्नति कर ।'

यह मंत्र बहुत बुद्धिमान मनुष्योंके देखने योग्य है। सबसे पहिले इसमें यह कहा है कि राजा किसी किसी समय अपने शाहीपदेको अलग करके स्वयं साधारण मनुष्योंके भेषमें होकर साधारण मनुष्योंके समान बनकर जनतामें भ्रमण करे और अपनी आँखोंसे देखे कि अपनी प्रजाजी अवस्था कैसी है, प्रजा कल्प है या पुत्र है और राज्यके कर्मचारों प्रभुके साथ कैसा व्यवहार करते हैं। वहाँके जो ( यतः=धरेः ) प्रमुख लोग हों, जो विवेक समतत्वार हों उनसे मिलकर सब अवस्थाकी जानकारी ली जाति जिस बातमें सुधार करके प्रजाका सुख बढ़ाना चाहिये।

दूसरी बात इसी मंत्रमें जो कही है वह यह है कि प्रजाके लोग राजाको विशेष सम्मान देने पर मनामें, राजा बड़ी मान्ये, उनके साथ मिलजुलकर व्यवहार करे, सब मित्रता पक्ष पाव आदि करें; इस रीतिसे राजा प्रजाको सत्य माने और प्रजाकी उन्नति करे।

### दूतका संचार

राजा स्वयं अपने राज्यमें भ्रमण करे और सब व्यवस्था स्वयं अपनी आँखोंसे देखे, इस विषयमें ऊपर कहा ही है; परंतु अनेक राजा कर्तव्यक भ्रमण कर सकता है और कहा-तक देख सकता है, अतः राजा लोग दूतोंके आँखोंसे ही सब देखें, इसलिये दूतोंका निस्तार करनेके विषयमें तृतीय मंत्रमें कहा है—

अजितः दूतः संचरति ॥ ( म. ३ )

‘यथा दूत संचार करे ।’ राष्ट्रमें दूतोंका विस्तार करके राजा सब जानने योग्य बातें जान लेवे । और इस ज्ञानसे अपने शासन प्रबंधमें जो कुछ सुधारणिक करना हो वह करता रहे । क्योंकि दूत-संचार यह शासनका एक आवश्यक अंग है क्योंकि इससे राजाको शासन विषयक प्रजाके सुख दुःखोंका पता लगता रहता है । इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करके अपना शासन चलानेवाला राजा प्रजाको बलपूर्वक प्रिय होता है, इसलिये प्रजा भी उस राजाका सत्कार विविध प्रकारकी भेंट देकर करती है । इस विषयमें देखिये—

( १ ) हविमः सज्जताः स्वा अरुह्य यन्तु ॥ ( म. ३ )

( २ ) उग्रः बहूँ बलिं प्रति पश्यात् ॥ ( म. ३ )

( १ ) ‘हवि लेकर सज्जितके लोग तेरे समुक्ष उपस्थित हों ।’ ( २ ) उग्र बन कर बहुत भेंट तु देवेगा ।’ इस प्रकार राजा प्रजासे बहुत साकार प्राप्त कर सकता है । तथा—

( १ ) ते पाथापुथिवीं शिषे स्ताम् ॥ ( म. ५ )

( २ ) उग्रः सुमनाः इह दशमीं पश ॥ ( म. ७ )

( १ ) ‘हे राजन् ! तेरे लिये पाथापुथिवी कल्याणपूर्ण हों और ( २ ) तु उग्र तथा उत्तम मनवाला बनकर यहां ही बसतक राज्यको अपने बसमें कर ।’ इसी प्रकार ‘तव देवीकी लहायता इस राजाको मिले ।’ ( म. ४ ) इत्यादि

प्रकारकी इच्छा लोग उसी समय करेंगे कि जिस समय राजा भी प्रजाका सुख बढ़ानेमें उत्तचित होगा । जो राजा प्रजाके सुखकी परवाह नहीं करता हो, उसके हितहितकी फिर प्रजा भी नहीं करती । इसलिये हर एक राजाको सदा ध्यानमें यह बात रखनी चाहिये कि ‘मेरे पास जो राजपद आया है वह प्रजापालन करनेके लिये आया ॥ न कि अपने पुल्लभोग भोगके लिये ।’ यह जब मनमें रहता हुआ राजा अपने कर्तव्यका योग्य रीतिसे पालन करे ।

इत्युक्त्वा

यहां एक बंदिक बर्चन घांतीकी विधिपता मन्त्राय देखने योग्य है । इन्द्र, वरुण आदि राज्य देवताओंके वाचक ही होते हैं, अन्य किसीके वाचक नहीं हो सकते, ऐसा सामान्यतया साधारण लोग समझते हैं । परंतु ये राज्य कभी कभी विरांचन रूप होकर किसी मन्त्रके पुनर्वाचक होते हैं और कभी स्वयं किसी अन्य पदार्थके वाचक भी होते हैं । यहाँ वरुण राज्य बहुवचनमें आया है इसलिये यह वरुण देवतावाचक निःसंदेह नहीं है, क्योंकि जिस समय वरुण देवताका वाचक वह राज्य होता है, वह समय यह सदा एकवचनमें ही होता है । यह बहुवचनमें होनेके कारण यह पहा प्रजापतियोंका वाचक है । ‘वरुण, वरुण्य, वर्ण्य’ इस प्रकार यह ‘चार वर्णोंके लोगों’ का वाचक ही सकता है किन्ना वर अर्थात् श्रेष्ठोंका भी वाचक हो सकता है । यहाँ हमारे मतमें ‘वर्ण्य’ अर्थ सेना अधिक योग्य है ।



## विजयी राजा

कांड ६, सूक्त ९८

( अ. वि. - अर्चन । देवता - इन्द्रः । )

इन्द्रो जयाति न परां जयाता अधिराजो राजसु राजयातै ।

चर्कृत्य ईदयो वन्द्योपसद्यो नमस्यो भवेद्

॥ १ ॥

अर्थ— ( इन्द्र. जयाति ) धूर पुरुषकी ह्येछा विजय होती है, ( न पराजयाते ) कभी पराजय नहीं होती । ( राजसु अधिराजः राजयातै ) राजाओंमें जो सबसे बड़े अधिराजा होता है उसको जीता ब्रह्मा है । हे राजा ! तू ( इह ) इस राष्ट्रमें ( चर्कृत्यः ईदयः ) शत्रुका नाश करनेवाला और सुखिके लिये योग्य, ( वन्द्यः. उपसद्यः नमस्यः भवेद् ) वन्दनीय, प्राप्त करने योग्य और नमस्कारके लिये योग्य हो ॥ १ ॥

भाषार्थ— जो पुरुष धूर होता है, उसीकी विजय होती है, उसकी कभी पराजय नहीं होती । जो राजा सब राजाओंमें श्रेष्ठ बनता है वही अधिक प्रभावशाली, प्रशस्तनीय, वन्दनीय और उपाय्य होता है ॥ १ ॥

त्वमिन्द्राधिराजः श्रुत्स्वस्त्वं भूतमिभूतिर्जनानाम् ।

त्वं दैवीर्विश्व इमा वि राजाधुष्मत्स्त्र्यम्बरं ते अस्तु

॥ २ ॥

प्राच्यां दिक्षस्त्वमिन्द्रासि राजोवोदीन्या दिक्षो बृहन्स्रुहासि ।

यत् पान्ति सोऽस्यास्तज्जितं ते दक्षिणतो बृधुम एपि हव्यः

॥ ३ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! ( त्वं अधिराज ) तू राजाधिराज और ( श्रुत्स्वः ) कीर्तिमान हो । ( त्वं जनानां अभिमृतिः भूः ) तू प्रजाजनोक्त सम्पत्तिर्ता हो । ( त्वं इमाः दैवीः विशाः विराज ) तू इन दैवी प्रणामोंपर विराजमान हो । ( ते आयुष्मन् शस्त्रं यज्ञं यस्तु ) तेरा सोम्ययुक्त साम्रतेय नगरहित होने ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! ( त्वं प्राच्याः दिशः राजा असि ) तू प्राचीन दिशाका राजा है । हे ( बृहन्स्रुहा ) स्रुवामाक । ( उत्त उदीन्या दिशः शत्रुहा असि ) और तू उत्तर दिशाके शत्रुओंका नाश करनेवाला है । ( यत् सोऽस्याः यन्ति ) जहां नदिमा जाती है वहांतकके प्रदेशको ( तत् ते जितं ) तूने जीत लिया है । तथा ( बृधुम हव्यः दक्षिणतोऽपि ) बलवान् और भारते पुकारने योग्य होकर दक्षिण दिशासे तू जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— उत्तम राजा कीर्तिमान् और प्रणामोंको सम्पत्ति बढ़ानेवाला होने । अपने प्रजाको दैवी संपत्तिसे युक्त करे और अपने राष्ट्रका क्षामतेज बढ़ाकर होंवें आयु भी बढ़ावे ॥ २ ॥

प्राचीं विश्वामोर्षं शत्रुजोष्य पराजय करके राजा विश्वामी बने, बलवान् बने और सबके आदरका पात्र बने ॥ ३ ॥

राजा जिसकी होकर किस रीतिसे प्रशंसा भावी होता है, वह बात इसमें स्पष्ट शब्दोंमें लही है । इस सूक्तका भाव अति सरल और सुगोचर है । 'शौर्य और बल बढ़ाने और प्रजाको सम्पत्ति वृद्धिगत करनेसे राजा विश्वामी होता है ।' यह इस सूक्तका मुख्य अन्तर्भाव है ।



## क्षत्रियका धर्म

### कांड ३, सूक्त ५

( अग्नि - भृगु, आपर्वक । देवता - इन्द्र । )

इन्द्रं जुषस्व प्र ब्रह्मा योहि शूर हरिभ्याम् । पिबा सुवस्व मतेरिह मर्षोश्चकानधाकर्मदाय ॥ १ ॥

इन्द्रं जठरं नृषो न पुणस्म मर्षोर्द्विषो न ।

अस्म सुवस्व स्वर्णोर्षं त्वा मदाः सुवाचो अगुः

॥ २ ॥

अर्थ— हे शूर इन्द्र ! ( जुषस्व ) भू-प्रशंस हो, ( प्र ब्रह्मा ) अपने ब्रह्म । ( हरिभ्यां आ योहि ) जोहोके साथ तू ब्रह्मा आ । ( चकानः ) वृत्त होता हुआ तू ( मदाय ) हर्षके लिये ( इह ) यहां ( मतेः ) बुद्धिमान् पुण्यका ( सुतस्य मयोः स्वायः ) निषोधा हुआ मयुर सुवर रत्न ( द्विष ) दो ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! ( नृषाः न ) प्रजाजनोपके समान और ( स्वः न ) स्वर्ण्य आगवके रूपपर ( मथोः जठरं पुणस्व ) इस मयुर रत्नसे अपना घेद भर । ( अस्म सुतस्य ) इस निषोदे रत्नको ( स्वायः न ) स्वर्णके आगवके प्राणव सुशो और ( सुवायः मदाः ) उत्तम आपनोंके साथ आगव ( स्वा उप अगुः ) तेरे पास पहुँचते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— हे शूर शूर ! तू क्या प्रशंस और आननित यह और उपलब्धि माँगेसे अपने ब्रह्म । अपने उत्तम शोभोके वृत्त रूपमें घेदकर इन्द्र उपर जा और तदा तनुवत् रहता हुआ अपने हर्षको प्रदानके लिये बुद्धिबर्धक मयुर रत्नका पात्र कर ॥ १ ॥

हे शूरशूर ! प्रशंसके योग्य और हर्ष बढ़ानेवाले मयुर रत्नसे अपना घेद भर, देना करनेसे हो उत्तम प्रशंसाकी प्राप्ति हो तेरे पास सब ओरसे पहुँचेंगी अर्थात् सब तेरी प्रशंसा करेंगे ॥ २ ॥

इन्द्रस्तुरापाभिन्ने वृषं यो जयान् यतीर्व । विभेदं बलं मृगुर्न संसहे शत्रुन्मदे सोमस्य ॥ ३ ॥  
आ त्वां विघ्नन्तु मुतासं इन्द्र पूषस्वं कुधीं विहृदि शक्रं धियेसा नः ।

श्रुधी इवं गिरों मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्मिर्मत्स्वेह मुहे रणाय ॥ ४ ॥

इन्द्रस्य तु प्रा वोचं वीर्याणि यानि चकार प्रययानि वज्री ।

अहन्नाहिमन्वपस्तर्दुं प्र वक्षणां अमिनत्पर्वतानाम् ॥ ५ ॥

अहन्नाहि पर्वते शिभ्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वयं ततश्च ।

वाधा इव घेनवः स्वन्दमाना अज्ञाः समुद्रमर्षं जग्मुराः ॥ ६ ॥

अर्थ— ( यतीः स ) बल करनेवाले पुरुषके समान ( यः तुरापाद् मित्रः इन्द्रः ) जिस तुरापादे मित्र हस्ता करनेवाले मित्र इन्द्रने ( वृषं जयान् ) घेरनेवाले शत्रुका नाश किया था, तथा ( मृगुः न ) मृगुके समान जिसने ( बलं विभेदं ) शत्रुके बलका भेद किया था और ( सोमस्य मदे ) वीमरसके आनन्दमें ( शत्रुन् ससहे ) शत्रुओंका बराबर किया था ॥ ३ ॥

हे ( शक्रा इन्द्र ) शक्तियवान् मम इन्द्र । ( मुतासः त्वां मा विघ्नन्तु ) निषीधे हुए मे रत तुमने प्रविष्ट हों । ( कुधीं पूषस्य ) दोनों कुक्षियोंके तू भर और ( विहृदि ) क्षामन कर ( धिया नः मा-हृदि ) अपनी बुद्धिसे तू हमारे पास आ । हमारी ( हवं श्रुधि ) पुकार सुन, ( मे गिरः जुषस्व ) मेरी स्तुतियां स्वीकार कर और ( इह ) यहा ( मुहे रणाय ) बड़े युद्धके लिये ( स्वयुग्मिः ) अपनी योद्धाओंके साथ ( मा मरह्य ) हर्षित हो ॥ ४ ॥

( इन्द्रस्य वीर्याणि तु प्रा वोचं ) इन्द्रके पराक्रमका मैं बण्डी प्रकार वर्णन करता हूँ । ( यानि प्रययानि ) जो पहिले वेषोंके पराक्रम ( वक्षीं वक्षणां ) वक्षारोंके इन्द्रने किये थे । उसने ( अहिं अहन् ) कम न होनेवाले शत्रुका नाश किया और ( मन्वा अस्तर्दुं ) प्रवाहोंकी क्षुत्त किया और ( पर्वतानां ) पर्वतोंके ( वक्षणां प्र अमिनत् ) क्षान भी तोड़े ॥ ५ ॥

( पर्वते शिभ्रियाणं अहिं ) पर्वतके आधारी रहनेवाले शत्रुका ( अहन् ) बध किया । ( अज्ञाः ) इतने लिये ( स्वप्ता स्वयं वज्रं ततश्च ) शरीरमें ॥ शस्त्र बनाया । ( वाधाः घेनवः ॥ ) रंभाती हुई गौरीके समान ( स्वन्दमानाः नापाः ) बैसते बहनेवाले जलप्रवाह ( अज्ञाः समुद्रं मर्षजग्मुः ) लोचं समुद्रतक जा पहुँचे ॥ ६ ॥

भाषार्थ— पुरुषार्थी, उसी पुरुषके समान प्रयत्नशील और क्षीप्रवेगके साथ शत्रुपर हस्ता करनेवाला शूरवीर अपने शत्रुका नाश शीघ्र करता है । जिस प्रकार भूजनेवाला मनुष्य पार्श्वोंको धूँतता है, उसी प्रकार यह शूरवीर शत्रुकी सेनाको भूज देता है और सौमरसका चाल करता हुआ हर्षित और उत्साहित होकर शत्रुका परागमन करता है ॥ ३ ॥

हे शक्तियवान् शूरवीर । सब मनुष्य रत तुझे क्षामा हों और उत्तरे तू अपना पेट भर । उस समय तू अपने मनमें सब जनताकी भलाईका विचार कर और उनकी पुकार सुन तथा बड़े योद्धाकडहूँके विजय प्राप्त करनेके लिये अपनी योद्धा शक्तियोंके साथ आनन्दसे तैयार रह ॥ ४ ॥

धूर पुरुषके पराक्रमोंका मैं वर्णन करता हूँ, जो उसने ( अहन्ने ) किये थे । बहनेवाले शत्रुका उसने नाश किया और उसके प्रवाह सबके लिये क्षुत्त कर दिये, तथा पर्वतोंके भागोंकी तोड़कर जंगल भी साफ किया ॥ ५ ॥

पर्वतके भागोंपर छिपकर रहनेवाले शत्रुओंका उसने बध किया, ऐसे पुरुषके लिये शरीरोंमें विशेष प्रकारके तीक्ष्ण शस्त्र तैयार कर दिये । जिस प्रकार गौरी रंभाती ॥ अपने बखड़ेके पास जाती है, उसी प्रकार उग धीरेके द्वारा मुक्त मिले हुए बालके प्रवाह समुद्रतक जा पहुँचे ॥ ६ ॥

वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकटुकेष्वपि तसु तस्य ।

आ सार्यकं मृगवीदत्त वज्रमईशेनं प्रथमज्जायईनाम्

॥ ७ ॥

अर्थ— ( वृषायमाणः ) बलवान् बौर ( सोमं अवृणीत ) सोमरसको प्राप्त हुआ । ( सुतस्य त्रिकटुकेषु अपि यत् ) रसका सोम उषध स्थानोंमें पान किया । ( मृगया सार्यकं वज्रं वा अयुक्त ) इन्धने बालरूप वज्र लिया और ( अहीनां प्रथमजां एतं अहन् ) शत्रुओंके पहिले इस बौरको मार डाला ॥ ७ ॥

भाष्यार्थ— अपना बल बढ़ानेवाला शूरवीर सोमरसका पान सोम समय बौर सोम स्थानोंमें करता है । यही शूरवीर माने शत्रु सदा संघार रखता है और बढ़नेवाले शत्रुके अघमाओ बौरका सोम पान करता है । और इस रीतिसे अपनी विजय प्राप्त करता है । ॥ ७ ॥



## शत्रियका धर्म

### आश्रयधर्म

भावा इह शूक्तोर्मे शत्रियधर्मं बताया होता है । इह तस्य मुख्यतः शत्रुका नाश करनेवाले शूरवीरका धर्मका है और उसका धर्म शूरवीरके आश्रयधर्मका प्रकाशक होता है । इस शूक्तमें भी पाठक उक्त बात देख सकते हैं । इस शूक्तमें तिन शब्दों द्वारा शूरवीरका धर्म होकर आश्रयधर्मका प्रकाश हुआ है, उन शब्दोंका अर्थ देखिये—

### शत्रियके गुण

१ इन्द्रः ( इन्द्रः )— शत्रुका नाश करनेवाला, शत्रु-सैन्यका नाश करनेवाला । ( मं. १ )

२ शूरः— शूरवीर । ( मं. १ )

३ अक्षानः— क्षुध, संयुध, तैजसी, प्रकाशमान । शत्रुका प्रतिकार करनेमें समर्थ । ( मं. १ )

४ मिश्रः— जनताका मित्र, जनताका हित करनेवाला । मृगप्रकाशमान । ( मं. १ )

५ यतीः— प्रयत्नशील, पुष्टधर्मी । ( मं. ३ )

६ सुगुः— भूयसेवाला, शत्रुको भूयसेवाला । ( मं. ३ )

७ तुरापाद्— तुराते शत्रुपर हमला करनेवाला ।

( मं. ३ )

८ शक्रः— समर्थ, शक्तिशाली, बलवान् । ( मं. ४ )

९ दग्नी— बल भाई शत्रुको धुन । ( मं. ५ )

१२ [ अथर्व. भा. २ पा० द्विती ]

१० वृषायमाणः— अपना बल प्रतिदिन बढ़ानेवाला, अपनी शक्ति सब प्रकारसे बढ़ानेवाला । ( मं. ७ )

११ मृगया ( मृग+यान् )— पनवान् । ( मं. ७ )

ये शब्द इह तस्य शूक्तमें शूरवीर शत्रियके वाचक हैं । इन शब्दोंसे शत्रियके कर्तव्योंका भी बोध होता है । शत्रियके पास धैर्य, धीर्य, पराक्रम अथि गुण होते चाहिये उसी प्रकार पुनः पुनः प्रयत्न करनेका गुण और शक्ति शत्रुपर हमला करनेका भी गुण अथवा चाहिये । शत्रु अपना बल अधिक रखनेको तैयारी भी शत्रियको करनी चाहिये और इस सबके लिये उसके पास विपुल बल भी चाहिये इसलिये आश्रयधर्म उल्लेख हमें यहाँ पाना होता है । अब शब्दों द्वारा जो शत्रियके कर्ष इन शब्दोंमें वर्णन हुए हैं, उनका विचार देखिये—

### शत्रियके कर्तव्य

१ शूर ! हरिभ्यां आवाहि— हे बौर ! योद्धोंपर तवारी कर । योद्धोंकी तवारी करनेका अम्यास शत्रियको करना चाहिये । ( मं. १ )

२ अ वृह— आगे बढ़ । शत्रियकी ऐसी तैयारी चाहिये कि जिससे वह जीजतासे आगे लड़े । बढ़ाईमें दिखाई न रहे । ( मं. २ )

३ वृत्रं जघान— घेरनेवाले शत्रुका बल धाँपकर बढ़ाई करनेवाले शत्रुका नाश करनेमें समर्थ शत्रिय हो । ( मं. ३ )

४ वलं विमेद— शत्रुके बलका भेद करे, शत्रुको तेनामें

पेद उत्पन्न करे, शत्रुको सेनाभी संघनित नष्ट करे, उस शत्रुसेनाको तितर बितर करे । ( मं. ३ )

५ शत्रून् ससहे- शत्रुका पराजय करे । शत्रुके हमलेको सहे गर्वात् शत्रुके हमलेको पीछे न हटे । ( मं. ३ )

६ विद्दि ( आ विद्दि )- जलम राज्यशासन कर । राज्यशासन करना अपना कर्तव्य है ऐसा क्षत्रिय समझे ।

( मं. ४ )

७ महते रणाय सधुयिमाः मरुत्व- बड़े युद्धके लिये क्षत्रीय योद्धक शक्तिपूर्वक द्वारा व्याप्तके तैयार रहे । धनु शरका करता है, ॥३॥ उसको अपनी योजना और पुनितर्पणे पूर करे । ( मं. ४ )

८ अहिं बहन्- शत्रुका नाश करे । ( मं. ५ )

९ पर्यतामां वक्ष्याः अग्निनत्- पर्यंतके उपरके पक्षे जलज तीक्ष्णकर शत्रु छिपकर रहनेके स्थान हटा बेधे । अपका बहाते बहनुवाले मही प्रवाह कुंसे करे । ( मं. ५ )

१० अयाः अनु सतर्ज- जलके प्रवाह शत्रुके अधिकारमें ही तो अपनी सपके लिये खुले करे । ( मं. ५ )

११ पर्यते शिश्रियाणं अहिं अहन्- बर्हादियोंका आश्रय करते लड़नेवाले शत्रुका नाश करे । ( मं. ६ )

१२ अक्षै रथेष्टा स्वर्णे यज्ञं वतस्त- इसके लिये गृहार तीक्ष्ण शस्त्रास्त्र तैयार करके दे । अपनी राजा अपने कारी-योंकी शस्त्र तैयार करनेके काममें निपुण करे और आश्रयक शस्त्रास्त्र तैयार करके ले । ( मं. ६ )

१३ स्वायकं यज्ञं आ अदत्त- बाल और बच्चा आदि शस्त्र हथिये लें । ( मं. ७ )

१४ अहीनां प्रपन्नजां पर्नं अहन्- बड़नेवाले शत्रुके मुख्य मुख्य धीरोंका अपार्त सेनानाशकोंका नाश करे । ( मं. ७ )

ये वाक्त्र क्षत्रियके कर्तव्य बता रहे हैं । इनकी विशेष व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये वाक्त्र स्वयं स्पष्ट हैं और घोड़ेसे सन्ताने इनका अंतर्गत ध्यानमें आ सकता है ।

यव राज्यशासन विषयक कर्तव्योंकी सूचना करनेवाले वाक्योंकी देखिये—

### राज्यशासन

१ मित्रः- प्रजाओंका मित्र बनकर राजा राज्य करे । अन्नी राजा बनकर राज्य न करे । ( मं. ३ )

२ ह्यं धुधि, गिरः सुपस्य- पुकार सुन, वागोंको स्वीकार कर अर्थात् प्रजाकी आवाज सुन । प्रजाकी इच्छाका जाबर कर । ( मं. ४ )

३ अयाः अज्जु समुर्ज अवज्जमुः- समस्तक बहनेवाले नहर चलावे और उससे कृषिकी सहायता करे । ( मं. ६ )

इस प्रकारका राज्यशासन केवल प्रजाके हितकी दृष्टि करनेके लिये जो क्षत्रिय करता है, उसीको प्रजाप्रताप करती है, इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र भाग देखिये—

### प्रजासे सम्मान

१ त्वा भद्राः सुवाचः उप अगु- तेरे पास हयोंकी उत्तम वाणी बहुतती है अपार्त हयित और मानवित हुई प्रजा वल्लकी उत्तम वाणीसे प्रस्ता करता है । कृतज्ञतासे सम्मान करती है । मानव्य अर्पण करती है । ( मं. २ )

मानवित होनेके पश्चात् ही प्रजा उत्तम राजासी इस प्रकार प्रस्ता कर सकती है । अगुपा भक्त हुई प्रजा राजाको बिदा या राजाका दौड़ करती रहेगी । इस प्रकार राजाके खयाल क्षत्रियके राष्ट्रीय कर्तव्य बना है, इस विषयमें इस सूक्तने उपदेश दिया है । महा नगर जो वाक्त्र उपपन्न लिये हैं, उनमें अर्थकी सुवीर्यताके लिये राष्ट्रीय अर्थीका पुन-व्यवस्था करने की योजना परिपूर्ण जानबूझकर बिना है । यह बात संस्कृत पाठक स्वयं जान सकते हैं । इसका परिपूर्ण इस प्रकारके स्पष्टीकरणमें आवश्यक हो जाता है । इसलिये इस विषयमें कुछ न मिलकर भद्र क्षत्रियका व्यक्तिगत आचार भीषण विधि कैसा रहना चाहिये इस विषयमें इस सूक्तका उपदेश देखते हैं—

### भोग

१ सुतस्य भयोः भद्राय पिय- सोमादि वनारहिते विभीष्टे बधुर रसका बाल हथके लिये कर । ( मं. १ )

इस विधानमें बधुर रसका पाल करनेका उपदेश है । यही बधुरकं प्राधान है । वनस्पतिमें सोम मुख्य है । इसका ग्रहण करनेसे अन्य आरोग्य और हयवर्षक वनस्पतियोंका ग्रहण स्वयं हुवा है । इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें सोमका नाम है और यही इस मंत्रसे संबंधित है । इस सूक्तमें इसके उत्पत्ति निम्न लिखित हैं—

२ सुतस्य भयोः जठरं पूजस्य । ( मं. २ )

३ सुतस्य त्वा कुक्षीः आदिशन्तु । ( मं. ४ )

४ सुतस्य सोमं त्रिकदुकेषु अपिप्यत् । ( मं. ७ )

॥ गन्ध भागोंका भी वही वायु है । ( २ ) सोमरससे बेट भर से । ( ३ ) सोमरससे दोनों कुलिया भर से । ( ४ ) निचोडा सोमरस तीन घर्तनों द्वारा तीन स्थानोंमें बँटकर दिनमें तीन बार पी । यह सोमरस मधुर रसिवाला, हृत् और उत्साहवर्धक, पचावटकी दूर करनेवाला, शीघ्र आसुप्त करनेवाला, बुद्धि बढ़ानेवाला और रोगबीजोंको दूर करने-वाला है ।

### सोम और मद्य

कल्पिप विद्वान् सोमको शराब मानते हैं, पर उनकी यह धारणा रोपपूर्ण है । सोम, सुरा, वाक्सी, अस्तव, अरिष्ट, मद्य और शराब ये शब्द समानार्थक नहीं हैं । मद्य और शराब ये शब्द समानार्थक होगये हैं और सुरा शब्द भी उनमें सम्मिलित हुआ है, मद्य प्रातः हुये पता है । इसलिये हम कहते हैं कि इन शब्दोंका भाषाय पाठक अवश्य स्मरण रखे—

१ सोम- सोमवत्सीका रस, जो मृदु, मधु ( मद्य ), निमी, भुने ॥ माषका मादा, बही आदि अनेक पदार्थोंके मिश्रणके साथ अच्छा स्वादिले रूप बनाकर पीया जाता है और गो आदि पशुओंको भी दिलाया जाता है । यह पल्प-तिर्पिका बैल रस होता है । इसके गुण ऊपर विवे हैं ।

२ सुरा- किसी रसका भाव बनाकर फिर उसको ठण्डा करी रस बनाया जाय, तो उसे सुरा कहते हैं । ( Distilled Water ) पानीकी भाव बनाकर फिर उस भावका पानी बन जानेसे भी उस द्रवका यह नाम होता है, बुद्धि-पलका भी यही भाव उक्त कारण ही है, क्योंकि भूमिपरके प्रल भाव हीकर मेष बनते हैं और उससे बुद्धि होती है । किसी भी रसकी इस प्रकार बुद्धि होती है । यह बुद्धिकी रीति है । मात्रकल इस रीतिसे शराब बनाते हैं, इसलिये इस नामकी विरुद्धि हुई है, यह बात सामर्थिक है । आसुप्त नैऋतकका केषत सुरा मद्य उक्त विधिसे बनाए गएभरि बुद्धि जल या शराब बाधक है ।

३ चाक्षुषी, अमरचाक्षुषी- ये भी शब्द उक्त प्रकारके रसके या जलके बाधक हैं । इन येषोंमें मादकता या मृदुप वातधर्म नहीं है । वस्तु मात्रकल इस रीतिसे शराब बनती है इसलिये ये सब नाम दूरे अर्थों मात्रकल प्रयुक्त होगये

हैं । प्राचीन समयमें भी स्वचित् दूरे मोर स्वचित् लच्छे वर्षोंमें इनका उपयोग दिखाई देता है ।

४-५ आसुप्त और अरिष्ट- ये नाम लौघमि रसोंके होते हैं । इनमें कुछ सङ्घट्ट होनेके कारण मद्य उत्पन्न होता अर्थात्तः ये, अर्थात् इनमें 'मद्यकी मात्रा प्रति घटक को बागके करीब होती है । इसलिये शराबमें इसकी गिनती नहीं होती ।

६-७ मद्य और शराब- मादक होनेसे निश्चेत हानि-कारक वेय हैं ।

पाठक इस विवरणसे समझ गये होंगे कि सोममें शीघ्रकी कल्पना अथवा लच्छी कल्पना वर्णित भी नहीं हो सकती, दिनमें तीन बार रस निचोडा जाता है और उसी समय उसको मातृतिर्पिका देकर पिया जाता है । तबसे, शेषरसों और मद्यकलको रस निचोडा और पिया जाता है, उसका वर्णन इस सूक्तके शाला मद्यमें आधुका है ।

इस सूक्तमें सत्रियका भोजन, पल्पतिर्पिका मधुर रस है यह शाला स्पष्टतासे बड़ी है, जो शाकाहारकी बुद्धि करने-वाली है ।

### जीवन संग्राम

वेदमें 'मदते रणाय' ये शब्द बारम्बार आते हैं । 'मदन्तु युद्ध' यत्त रखा है, ताप्य रहकर अपना कर्तव्य करो, यह वेदका उपदेश जीवन संग्राममें लड़नेवाले मनुष्य यावका मार्गदर्शक है । अत्येक मनुष्य तथा युद्धभूमिपर लड़ा हुआ है, किसी न किसी प्रकार युद्धमें सम्मिलित हुआ है, उसको दण्डा हो या न हो उसको युद्ध करना ही पड़ता है, फिर वह भावकर कहें वाय ? इसलिये उसको अपनी युद्ध-का स्वक्य अपना चाहिए और उस सम्मन्धसे उत्पन्न होने-वाला अपना कर्तव्य अवश्य करना चाहिए । मनुष्य उग्रा लक्ष्य निरर्थक हो जायगा । चाहे लक्ष्य मर्त्यतामूर्तिसे युद्ध करे या हिंस्र मूर्तिसे करे, युद्धके बिना उसको स्थिति नहीं है और इस युद्धमें विजय बचानेके बिना उसकी उन्नति नहीं है । यह हुई तब मनुष्योंकी भाव, सत्रियकी तो पुण्य हो बर है, उसका जीवन हो मृदक है, उतने लिये युद्ध तो अनिवार्य है ।





## अथर्ववेद-शास्त्र

कांड १, सूक्त २१

( अथर्व - अथर्वानां वेदना - इत्यम् । )

स्यस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृषो वशी । वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अमयंकरः ॥ १ ॥

वि न इन्द्र मृषो जहि नीचा यच्छ पृथन्यतः । अधमं ममया वमो यो अस्मौ अभिदासति ॥ २ ॥

वि रक्षो वि मृषो जहि वि वृषस्य हन् रुम । वि मुन्युर्मिन्द्र वृत्रहन्मित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥

अपेन्द्र द्विप्तो मनोऽप जिज्यासतो वृषम् । वि महन्मै यच्छ वरीयो यावया वृषम् ॥ ४ ॥

अर्थ— ( स्यस्ति-दा ) योग्य देनेवाला, ( विशां पतिः ) प्रजाओंका पातक, ( वृम-हा ) घेरनेवाले शत्रुका नाश करनेवाला, ( वि-मृषः वशी ) विशेष हितकोंको समर्थ करनेवाला, ( वृषा ) बलवान् ( सोम-पा ) सोमका पान करनेवाला ( अमय-करः ) अमय देनेवाला ( इन्द्रः ) शत्रु पाता ( नः ) हमारे ( पुरः एतु ) आगे बैसे, हमारा नेता बने ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! ( नः मृषः ) हमारे शत्रुओंको ( विजहि ) मार डाल । ( पृथन्यतः ) सेवाके द्वारा हमपर हमला करनेवालोंको ( नीचा यच्छ ) नीचे ही गिरा दे । ( यः अस्मान् अभिदासति ) जो हमें दास बनाना चाहता है या हमारा शासक करना चाहता है, उसको ( अधमं तमः गमय ) हीन अर्थकारणें पशुंदा दे ॥ २ ॥

( रक्षः मृषः वि विजहि ) राजाओं और हितकोंको मार डाल, ( वृषस्य हन् विरुज ) घेरकर हमला करनेवाले शत्रुके योगों अवशोंको तोड़ दे । हे ( पृथहन् इन्द्र ) वज्रनाथक प्रभो ! ( अभिदासतः अभिमय ) हमारा नाश करनेवाले शत्रुके ( मनुं विरुज ) आत्माहूको तोड़ दे ॥ ३ ॥

हे ( इन्द्र ) प्रभो ! राजन् ! ( द्विप्तः मनः अप ) द्वेषका मन बल दे । ( जिज्यासतः यवै अप ) हमारी आत्माके नाश करनेवालेको दूर कर, ( महन् दामं धियच्छ ) हमें बड़ा सुख दे और ( वर्यो वरीयो यावया ) वरकी दूर कर ॥ ४ ॥

भाषार्थ— प्रजाओंका हित और संभल करनेवाला, प्रजाओंका उत्तम पालन करनेवाला, घेरकर नाश करनेवाले शत्रुको दूर करनेवाला, बलिष्ठ, अमृतपान करनेवाला, प्रजाको अमय देनेवाला राजा हो हमारा अप्रयामो बने ॥ १ ॥

हे राजन् ! प्रजाके शत्रुका नाश कर, सेवा लेकर हमला करनेवाले शत्रुको दबा दे, जो शासक और दास करना चाहता है उसको भगा दे ॥ २ ॥

हितक दूर शत्रुओंके मार डाल, घेरकर लड़नेवाले शत्रुओंके काट दे, तब प्रकरके शत्रुओंका उत्तम रूप कर दे ॥ ३ ॥

शत्रुओंके मन ही बदल दे अर्थात् वे हारना करनेका विचार छोड़ दें, नाश करनेवालोंको दूर कर, शासक और दास प्रजाको सुखी कर ॥ ४ ॥

## आयुधार्थ

यह ' अमयगण ' का सूक्त है । इस सूक्तमें आयुधार्थका उपदेश और राजाके कर्तव्योंका वर्णन है । उत्तम राजाके मूल प्रथम मन्त्रमें वर्णन किये हैं । इस मन्त्रकी कर्ताटीके राजा उत्तम है या नहीं इसकी परीक्षा हो सकती है । अन्य तीन मन्त्रोंमें विविध प्रकारके शत्रुओंका वर्णन है और उनका प्रतिकार करनेका उपदेश है । सब प्रकारके अन्तर्गत शत्रुओंका प्रतिकार करके प्रजाको अधिक सुखी करना राजाका मुख्य कर्तव्य है । यह सूक्त अति सरल है इसलिए इसका अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं है ।

# आशा-पालक-सूक्त

## कांड १, सूक्त ३१

[ ऋषिः — ऋषभ । देवता — आशापालाः, [ वस्तुतोषति ] । ]

आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्योऽमृतैभ्यः । इदं भूतस्यार्घ्येभ्यो विधेम हविषा वषम् ॥ १ ॥

य आशानामाशापालाश्चत्वार स्वम देवाः । ते नो निर्वृत्त्याः पालेभ्यो मुखतर्हिषोर्जहसः ॥ २ ॥

अस्मामस्त्वा हविषा यज्ञाम्यश्लेषस्त्वा घृतेन जुहोमि ।

य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स नः सुभृतमेह वधत् ॥ ३ ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ।

विश्वं सुभृतं सुविदर्शं नो अस्तु व्योगेव दंष्ट्रेषु धर्मम् ॥ ४ ॥

अर्थ— ( भूतस्य मध्यक्षेभ्यः ) जगत्के मध्यस्थ ( अमृतैभ्यः ) अमर ( आशानां चतुर्भ्यः आशापालेभ्यः ) दितामोके चार दितापालको के लिये ( यधं ) हम सब ( हविषां इदं विधेम ) हविष्यते इस प्रकार अर्पण करते हैं ॥ १ ॥

हे ( देवाः ) देवो ! ( ये आशानां चत्वारः आशापालाः स्वम ) जो तुम दितामोके चार दितापालक हो ( ते नः ) वे तुम हम सबको ( निर्वृत्त्याः पालेभ्यः ) अमरताके चारों ओर ( अंहसः अंहसः ) हर एक पापसे ( मुञ्चतां ) मुक्त हो ॥ २ ॥

( अ-ग्रामः ) न यका हुआ मे ( हविषा स्त्वा यज्ञामि ) हविष्यते तेरा पवन करता हूँ । ( अ-श्लेषः स्त्वा घृतेन जुहोमि ) संगम न होता हुआ तुमको धी अर्पण करता हूँ । यह ( आशानां आशापालः तुरीयः देवः ) जो दितामोका दितापालक चतुर्थ देव है ( सः नः सुभृतं मेह अवधत् ) वह हम सबको उत्तम प्रकारसे यहाँ पहुँचावे ॥ ३ ॥

( नः मात्रे उत पित्रे स्वस्ति अस्तु ) हम सबकी माताके लिये तथा हमारे पिताके लिये मान्य होवे । तथा ( गोभ्यः जगते पुरुषेभ्यः स्वस्ति ) गौर्षोके लिये, जलमें फिरनेवालोंके लिये और पुरुषोंके लिये सुख होवे । ( नः विश्वं सुभृतं सुविदर्शं अस्तु ) हम सबके लिये सब प्रकारका देखने और उत्तम ज्ञान हो और हम ( सूर्य उद्योक् पृथग् यशोम ) सूर्यको बहुत कासतक देखते रहें अर्थात् हम दीर्घायुवी हों ॥ ४ ॥

आशार्थ— चार दितामोके चार अमर दितापाल हैं, वे इस यज्ञ में हुए अमृतके मध्यस्थ हैं । उनकी पूजा हम करते हैं ॥ १ ॥

चार दितामोके चार दितापाल हैं, वे हमें हर एक पापसे अर्थात् और निर्वृत्तिसे भी हमारा छुटकारा करें ॥ २ ॥

मे न यकता हुआ उत्तम लकार करता हूँ, चंपका मूला न बनकर मे उनको धो देता हूँ, जो ॥ ३ ॥ चार दितामोका चतुर्थ देव है ॥ ४ ॥ हमें सुखपूर्वक उत्तम अवस्थातक पहुँचावे ॥ ३ ॥

हमारे माता पिता, हमारे अन्य इन्द्रपित्र, हमारे माय, योडे आदि वस्तु तथा धी भी हमारे माता हों वे सब उत्तम प्रकार सुखी हों । हमारा सब प्रकारसे अभ्युदय होवे और हमारा ज्ञान उत्तम प्रकारसे बढ़े तथा हम दीर्घायु हों ॥ ४ ॥

## आशा-पातक-सूक्त

### दिक्पाल

पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर ये चार दिग्भाग हैं। इनकी रक्षा करनेवाले चार दिक्पाल हैं, ये अपनी अपनी दिशाका सरक्षण कर रहे हैं। ये दिग्पाल रक्षण करने वाले हैं कि इनके जनमानों कोई भी मनुष्य किसी भी प्रकार बुरा कार्य न कर सके। हृदय मनुष्यको उचित है कि यह उक्त बात मनमें धारण करे और इन देवी कोकपालोंके बन्धके योग्य कोई साधन न करे।

राजा अपने राज्यकी व्यवस्था और राज्यका सुशासन करनेके लिये राज्यमें चार विभाग करके उसपर एक एक मुख्य शासक अधिकारी नियत करे, वह अधिकारी बसठाने अपने विभागका योग्य शासन करे। दुष्टोंको बन्ध दे और सज्जनोंका प्रतिपादन करे और कहीं भी अन्याय होने न दें। यह सार्वभौमिकता पाठ इस सूक्तसे हमें मिलता है।

पश्चिमके अन्धर राष्ट्र और राष्ट्रके अन्धर व्यक्तिका देह है और इन दोनों स्थानोंमें नियम एक जैसा ही है। इसलिए राष्ट्रशासनका विचार होनेके पक्षपात जिन व्यक्तियोंका राष्ट्र बलवान् है उन व्यक्तियोंके अन्धर चार दिग्पालोंके चार दिक्पाल बलवान् हैं और उनका शासन इस अध्यात्मभूमिकाओं जैसे चल रहा है और उससे हमें वैयक्तिक सदाचारके नियमों कीमती धोय लेना है, इसका विचार अव करना चाहिये।

### देहमें चार दिक्पाल

देहमें मनुष्यको 'पूर्व द्वार' कहते हैं और गुहाको 'पश्चिम द्वार' कहते हैं। ये द्वार एक दूसरेके साथ सम्बन्धित भी हैं। पूर्व द्वारसे अर्थात् मुखसे जब बाल शरीरके अन्धर जाता है, वहाँका कार्य करता है और शरीरके अन्तर्गतके रूपों परिचित होकर पश्चिम द्वारसे अर्थात् बुराते बाहर हो जाता है। अर्थात् बोधक लक्षका प्रवेश पूर्व द्वारसे इस शरीर में होता है और लक्षको बुर करनेका कार्य पश्चिम द्वारसे होता है। दोनों कार्य शरीरके स्वस्थके लिए अत्यन्त आवश्यक ही हैं। परन्तु यह ही स्थूल शरीरके स्वास्थ्यके साथका सम्बन्ध है, इसके अलावा और भी दो द्वार हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्यको उपरति ॥ अवनतिके साथ अधिक है; ये दो द्वार मनुष्यके शरीरमें ही हैं, जिनको 'उत्तर द्वार' तथा 'दक्षिण द्वार' कहते हैं।

'उत्तर द्वार' सत्यको है जिसका नाम 'विराटि

द्वार' उपनिषदोंमें कहा है, इस द्वारसे शरीरमें जो वातावरण प्रवेश होता है और इसी द्वारसे अपने प्रगलने जिस समय यह बाहर जाता है, उस समयसे यह अन्तर्मरणके बुद्धिसे छूटता है और पुनः शरीरके बन्धनमें पड़ता नहीं। बालकके भक्तिकर्म छोड़नेमें इस स्थानपर हटती नहीं होती। इसका नाम उत्तर द्वार है क्योंकि इस द्वारसे जानेसे उत्तर अन्तर्मरण प्राप्त होती है।

यह द्वार सत्ता केन्द्रके साथ सम्बन्धित है। इसी सत्ता केन्द्रके साथ सम्बन्ध रखनेवाला विद्या द्वार शिव है, जिससे वीर्यका पाठ होता है। इसके योग नियम पालनसे सुयोग्य सन्नति प्राप्त होती है, परन्तु इसके अनियममें चलनेसे मनुष्यकी अव्यवस्था होती है। ये दो द्वार मनुष्यको बच और नीच बनानेमें समर्थ हैं। अन्तर्मरण पालन द्वारा उत्तर मार्गसे जानेका उपनिषदोंका बर्णन इसी उत्तर मार्गको सूचित करता है, इसका नाम 'उत्तरायण (उत्तर+अयन)' अर्थात् उत्तर मार्गसे जाना है। इसके विपक्ष 'दक्षिणायन' अर्थात् दक्षिण मार्गसे जाना है, जिसके संघर्षसे उत्तम मनुष्यवर्गपालनपूर्वक उपरति होता संभव है, परन्तु असमयसे मनुष्य इसका गिरता है कि उसका कोई विकास ही नहीं होता। ये दो मार्ग मरणात्यन्तोंके साथ सम्बन्ध रखनेवाले हैं।

इस प्रकार पूर्वद्वार और पश्चिमद्वार से शरीरमें अन्तर्मरण के साथ सम्बन्ध बनता है तथा उत्तरद्वार और दक्षिणद्वार से दो मार्ग धर्मशास्त्रानुसार साथ सम्बन्ध रखते हैं। ये द्वारोंके चार संरक्षक देव हैं, अतः ये देव राजसत्तिके हमसेके कारण बनने नहीं चाहिये।

### आशा और दिशा

इस सूक्तमें दिशावाचक 'आशा' शब्द है और उसके पातकका नाम 'आशापात' भाग्यमें आया है। 'आशा' शब्दके दो अर्थ हैं। एक 'दिशा' और दूसरा 'आशा', महत्त्वाकांक्षा, उन्मीद। मनुष्यको भरोसा, इच्छा, महत्त्वाकांक्षा और उन्मीद होती है, उसी प्रकारकी कार्य करनेकी दिशा होती है। मनुष्य भिन्न समय आशाहीन हो जाता है, विराग होता है, हताश होता है, उस समय इस अवस्थासे हटनेका या घर जानेका इच्छुक होता है। यह विचार यदि पलकोंके मनमें जम जायगा, तो उनको सदा स्व आशा कि यह सूक्त मनुष्यके साथ कितना अधिक सम्बन्ध रखता है।

इस अथर्व भूमिमें शरीरका और हृदय गुहाका वर्णन करते हुए कहा है कि इस शरीरमें नौ द्वार हैं । ये द्वार हैं इसमें कोई सन्देह ही नहीं है । दो नाक, दो माँस, दो कान, एक मुख, गुदा और शिखर ये नौ द्वार यहाँ कहे हैं । इनमेंसे मुख पूर्व द्वार, गुदा पश्चिम द्वार, शिखर दक्षिण द्वार इन तीनोंका सम्बन्ध इस अपने प्रकृति सुक्तके अन्तमें है । जो चतुर्थ द्वार है वह बाद पकवाने पृष्ठस्थके ऊपर मस्तिष्कके भी ऊपरके भागमें ' विदति ' नामसे प्रसिद्ध है । इसका वर्णन अथर्ववेदमें इस प्रकार है—

मूर्धानमस्य संस्तीर्याधर्वा हृदयं च यत् ।

मस्तिष्कादूर्ध्वं प्रैरयत् पयमानोऽधि शीर्षतः ॥

( अथर्व. १०।१।२७ )

' मस्तक और हृदयको सीकर अर्थात् एक केन्द्रमें सीज कर के मस्तकके भी ऊपर तिरके बीचमेंसे प्राण कोका जाता है । '

### विदति-द्वारसे प्रवेश

विदति द्वारसे तृतीय देवीके, साय आत्माके, शरीरमें प्रवेश होने पर प्राण द्वार बन्द होजाता है । पश्चात् प्राणसायन द्वारा अपनी इच्छासे इसी द्वारसे वापस जानेपर मुक्ति होती है । साधारण जन देहापाय करनेके समय किसी स्थल द्वारसे बाहर जाते हैं, परन्तु केवल योगी ही अथर्ववेदके कहे मार्गसे मस्तिष्कके परे इसी द्वारसे जाता है और मुक्त होता है ।

इस अन्तर्में ' मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः । अधि शीर्षतः । ' आदि शब्दों द्वारा मस्तकके ऊपरके उत्तर द्वारका वर्णन किया है । अर्थात् जो चार द्वार हमने इस शालके व्याख्यानके प्रसंगमें निश्चित किये हैं उनका द्वैतम् अन्यत्र वर्णन इस प्रकार आता है । नौ द्वारोंमेंसे तीन मोक्ष इस मन्त्रा-सम्पान-का एक निमकर चार द्वार हैं और उनकी चार आश्वास्य अथवा विशाई हैं । अब ये आश्वास्य वेतिथे—

द्वार

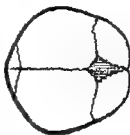
आश्वास्य

१ पश्चिमद्वार = गुदा = की आत्मा, निवर्जन करना । पश्चिमार्धम् ।

२ पूर्वद्वार = मुख = की आत्मा समुद्र भोजन करना । अर्धप्राणित ।

३ दक्षिणद्वार = शिखर = की आत्मा भोजन उपयोग करना । काम ।

४ उत्तरद्वार = विदति = की आत्मा बंधनसे मुक्त होना । मोक्ष ।



मस्तकम्  
विदतिद्वार



पृष्ठबंध



सहस्रार चक्र  
पृष्ठबंधमें चक्रके स्थान

## आरोग्यका आधार

इसमें पश्चिमद्वारे को माना है, वह केवल 'द्वारिधर्म' पालन करनेकी ही है, तथापि इस बीच धर्मसे अपात पक्षि बननेके कर्मसे शरीर शुद्ध होनेके कारण इससे शरीर स्वास्थ्यकी प्राप्ति होती है। सब अन्य योग इसके आधारे हैं यह बात हरएक जान सकते हैं। द्वारका का कार्य विषय मानेसे शरीर रोगी होता है और अन्य द्वारोंकी आशाएं पूर्ण होनेकी स्वप्नमयता होती है। इसके उत्तम प्रकार कार्य करने पर ही अन्य आशाओंके सफल होनेकी सम्भावना है। इस ज्ञान हम कह सकते हैं, कि इस पश्चिम द्वारकी आशा मनुष्यके लक्ष्य 'आरोग्यकी प्राप्ति' रूपसे रहती है। इस आशाका कार्यक्षेत्र बहुत बड़ा है, मनुष्य इस विषयमें जिसका कार्य करेगा, उसका वह स्वस्थता प्राप्त करेगा और वह यदि ऐसे व्यवहार करेगा कि इस पश्चिम द्वारसे व्यवहार ठीक न चले तो उससे रोगी होनेमें कोई संका हो नहीं है।

## स्नानपात्र

अब पूर्वद्वारकी आशा देखिये। सलेपसे इतना कहना इस विषयमें पर्याप्त होगा कि इस द्वारसे मनुष्य उत्तम अन्न और उत्तम पान करनेकी इच्छा करता है। अन्नदाता धेन करती करती मनुष्य इतना अधिक खाता है कि वह अजीर्णसे पीडाग्र होता है। इसलिए इस विषयमें प्रथमपूर्वक समय रखना चाहिये। चिकित्सा गुलाम और बिहवाका दास जो बनता है उसको आमु कण्डप्रद ही होती है। हरएक इन्द्रियके विषयमें यहो बात है। इस प्रकार इन्द्रिय भोगके छिपे फनकी आवश्यकता है, इस हेतुसे इस द्वारकी आशा 'अर्थकी प्राप्ति' ही है। इस आशासे मायमिक अन्न मानेसे बच्य होते हैं और संयम द्वारा आशाश्रयताके अनुसार धीमे सेनसे सुख बढता है, उपरति होती है। मुखद्वारसे सम्बन्धितका भी एक फल होता है। उत्तम सम्बन्ध-प्रयोगसे अन्तर्मुखी प्राप्ति संतुष्टि है और कुशाग्रके प्रयोगसे अन्तर्मुखी संतुष्टि है। इस विषयमें भी बिहवापर संयम रखना आवश्यक है। अन्तर्मुखी होनेमें कोई डर नहीं कपेगा। इस प्रकार इस प्रितोय द्वारकी आशाका सम्बन्ध मनुष्यको उपरतिसे साथ है।

## कामोपभोग

तोसरत शक्ति द्वार है। इस द्वारसे द्वार अर्थात् उत्तम प्रजनन अर्थात् सुप्रजाजनन करना आवश्यक है। परन्तु अर्थात् इसके अंतर्भवसे जो अर्थ हो रहे, वे शिखी छिपे

१३ [ अर्थ भा. २ भाग- द्वितीय ]

रही है। इसका संयम बहुतप्राप्ति साथ होता है। अन्तर्भव होना ही वैदिक धर्मका साम्य है। इसके विचारसे द्वारकी आशाका पता लग जायगा। यह केन्द्र अत्यन्त महत्वका है, परन्तु जनताका ज्ञान इसके कार्यमें बिगाड़ करनेकी ओर अधिक है और सुधारके मार्गमें प्रयास अति कम है।

## वर्चस्वका नाश

अब चतुर्थ विवृति द्वारपर हम आते हैं। यह विवृति-द्वार है। इससे औपचार्य इस शरीरमें प्रविष्ट हुआ है, परन्तु इसी द्वारसे बाहर मानेका मार्ग इसको मिलता नहीं है। युद्धभूमिमें श्रेष्ठ करना वह वाचना है, परन्तु सुरक्षित प्राप्त करने-की विचारना से क्या नहीं है। अन्तर्मुखमें पुनर्मुखी विद्या जाननेवाला, परन्तु चक्रग्रहमें दूसरे दूसरे विषय प्राप्त करने और सुरक्षित प्राप्त मानेकी विद्या न जाननेवाला विविध सुधार अनिवार्य रही है। यदि वह सुरक्षित प्राप्त मानेकी विद्या जानेगा तो वह विषय-अन्तर्मुख-होना, फिर इसको डर किताका है? 'घिजयी' बननेके सिधे ही ये सब धर्मधर्म हैं। जिस समय माने हुए मानेसे वह औपचार्य पालन करनेकी प्राप्ति प्राप्त कर सकेगा, उस समय इसको कोई अन्तर्मुख बच्य नहीं पडुका सकता। हरएक मनुष्यकी दूर करनेकी इच्छा इसमें इस द्वारसे कारण है।

इस प्रकार चार द्वारकी चार आशाएं हैं और हरएक मनुष्य इन आशाओंके कार्यक्षेत्रमें दूर भागना कार्य करता है और गिरता या उठता है।

## अमर दिक्पाल

इस सुक्तके प्रथम सूत्रके अन्तर्मुखी तीन बातें बही हैं—  
( १ ) चार आशाओंके चार अमर आशा प्राप्त है।  
( २ ) के ही मृत्युमय है। ( ३ ) जन्मी पुनः हम हवनसे करते हैं।

मनुष्यमें चार आशाएं कार्यरती हैं, उन आशाओंका स्वयं पता है और उनके साथ मनुष्यके पान प्रथम उपभोगका किता प्रकार सम्बन्ध है, यह पूर्व स्वयंसे बताया हो है। चार आशाएं मनुष्यके अन्तर्भवतात्पर्य हैं, ( १ ) शरीरधर्मका स्वाद करना, ( २ ) भोग प्राप्त करना, ( ३ ) कामका भोग करना और ( ४ ) कथनसे निवृत्त होना। ये चार आशाएं अथवा कामधर्म मनुष्यमें सदा कार्यरती रहती हैं, मनुष्य तथा प्राणमें ये सम्बन्धित रहती हैं। चतुर्धर्मोंमें भी आशाओंसे ये रहती

है अर्थात् भूतमात्रमें ये सब रहती है, इसलिये इसका अनात्म अधिकार प्राणीमात्रपर है, मानते थे हो भूतोंके सम्बन्ध है। इनकी सम्पत्ति इसलिये कहा है कि इनकी प्रेरणासे ही प्राणी अपने अपने सब व्यवहार करते हैं। यदि ये अस्मात् प्राणियोंके अन्दर न रहें, तो उनकी हृत्वन भी बन्द हो जायगी। मनुष्यके सम्पूर्ण अर्थ इसकी व्यापनतामें ही हो रहे हैं। इसलिये ये ही चार आशा-पातक मनुष्यके चार अधिकारी हैं। इनकी व्यापनतामें रहता हुआ मनुष्य अपने व्यवहार करता है और उनका बुरा या भला परिणाम भोगता है।

### हवनसे पूजन

इसका पूजन हवनमें ही हो रहा है। पूर्वद्वार मुख है, उसमें अन्नदानका हवन हो रहा है। कौन प्राणी ऐसा है कि जो यह हवन नहीं करता। इसी प्रकार दक्षिणद्वार शिस्त-देवके पूजन सब प्राणी हैं, इसका हो नहीं पांशु इस कामके ही अति पूजासे लोग अपना ही घात कर रहे हैं, इसकी बात सत्य है कि उत्तरद्वार शिस्तका नाम विद्वति है उसके पूजन अत्यन्त बल है और पश्चिमद्वारकी पूजा करना छोटे ही जानते हैं। पश्चिमद्वारकी पूजा योगमें प्रसिद्ध 'अपाना-धाम' से की जाती है। जिस प्रकार मांसिका द्वारसे करने का व्यायाम 'आनायाम' होता है, उसी प्रकार पश्चिम द्वारसे अनायास किया जाता है। इसकी शिष्टा भी पीछे लोग जानते हैं। यह किन्ना योगशास्त्रमें प्रसिद्ध है और इससे मांसिके निचले भागका आरोहण प्राप्त होता है। उत्तरद्वार विद्वतिके उपासक सात भोगी होते हैं, वे इस रचनापर अपना ध्यान करते भुक्तता प्राप्त करते हैं। इनकी हवनसे पूजा यह है—

- १ पूर्वद्वार- (मुख)- अन्नदानाधिके हवनसे पूजा।
- २ दक्षिणद्वार (शिस्त)- भोगविद्वत् द्वारा कामदेवकी पूजा।
- ३ पश्चिमद्वार (गुदा)- अनायास-अपानका प्राणमें हवन करके पूजा।

इसका उत्तेज मनुष्यकीतामें भी है—

अपाने क्षुद्रति प्राणं प्राग्गोऽपानं तथा परे।

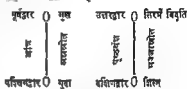
(न. थो. ४१९)

- ४ उत्तरद्वार (विद्वति)- अतिशक्ति मनुष्यके-उत्तेज सहस्र-धरुमें ध्यानास्थिते पूजा।

इनमें पहिली दो उपासनाएं अवश्यमें शक्ति है और दूसरी दो कम हैं। परंतु योगधर्ममें है। प्रथम चतुर्थ 'हृत्' चारों

अंगर आशागतोंकी हवन द्वारा पूजा करेंगे 'ऐसा स्पष्ट कहा है। यह इसलिये कि हृत्पूज मनुष्य चारोंकी उपासना द्वारा अपना उद्धार करे।

॥ नियमन ॥ प्रकार है—



पूर्व तथा पश्चिमद्वार से हमारे शरीरके विद्वत् शिस्तके मुख हैं। मुखका अतिरेक होनेसे गुदाका कार्य विगड़ता है और गुदाका कार्य ठीक रहनेसे मुखकी शक्ति शक्ति रहती है। इस प्रकार ये एक दूसरेपर नियमन करते हैं। इसी प्रकार शिस्तके और शिस्त ये परस्परका नियमन करते हैं। यदि शिस्तके अतिरेक शिस्त, तो शिस्तके हस्तका हो जाता है और मनुष्य शिस्तका कार्य करनेमें असमर्थ हो जाता है। पातक चक्र पर विकल्पा हो जाता है। तथा शिस्तके सुविचारोंको स्थिर करनेसे के सुविचार शिस्तके बल संयम करनेमें सहायक होते हैं। इस प्रकार ये परस्पर उपासक भी हैं और पातक भी हैं। अब द्वितीय चक्रका विचार करेंगे—

### पापमोचन

द्वितीय चक्रका अर्थ यह है— 'चार आशागतों चार आनायासक देव हैं, वे हृत् पापसे तथा अपोपतिके पापसे बचावें।'।

पूर्वोक्त वर्णनसे यह बात होगया होगा कि ये चार देव हृत् किस प्रकार बचा सकते हैं और शिस्त प्रकार गिरा सकते हैं। देखिये—

१ पूर्वद्वार-मुख- शिस्तकी शक्तियोंसे अन्नदानमें विद्वति होकर, वेदका विचार और स्वात्म्यका ज्ञान। इसी शिस्तके संयमसे चारोप-प्राप्ति।

२ दक्षिणद्वार-गुदा- पूर्वोक्तके संयम और असंयमसे ही इसके लाभ या हानि होनेका सम्बन्ध है।

३ उत्तरद्वार-शिस्त- शिस्तके संयम और असंयमसे ही इसके लाभ या हानि होनेका सम्बन्ध है।

४ उत्तरद्वार-विद्वति- पूर्वोक्तके संयम और असंयमसे ही इसके लाभ या हानि होनेका सम्बन्ध है।

इसका मनन करनेसे मैं पापसे कित तटस्थ रह सकूँ यह कहते हैं इसका मान हो सकता है। पापसे छुड़नेसे ही निर्धनिके पाससे पनूय्य छट सकता है। निर्धनिका अर्थ काश है। पाप करनेवालेको निर्धनिके जवाँव दिवालेके पास बाँध देते हैं और पुण्यवानोंको उनसे कोई कष्ट नहीं होता। इस सम्प्रका यह कथन बड़ा मोहप्रद है कि मैं बार बारकी बार आस्राप मनुष्यको पापसे छुड़ा सकता हूँ और मननसे भी मुक्त कर सकती है। कोई आशापाशक इनके विरुद्ध कार्य करता हो या छत्रके आधीन हुआ हो, तो सावधानीसे अपने व्यवहारा ध्यान करे। इस प्रकार द्वितीय भग्नका विचार करनेसे इसका दोष निरा, सब तृतीय मान देखते हैं—

### चतुर्थ देव

तृतीय भग्नका आशय यह है— मैं न बकता हुआ और अपने कुर्बत न होता हुआ हवनसे तथा घोसे इनकी वृत्ति करता हूँ। इन बार आशापाशकों में जो चतुर्थ आशापाशक देव है वह हमें सूचिते पहा भानान्न स्थानमें पहुँचावे ।

इस भग्नमें कहा हुआ 'तुरीया देव' अर्थात् चतुर्थ देव विद्वत्कारका दशक मोक्षकी सहायका पाशक है। इसी वृत्तिसे अन्त्य सब कार्य—व्यवहारका निवर्धन होना चाहिए। वैदिक दर्शन सम्पूर्ण कार्य—व्यवहार इसी वृत्तिसे दबे गए हैं। शेषके अर्थके व्यापके लगाने का व्यवहार हीने चाहिए। इसीका नाम धर्म है। धर्मनसे मुक्त होना मुख्य साम्य है, उसके सहायकारी सब अन्य व्यवहार हीने चाहिए। अन्यथा आशुके व्यवहारकी अधिक महत्त्व देनेसे और मोक्ष-धर्मको कम महत्त्व देनेसे मनुष्यमें सोमबुद्धि होनेके कारण बड़ा अर्थ होगा। श्वातपूर्व अंधान और मोक्षपूर्ण जीवनका भेद यहाँ स्पष्ट होता है।

भग्नमें कहा है कि न बकता हुआ और सबवर्षों निकल न होता हुआ मैं हवा देवोंकी पूजा करता हूँ। इस कथनका भाव स्पष्ट है कि मनन प्रयत्न करके अपना अतीत सुन्द बनाने और अनेक पुण्यार्थ करनेका वास्तविक धर्म हीन करे।

इन बार देवोंकी सहायिता तथा भी आदिसे वृत्ति करनी चाहिए। जिसका जो हवन है उसीके अनुकूल उसका धो भी है। अतः उस धोरे मयायोग्य रीतिसे बेकर उसकी वृत्ति करनी चाहिए। इस विषयमें स्पष्टता करना योग्य नहीं। न बकते हुए और न बोलते होते हुए मैं योग प्राप्त करने और योग प्रसापसे उनकी स्वीकृत भी करता चाहिए। अर्थात् यद्यो

किसीके अत्यन्त व्यवहार करता चाहिए। परन्तु सब व्यवहार करते हुए चतुर्थ देवकी दृष्टा सम्पन्न करनेका भी प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि उसीकी कृपासे मानव, उन्नति तथा धार्मिक यहाँ प्राप्ति होती है और सद्गति भी मिल सकती है।

### दीर्घ आयु

पूर्वोक्त प्रकार तीनों मन्त्रोंका विचार करनेसे पश्चात् अब चतुर्थ भग्न इस प्रकार हमारे सम्मुख आता है— 'इन आशा-पाशोंकी सहायतासे हूँ तथा हमारे माता, पिता, दृष्ट, मित्र, पाप, घोसे जाति सब मुक्त हूँ। हमारा अन्तर्द्वार होवे तथा हम ज्ञानी बनकर निवेदितके आदी बनें और दीर्घायु बनें।' इस भग्नमें बार बतते कहे हैं—

१ स्वस्ति— (सु+भस्ति) — स्वका उत्तम भस्तिव हो अर्थात् इस लोकका योग्य सुखपूर्वक हो।

२ सुभूतं (सु+भूति) — उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त हो, यह उत्तम अन्तर्द्वारका सुखका विधान है।

३ सुमिदं— (सु+मिद+प्र) — उत्तम शाप मिले। आरम्भान हो सानोंमें उत्तम और निवेदितका है। यह हमें प्राप्त हो।

४ व्योक्त— दीर्घकालक जीवन हो। यह ती अन्तर्द्वार और निवेदितसे सहज ही प्राप्त हो सकता है।

वेदमन्त्रोंमें आरम्भार कहा है, 'व्योक्त च सूर्यं दशमे' अर्थात् 'दीर्घकालक सूर्यको हम देखते रहें।' इसका सप्रत्ये 'हमारी आयु अतिदीर्घ हो' यह है। परन्तु यहाँ ध्यानमें विशेषतया धारण करनेकी बात यह है कि अति दीर्घ आयु प्राप्त करनेका सम्भव सूर्यसे अवश्य ही है। जहाँ जहाँ सूर्य आयु प्राप्त करनेका उपदेश देवमें आया है, वहाँ वहाँ सूर्यका सम्बन्ध अवश्य स्थापित है। इसीमें जो मोक्षदीर्घ आयु प्राप्त करना चाहते हैं, वे सूर्यके साथ आयुधधर्मका सम्बन्ध है, यह बात न भूलें। इसकी कृपासे सूर्य आयु प्राप्त होती है, इस विषयमें अवश्यवेदमें अन्वेषण कहा है—

यो वै तं ब्रह्मणो वेदास्तेनापृता पुरम् ।  
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्मण्यं चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २१ ॥  
न वै स चक्षुर्ज्योतिश्च न प्राणो जलसः पुरा ।  
पुरे चो ब्रह्मणो वेदं यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २० ॥

( अथर्व १२ )

॥ जो निश्चयसे ब्रह्मकी अमृतसे परिपूर्ण नगरीको जानता

है उसको स्वयं बड़ा और बड़ोंके साथी बन देय चला, प्राण और प्रजा देते हैं ॥ २९ ॥ यति पृथ्वावस्थासे पूर्ण जलकी प्राण और बल छोड़ते नहीं जो बह्मपुरीको जानता है और जिस पुरीमें रहनेके कारण इसको पुण्य कहते हैं ॥ ३० ॥

भाव स्पष्ट है कि बड़ोंकी कृपासे बोधे आधु सुसन्तान और आरोग्यपूर्ण इतिवृत्ति युक्त जलम आरौ प्रान्त होता है । यही भाव संक्षेपसे अपने प्रचलित सूक्तके अनुर्थ वाक्यों में कहा है । इस प्रकार यह ज्ञानी मनुष्य इस लोक एवं परलोकमें प्रसन्धी होता है । यही इस सूक्तका उपदेश है ।

### विशेष टिप्पणी

यह सूक्त केवल ब्राह्म विचार और उनके पालकोंका ही दान नहीं करता है । ब्राह्म विचार्योंका कर्म इस सूक्तमें

है परन्तु बिना श्रम व प्रयत्न करते हुए ' माया ' शब्दका प्रयोग इसमें इसीलिए हुआ है कि मनुष्य अपनी यात्राओं और उनकी पालक वस्तुओंको अपने अन्दर धननय करे और उनके समम नियमन और योग्य उपासना आदिसे अपनी सम्मुख और नि श्रेयस सिद्ध करे ।

इस सूक्तका यह उल्लेखालंकार यथा ही महत्त्वपूर्ण है और जो इस सूक्तको केवल ब्राह्म विचार्योंके लिए ही समझते हैं वे इसके महत्त्वपूर्ण उपदेशसे वंचित हो रहते हैं ।

इस सूक्तका सम्मन्ध आधुन्य दान अपरानित गण आदि अनेक गोपिके विषयकी अनुकूलतासे है । यह सूक्त स्वर्ग वायोप्यति गव मयथा ननु गमका है । इसीलिए ' यहाँके विचार ' के साथ इसका सम्पूर्ण सम्मन्ध है ।

## राष्ट्र-संघर्षन-सूक्त

### कांड १, सूक्त २९

( न्वि - अतिष्ठ । देवता - अग्नीषोमी मणि । )

अग्नीषोमी मणिना येनेन्द्रां अभिवावृधे । तेनास्मान् मंश्वरस्पदेऽभि राष्ट्रार्थं वर्षप ॥ १ ॥

अभिपृश्य संपन्नानि या नो जरातपः । अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्पति ॥ २ ॥

अभि स्वा देवः संविताभि सोमो अवीश्वत् । अभि स्वा विश्वा भूतान्यमीवृत्तं यथासति ॥ ३ ॥

अर्थ— हे ( मंश्वरस्पते ) ज्ञानी पुत्र ! ( येन इन्द्र अभिवावृधे ) जिससे इन्द्रको विजय हुई थी, ( तेन अभिपृश्य मणिना ) उस विजयकी प्राप्त करानेवाली मणिते ( अस्मान् ) हमें ( राष्ट्रार्थं अभिपृश्य ) राष्ट्रके लिये बड़ा ॥ १ ॥

( या अ अपतप ) जो हमारे शत्रु हैं उनके तथा अन्य ( संपन्नान् ) वस्तुओंकी ( अभिपृश्य ) पराभूत करने ( या नो दुरस्पति ) जो हमसे दुष्टताका आचरण करता है तथा जो ( पृतन्यन्त ) सेवते हुआ बड़ा करता है उनसे ( अभि अभि तिष्ठ ) युद्ध करनेके लिये विचार हो ॥ २ ॥

( संविता देव ) सूर्य देवने तथा ( सोम ) चन्द्रमा देवन जो ( स्वा ) तुम्हारे ( अभि अभि अवीश्वत् ) सब प्रकारसे बड़ाया है । ( विश्वा भूतानि ) सब भूत ( त्या अभि ) तुमसे बड़ा रहे ह जिससे तु ( अभिपृश्य अस्मात् ) राष्ट्रको बचानेवाला हुआ है ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे राष्ट्रके ज्ञानी पुत्र ! जिस राजविह्वल्यो मणिकी प्राप्ति करने इच्छा विजयी हुआ ॥ उगीविजयी मणिते हमें राष्ट्रके हितके लिये बड़ाये ॥ १ ॥

जो अनुवार शत्रु हैं और जो प्रतिपक्षी ह उनको परास्त करने लिये, तथा जो हमसे बुरा व्यवहार करते ह और जो हमपर सेवा भंडारक बड़ाई करते ह उनको हृदयके लिये अपनी-तुम्हारी करके जागे पड़ ॥ २ ॥

सूर्य, चन्द्र आदि देव तथा सब भूतमात्र तुम सहृदयता देकर बड़ा रहे ह, जिससे तु सब राष्ट्रजोंकी हृदयवाता बच गया है ॥ ३ ॥



अभीवर्तो अभिभवः संपन्नस्यणो मणिः । राष्ट्राय स्यां वध्यतां सपत्न्यः पराभुवे ॥ ३ ॥  
 उदुसौ स्वो अगादुद्विदं माभकं वचः । यथाहं शुत्रहोऽस्मान्सपत्नः संपत्तदा ॥ ५ ॥  
 सपन्नस्यणो वृषाभिराष्टो विषासहिः । यथाहमेषां वीराणां विराजानि वर्नस्य च ॥ ६ ॥

अर्थ— ( अभीवर्तः ) शत्रुको धरनेवाली, ( अभिभवः ) शत्रुका पराभव करनेवाली, ( सपत्नक्षयणः ) प्रतिपक्षियोंका नाश करनेवाली यह ( माधेः ) मणि है । यह ( सपत्नेभ्यः पराभुवे ) प्रतिपक्षियोंके पराभव करनेके लिये तथा ( राष्ट्राय ) राष्ट्रके अभ्युदयके लिये ( स्यां वध्यतां ) धूमपर बांधी जाये ॥ ४ ॥

( अस्मै सूर्यः उदगात् ) यह सूर्य उदयको प्राप्त हुआ है, ( इदं माभकं वचः उत ) यह मेरा वचन भी प्रकट हुआ है, ( यथा ) जिससे ( अहं शुत्रहः ) शत्रुका नाश करनेवाला तथा ( सपत्नदा ) प्रतिपक्षीका घात करनेवाला होकर मैं ( अक्षयणः अस्तानि ) शत्रुहीन होऊँ ॥ ५ ॥

( यथा ) जिससे ( अहं ) मैं ( सपत्न-क्षयणः ) प्रतिपक्षियोंका नाश करनेवाला, ( वृषा ) बलवान् और ( विषासहिः ) विषयी होकर ( अभिराष्टः ) राष्ट्रके अनुकूल बनकर तथा राष्ट्रकी सहायता प्रदान करके ( एषां वीराणां ) इन वीरोंका ( जनस्य च ) और सब लोगोंका ( विराजानि ) विशेष प्रकारसे रक्षण करनेवाला राजा होऊँ ॥ ६ ॥

भावार्थ— शत्रुको धरनेवाली, वीरोंका पराभव करनेवाली और प्रतिपक्षियोंको दूर करनेवाली यह राजचिह्नकयी मणि है । इसलिये प्रतिपक्षियोंका पराभव करनेके लिये और अपने राष्ट्रका अभ्युदय करनेके लिये धूमपर यह मणि बांधी ॥ ४ ॥

जैसे यह सूर्य उदय हुआ है, वैसे यह मेरा वचन भी प्रकट हुआ है, अब तुम ऐसा करो कि जिससे मैं शत्रुका नाश करनेवाला, प्रतिपक्षियोंको दूर करनेवाला होकर शत्रु रहित होऊँ ॥ ५ ॥

मैं प्रतिपक्षियोंका नाश करके बलवान् बनकर, विषयी होकर अपने राष्ट्रके अनुकूल कार्य करता हुआ अपने वीरों का और अपने राष्ट्रके सब लोगोंका हित साधन करूँ ॥ ६ ॥

## राष्ट्र-संवादन-सूक्त

अभीवर्त मणि

इस सूक्तका संवाद

जित प्रकार राजाके चिन्ह राजवज्र, छत्र, बालर आदि होते हैं, उसी प्रकार ' अभीवर्त मणि ' भी एक राजचिन्ह है । इसके धारण करनेके समय यह सूक्त बोला जाता है ।

देवोंका राजा इन्द्र है, उसका पुरोहित बृहस्पति या ब्रह्मसमिति है । यह पुरोहित इन्द्रके शरीरपर यह अभीवर्त मणि बांधता है । क्योंकि राजा पुरोहित राजाके शरीरपर यह राजचिह्नकयी मणी बांधे । यहाँ सम्बन्ध देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह सूक्त संवादरूप है । यह संवाद इस प्रकार है । देखिए—

राजा— हे पुरोहित ! ओ अभीवर्त मणि इन्द्रके शरीरपर देव बृहस्पतिने बाधा था, वह राजचिह्नकयी मणि मेरे शरीरपर आप बांधिये, जिससे मैं राष्ट्रका वर्धन करनेमें समर्थ होऊँ ॥ १ ॥

पुरोहित— हे राजन् ! ओ अनुकर शत्रु हैं और जो प्रतिपक्षी हैं तथा जो हमारे राष्ट्रके साथ बुरा व्यवहार करते हैं और हमपर संशय पैदा करते हैं उन्हींको पराजित करने की तैयारी करो ॥ २ ॥

सूर्य, धन तथा सब मूल वस्तुओंकी सहायता कर रहे हैं, जिससे तुम शत्रुको दबा सकते हो ॥ ३ ॥

राजा-पुरोहित ! यह राजचिन्ह स्वी मणि प्रभुको चोरने, वैरीका पराभव करने और प्रतिद्वन्द्वियोंको हृदयको सामर्थ्य देनेवाली है। इसलिये विरोधियोंका पराभव और मण्डे राज्यका अभ्युदय करनेके कार्यमें इसे समर्थ बनानेके लिये मन्त्रपर यह मणि बांध दीजिए ॥ ४ ॥

बैते मृगं उदयको प्रप्त होता है, बैते ह्ये मेरे मन्त्र-शक्तियोंका प्रकाश होता है, इसलिये आप ऐसा करें कि जिसके मैं शत्रुका नाश कर सकूँ ॥ ५ ॥

मैं इसब्राह्म बनकर प्रतिद्वन्द्वियोंको दूर कर और विजयी होकर अपने राज्यके अनुकूल कार्य करता हूँ यह अपने शीर्षों का और राज्यका हित कहें ॥ ६ ॥

राज्य प्राक्किष्वा साधनं ज्ञातं है, अथ अस्मद् पुरोहित राजासे प्रज्ञाहितकी कुछ बातें करनेके लिये कहते हैं और राजा भी राज्यहित करनेकी प्रतिज्ञा उस समय करता है। पुरोहित ब्राह्मणविराजितका और राजा क्षात्रविराजितका प्रतिनिधि है। राज्यकी ब्राह्मणविराजित पुरोहितके मुखसे राजकर्तव्यका उपदेश राजाको करती है, राजगद्दीपर राजाको रखना या न रखना राज्यकी ब्राह्मणविराजितकाधीन रहना चाहिये अर्थात् ब्राह्मणविराजितके साधन साधनविराजित रहनी चाहिये। ज्ञानी लोगोंपर शरीरकी हलुक्त न रहे, अग्नि-मूर शरीर लोगोंके आधीन कार्य करें। राज्यकी ( Civil and military ) ब्राह्मण तथा क्षात्रविराजित एक दूसरेके साथ किस तरहका बतवि करे, यह इस वृत्तमें स्पष्ट किया है। ब्राह्मणविराजित द्वारा सम्पन्न हुआ राजा ही राजगद्दीपर आसक्तता है अन्य नहीं।

### राजाके गुण

इयं वृत्तमें राजाके गुण बताये हैं, वे इस प्रकार हैं—

१ अस्मान् राष्ट्राय अभिवर्धय- हमारी शक्ति राज्यकी उन्नतिके लिये वरिष्ठ अर्थात् राजाके अंदर जो शक्ति बढ़ती है, यह राज्यकी उन्नतिके कार्यमें ही लगे, वही भाव राजाके अन्दर रहे। अपनी मर्मे हुई तन, मन, वन आदि सब शक्ति अपने मोपके लिये नहीं है, प्राप्त राज्यकी भलाईके लिये ही है, यह जिस राजाका निबन्ध होगा वही सच्चा राजा कहा जासकता है। ( म. १ )

२ राष्ट्राय महां बभूवतां सपत्नेभ्यः परामुवे-राज्यकी उन्नति और वैरियोंका पराभव करनेके लिये राजचिन्ह रूप मणि मेरे ( राजाके ) शरीरपर बांधी जावे। यष्टिद्वारा रक्त तथा अन्य राजचिन्ह को राजा धारण करता है यह अपनी शोभा बढ़ानेके लिये नहीं है, प्राप्त्य के केवल दो ही

उद्देश्यके लिये हैं—( १ ) राज्यकी उन्नति हो और ( २ ) अपने लिये शत्रु दूर किये जायें। राजाके अन्दर यह शक्ति वाच्य करनेके लिये ही उसपर राजचिन्ह बांधे जाते हैं। ( म. ४ )

३ अभिराष्ट्रः- ( अभितं राष्ट्रं यष्ट्य )- जिसके चारों ओर राज्य है, ऐसा राजा हो। अर्थात् राजा अपने राज्यमें रहे, राज्यके साथ रहे, राज्यका बनकर रहे। राजाका हित राज्यहितमें ही निहित हो और राज्यका हित राजहित हो, अर्थात् दोनोंके हितोंमें फरक न रहे। राजाके लिये राज्य अनुकूल रहे और राज्यके लिये राजा अनुकूल हो। राज्यहितका उच्च कर्मेय अपने सामने रखनेवाले राजाका धर्म इस सम्बन्ध में है। जिस राजाके लिये अपनी जान देनेके लिये राज्यसंग्रह होता है उस राजाका यह मान है। यह धर्म अस्मद् राजाका वाच्य है। ( म. ६ )

४ अशुभः- शत्रुका नाश करनेवाला।

५ असपत्नः- अन्धके प्रतिपत्नी या विरोधी जिसके न हों। ( म. ५ )

६ सपत्न-द्वय- प्रतिपत्नीका नाश करनेवाला, अर्थात् प्रतिद्वन्द्वियोंका पराभव करनेवाला। ( म. ५ ) ' सपत्न क्षययः ' यह शब्द भी इसी अर्थमें ( म. ६ में ) आया है।

७ पृथा- बहबन्धु। सब प्रकारके बर्तित युक्त राजाको होना चाहिये, सम्बन्ध बहुत पराप्त हो जायगा। ( म. ६ )

८ विप्रासहि- शत्रुके हमले होनेपर उनका भुकावला करते हुए अपने रथानेगे घोड़े न हटनेवाला। ( म. ६ )

९ धीराणां जनस्य च विराजानि- राज्यके शूरवीर तथा राज्यकी सम्पूर्ण जनता इस समयको सन्तुष्ट करनेवाला। ( म. ६ )

१० प्रतिद्वन्द्वियोंकी रवाना, वैरियोंका नाश करना, सेवा के साथ बर्ताव करनेवालेका प्रतिकार करना और जो कुछ आवश्यक करता है उसको छोड़ करना आदि राजाके कर्तव्य ( म. २ में ) कहे हैं।

ये दस कर्तव्य राजाके द्वात्रिंशत् वृत्तों में हैं, वे सब धर्म करने योग्य हैं। ये सब कर्तव्य वही भाव बता रहे हैं कि राजा अपने मोपके लिये राजगद्दीपर नहीं जाता है, प्राप्त राज्यका हित करनेके लिये जाता है।

### राजचिन्ह

सज्ज, बाण, राजशब्द, मणि, रत्न, रत्नपाता, मुकुट, विभिन्न रूपके लोह राजवस्त्राका छत्र, हाथी, घोड़े आदि सब जो राजचिन्ह समझे जाते हैं, इन चिन्होंके धारण करनेसे

जनतापर कुछ विशेष प्रभाव पड़ता है और उस प्रभावके कारण राजाके इर्दगिर्द शक्ति केन्द्रीभूत हो जाती है। यद्यपि इस प्रत्येक चिन्तने कोई विशेष शक्ति नहीं होती, तथापि राजचिन्ह धारण करनेवाले साधारण सिपाहीमें भी अन्य सामान्य जनोकी अपेक्षा कुछ विशेष शक्ति होनेका अनुभव हरएक करता है; इसी प्रकार उक्त चिन्होंके कारण जम्हूँ राजशासनका एक विशेष प्रभाव जनतापर पड़ता है, जिस कारण राजा शक्तिपूर्वका केन्द्र बनता है। जिस समय जम्हूँ चिन्होंसे और सम्पूर्ण ढाढसे राजा जाता है, उस समय उसका बड़ाबारी प्रभाव सामान्य जनतापर पड़ता है, इसी कारण राजामें शक्ति इकट्ठी होती है। इस कृतके पशुमें पत्रमें 'यह सच ही राजनीति करनेवाला, प्रभाव बढ़ानेवाला, राष्ट्रहित साधन करनेवाला है' इत्यादि कहा है, उसका मंत्र यस्ता प्रकार ही सत्यका योग्य है। तिराहोकी शक्ति कलके चिन्होंसे ही उत्पन्न होती है और यह शक्ति वास्तविक नहीं अपितु एक भावनासे ही उत्पन्न होती है। सम्पूर्ण राज चिन्होंकी शक्ति इसी प्रकार भावनात्मक है। अतः, अब जम्हूँके लक्षण देखिए—

### शत्रुके लक्षण

इस कृतमें निम्नलिखित प्रकार शत्रुके लक्षणोंका वर्णन किया है—

१ यः शुद्धस्यति- जो कुछ व्यवहार करता है। ( अ. २ )

२ सपक्षः- जिस पक्षका अनुषंग, राष्ट्रमें लितने पक्ष होंगे, उतने पक्षवाले भावकमें सपक्ष होंगे। सपक्ष व्यवस्था ( Party Politics ) पक्ष सेवका राजकारण बता रहा है।

३ भरातिः- भन्नाह, जो मनमें मोहभाव नहीं रखता।

४ घृतमयः- तीव्रते चलाई करनेवाला।

इन शब्दोंके बिचारते शत्रुका पता लग सकता है। इनमें कई शब्दोंके शत्रु हैं और कई बाहुरके हैं।

### सबकी सहायता

मूल्य सत्रमें कहा है कि, 'सूर्य, चन्द्र और सब मूल-मात्र जिस राजाके सहायक होते हैं, वह शत्रुको पराजित करता है।' ( अ. ३ ) इसमें धूर्त, पक्ष धारि कल्प बाहुर मूल्यकी सहायता बता रहे हैं, जिसकी सहायता राजाकी शक्तिका एक महत्वपूर्ण भाग है राष्ट्रकी रक्षा ही ऐसी हो। जहाँ शत्रुका प्रवेश सुगमतासे न हो सके। वह एक शक्ति ही है।

दूसरी कक्षा ( विभ्रज भूतानि ) सब भूत मात्रसे प्राप्त होती है। पंचमूलाग्रसे शक्ति प्राप्त करनेकी भी बात इसमें सुगमतासे बात हो सकती है। 'भूत' शब्दका दूसरा प्रसिद्ध अर्थ 'शापी, अनुषंग' देखा जाता है। जिस राजाके राष्ट्रके सभी शापी और सब अनुषंग सहायक हों, उनकी शक्ति विशेष होगी, इसमें क्या सन्देह है? यही सब जनताकी क्षम इच्छासे प्राप्त होनेवाली शक्ति है जो राजाको अपने पास रखनी चाहिये, क्योंकि इसीपर राजाका चिरस्थायित्व अवलम्बित है।

### केवल राष्ट्रके लिये

इस कृतके अन्तर कई सामान्य निर्देश भी हैं जिनका यहाँ विचार करना आवश्यक है। इससे पाठकोंकी आशा-का भी पता लग जायगा कि विशेष उपदेशोंसे भी सामान्य निर्देश कैसे प्राप्त हो सकते हैं। देखिए प्रथम मात्रमें कहा है—

अस्मान् राष्ट्राय अभिवर्धय ( अ. १ )

इसका अर्थ— 'हमें राष्ट्रोंके लिये बढ़ाओ' अर्थात् हमारी शक्ति इसलिये करो कि हम राष्ट्रहित साधन करनेके योग्य बनें। हमारा शरीर सुदृढ़ हो, हमारी भाव शीम हो, हमारे इन्द्रिय अधिक कार्यक्षम बनें, हमारा मन मनमनसितसे युक्त हो, हमारी बुद्धि ज्ञानसे परिपूर्ण हो, हममें शान्ति का बल बने, तथा हमारी कौमुदिक, सामाजिक तथा अन्त्याय शक्ति-बल बनें। ये सब शक्तियाँ इसलिये बढ़ें कि इनके योगसे हमारा राष्ट्र अशुभयसे युक्त हो। इन शक्तियोंकी बुद्धि इस लिये बढ़ाई करनी है कि इनसे केवल भवितका हो कुछ बड़े, केवल एक शक्तिके हाथमें अधिकार रहे, या किसी एक कुलीन पक्ष अधिकार हो जाय; अपितु ये शक्तियाँ इसलिये बढ़ानी चाहिये कि इनके संयोगसे राष्ट्रकी शक्ति हो, राष्ट्रकी उन्नति हो।

सामान्य अर्थ देखनेके समय [ ] प्रथम पत्रका 'अस्मान्' शब्द बड़ा महत्व रखता है। इसका अर्थ होता है, 'हम सबको' अर्थात् हम सबको मिलकर राष्ट्र हितके लिये बुद्धि-शक्ति करो। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि किसी एककी हो शक्ति या किसी एककी शक्तिका विकास हो नहीं बने शक्ति बढ़े, अपितु सबकी शक्तिका विकास होना अपेक्षित है। राष्ट्रीय उन्नतिके लिये जो प्रयासोंकी शक्तिका विकास करना है वह हरएक प्रयासोंका, किसी प्रकार भी पक्षपात न करते [ ] करना चाहिये। अर्थात् प्राथमिकता या संघ-विशिष्ट पक्षपातके लिये नहीं कोई स्थान रहना नहीं चाहिये।

जो मैं करता हूँ वह राष्ट्रके लिये समर्पित हो वही भाव हरएकके मनमें रहना चाहिये ।

राष्ट्राय महो वक्ष्यतां ।

सपरिनेभ्यः पराभुवे ॥ ( पं. ४ )

‘मैंने राष्ट्रके लिये बांघ, ताकि मैं राष्ट्रके समुपयोग परामर्श कर सकूँ ।’ यह भाव मनमें धारण करना चाहिये । मैं राष्ट्रके साथ बांघा जाऊँ, मेरा अपने राष्ट्रके साथ ऐसा सम्बन्ध जुड़ जाय कि वह कभी न टूटे, राष्ट्रका हित और मेरा हित एक ही बने, मैं राष्ट्रके लिये ही जीवित यह हस्पादि प्रकारके भाव उक्त मनमें हूँ । जो जिनके साथ बांघा जाता है वह उसीके साथ रहता है । यदि स्वराज्याभिमानसे मनुष्य राष्ट्रके साथ एकबार लज्जीप्रकार बघ जाय तो वह वहाँसे नहीं हट सकेगा । इसी प्रकार मनुष्य अपने राष्ट्रके साथ बांघे बांघ और ऐसा परस्पर सम्बन्ध जुड़नेके कारण राष्ट्रमें मनुष्यें संघ क्षिति उत्पन्न हो वह बाह्य वेदको भीभीष्ट हैं ।

हरएक मनुष्य ‘अभिराष्ट्र’ ( पं. ५ ) बने अर्थात् राष्ट्र हित करनेका ध्येय अपने सामुक्ष रखे । वह मनुष्य कहीं भी जाय, कुछ भी कार्य करे, उसके सामुक्ष अपने राष्ट्रके धन्य-शुभका विचार जाग्रत रहे । इस प्रकार जिसके मनके सामने राष्ट्रका विचार सदा जाग्रत रहता है, उसीको वेद ‘अभि-

राष्ट्र’ कहता है ( अमिता राष्ट्रं ) अपने भातों और राष्ट्र है ऐसा माननेवाला हरएक अवस्थामें अपने समुक्ष अपने राष्ट्रको देखनेवाला जो होता है उसका यह नाम है ।

‘राष्ट्र’ का अर्थ

राष्ट्र शब्द केवल देश अथवा केवल जनताका वाचक वेदमें नहीं है । केवल भूमिके एक विभागपर रहनेवाले मनुष्य समाजका बोध ‘राष्ट्र’ शब्दसे वेदमें नहीं होता है । इस प्रकारके राष्ट्र भूमिपर बहुत होंगे, परंतु मेरे जिसको राष्ट्र कहता है, वैसे राष्ट्र अल्प ही होंगे । वेदमें ‘राष्ट्र’ शब्द ( राजते एत राष्ट्रं ) जो चमकता है, राष्ट्र है, इस अर्थका बोधक है । जो मनुष्योंका समुदाय भूमिदल पर अपने कमाये वशसे चमकता है और सब कन्य कोपोंका प्रयास अपनी ओर लौट सकता है वही वैदिक दृष्टिसे राष्ट्र है । क्या मानकी समुदाय राष्ट्र नहीं हैं । इस प्रकारके राष्ट्र विस्तारसे छोटा हो या बड़ा हो, राष्ट्र ही कहलायेगा । परंतु जो विस्तारसे अति प्रबंध हो, परंतु उसकी दृष्टिसे जिसमें चमक न हो वह राष्ट्र नहीं होगा । वैदिक धर्मियोंको अपने परिचरसमे अपने राष्ट्रमें प्रकाशका तेज उत्पन्न करना चाहिये और बढाना चाहिये, सभी उनके देशका नाम वैदिक रीतिसे राष्ट्र होगा । वेदमें राष्ट्रवर्जन विषयक अनेक सूक्त हैं और उनका परस्पर निकट संबंध भी है ।



## संरक्षक कर

कांड ३, सूक्त २९

( अविः - उदात्तकः । देवता - इतिपात्ः, अविः, काम, भूमिः । )

यद्राज्ञोऽसि सज्जन्त इष्टापूर्तस्य श्रेष्ठं समस्त्रसो मंशासदः ।

अविस्वस्मात्प्र मुञ्चति दुष्टः श्रितिपात्सुधा

॥ १ ॥

अर्थ— ( यमस्य मामी राजानः समासदः ) निजसे चलेवाले राजाके ये समासद ( इष्टापूर्तस्य परा पोडरां विभजन्ते ) समासिका जो सोलहवां भाग विभक्त करते हैं । वह ( यत्तः ) दिया हुआ भाग ( अविः ) रक्षक बनकर ( श्रिति-पात् ) हितकोंके विरानेवाला ( स्व-धा ) और अपना धारण करनेवाला होता हुआ ( स्वस्मात् प्रमुञ्चति ) उस भयसे छुड़ाता है ॥ १ ॥

भावार्थ— निजसे प्रजाका पाछन करनेवाले राजाके ये राजसमाके समासद वस्तुता सम्बन्ध राजा ही हैं । ये प्रजाके अन्न-पानि प्राणिका सोलहवां भाग-कर कपसे लेते हैं । राजाको दिया हुआ वह सोलहवां भाग सब राष्ट्रका संरक्षण करता है, प्रभारी-मुख देनेवाले जो होते हैं उनको बन्ध बेकर दबाता है, प्रजाकी धारण जलित बढाता है और उनकी भयसे मुक्तता करता है ॥ १ ॥

सर्वान्कामान्पूरयत्यामर्कन्प्रभवन्मवत् । आकूतिप्रोऽर्विदुचः श्रुतिपात्रोप दस्यति ॥ २ ॥  
यो ददाति श्रुतिपादुषां विं लोकेन संभितम् ।

स नार्कमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते वमलेन बलीयसे ॥ ३ ॥

पञ्चापं शितिपादमविं सोफेनं संमितम् । प्रधातोर्पं जीवति पितृणां लोकेशितम् ॥ ४ ॥

पञ्चाक्षं त्रिंशदाक्षयिं लोकेन संमितम् । प्रदातोऽपि जीवति सर्वाभासयोरक्षितम् ॥ ५ ॥

शैवे नोप दस्यति समुद्र इव पशो मूहत् । डेवौ संरासिनाविव श्रित्तिपात्रोप दस्यति ॥ ६ ॥

अर्थ—यह (वृत्तः) दिया हुआ मातृ (आकृति-प्रः) शब्दार्थोंको पूर्ण करनेवाला, (शक्ति-पातृ) हितकारको  
 स्थापितवाला, (अभिः) तरक्षण करनेवाला, (आ-भवन्) राष्ट्रको रक्षित करनेवाला, (प्रभवन्) प्रभावशाली, (भवन्)  
 अन्तिमवर्ग का कारण बनता हुआ (सर्वान् कामान् पूरयति) सब काममाँगोंका पूर्ण करता है और (न उपदृश्यति)  
 विनाश नहीं करता ॥ २ ॥

( ५। लोकेन संमितं ) जो जब लोकेन द्वारा सम्पादित ( श्रुति-वाङ् मयि वृत्ति ) हितकों के नाम मानेवाले सत्ताक भागको देता है, ( स्तः नाकं अभ्येति ) वह उस दुःखद्विष्ट स्वामीको मान्य करता है, ( यच्च बायलेन पलीयसे शुक्लः न क्रियते ) जहाँ निर्बल भव्यको बलवानके लिये धन देना नहीं पड़ता है ॥ १ ॥

( पञ्च-अ पूष ) पाँचोंको नष्ट न करनेवाले, अत एव ( लोकैश्च संमिश्रं ) अन्तः द्वारा समत ( क्षिति-  
पादं भविं ) हितहीनो स्वानेवाले सरलक कर आगको ( अद्भुता ) बेनेवाला ( पितृणां लोकैः अक्षितं उपजीवति )  
पितृदेवों के बसपाते जीवित रहता है ॥ ४ ॥

( पञ्च अ-पूर्व ) पाशोंको नष्ट न करनेवाले ( छोड़ेन संमित ) जयता द्वारा संमानित ( शिति-पादं अर्पित ) हितहोरे गिरावेवाले सत्पुरुष कर नामको ( श्रद्धाता ) हैनेवाला ( सुखां-आसयोः अक्षित उपजीयति ) सुखें और चरणों साक्षिभ्यर्चनं सक्षमताको प्राप्त जीवित रहता है ॥ ५ ॥

( इदा इय ) भूमिके समान तथा ( अहत् पयः समुद्रः इय ) बड़े जलनिधि महासागरके समान और ( स-  
पातिसौ देवो इय ) साथ साथ निवास करनेवाले प्राणरूप के देवोंके समान ( शिसिपात् ता उपपद्यति ) हितरुको  
हमानेवाला यह भाव विभाज नहीं करता है ॥ ६ ॥

भाषार्थ— यह दिना हुमा कर प्रजाके सब कामकायके सकलकोसे पूर्ण करता है, दुर्वर्षोंका दमन करता है, सन्मनोंका पोषण करता है, राज्यका विस्तार करता है, बीरोंका प्रभाव बढ़ाता है, और धार्मिका अस्तित्व स्थिर रखता है, साथ साथ सब जगत्के मनोरथ पूर्ण करता है और किसी भी प्रकार का बाधा नष्ट नहीं करता ॥ २ ॥

इसतिथे तब लोग राजाको यह कर देना पसन्द करते हैं। जो लोग मुज्जरेसे बचाकर सज्जनोंका प्रतिपालन करनेवाला यह कर दाताको देते हैं, वे आगो, मुख पूर्ण स्थानको प्राप्त करते हैं, फिर उस स्थानमें निर्बलते अबरंतीति भव सेनेवाला कोई बलवान् अनुप्य नहीं रहता और न कोई निर्बल अनुप्य अपनी अस्तिहीनताके कारण बलवान्के सिधे धन धर्पण करता है ॥ ३ ॥

यह कार पञ्चजन्यों को न गिरानेवाला, बुद्धोंको बढानेवाला और साधुसर्वोंका पालन करनेवाला है, इसलिये यह अनन्त। इसको वातात्ति प्राप्त सम्पूर्ण करती है ॥ जो लोग यह कर देते हैं वे संरक्षणोंको रखते तथा सुरक्षित रहते हैं ॥ ५ ॥

यह कर दण्डनीको न मिरावेवाला, खुर्दोका दामन करनेवाला, सज्जनोका दामन करनेवाला है, इसलिये सब लोग श्रद्धासे राजाको घट देते हैं । जो कर देते हैं वे सपने और भ्रममाके प्रकाशमें सखसे रहते हैं ॥ ५ ॥

कुष्ठोंको दवानेके लिये विषा हुआ यह कर नृसिंहे समान आधार देनेवाला, समुद्रके जलके समान क्षांति देनेवाला और प्राणिके समान स्वभाव प्राप्त होता है और किसीका विनाश होने नहीं देता ॥ ६ ॥

क इदं कस्मा अदात्कामः कामायादात् । कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश ।  
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैवते ॥ ७ ॥  
भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णास्वन्तरिक्षमिदं मुहत् । माहं मा प्राणेन मात्मना प्रजया प्रतिगृह्ण विराधिपि ॥ ८ ॥

अर्थ— ( इदं कः कस्मै अदात् ) यह कितने कितने दिया है ? ( कामः प्रथमाय अदात् ) परोरपने परोरपको दिया है । ( कामः दाता ) काम ही दाता है, ( कामः प्रतिग्रहीता ) काम ही लेनेवाला है, ( कामः समुद्रं आविवेश ) काम ही समुद्रमें प्रविष्ट होता है । ( कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि ) इच्छाते ही तुझे स्वीकार करता हूँ । हे काम ! ( एतत् ते ) यह सब तेरा ही है ॥ ७ ॥

( भूमिः ) पृथ्वी और ( इदं गृह्णस्वन्तरिक्षं ) यह सब अन्तरिक्ष ( त्वा प्रतिगृह्णातु ) तुझे स्वीकार करे । ( माहं प्रतिगृह्ण ) मे प्रान्त करके ( प्राणेन, आत्मना, प्रजया ) अगस्ते, आत्मासे और प्रजासे ( मा मा मा विराधिपि ) मलय न होजाऊ ॥ ८ ॥

भाषार्थ— भसा, यह कर कौन कितने देता हूँ ? काम ही कामको देता हूँ : इस जगत्में यन्की इच्छा ही देने और लेनेवाली है । यही कामना मनुष्यकी समुद्रवर प्रथम करता है । इस कामसे ही मनुष्य यही यही आपत्तिपा रस्य तिर पर सेता है । यह सब जगत्का व्यवहार कामकी महिमा ही है ॥ ७ ॥

इस पृथ्वीपर और आकाशमें कामनाकी ही सत्कार हो रहा है । इस कामनाका विस्तार करता हुआ मैं प्राण, आत्मा और प्रजातु दूर न होऊँ ॥ ८ ॥



## संरसक कर

### राज्य-शासन चलानेके लिये कर

राजा राज्यका शासन करता है । इस महत्वपूर्ण कर्मके लिये प्रसा उसको ' कर ' समर्पण करती है । इस करका प्रमाण कितना होना चाहिये, अर्थात् प्रसा अपनी प्रांतिका कौनसा भाग राजाको समर्पित करे और राजा उस यन्का कित बामोंमें उपयोग करे, इस विषयका उपदेश ॥१॥ सूक्तमें किया है ।

### प्रांतिका सोलहवाँ भाग

प्रसाकी सो मासदनी होती है, उसका सोलहवाँ भाग राजाको देनेके लिये राजसभाके सभासद् अलग करते हैं, यह वर्णन पहले ही सत्रमें है—

जमी सभासद् इष्टापूर्वस्य षोडशं विभजन्ते ॥

( मं. १ )

' राजसभाके से सभासद् प्रसाकी प्रांतिकसे सोलहवाँ भाग अलग करते हैं । ' और यह सोलहवाँ भाग राजानी प्रजासे मिलता है । यह कर है जो राजाको राज्य चलानेके लिये देना चाहिये । पौतरी सो मास्य उत्पन्न हो उसका सोलहवाँ

भाग राजाकी प्रायसभाके सभासद् लेकर उसका सग्रह करें । जो उत्पन्न हो उसका सोलहवाँ भाग सेना है । अर्थात् सामरस्य सेती बरनेवालोंसे प्रायिके कर्षण ही यह कर लिया जाये । मास्य उत्पन्न करनेवालोंसे यन्के दपमें नहीं सेना है, मरुतु जो यदार्थ उत्पन्न हो, उस यदार्थका सोलहवाँ भाग सेना है । जिस यदार्थका भाग हो नहीं सत्ता, उसके मृषका सोलहवाँ भाग लिया जाये तथा सो वैद्य यन् कमाने हों, उससे उनको यदार्थका यह भाग यन्के कर्षण लिया जाये । कर देनेसे विषयमें यह वेदकी आज्ञा सुस्पष्ट दिखाई देती है और यह कर प्रसाके लिये यमी अलग नहीं हो सत्ता ।

उत्पन्नका सोलहवाँ हिस्सा सेनेके लिये वैषकी आज्ञा है परंतु स्मृतिग्रंथोंमें छठा भाग सेनेका विधान है । इसप्रकार करकी बुद्धि हुई है और सामरस्य दो कर्षण गुण्टि हुई है । इस सत्रमें ' विभजन्ते ' क्रिया वर्तमान कालकी है । राज सभाके सभासद् स्वयं उत्पन्न वेध कर उसका सोलहवाँ भाग अलग करते हैं, अर्थात् वे सेनेके भाग सेवार होनेपर प्रायिकी राजिने वास यति हैं और इसके सोलहवाँ भाग बरके दूध भाग राजसभाके लिये से मिले हैं । वैद्य अवाज्ञाते नहीं सेने,

अपिनु प्रत्यक्ष प्राप्ति देखकर उतमोंसे उन्नत भाव लेते हैं, यह योग वर्तमान कालवाचक 'अमी सभासद' विभज्यन्ते' ॥ वाच्यसे प्राप्त होता है । अकारके द्विर्गमें वाच्य कम उत्पन्न हुआ तो कर कम लेते हैं और तुच्छत्वमें अधिक उत्पत्ति हुई तो अधिक लेते हैं । अतःकरके समान सुकाल और अकारत्वमें एक जैसे प्रमाणसे नहीं लेते ।

### प्राप्तिके दो साधन

आगवन्तीके दो मार्ग होते हैं, एक 'इष्ट' और दूसरा 'पूर्त' । मनुष्य जो अपनी इच्छानुसार अभीष्ट व्यवहार करते हैं और उससे कमाई करते हैं, उसको 'इष्ट' कहते हैं, इसमें उद्योग पदे विश्व आदिना सहायता होता है, इसमें कर्ताकी इच्छापर व्यवहारको सत्ता निर्भर है । दूसरा है 'पूर्त' । इसमें स्वामीकी इच्छा हो या न हो, आगवन्ती होनी रहती है, जैसे माघको कलार्दिकोंका उत्पन्न होना, हविसे घास पिलना, पक्षिलोंसे घड़े हुए पक्षोंसे पक्ष प्राप्त होना इ० । पूर्वजति पक्षी आई व्यवस्थासे जो प्राप्ति होती है उसका नाम पूर्व है, जमींदारोंको जो उत्पन्न होता है वह 'पूर्त' है, क्योंकि जमींदारके प्रयत्न न करनेपर भी वह उससे योग्यी पूर्तता करता रहता है । इष्ट व्यवहार होता नहीं है, उसमें तो इच्छानुसार काम पड़ा करके सकलता हीनपर ही प्राप्ति होती है, यह प्रयत्नसाध्य है । इष्ट और पूर्तमें यह भेद है । मनुष्योंके व्यवहारोंके ये मुख्य दो भेद हैं ।

आगवन्त 'इष्ट' का अर्थ 'यद्युद्योग' और 'पूर्त' का अर्थ 'सर्वजनोपयोगी रूप साक्षात् वर्तमानता प्राप्त करता प्रयत्नसे है, जो पक्षोंमें यह अर्थ है, परन्तु यह केवल एक ही भाग है । जो शब्दोंमें तदर्थ अर्थ केवल ये ही नहीं हैं । इस सूत्रमें 'प्रजाकी सामन्तीकी सोलहवां भाग कर रुपये छिया आता है' ऐसा कहा है । उस प्रयोगमें 'पक्ष और कुड़े' का सोलहवां भाग राजा केता है ऐसा मानना अशुभ है, इसी लिये धारों वगैरे व्यवहारकी दृष्टिसे होनेवाला और जिससे राजाको सोलहवां भाग कर रुपये प्राप्त हो सजता है ऐसा अर्थ ऊपर लिया है । यथादि अर्थ तीनके प्रत्यक्षमें प्रजाके मुद्रतका जो घुम होता, उसका कुछ भाग राजाके पास सर्वजनके लिये उत्तरो प्राप्त हो सकता होगा । परन्तु इससे संतुष्टी राज्यपालन नहीं घट सकती, अतः आगवन्तीके विषय-का अर्थ हो नहीं लेना योग्य है ।

उक्त प्रकारकी रीतियों को प्रकारसे व्यवहारोंसे होनेवाली प्राप्तिपर सोलहवां भाग राजाके सत्यसत् राज्यपालन चलावेके

लिये प्रस्ताव कर रुपये लेते हैं, यह प्रथम संन्यायका अर्थ है । यहाँ राजाका भी सहाय देलना चाहिये—

### राजा कैसा हो

इस सूत्रमें राजाका नाम 'यम' लाया है । यमका अर्थ 'स्वाधीन रखनेवाला, नियमसे चलनेवाला, धर्मका पालन करनेवाला' है । 'यम-धर्म' इस शब्दसे भी पक्षसे धर्मका अर्थ स्पष्ट होता है । राज्य चलानेके जो धर्म नियम होते हैं उनके अनुसार राज्यपालन करनेवाला राजा हो यहाँ उल्लेखमें बोधित होता है । इससे स्पष्ट है कि यहाँका राजा मनमाना करनेवाला नहीं है, प्राकृत राज्यधर्मके नियमोंके अनुसार तथा जनताके प्रतिनिधियोंकी समिति अनुसार राज्य चलानेवाला है । यह राजा राजतमोंके सबलोंके मतसे और धर्मनियमोंके बद्ध है, स्वैच्छाकारी नहीं है । प्राप्त इससे राज्यमें—

अमी सभासद राजानः । ( म १ )

'राजधामके ये सभासद् ही राज्यपालन करनेवाले राजा हैं ।' राजा तो नाम मात्रका अधिकारी रहना, उन सभासदोंकी समितिसे जो नीति नियम होती है, उससे अनुसार राज्यपालन चलता रहता है । वैदिकी यह नियमबद्ध राजतन्त्र यहाँ देखने योग्य है । इस राजाकी राजधामके सत्य प्रजाकी सामन्तीका सोलहवां भाग राज्य प्राप्तके लिये प्रजासे करके रुपये लेते हैं और इसका उपयोग भी प्रजाकी उत्पत्ति के लिये हो करते हैं । यह प्रजाकी प्राप्ति होनेवाला कर क्या करता है इस विषयमें इस सूत्रका अर्थ बड़ा मनोरंजक है । इसका विचार करनेसे हमें पता लग सकता है कि प्रजाके लिये हुए करका उपयोग राजाको कैसे करना चाहिये—

### करका उपयोग

राजा जो कर अवगत करता है, उसका धन बिना बाँटने लिये किया जावे, इसका अर्थ निम्नलिखित प्राप्तिसे उल्लेखमें लिया है । 'यह कर निम्न लिखित कामों करता है,' ऐसा अर्थ इस सूत्रमें लाया है, इस सूत्रका अर्थ है कि प्रजा द्वारा दिया हुआ कर निम्नलिखित कामों करता है—

( १ ) अग्निः— ( अग्नि इति मयि )— रक्षा करता ॥ अन्तर्गत अथवा राज्यको रक्षा करता है । प्रजाके लिये हुआ कर ही प्रजाको रक्षा करता है । ( म १, २-५ )

( २ ) स्वयः— ( स्वयं धारया )— अग्नी धारण करता है । राज्यकी चरणा— धारण करते

बढती है । कर लेकर राजा ऐसे प्रबल करता है कि जिससे प्रजापरी सम्पत्ति का जाती है । ( मं १ )

( ३ ) पञ्चापूपः- ( पञ्च+अ+पूपः पृथते विशीर्यते इति पूपः । न पूप अपूपः । पञ्चानां अपूपः पञ्चापूपः ) - जो अलग अलग होता है अर्थात् जिसके भाग बिखरे रहते हैं उसका नाम 'पूप' है । तथा जिसके भाग संप्रति एक दूसरे से साथ अच्छी प्रकार मिले खुले होते हैं उसको 'अ-पूप' कहते हैं । एउचर्जनोंको संप्रति करता है अर्थात् पर-स्पर मिलाकर रखता है, जिससे पावों प्रकारके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषादोंका समेक सख होता है । राजा प्रजासे कर लेता है और प्रजाकी संप्रतिपति बढता है ।

( मं ४, ५ )

( ४ ) भयम्- हीना, क्षतिग्रस्त रक्षणा । प्रजासे कर ले कर राजा ऐसे कार्योंमें उसका विनियोग करता है, कि जिससे प्रजाका अक्षिग्रस्त विपत्तिकात्तक रहता है । ( मं २ )

( ५ ) वामभक्ष- वाम देवदेव संपन्न होता । राजा करका ऐसा उपयोग करता है कि जिससे प्रजा अतिविश्रामविश्रामिक संपत्तिवृद्ध होती जाय । ( मं, २ )

( ६ ) समयन्- प्रभावशाली । प्रजासे कर प्राप्त करने राजा उसका विनियोग ऐसे कार्योंमें करता है कि प्रजा प्रति-दिन प्रभावशालिनी बनती जाय । साधकान्, पराक्रमी और प्रभावशाली प्रजा बने । ( मं. २ )

( ७ ) जाकृतिप्रः- ( जाकृतिः ) सकल्योंको ( प्र ) पुनं करनेवाला कर है । अर्थात् प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे कार्य करता है कि जिससे प्रजाके अन्तर्गत श्रेष्ठ कामनाएं परि-पूर्ण होती हैं और प्रजाकी अवस्था उत्तम होती रहती है ।

( मं २ )

( ८ ) सर्वान् कामान् पूरयति- प्रजाकी सन्तुष्ट उत्पत्ति की कामनाएं शक्य और सुकृत होती हैं । किसीप्रकार भी प्रजाकी श्रेष्ठ जाकांक्षाएं निष्फल नहीं होती । कर लेकर राजा ऐसा प्रबल करता है कि प्रजाकी श्रेष्ठ कामनाएं पूर्ण होती विद्रिक्ती प्राप्त हो । ( मं. २ )

( ९ ) यो...ददाति स नाकं अभ्येति- यो ( कर ) देता है वह ( न+भ+कं ) सुखपूर्ण स्थानको प्राप्त करता है अर्थात् राजाको कर देनेवाले लोग अपने देयमें सुखी रहते हैं । प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे उत्तम प्रबलसे राज्य चलाता है कि सब प्रजा सुखी होती है । ( मं. ३ )

( १० ) प्रदाता पितृणां लोके आश्रितं उपजीवति- ( १० ) देनेवाले लोग संसारों का सधुरक्षित हुए प्रवेगमें निर-

कातक आनंदसे रहते हैं । राजा प्रजासे कर लेने और उनको अत्यंत सुरक्षित रखे, सुरक्षित प्रबलसे लोग सुरक्षित होकर आनंदसे रहें । ( मं ४ )

( ११ ) प्रदाता सूर्या-मासयोः अश्रितं उपजीवति - कर देनेवाले लोग वंशे ( सूर्य ) दिनमें वंशे ( मास-चंद्रमाः ) रात्रिके समय भी सुरक्षित होकर आनंदसे रहते हैं । कर लेकर राजा राज्य-शासनका ऐसा धोम्य प्रबंध करे कि जिससे प्रजा दिवके समय भी सुरक्षित होवे और रात्रिके समयमें भी सुरक्षित होवे । ( मं ५ )

( १२ ) इरा न उपवस्यति- कर देनेवाली प्रजा पुण्योके समय भूय रहती है अर्थात् उस प्रजाका दाता कोई नहीं कर सकता । ( मं. ६ )

( १३ ) मदस्वपयः समुद्र इति न उपवस्यति- कर देनेवाली प्रजा बड़े अन्तसे भरे गहरे महासागरके समान सदा गभीर और प्रशीत रहती है । छोटे जलाशयके समान सूख होकर नानाको नहीं श्राप्य होती । ( मं ६ )

( १४ ) सवासिनी देवौ द्वयं न उपवस्यति- साथ साथ रहनेवाले दो देव इक्ष्वा और उष्णवातके समान वह कर सब प्रजाकी रक्ष करता है अर्थात् जिहा प्रकार प्राणके व्यापारसे सब शरीर सुरक्षित रहता है, वही प्रकार प्रजासे निरवेकता कर राज्यको सुरक्षित रख सकता है । ( मं. ६ )

( १५ ) तस्मात् प्रमुञ्चति- उन महाप्रबलसे मुक्त करता है । वह देवा हुआ कर प्रजाकी महाप्रबलसे बचाता है ।

( मं १ )

( १६ ) शिति-पात्- ( शीयते इति शितिः हिंसनं, शितिं पातयति ) ' शिति ' का भवं है भाग, उन महाका क्षत्र जो करता है अर्थात् भागसे जो बचता है, उसको ' शिति-पात् ' कहते हैं । वह कर प्रजाका विनाशसे बचाव करता है । ( मं. १-६ )

( १७ ) अवलेन यदीदृशे शुक्लः न श्रियते- निर्बल मनुष्य अपनी निर्यमतासे कारण प्रबलको भाग नहीं देता । अर्थात् वह कर निर्बल मनुष्योंका दलबान्धि अत्याचारसे पुनं सत्पाद कर सकता है । ( मं ३ )

प्रजासे कर लेकर राजाको इतनी बल करनी चाहिये । यहाँ उपर विषे हृत् ये सत्रह धारण इस सूत्रमें विशेष महत्त्व पूर्ण स्थान रहते हैं । साधारण सूचना करनेके लिये पूर्वोक्त धारणसे प्राप्त होनेवाला बोध पुन सलेपते यहाँ देते हैं-

\*( १ ) राजा अपनी प्रजासे कर लेने और उसका उपयोग प्रजाको योग्य प्रकारसे रखा करनेमें, ( २ ) प्रजाकी सब



प्रकारकी धारणासहित और समर्पता बढानेमें, ( ३ ) कानी, शूट, स्थापारी, कारीगर और अन्य लोगोंकी तयारकियत बढानेमें, इन सबको समर्थित करनेमें, ( ४ ) इनका राष्ट्रीय और शास्त्रीय अस्तित्व सुरक्षित रखनेमें, ( ५ ) प्रजाको ऐश्वर्य संपन्न करनेमें कार्यमें, ( ६ ) प्रजाजनको प्रभावशाली बनानेमें, ( ७ ) संपूर्ण राष्ट्रके सब क्षेत्रोंकी सब थोड़ी कामकाशोंकी सुविधा करनेके साधन सप्रतिष्ठ करनेमें, ( ८ ) राष्ट्रके बुद्धि बूर करनेमें, ( १० ) राष्ट्रकी रक्षा करनेके लिये संरक्षकगण नियुक्त करनेमें, ( ११ ) भेते विनमें भेते रात्रिमें भी निद्राम होकर लोग सर्वत्र संचार कर सकें, ऐसी निर्विघ्नता संपूर्ण राष्ट्रमें सदा स्थिर रखनेके कार्यमें, ( १२-१४ ) जनताको भूमिके समान धूम, जननिधि सम्पत्तिके समान गरीब और प्राणिक समान जीवन सुवृत्त करनेके कार्यमें, ( १५-१६ ) भव और विनाशके प्रताको बचानेके प्रयत्नोंमें, तथा ( १७ ) बलवान् मनुष्य निर्बलके ऊपर सत्ताधार न करें, ऐसा सुप्रबल संपूर्ण राज्यभरण करनेके कार्यमें करें । '

प्रजाके लिये हुए करका उपयोग इन कामोंमें करना राजाका कर्तव्य है । पूर्वोक्त कार्यमें यही भाव प्रकट हो सकता है । जो राजा प्रजाके कर सेना हुआ इसका उपयोग इन कर्तव्योंके निम्न केवल धर्म ही स्वार्थसाधनके कार्यमें करेगा, वह राज्य बलानेके लिये अवीर्य होगा ।

### द्वर्गसदृश राज्य

जित राज्यमें राजा प्रजाको कर लेकर पुष्कल रीतिसे प्रजाकी उत्तम रक्षा करता है, वह स्वर्गके सदृश ही राज्य है और जहाँ करते प्राप्त हुए पन उपयोग प्रजाके न्यून बढानेमें होता है, वह नरकके सदृश राज्य है । स्वर्गराज्यके लक्षण इसी प्रकारमें रहे हैं, उसकी अब यहाँ देखिये—

१ स्व नाक अश्रमेति ।

२ यत्र शुक्रो न विपते अश्लेख क्लीयसे । ( प ३ )

' ( १ ) कर देनेवाले मनुष्य स्वर्गगाममें पहुँचते हैं, ( २ ) जहाँ निर्बल मनुष्यको बलवान् मनुष्यके लिये पन देना नहीं पड़ता । ' यह स्वर्ग सदृश राज्यका लक्षण है । जित राज्यमें निर्बल मनुष्यको केवल निर्बल होनेसे कारण ही बलवान् मनुष्यके सामने तिर झुकते हुए अपने पासका पन उपहारके रूपमें देना नहीं पड़ता वह स्वर्गपात्र है और जित राज्यमें बलवान् मनुष्य निर्बलपर जो बाढ़े तो सत्ताधार करते हैं और निर्बल मनुष्य केवल बलहीन होनेके कारण ही पीते बातें हैं, वह नरक है । ' नर-क ' का अर्थ ' हीन मनुष्य, छोटा मनुष्य, मोक्षो भोगीका मनुष्य ' है । जित राज्यमें होनहारवा-

वाले मनुष्य होते हैं वह नरकराज्य है और जहाँ थोड़ा धानवा-वाले मनुष्य होते हैं उसको स्वर्गराज्य कहते हैं ।

आह्वयोंका जानका बल, वाग्मियोंका धमिकारका बल, संघर्षोंका पनकाबल, धूर्तोंका कारीगरीका बल और निराशोंका केवल धारोत्तिक बल होता है । ये लोग स्वार्थी होकर जितोंके मर्मेभक्त होकर अर्थपर सत्ताधार करते हैं । ऐसा सत्ताधार कोई किसीपर न करे और सबकी धर्मके आश्रयसे मनुष्यके नियमक समानताका दर्जा हो, राज्य व्यवस्थाका ऐसा व्यवस्था राजाका परम कर्तव्य है । जहाँ ऐसा उत्तम प्रबन्ध होता है और जित राज्यमें जनसंख्याके माध्यमे निर्बल मनुष्य भी बलवान् मनुष्यके सत्ताधारके लक्षमें अपनी रक्षाके लिये लड़ा रह सकता है और केवल निर्बलताके कारण पीता नहीं जाता, वही राज्यशासन पद्धति वैदिकी बुद्धिसे प्राप्त उत्तम है । यही ' वैदिक राज्य ' है ।

### कामनाका प्रभाव

पूर्वोक्त प्रकारकी राज्यव्यवस्था करना या अन्त्याय वैदिक माताओंके अनुसार मनुष्योंके सुधार करनेमें प्राप्त करना, यह सब मनुष्यकी कामना, इच्छा, तरङ्ग, आशांक्षा आदि पर निर्भर है । मनुष्यमें सीता इच्छा होती है बीता वह चलता है और बीता ही व्यवहार करता है । यह बातनेके लिये ७ में और ८ में मन्त्रका उपदेश है । इसका पहला ही प्रयोग देखिये—

प्रत्य- इदं कः कस्मै यदाहू ?- यह हीन विनयी होता है ?

उत्तर- कामः कामाय अदाहू- काम ही कामके लिये होता है ।

काम दाता, काम प्रतिप्रार्थिता- काम ही देने और लेनेवाला है ।

ये मन्त्रभाग्यसे महत्त्वपूर्ण उपदेशकी देनेवाले हैं । मनुष्यके मनके खँवर को इच्छा है, जो महत्वाकांक्षा है, जो कामना है यही मनुष्यके दाता बनता है और उतारते दूसरा मनुष्य काम लेनेवाला बनता है । रामा राज्य करता है, अर्थात् मृद करते हैं, नोकर नोकरों करते हैं, शेरों हिलोको कुछ देता है और दूसरा देता है, यह सब व्यवहार मनके मन्त्रोंके इच्छासे कारण होते हैं । मन्त्रों, यह काम ही सबको वे व्यवहार करा रहा है यहाँक की—

कामः समुद्रं आविरोध । ( म ७ )

' काम ही समुद्रमें घुसता है । ' सर्वां मनुष्यपर भी इसी वाक्य हो राज्य है । मनुष्यके छोटेकर को मनुष्य समुद्रमें

महादलों में बैठकर भ्रमण करने जाता है वह भी कामको ही प्रेरणासे ही जाता है । और कोई बिगान द्वारा आकाशमें उड़ता है वह भी कामकी प्रेरणासे ही उड़ता है । इस प्रकार इस जगत्का सब व्यवहार कामनाकी प्रेरणासे ही हो रहा है । ' भूमि और अंतरिक्षमें भी सर्वत्र काम ही काम अर्थात् कामनाका राज्य है । ' ( मं. ८ ) सब इसीकी आत्माके अनुसार फिर रहे हैं ।

कामाः । पतसु ते । ( मं. ७ )

' हे काम ! यह तेरा ही महाराज्य है ' तेरा ही शासन सब पर है । कौन तेरे शासनसे बाहर है । कामको स्वीकार करनेवाले कागी लोग जैसे अपने मनकी कामनासे प्रेरित होते हैं, उसीप्रकार कामना त्याग करनेवाले विरक्त लोग भी उसी कामनासे ही प्रवृत्त होते हैं, तत्पर्यं कामका सर्वतोपरि शासन है ।

### कामकी मर्यादा

कामना बुरी है ऐसा कहते हैं । यदि काम वस्तु प्रकार सब पर शासनाधिकार बसाला है और भीमी और रघामी दोनों जसीके माधीन रहते हैं तो फिर कामका संयम कैसे हो सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर तत्पर्यंभोजके उत्तरार्पणे दिया है । इस मंत्र भागमें जिस सीमातक कामका उपयोग करना चाहिए, इस महत्त्वपूर्ण विषयका विवेचन किया है—

प्रतिपुत्र्य अहं जारमना मा विराधिपि,  
अहं प्राणेन मा विराधिपि,  
अहं प्रजया मा विराधिपि । ( मं. ८ )

' काम ! तुझे स्वीकार करके, मैं अपनी आत्मशक्तिकी न सी बँटूँ, मैं अपनी प्रायशक्तिकी न लीजूँ और मैं अपने प्रजननकी भी होन न बना दूँ । ' यहैतक मितवा काम इन्कीकारा जा सकता है, उजना मनुष्यके लिये तत्पर्यंभोज ही सकता है । काम विषयका आत्म्याचार हरएक इन्द्रियके कार्यभेदमें हो सकता है, परंतु इसका विशेष कार्यभेद जनने-ग्रियके साथ संबंध रखता है । इस इन्द्रियसे ज्ञाता उपयोग

करनेसे शासकाका बल कम होता है, शोचनकी मर्यादा तथा प्रायशक्ति शक्ति सीम होती है और समान उत्पन्न करनेकी शक्ति भी न्यून हो जाती है और ऐसे कामों प्रवृत्तकी भी जो सन्तानें उत्पन्न होती हैं, वे भी लीज, बलहीन और बोन होते हैं । इस प्रकारकी शक्ति न माए इतिशये कामका संयम करना आवश्यक है । तत्पर्यंभोज मर्यादा यह कि ' उत्तम मर्यादा तक कामका उपयोग किया जाने कि जहाँतक तेनेसे अपनी आत्माकी शक्ति, प्रायशक्ति शक्ति और प्रजनन शक्ति लीज न हो सके, इससे अधिक कामका भोग करनेसे हानि है । '

यद्यपि हमने यहाँ एक ही इन्द्रियको लिय करके संयमकी महत्ता बताई है, पर अन्य इन्द्रियोंपर भी यही नियम लागू होता है । अन्य इन्द्रियोंका संयम भी उत्तम ही आवश्यक है, मितवा जननेन्द्रियका ।

कामका यह सम्राज्य सपूर्ण जगत्में है । विरोधकर मानकी प्राधिपतियें हनें विचार करना है । इ० राज्यभ्रमणायके उपदेश देनेवाले इस सूत्रमें इस काम विषयके ये मंत्र रखे हैं और कामकी परममर्यादा और अयममर्यादा भी बता दी है; इसका हेतु यह है कि राजा अपने राज्यमें ऐसा राजदण्डप्रथम करे कि जिससे प्रजाजन काम विषयक परममर्यादाका उत्तरदायक न बनें और अपने जलसा, प्राय और प्रजननकी शक्तिले दुष्ट हों और सब उत्तम प्राक्तिले स्वर्गदुष्टम राज्यका मार्ग प्राप्त करें । प्रजासे लिये हुए करका इस व्यवस्थासे लिये व्यय करना राजाका व्यवश्यक कर्तव्य है । करते ये कार्य होते हैं और प्रजा सुखी होती है, इतीतिशये ( लोकैः संमितं । मं. ५, ५ ) ' प्रजाद्वारा स्वीकृत और संतानित कर ' ऐसा इसका विवेचन दिया है ।

बहुत प्रजासे प्राप्त करका इन भावोंके लिये उपयोग होता है, जहाँकी प्रजा सुखी और अन्वय तथा नि.प्रेतसरो प्राप्त करनेवाली होती है । विवेचनमें ऐसा प्रबंध करें कि जिससे अपने देशमें, तथा अन्यत्र देशोंमें, इसी प्रकारके वैदिक आदर्शों से चलनेवाले और चलते जानेवाले राज्य हों और कोई राज्य स्वराज्यके वैदिक आदर्शों से दूर न रहे ।



# दुष्टोका नाश

कांड ८, सूक्त ३

( ऋषिः - वाल्मीकि - वेत्ता - भविः । )

रक्षोर्हणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप गामि शुभं  
 विशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिपः पातु नक्तम् ॥ १ ॥  
 अयोदंष्ट्रो अरिषां यातुधानानुपं स्पृश वातवेदुः समिद्धः ।  
 आ जिह्वा मूर्ध्निवात्रमस्य क्रुव्यादां वृष्ट्यापि धरस्वास्तम् ॥ २ ॥  
 उभोर्मयाविश्रुपं घेहि दंष्ट्रो हिंसः शिश्रानोऽर्वरं प्रं च ।  
 उदान्तरिक्षे परिं यास्ये जम्भैः सं चैक्षामि यातुधानान् ॥ ३ ॥  
 अग्ने स्वयं यातुधानस्य मिनिध हिंसाग्निर्हरंसा हन्तेवन् ।  
 प्र पर्वाणि जातवेदः दृषीहि क्रुव्यात्क्रपिषुवि विनात्वेनम् ॥ ४ ॥

अर्थ— ( रक्षो-हणं वाजिनं प्रथिष्ठं मित्रं आ जिघर्मि ) राजाओंका नाश करनेवाली बलवान् प्रसिद्ध मित्रको मे प्रशंसित करता हूँ और जसने ( दाम उपयामि ) मुक्त शत्रु करता हूँ । ( सः क्रतुभिः समिद्धः ) वह जगति प्रवीण हुमा ( विशानः अग्निः ) तीक्ष्ण भूमि ( नः दिवा स रिपः पातुः ) हमें दिन रात शत्रुओंसे बचावे ॥ १ ॥

हे ( जातवेदः ) जातवेद भाने ! ( समिद्धः मयोदंष्ट्रः ) प्रवीण होकर मोहको राखति धूम होकर ( अरिषां यातु-धानान् उपस्पृश ) अपने प्रकाशसे यज्ञना केनेवालोंको बला । तथा ( मूर्ध्निवात्र मस्य क्रुव्याद् ) मूर्ध्निशोभोंको अपनी त्रिहस्त्य प्रकाशसे डीक करना आरंभ कर । ( वृष्ट्या ) बलवत् होकर ( मन्त्राद् ) आसन् अपि धारय ) मांस खानेवाले हितकोंको अपने मुँहमें डाल ॥ २ ॥

हे ( उभयविधं भाने ) दोनोंको जाननेवाले भाने ! तू ( हिंसः शिश्रानः ) शत्रुओंकी हिंसा करनेवाला होकर और तीक्ष्ण बल कर ( जम्भैः परं च उभौ ) निहृष्ट और उत्कृष्ट दोनों प्रकारसे शत्रुओंको अपने ( दंष्ट्री उपघेहि ) दाँतोंमें रख, ( उदान्तरिक्षे परियाहि ) और अन्तरिक्षमें तू संसार कर और वह्नि ( जम्भैः यातु-धानान् ममि-सेघेहि ) अपने जपडोंसे मांसवा केनेवाले शत्रुओंपर चढ़ाई कर ॥ ३ ॥

हे भाने ! ( यातुधानस्य स्वयं मिनिध ) बन्ध केनेवाली स्वयंसे निग्रमिध कर । ( हिंस-मग्निः हरंसा दमं हन्तु ) हितक (बधुत् वेनसे इसरा नाश कर ॥ हे ( जातवेदः ) जातवेद ! शत्रुके ( पर्वाणि शृणुहि ) पर्वोंको काट । ( क्रपिषु क्रुव्यात् प्रं चैक्षामि ) मांसमलक कर शत्रुको बल पकड़ कर ला जाय ॥ ४ ॥

आपार्थ— दुष्टोका नाश करनेवाला बलवान् प्रसिद्ध हितकर्ता राजा प्रवीणहीन है । इससे मुक्त प्राप्त होता है । वह बलम प्रशस्त वगैरे करनेवाला, तीक्ष्ण शत्रुका उध प्रयास करके हमें दिन रात शत्रुओंसे बचावे ॥ १ ॥

शत्रु अपने तेजसे दुष्टोंको निग्रह करे, शत्रुओंको अपने त्रिहस्त्य से लबावे । मांसमलक शत्रुको मारता निवृत्त करे ॥ २ ॥

दोनोंको जाननेवाला वेद बलवान् और निर्दोष हितकर्ताको अपने कर्तव्ये रक्षे । तब स्वायत्तर संसार करने कथ्य केनेवाले दुष्टोंको बचावे ॥ ३ ॥

दुष्टोंको पीट कर उनकी चमड़ीको निग्रमिध कर दे । मित्रकी अपासने दुष्टोंका नाश हो । दुष्टोंके शत्रुओंको मार दे । मांसमलक हितक और बलवान् पकड़ कर मार दे ॥ ४ ॥

यथेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्तमथ उव वा चरन्तम् ।

उतान्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं तमस्ता विध्य शर्वां शिशानः ।

॥ ५ ॥

यसैरिषः संनममानो अग्रे वाचा श्रवणं अश्रमिभिर्दिहानः ।

तामिर्विध्य हृदये यातुधानान्प्रतीचो वाहन्मतिं गृह्भ्येषाम् ।

॥ ६ ॥

उतारंश्चान्स्पृशहि जातवेद उतारंश्चाणो श्रुष्टिमिर्यातुधानान् ।

अग्रे पृथो नि जंहि शोशुचान आम्नादः स्विष्टास्तमदन्त्येनीः ।

॥ ७ ॥

इह प्र गृहि यतमः सो अग्रे यातुधानो य इदं कृणोति ।

तमा रमस्य समिधा यविष्ठ नृचक्षस्तथमुपे रन्ध्रयैतम् ।

॥ ८ ॥

शीक्षेताग्रे चक्षुषा रक्ष यज्ञे प्राञ्चं वसुम्भ्यः प्र गंय प्रचेतः ।

हिंसं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन्यातुधानां नृचक्षः ।

॥ ९ ॥

अर्थ— हे ( जातवेदः ) शान्ते मने ! तू ( यत्र इदानीं ) जहाँ अब ( तिष्ठन्तं चरन्तं उत अन्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं पदपथि ) लगे हुए, भ्रमण करनेवाले और अकारणों संचार करनेवाले यातक देनेवाले बुद्धको देवता है, वहाँ ( शिशानः शस्ता शर्वा ) तीक्ष्ण पात्र फेंकनेवाला वस्तुहितक ( तं विध्य ) उस यातका वेध कर ॥ ५ ॥

हे मने ! ( यसैः ) साक्षयोंद्वारा बतला हुआ ( इषूः संनममानः ) अपने बाणोंको ठीक करके ( वाचा ) वाणीसे उपदेश करता हुआ ( श्रवणं अश्रमिभिः दिहानः ) श्रवणोंको विजलीसे तीक्ष्ण करता हुआ ( तामिः प्रतीचः ) यातुधानान् हृदये विध्य ) उनके शत्रुके समुच्च हीकर उन बुद्धके हृदयको वेध करके ( एषां वाहन् प्रति मरिचि ) इनके बाहुओंको होड़ बाध ॥ ६ ॥

हे जातवेद ! ( उत आरम्भान् उत आरेभान् ) साक्षयोंका आरंभ करनेवाले और हिंसे हुए लोगोंको ( श्रुष्टिमिः स्पृशहि ) शस्त्रीसे लुप्तित रत । हे मने ! ( यातुधानान् पृथः शोशुचानः मिजाहि ) बुद्धोंको शस्त्रोंसे प्रथम प्रकाशित हीकर मध्य कर । ( आम्नादः एनीः हिंसाः एने मदन्तु ) मारतायेवाले लाल पत्नी इनको ला जावें ॥ ७ ॥

हे मने ! ( यः यातुधानः इदं कृणोति ) जो बुद्ध यह बुद्ध कार्य करता है ( यतमः सः ॥ ८ ॥ प्रगृहि ) वह भीम है, यह महा ब्रह्म है । ( तं आरमस्य ) उसको बन्ध बना आरंभ कर । ( तं समिधा आरमस्य ) उसको लकड़ियोंसे जलावा आरंभ कर । ( नृचक्षस्तः यमुपे एने रन्ध्रयः ) यमुपेके हितको बुद्धिसे इस बुद्धका नाश कर ॥ ८ ॥

हे मने ! ( तीक्ष्णेन चक्षुषा प्राञ्चं यज्ञं रक्ष ) तू अपनेतीक्ष्ण आँखसे यज्ञ यातको रक्षा कर । हे ( प्र-चेतः ) शान्ती ! तू ( यस्तुभ्यः प्रथय ) यमुपेके लिये उसको से जा । ( नृ-चक्षुः ) लोगोंके निरोधक । ( हिंसं रक्षांसि ममि शोशुचानं ) हितरुको और राजाओंको तपायेवाले ( त्वा ) तुमको ( यातुधानां मा दभन् ) यातना देनेवाले न भयाने ॥ ९ ॥

भाष्यार्थ— अहाँ इष्ट देवोंको हितक बुद्ध हों वही उनको बना दिया जावे ॥ ५ ॥

साधनेसे बड़, अपने शास्त्रादि तीव्र रक्ष, वाणीसे उत्तम उपदेश कर, अपने श्रवणोंको विजलीसे तीक्ष्ण कर और उनसे शत्रुओंके हृदयोंका वेध कर, तथा उनके बाहुका छेदन कर ॥ ६ ॥

तुम कर्म करनेवालोंकी रक्षा अपने शस्त्रोंसे कर । बुद्धोंका नाश कर । भीत लानेवाले पत्नी बुद्धोंका मार जावें ॥ ७ ॥

जो बुद्ध हैं उनकी बुद्धता यहाँ कह, उनको बन्ध दे, जनताका हित करनेकी बुद्धिसे उनका नाश कर ॥ ८ ॥

यपनी बुद्धिसे-प्रतिज्ञे-सत्कर्मका संरक्षण कर और निवातकोंकी ओर उसे से बल । हिंसकोंको अपने तेजसे हरा और ऐसा कर कि बुद्ध तुझे न भयाने ॥ ९ ॥

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विशु तरय श्रीणि प्रति शृणीष्वही ।

तस्यपि पृथीहीसा शृणीहि श्रेषा मूलं यातुधानस्य वृष ॥ १० ॥

त्रिषांतुधानः प्रसितिं त एतृत्तं चो अंशे अनृतेन हन्ति ।

तमुचिषा स्फूर्जयंजातवेदः समुधमेनं गृणते नि युद्धमि ॥ ११ ॥

यदंशे अथ मिथुना शपातो यद्वाचस्तुष्टं अनयन्त रेयाः ।

मन्मोर्मनसः शरण्यां जायते या तथा विष्य हृदये यातुधानान् ॥ १२ ॥

परां शृणीहि तपसा यातुधानान्परां रक्षो हरसा शृणीहि ।

पराचिषा मूदेयान्शृणीहि परास्तुष्टः शोशुचतः शृणीहि ॥ १३ ॥

अर्थ— हे भाने । ( वृ-चक्षाः विशु रक्षः परिपश्य ) मनुष्योंका विरोधन करते हुए वह विद्याओंमें प्राप्तोंकी वेल । ( तस्यपि श्रीणि अप्रा प्रति शृणीहि ) उनके तीनों अवधारणोंका नाश कर । ( तस्य पृथीः हरसा शृणीहि ) उनके पक्षियोंकी मरण बलते तोड़ । ( यातुधानस्य मूलं श्रेषा मूल ) यशस्वा देवताकी वर तीनों प्रकारोंकी वर बला ॥ १० ॥

हे भाने । ( याः अनृतेन कृतं हन्ति ) जो भक्तपते सत्यका नाश करता है, वह ( यातुधानः ते प्रसिति मिः एतृ ) दुष्ट तेरे पापधर्मों तीनों प्रकारोंसे प्राप्त होने । हे जातवेद । ( तं अचिषा स्फूर्जयन् ) उग्रपि अपने प्रकारसे प्रभावित करता हुआ तू ( यमं समुधं गृणते नि युद्धमि ) उसके अपने सामने ईश्वरुति करनेवालेके हितके प्रति-पादनमें रक्ष ॥ ११ ॥

हे भाने ! ( यत् अथ मिथुना शपातः ) जो पात्र दोनों एक दूसरेको घायल हैं, ( यत् रेयाः पाचः दुष्ट जलमन्त ) जो शत्रुओं करनेवाले पापीकी बहोरता प्रकाशित करते हैं । ( या मन्मोः मनसः शरण्यां जायते ) जो पोपी मनसे शत्रुकी पूजा करता है । तथा यातुधानान् हृदये विष्य ) उनके वीर्योंके हृद्योंकी वेद बला ॥ १२ ॥

( यातुधानान् सफसः परा शृणीहि ) यशस्वा देवताओंकी अपने तपसे दूर करके गष्ट कर और हे भाने । ( हरसा रक्षः परा शृणीहि ) अपने बलसे उन्हें दूर करके उनका नाश कर । ( मूदेयान् अचिषा परा शृणीहि ) दुष्टोंकी अपने तेजसे दूर करके उनका नाश कर तथा ( अस्तुष्टः शोशुचतः परा शृणीहि ) दूसरोंके प्राणोंपर गुन होनेवाले तथा शोक देनेवाले दुष्टोंकी भी दूर करके उनका नाश कर ॥ १३ ॥

भाषार्थ— भक्तताकी रक्षा करनेके लिये वृत्त विद्याओंके दुष्टोंकी दूध निरास । और उनकेतीनों प्रकारसे प्रसारोंका प्रतिषेध कर । दुष्टोंकी पीठ तोड़ और उनके जड़ उखाड़ दे ॥ १० ॥

जो भक्तपते सत्यको बलाता है उस दुष्टको बलवर्धे बाल । अपने तेजसे उसकी नि तरय कर और ईश्वर भवनके समुद्र उसका प्रतिषेध कर ॥ ११ ॥

जो दुष्ट वरत्तरकी घायल होने हैं और शत्रुओं करने बहोर भाषण बोलने हैं, उनके अपने दुष्ट भाषणों को घातन परिणाम होता है, उससे दुष्टोंके हृदय बल भावें ॥ १२ ॥

जो दुष्ट लोगोंकी वर ॥ हैं उनको अपने तप, बल और तेजसे दूर कर और उनका नाश कर । दुष्टोंकी उपायना करनेवालोंकी भी दूर कर । जो दूसरोंके प्राण छेदक गुन होते हैं उनको बलाते हुए हटा दे ॥ १३ ॥

पाप देवा इजिनं शृणन्तु प्रत्यर्चनं श्रुपथा यन्तु सृष्टाः ।

वाचास्तेनं श्रव श्रच्छन्तु मर्मन्विमस्यैतु प्रसिति यातुधानः

॥ १४ ॥

यः पौरुषेयेण क्रविषा समरुते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः

यो अघ्नयाया भरति क्षीरमां तेषां शीर्षाणि हसार्पि वृष

॥ १५ ॥

विषं गवां यातुधानो भरन्तामा वृषन्तामर्दितये दुरेवाः ।

परैरान्देवाः संविता ददातु परा मामोर्वेषीना जयन्ताम्

॥ १६ ॥

संवत्सरीणं पयं उस्त्रियांवास्तस्य सार्धंयातुधानो नृवधः ।

पीयूषमपे यतमस्तिर्हस्ताचं प्रत्यक्षेपेविषा विष्णु मर्मणि

॥ १७ ॥

सनादमे मृणसि यातुधानाच त्वा रक्षांसि पूर्वनासु निग्युः ।

सहस्रांनहं दह क्रव्यादो मा ते ह्येवा हंसतु देववावाः

॥ १८ ॥

अर्थ— ( देवाः अथ इजिनं परा शृणन्तु ) वेव आज पाप करनेवाले पापीको दूर करें । ( सृष्टाः श्रुपथा यन्तु ) प्रत्यक्ष यन्तु ) भौमी हुई यातिषा उनके प्रति वाचत जाय । ( वाचा स्तेनं मर्मन् श्रवः श्रच्छन्तु ) पामीके शोरके मर्मको श्रव काटे । ( यातुधानः विम्वस्य प्रसिति यतु ) यातना वेनेवाले कुछ रात्रके समयमें जाय ॥ १४ ॥

( यः पौरुषेयेण क्रविषा समरुते ) जो मनुष्यके मांससे अपने आपकी पुष्ट करता है और ( यः यातुधानः अश्व्येन पशुना ) जो कुछ मात्र आदि पशुके मांससे अपने आपकी पुष्ट करता है, हे जाने ! ( यः अघ्नयाया क्षीरं भरति ) जो दायका दूध घृता कर ले जाता है ( तेषां शीर्षाणि हसार्पि वृष ) उनके शिरोंको अपने बलसे तोड़ डाल ॥ १५ ॥

( यातुधानाः गवां विषं भरन्तां ) जो कुछ गीमोंको विष देते हैं और ( दुरेवाः अर्दितये आधुधन्तां ) जो कुछ गौको काटते हैं, ( संविता देवः घनान् परा ददातु ) संविता देव इनको दूर हटावे ( ओर्वेषीनां भागं परा जयन्तां ) इनको मांसमयीका भाग भी न दिया जावे ॥ १६ ॥

हे ( नृ-चक्षुः ) मनुष्योके निरीक्षक ! ( उस्त्रियायाः संवत्सरीणं पयः ) गायका वर्षभर दलत होनेवाला जो दूध है ( तस्य यातुधानः सा माशीद् ) उसका पाव यातना वेनेवाला कुछ न करे । हे जाने ! ( यतमः पीयूषं विहस्तात् ) जनमेते जो कुछ वृषकी मनुष्यकी पीवना, ( ते प्रत्यक्षं अविषा मर्मणि विषम् ) उसको सबके समुख अपने तेजसे परस्परजनमें देव डाल ॥ १७ ॥

हे जाने ! तू ( यातुधानान् सनात् मृणसि ) यातना वेनेवाले कुर्घोंका सना नाश करता है । ( रक्षांसि त्याग पृतनासु न निग्युः ) राक्षस तुम पुर्घोंमें नहीं भीत सकते । ( सहस्रांनहं क्रव्यादः अनुदह ) मूशोंके साथ मांस भस्मकोंले जला दे । ( ते देववावाः ह्येवा ) वे तेरे विषय जर्राफके ( मा मुस्तत ) छूट न जाय ॥ १८ ॥

भाष्यार्थ— पामी मनुष्योको और दायको दूर किया जाय, जो हुई यातिषा सेनेवालेके पास वाचत जाय । पामीके शोरी करनेवालेके मर्मस्थान श्रवसे काटे जाय । जनताको यातना वेनेवालेके प्रतिबंधमें रखा जाय ॥ १४ ॥

मनुष्य और घोड़े आदि पशुका मांस खा कर जो कुछ अपना जरीर पुष्ट करता है और गायका दूध जोरी करके पीता है उसका शिर काट दे ॥ १५ ॥

जो कुछ मनुष्य गौको विष देते हैं और गौ काटते हैं, उनके सपानसे हटाया जावे और उनको शान्वादिना भाग न दिया जावे ॥ १६ ॥

हे मनुष्योका क्षित करनेवाले ! गायका दूध पुष्ट मनुष्य न पीवे । जो कुछ घृताकर पीवना उसको शारीरिक रक्ष दिया जावे ॥ १७ ॥

तू सदा कुर्घोंका नाश करता है, तुमसे राक्षस पराजित नहीं कर सकते । तू मांसभक्षक मूशोंको जला, तेरे पादमें वे दूष्ट न हटें ॥ १८ ॥

त्वं नो अग्रे अधरादुक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात् ।  
 प्रति त्वे तं अजरास्तपिष्ठा अपर्शसं शोच्यतो वहन्तु ॥ १९ ॥  
 पश्चात्पुरस्तादधरादुतोत्तरात्कविः काव्येन परि पाह्यते ।  
 सखा सखायमजरो जर्मिणे अग्रे मर्तो अर्धव्यस्त्वं नः ॥ २० ॥  
 तदग्रे चक्षुः प्रति धेहि रेमे शफाकृन्ने येन पश्यसि यातुधानान् ।  
 अथर्ववज्योतिषा दैव्येन सख्यं पूर्वन्तमचित्तं न्योति ॥ २१ ॥  
 परि त्वाम्ग्रे पुरं वृषं विप्रं सहस्य चीमहि । वृषदर्शो दिवेदिरे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥ २२ ॥  
 विप्रेण भङ्गुरावतः प्रति स्म रक्ष्यो जहि । अग्रे तिम्रेन शोचिषा सपुत्राभिमुखिभिः ॥ २३ ॥  
 वि ज्योतिषा वृहता मांस्यमिराचिर्विद्यानि कृणुते महित्वा ।  
 प्रादेवीर्मायाः संहते दुरेयाः शिशोति शृङ्गे रक्षोभ्यो विनिह्वे ॥ २४ ॥

अर्थ— हे कर्मे । ( त्वं नः अधरात् उक्तः पश्चात् उत पुरस्तात् रक्ष ) तू हमारी पीछे ऊपर पीछे और आगे रक्षा कर । ( ते त्वे शोच्यतोः अजरास्तः तपिष्ठाः ) वे सब तेरापी, असीन होकर लगनेवाले ( अपर्शसं प्रति वहन्तु ) पापीको जला देवे ॥ १९ ॥

हे कर्मे । तू ( कवि, काव्येन ) कवि है मत अपने काव्यसे ( पश्चात् पुरस्तात् अधरात् उत उत्तरात् परिपाहि ) पीछेसे आगेसे पीछेसे और ऊपरसे सब रीतिसे रक्षा कर । ( त्वं सखा सखायं ) तू मित्र है मत, मुझ जैसे मित्रकी, ( अजराः जर्मिणे ) तू जराग्रहित है मत मुझ जराग्रस्तको और ( अमरः मर्त्यो नः परिपाहि ) तू अमर है मत हम मरनेवालोंकी रक्षा कर ॥ २० ॥

अगे । ( येन शफा-रक्षः यातुधानान् पश्यसि ) जिससे तू तातोंद्वारा जोरों लगावेवाले दुष्टोंका निरीक्षण करता है, ( तत् चक्षुः रेमे प्रतिधेहि ) उस नजरको तू तीव्र भजानेवालेपर रख । ( अथर्व-वज्यं दैव्येन ज्योतिषा ) महिम्न विज्य तेजसे ( सख्यं अचित्तं धूर्वम् ) तब अभित भाग करनेवालेको ( नि शोच ) मला दे ॥ २१ ॥

हे कर्मे । हे ( सहस्य ) बलवान् । ( वृषं ) हम सब ( विप्रं पुरं ) शक्ती और पूर्णता करनेवाले, ( धृपञ्जरी ) परबन करनेवाले और ( भङ्गुरावतः हन्तारं ) विनाशकोंका नाश करनेवाले, ( त्वा दिवे दिवे परिधीमहि ) तेरा प्रति-दिन ध्यान करते हैं ॥ २२ ॥

हे कर्मे । ( तिम्रेन शोचिषा ) तीव्र तेजसे पुनः ( तपुः अत्राभिः अर्चिभिः ) लगनेवाले तेजकी शोचिषोति ( विप्रेण भङ्गुरावतः रक्षस्वः प्रति जहि स्म ) बिचसे नाम करनेवाले राजाओंका नाश कर ॥ २३ ॥

( अग्निः वृहता ज्योतिषा निमासि ) अग्नि विशेष तेजसे प्रकाशक है । ( मदिरा विभ्यानि ध्यायि वृणुने ) अपने सामर्थ्यसे सब जन्तुको प्रकट करता है । ( प्रादेवीः दुरेयाः मायाः प्रसहते ) राजाओंके दुष्टराजः करत मालोंकी शोभता है । ( शृङ्गे रक्षोभ्यः विनिह्वे शिशोति ) अपने दोनों शीशोंको राजाओंका नाश करनेसे निवे तीव्र करता है ॥ २४ ॥

भाषार्थ— तू सब ओरसे हमारी रक्षा कर । तेजस्वी लोग पापियोंको बध ॥ १९ ॥

तू कवि, मित्र, जराग्रहित और अमर है मत तू हमारी रक्षा कर । हम तेरे मित्र बनना चाहते हैं । हम जराग्रस्त होते हैं और मृग्यते भी प्रात है मत तू हमारी सहायता कर ॥ २० ॥

जो दुष्ट तातों मारकर हमारे शरीर तोड़ते हैं तथा जो हमारे विरुद्ध कोसामहम मचाते हैं उनको धू देस । तू अपने तेजसे हमारा नाश करनेवालेका नाश कर ॥ २१ ॥

शक्ती, मनोकामना पूर्ण करनेवाले, प्रभुका परबन करनेवाले, दुष्टोंका नाश करनेवाले सब बलवान् देवरा हम सब प्रतिदिन ध्यान करते हैं ॥ २२ ॥

विष देकर जगत्में नाश करनेवाले दुष्टोंका नाश तू अपने तीव्र और उग्र तेजसे कर ॥ २३ ॥

अग्नि विरोध तेजसे प्रकाशक है और अपने सामर्थ्यसे जगत्को प्रकटित करता है । राजाओंके बध कराल दूर करने उनके भावने शिवे अपने दो शीश तीव्र करता है ॥ २४ ॥

ये ते शुद्धं अजरे जातवेदमित्थमहेती प्रक्षेप्यसि ।

ताभ्यां दुर्हर्दिममिदासन्तं किमीदिनं प्रत्यर्च्यमर्चिषा जातवेदो वि निक्ष्व

॥ २५ ॥

अग्नी रक्षसि सेषति शुक्रशोचिरमर्त्यः । शुचिं पाचक ईत्वा ।

॥ २६ ॥

अर्थ—हे ( जातवेदः ) वेदज्ञ ! ( ये ते अजरे तिग्म-हेती ) जो तेरे तीक्ष्ण हथियारके समान ( प्रक्षेप्यसि ) जानने तोड़ने किये हुए धोखे है, हे जातवेद ! ( ताभ्यां ) उन दोनों सींगोंके और ( अर्चिषा ) अपने तेजसे ( दुर्हर्दि किमीदिनं समिदासन्तं ) दुष्ट हृदय, भूतों और दूसरेका नाश करनेवाले दुष्टका ( प्रत्यर्च्य वि निक्ष्व ) सामनेसे नाश कर ॥ २५ ॥

( शुक्रशोचिः अमर्त्यः ) शुद्ध प्रकाशवाला अमा ( शुचिं पाचक ईत्वा ) पवित्र, शुद्धता करनेवाला शुद्ध अग्नि ( रक्षसि सेषति ) राक्षसोंका नाश करता है ॥ २६ ॥

भाषार्थ—तेरे सींग तीक्ष्ण हथियार जैसे हैं और वे जानने तीक्ष्ण हुए हैं, उनसे और अपने तेजसे दुष्ट हृदयवाले पातकों का नाश कर ॥ २५ ॥

शुद्ध, तेजस्वी, अमर, पवित्र, शुद्धता करनेवाला प्रद्योतनीय अग्नि राक्षसोंका नाश करनेवाला है ॥ २६ ॥



## दुष्टोंका नाश

### दुष्टोंके लक्षण

॥ वृत्तमेव दुष्टं मनुष्येति नाश करनेका विषय है । अतः दुष्ट बीज है इराका पहिले निश्चय करना चाहिये । अतः येवमेव इति वृत्तमेव दुष्टोक्ति लक्षण कहे हैं, देखिये—

१ दुर्हर्दिः ( दु + हर्दिः )—दुष्ट हृदयवाला, जिसके अन्त करमने दुष्ट निवार रहते हैं, जो दुष्ट भाव भवनें कारण करता है, जो हृदयमें घातघातकी कल्पनाओंके कारण करता है । ( म. २५ )

२ रक्षः, राक्षसः ( रक्षति )—जो रक्षय करनेका श्राव प्रकट करके घात करता है । जो आहूतसे रक्षा करनेका श्राव रचकर अवसरसे उसीका नाश करता रहता है । ( मं. ९ )

३ अशु-शुष्- जो दुष्टोंके प्राणोंकी अति लेकर लुप्त होता है, जो दुष्टोंका नाश करके अपना स्वार्थसाधन करता है, जो दुष्टोंका घात करके अपनी पुष्टि करता है । ( १३ )

४ धूर्ध्वन्- जो दुष्टोंका घात और नाश करता है । ( ११ )

५ भंगुरायत्- जो दुष्टोंका सत्यानाश करता है । ( १२ )

६ अमिदासन्- जो दुष्टोंका जय करता है, दुष्टोंको भयनें आता है, दुष्टोंको मृत्वाय भयात्ता है, दुष्टोंको

घातोंजमें रचकर स्वयं अपने भोज खाता है, जो दुष्टोंकी रात बनाता है । ( २५ )

७ हिंस्रः ( ३ ) शूराः ( १४ )—जो हिंसा करता है, घातघात करता है । दुष्टोंका नाश करता है ।

८ शफा-रज्- अपने घातोंके प्रहारोंके जो दुष्टोंको मारता है, दुष्टोंके अवयव लालोंके मारने शीघ्र देता है ।

९ रिपः—हिंस्रक, घातघात करनेवाला, जो दुष्टोंका विध्वंस करता है । ( १ )

१० कन्यात् ( २ ), कचिष्णुः, आमादर ( ४ )—जो नाश खाता है, जो कन्या पात खाता है, जो रक्त पीता है, जो दुष्टोंके शीघ्रनष्ट कोषित रहता है ।

११ यः पीत्येयेष मद्रूपेन ऋषिषा, यः पशुना समर्त्तकै- जो मनुष्य, अश्व और कन्याय पशुओंके मांससे अपना शरीर पुष्ट करता है, जो अपने देवके लिये दुष्टोंके प्राण देता है । ( १५ )

१२ दुरेवाः अदितये आनुष्यन्तो- जो दुष्ट पातको खाता है अथवा खाता है । अ-दिति मर्मात् अहिमनीय नीला जो जो पशु करता है । ( १६ )

१३ यत्वं त्रिं सरन्तो- यौषोंको जो विप देते हैं और विषसे पोका पशु करते हैं । ( १६ )



१४ किमीदिन- ( कि-इदानीं )- अब मान क्या लागे, कल उसका वध किया और पेट भरा, आज किमकर वध करके पेटपूर्ति करें इसका जो सवा विचार करते हैं। जो कभी दूसरोंका पात किये बिना नहीं रहते । ( २५ )

१५ पातुधानाः ( पातु+धानः )- यज्ञना देनेवाले, दूसरोंको सतानेवाले, दूसरोंको धोखा देनेवाले । ( २ )

१६ दुरेयः- ( दुः+ययः )- दुष्ट मार्गपर चलनेवाला, बुरे कार्यमें प्रवृत्त होकर दूसरोंको कष्ट देकर अपना सुख प्रदानेका प्रयत्न करनेवाला । ( २४ )

१७ भवेयीः मयाः- ( भ-विद्याया मयाः )- जो मुझसे और कपट करते हैं, जो धोखा देकर दूसरोंको छूटते हैं, धोखेबाजीसे अपना ऐश्वर्य बढ़ाते हैं । ( २४ )

१८ घृजिनः- जो घात करता है, पाप कर्ममें प्रवृत्त होता है । ( १४ )

१९ पाचास्तेमः ( पाचा+स्तेमः )- जो पापीका धोर है, जिसका भावन साथ नहीं होता । जो एक ओरला है और दूसरा ही करता है, जो विश्वास करने अयोग्य है । ( १४ )

२० मूदेवाः, ( १ ) सहमूरः ( १८ )- पातपात करनेवाला मूढ़, जाकुओंके साथ रहनेवाला, महाभूष, महापातकी, महाहिंसक । ( १ )

२१ मिथुना चापातः- एक दूसरोंको पातियां देते हैं, परस्पर बुरे लक्ष्मिक प्रयोग करते हैं । अपराध ओलते हैं । ( १९ )

मे सब दुष्ट हैं। ये दुष्टोंके लक्षण हैं। इन लक्षणोंके विचारते भोय तारकोंके लक्षण भी जाने ला सकते हैं । जैसे ' जो दूसरोंका पातपात नहीं करते, जो क्रितीकी हिंस्र नहीं करते, जो अहिंसा भावसे रहते हैं, जो सदा साथ ओलते हैं, कभी बपट नहीं करते, दूसरोंमें दुष्ट भाव धारण करते हैं, कभी किसीका पात करके अपना पेट भरना नहीं चाहते, अपितु यथार्थ प्रयत्नसे दूसरोंका सुख बढ़ाना चाहते हैं, दुष्ट मनुष्योंके साथ कभी नहीं रहते, धर्मसे कभी बुरे व्यव नहीं उधारते, जो पाप कर्ममें प्रवृत्त नहीं होते, जो मातृभोजन नहीं करते, जो दूसरोंके पारपीट नहीं करने, जो दूसरोंके दासभावसे दुष्टानेके शिष्य प्रपन्न करते हैं, जो दूसरोंको रता करते हैं । ' जो ऐसा मूढ़ सदाचार रहते हैं वे लक्षण रहे जाते हैं । इन लक्षणोंकी पूर्णवृत्त दुष्ट दुर्जन तथा बपट देते हैं, अतः दुष्टोंको दूर करना धर्म होता है । तारकोंका परिचय करना, दुष्ट दुर्जनोंका पात करना और कर्मको व्यवस्था

स्थापित करना यह ज्ञान योग्य पुरुषोंका कर्तव्य है । जो ज्ञान कर्तव्य करेंगे वे ही जादरके योग्य पुत्र हैं । पशु मनुष्यका धर्म है, अतः इस सुख द्वारा कहा है कि इन दुष्टोंका नाश करना चाहिये । नाश करनेका भाव यह है कि उनका दुष्ट भाव दूर करना, उनके स्वभावका सुधार करना, उनको दुष्ट व्यवहारसे निवृत्त करना, उनको सपात ला छाड़ते वहितकृत करना और इतनेसे भी कार्य सिद्ध न हो, तो उनका नाश करना । इन दुष्टोंका नाश करनेवाला कैसा हो, इस विषयमें कहा है—

## दुष्टोंका नाश करनेवाला कैसा हो ?

पुरुषोंका विवरणमें दुष्टोंके लक्षण बड़े हैं, इन लक्षणोंसे दुष्टोंको पहचान हो सकती है । इन लक्षणोंसे दुष्टोंका नाश होनेके पश्चात् उनका नाश करनेका कार्य कौन करे, इसपर विचार करना चाहिये । हर्षका मनुष्य दुष्टोंके नाश करनेके कार्यका अधिकारी नहीं है, यह कार्य विशेष शिष्मेवारीका है, अतः यह कार्य जिनपर साधपानसहित होना चाहिये और विशेष योग्यतावाले मनुष्यके हाथीन यह कार्य रहना चाहिये । इस विषयके निर्देश इस सूत्रमें हैं, उनका अब यहां विचार करते हैं—

१ मित्रः ( मं. १ ), स्वयः ( मं. २० )- जो तब मनुष्योंमें मित्रताका बर्तन करता है, जो तबका ( स्वयः ) भवति हित चाहनेवाला है । जकाता हित करनेमें भी तत्पर रहता है ।

२ विप्रः ( मं. २१ ), क्षत्रिः ( मं. २० )- जो विशेष शान्ति वर्षात् शान्ति है, जो क्षत्रि है अर्थात् क्षात्रवर्गी है, जो हर्षद्विषाता है, जो महारथी है हर्षत बातका विचार कर सकता है, जो दक्षिण दृष्टिके साथ सब वार्तापर भावेरीष्टे विचार करनेमें तुरंत है ।

३ ज्ञातवेदः ( ज्ञातवेदः )- जो ज्ञानी है, जिसने अध्ययन अतः प्रारम्भ पूर्व किया है, जो बहुदूत और वैद-ज्ञातज्ञ है, जिसके अंदर ज्ञानकी दृष्टि उत्पन्न हुई है । ( मं. १ )

४ अर्थात्तु दिव्यश्रोतिः ( मं. २१ )- जो ( अ-र्थ ) अथवाचन स्थितप्रज्ञ धोनीके समान दिव्य तेजसे दूत है, जिसने योगसाधनादि द्वारा अपना मन स्थिर किया है, जो अथवाचन कुतिकात नहीं है, जो धार्मिक और गंभीरतासे सब बातोंका विचार कर सकता है और सीधता करके जो कार्यको विचारता नहीं है ।

५ शुक्रश्रोतिः, शुचिः, पावकः ( मं. २१ )- जो धर्मिक तेजसे शुद्ध, स्वयं आचारसे शुद्ध और पवित्र रहने-

पाला है, जो स्वयं पवित्र विचार, पवित्र उच्चार और पवित्र आचारसे युक्त है। जिसके मन, बुद्धि, चित्त, आदि अन्तरिग्रिय तथा बाह्य इंद्रिय पवित्र हैं और जो सदा शुद्ध व्यवहार ही करता है—

६ इन्द्रियः ( मं. २२ ), अग्निष्टुः ( मं. १ )- पूर्वोक्त कारणसे जो प्रशंसनीय है, स्तुति करने योग्य है, सब लोग जिसके पवित्र आचारकी प्रशंसा करते हैं।

७ याज्ञी ( मं. १ ), सहस्रः ( मं. २२ ) जो असवान् है, कर्तव्यका निश्चय करके जो निश्चयपूर्वक अपने बलसे जाको विभक्त है, जो प्रतिपक्षको परास्त कर सकता है, जो अपने बलसे अपने कर्तव्य कर सकता है।

८ ब्रह्मसंशितः ( मं. २५ )- जानते, तीव्र, जानते तेजस्वी, जानते सुसंस्कृत, जानते प्रशंसा युक्त बना हुआ।

९ अजराः, अमर्त्यः ( मं. २० )- अरारहित और मरु-रहित बना हुआ, क्षीण न होनेवाला और मरुसे न टरनेवाला, वेबोके समान नरामृतपुत्री ब्रू रखनेवाला, दिव्यजीवन युक्त।

१० मनुमि। समिद्धः ( मं. १ )- विविध सत्कर्मों से प्रवीण हुआ हुआ, श्रेष्ठ प्रशस्ततम कर्मों से प्रकाशित, सत्यमय, प्रशंसनीय उत्तम कर्म करनेवाला, जिससे उत्तम कर्म ही होते हैं।

११ विश्रानः ( मं. १ )- शीघ्र, तेजस्वी।

१२ शर्वा ( मं. ५ )- समुच्चोका नाम करनेवाला।

१३ प्रतीचः ( मं. १ )- बुद्धोंका सामना करनेवाला, शत्रुओंके सामुख लड़ा होकर उनका प्रतिकार करनेवाला।

१४ भंसुराग्रतः हुता ( मं. २२ )- घातकोंका नाश करनेवाला।

१५ रक्षोहा ( मं. १ )- राक्षसों, कुरकर्म करनेवालोंका नाश करनेवाला।

१६ क्रम्यादः अपिघाद्व ( मं. २ )- मांसलक्षकोंकी, हूतारोंकी बीचोंबीच अपनी बुद्धि करनेवालोंकी बसानेवाला।

१७ अर्घिया यातुघानाम् उपस्थः ( मं. २ )- अपने तेजसे यातना देनेवालोंका नाश करनेवाला।

१८ विदा नक्तं रिपः पातु ( मं. १ )- तब रात यातकोंसे सम्बन्धी रक्षा करनेवाला,

१९ अमैः यातुघातान् संपेहि ( मं. ३ )- हथियारोंसे बुद्धोंकी रक्ष देनेवाला।

इस प्रकार बुद्धोंका नाम करनेवाला शत्रु, शत्रु, सम-बुद्धि रखनेवाला, शंभीर, विचारवान्, जनताका हित करने-वाला, पवित्र विचारवाला और सुयोग्य पुरुष होना चाहिये। हर एक मनुष्य यह पवित्र कार्य कर नहीं सकता। जिससे कभी अन्याय होनेकी संभावना नहीं होती, ऐसे सत्यपक्षे भावीन यह अधिकार होना चाहिये। जब कभी व्याघातीन संभवा बन्धविघात करनेके कार्यके लिये किसी मनुष्यको नियुक्त करना हो, तो उस स्थानके लिये इन गुणोंसे युक्त पुरुष ही नियुक्त किया जावे। और इन गुणोंसे युक्त मनुष्य ही उस स्थान पर जाकर कार्य करे। इस बुद्धिसे इस सुक्तके मंत्र मंडे उपयोगी है। ऐसे सात्विक पुरुषसे कभी मत्कार नहीं होता, जो धीम्य होता, वही कार्य वह करेगा और सब मनुष्योंकी इसके कार्यसे संतोष होगा।

इन बुद्धोंकी जो वज्र देना योग्य है, उन इन्द्रोंके विविध प्रकार जो इस सूक्तमें लिखे हैं, जो इन मंत्रोंमें स्पष्ट लिखे हैं, तथापि सुबोधका लिये उनका बड़ा वर्णन करते हैं—

### दण्डका विधान

इस समयतक को विवरण दिया गया, उससे बुद्धोंके लक्षण और बुद्धोंको दण्ड देनेवालोंके लक्षण हात हुए। बुद्धोंको दण्ड देनेवालोंके लक्षणोंमें भी अन्तिम कुछ सत्यन देखे हैं। जिससे दण्डविधानका भी पता चल सकता है। अब इसी दण्ड विधानका अधिक विचार करते हैं—

१ रक्षो-हा- इस अर्थसे राक्षसोंकी 'घघ' दण्ड देना योग्य है यह सिद्ध होता है। 'हृद्' वायुका हूतारा अर्थ 'गति' है। यह अर्थ सिधा नाप तो राक्षसोंकी अपने स्थानसे भगा देना अर्थात् 'देशसे विकास देना' यह अर्थ होता। 'रक्षस्' ( रक्षन्ति यस्मात् इति रक्षः ) शत्रुका अर्थ है जिससे सुरक्षित रहनेकी आवश्यकता होती है, जिससे जनताका बचाव किया जाता है। ऐसे बुद्धोंको ऐसे स्थानमें रखना और उनपर ऐसा दण्ड विधान चाहिये कि वे कुछ बुद्धोंकी यातना न दे सकें, यदि कोई इससे मान्य होता है ( मं. १ )

२ अयोद्धा- कोहेको बाई। इस वंशमें बुद्धोंका रख कर उसका नाश करना। ऊपरसे और नीचेसे कील घुसाकर बुद्धोंके खरीरको काटना। ( मं. २ )

३ क्रम्यादः अपिघाद्व- हूतारोंके मांस पर अपने शरीरकी बुद्धि करनेवालोंको बंध करके रख, कंधों पर रख ( इय आश्रम ) भी लान पकान अपने मुखमें बंध रखा जाता है, उसी प्रकार उन बुद्धोंकी रख। ( मं. २ )

४ अथरं पर च दंपुः उपघोहि- दोनों प्रकारके कवि-  
और धेनु शत्रुकी जरनी बाँधमें बर रहा । अर्थात् उत्तको  
इधर उधर हिलने लगे । ( म. ३ )

५ यातुधानान् जमे संघेहि- यातना देनेवालोंपर  
जबहोके समान शत्रुओंके साथ जहाँ कर ३ जलमेंसे जहाँका  
नाश कर । ( म. ३ )

६ यातुधानस्य त्वच भिन्नि- यातना देनेवाले दुष्टों  
की बमझी छिन्न विच्छिन्न कर । अर्थात् उनकी इतना मार  
कि उनकी बमझी उपर जाय । ( म. ४ )

७ हिंस्र-मशानि दमे हरसा हनु- हिंस्र बिलकी  
इतना धप वेगसे करे । अर्थात् धिनुतके शरीरसे इन दुष्टोंका  
किया जाये । ( म. ४ )

८ पर्याणि प्रभृणीहि- दुष्ट लोगोंको काट दे । ( म. ४ )

९ कविष्णुः कल्प्याद् दमे भिच्छिनुतु- मांसभक्षक  
विष्णु, व्याध खादि प्राणियोंके द्वारा दुष्टोंके शरीरोंको भुखवाया  
जाये । ( म. ५ )

१० यातुधानं विश्व- यातना देनेवाले दुष्टको बाल  
भाविते वेध शास्त्र । ( म. ५ ) हृदये विषय- हृदय पर बाल  
मार । ( म. ५ )

११ दयां बाहून् प्रतिमिधि- दुष्टोंके बाहु काट दे ।  
( म. ५ )

१२ यातुधानान् शस्त्रिभिः सृणुहि- यातना देने-  
वालोंका शस्त्रोंसे बम कर । ( म. ७ )

१३ यातुधानान् तिजहि- इतरोंको यातना देनेवालोंका  
नाश कर ( भामावः घनीः भद्रन्तु ) घुसरोका मांस काटकर  
अपनी मुष्टि करनेवालोंको पीप खा जमे । ( म. ७ )

१४ रक्ष प्रति भृणीहि- रक्षाओंका नाश कर ।  
( म. १० )

१५ पृथी- हरसा शृणीहि- दुष्टोंकी पतलियाँ बेकी  
श्रोत्र दे । ( यातुधानस्य मूलं कुक्षं ) यातना देनेवाले  
दुष्टकी छाट काट डाल । ( म. १० )

१६ यातुधान निमुदग्धि- यातना देनेवालोंको कारा  
गृहमें रखा । ( म. ११ )

१७ यातुधानान् हृदये विष्य- यातना देनेवाले  
दुष्टोंके हृदयमें वेध ला । ( म. १२ )

१८ समुत्तप पराभृणीहि- इतरोंके भागोंको छेकर  
अपनी मुष्टि करनेवाले दुष्टोंका नाश कर । उनको डूर करके  
उनका नाश कर । ( म. १३ )

१९ मर्मन् शृणुतु- दुष्टोंके मर्मस्थान काटने जाय ।  
( म. १४ )

२० यातुधानः प्रसिति एतु- दुष्ट भयनस्थान-  
कारागार-को प्राप्ता होवे । अर्थात् दुष्टोंको कारागृहमें रखा  
जाये । ( म. १४ )

२१ तेषां शीर्षाणि नृक्ष- दुष्टोंके शिर काटे जावे ।  
( म. १५ )

२२ यातुधानः उखियायाः संघसरीणं पयः  
माशीत्- दुष्टोंको गायका दूध एक वर्षतक पीनेको न दिया  
जाये । एक वर्षतक गायका दूध पीनेको न देना, यह भी  
एक रथ है । आजकल तो जो भैंसका ही दूध पीते हैं, वे  
भी यह रथ स्वभावतः भोग ही रहे हैं, शरीरिका गायका  
दूध पीनेको प्राप्त हो नहीं होता है । आजकल कवियोंको भैंसका  
ही दूध दिया जाये तो उनकी कुछ भी बुरा प्रतीत नहीं  
होता । परन्तु वैदिक कालमें गायका दूध पीनेके विषे न  
विचिनार भी एक रथ माना जाता था । इससे ऐसा प्रतीत  
होता है कि कारागृहाधी कवियोंको भी गायका दूध पीनेको  
नियतित न मिला होता और जो विशेष प्रकारके दुष्ट लोग  
हैं, उनकी ही वर्षभरतक गायका दूध न देनेका रथ होता  
होता । इसीलिये आये इसी मर्ममें कहा है कि— ( यत्न-  
पर्यायं शिरःपलाद् र्त्तं मर्मणि विष्य )- शिर दुष्टकी  
गायका दूध न पीनेका रथ होनेपर भी यदि शिर पीपी करके  
था अन्य मुक्तिते गायका दूध पीनेकी विष्टा करे तो, उसके  
वधे स्थानको वेध शास्त्र । इससे स्पष्ट होता है कि विशेष  
प्रकारके घोर अत्याचारी कवियोंको ही गायका दूध न पीनेका  
रथ दिया जाता था और ऐसे कवी यदि गायका दूध पीपन  
पेहकर पीते थे, तो उनको कठोर रथ किया जाता था ।  
( म. १७ )

२३ अथर्द्धसं दृष्टन्तु- पावोको जताया जाये ।  
यथ रथ है । यहाँ जताकर बम करना है । ( म. १९ ) यथो  
भाव ( धूर्वम्सं म्योय ) विनाश करनेवालेका बम कर, गता  
केर अथवा जताकर नाश कर इस आदेशमें है ।

२४ रक्षस- प्रतीजहि- दुष्ट रक्षाओंका नाश कर ।  
( म. २३ )

२५ दुर्वाहं अविदासन्त विनृक्ष- दुष्ट दुर्बलतासे  
और दूसरोंको बल बनावेवाले दुष्टका नाश कर । ( म. २५ )

इस प्रकार विविध प्रकारके दुष्टोंका विधान इस सूक्तमें  
है । विविध प्रकारके अपराधोंके समाप्तसे ये विविध रथ देने  
पौष्य ही हैं । जो इनको बोर सम्यक्त विद्वान् न्यायाधीश  
होया, वही अपराधोंकी न्यूनाधिकतारसे अनुसार न्यूनाधिक  
रथ दे सकता है । किंतु अपराधके लिए कौतया रथ देना  
योग्य है, इसका विचार करनेके लिए शास्त्र और परोर  
धर्मावबता न्यायाधीश होना चाहिए ।

## दुष्टनाशन सूक्त

कांड १, सूक्त २८

( अग्निः—चातनः । देवता—स्वस्त्ययम् । )

उप प्रागादिवो अग्नी रक्षोहार्मीवचातनः । दहन्तं द्वाविनो यातुधानान्किमीदिनः ॥ १ ॥

प्रति दह यातुधानान्प्रति देव किमीदिनः । प्रतीचीः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः ॥ २ ॥

या शशाप घर्पनेन चाधे सूरमादधे । या रसंस्व हरणाय जातमरिभे लोकमंतु सा ॥ ३ ॥

तृमंतु यातुधानी । स्वस्तरमृत नृपयम् ।

अथा मिथो विकिश्यो ३ वि मेतां यातुधान्यो ३ वि तृषन्वाभरायः ॥ ४ ॥

अर्थ—( अग्नीष-चातनः ) रोगोंको दूर करनेवाला और ( रक्षोहा ) राक्षसोंका नाश करनेवाला अग्निदेव ( किमीदिनः ) तबको भूलोंकी ( यातुधानान् ) लुटेरोंको तथा ( द्वाविनः ) कपटियोंकी ( अप दहन् ) जलाता हुआ ( उप प्रगात् ) पास आ पहुंचा है ॥ १ ॥

हे अग्निदेव ! ( यातुधानान् प्रति दह ) लुटेरोंको जलादे तथा ( किमीदिनः प्रति ) तबको भूलोंकी भी जला दे । हे ( कृष्णवर्तने ) कृष्ण घामोंवाले अग्निदेव ! ( प्रतीचीः यातुधान्यः ) संजुष्ट भानेवाली लुटेरी स्त्रियोंकी भी ( संदह ) अच्छी तरह जला दे ॥ २ ॥

अब वृष्ट लुटेरी स्त्रियों ( शपणेन शशाप ) आपसे शप वेली है, ( या अधं मूर्तं मादधे ) को प्रारंभसे पास ही करती है, ( या रसंस्व हरणाय ) जो रस बीनेके लिये ( जाती लोकं आरेभे ) जन्मे हुए बालकको लाना आरंभ करती है और ( सा मंतु ) यह पुत्र लानी है ॥ ३ ॥

( यातुधानी ) पापी स्त्री ( पुत्रं अनु ) पुत्र लाती है । ( स्वस्तरं उत नृपयं ) बहिनकी तथा सतीकी लाती है । ( अथ ) और ( विकिश्यः ) केवल एकत्र एकत्र कर ( मिथः श्रुतां ), आपसमें संगठती है । ( अराय्यः यातुधानी ) दानभाव-रहित घातकी स्त्री ( तितृहस्तां ) आपसमें भारीत करती है ॥ ४ ॥

साधार्थ—रोग दूर करनेमें तबमें अर्थात् उत्तम वेद, यादुर भावकी ह्यानेवाला, अग्निके समान सेतारही, उपवेशक स्त्रियों लुटेरे तथा कपटियोंकी दूर करता हुआ भाग्य चले ॥ १ ॥

हे उपवेशक ! दू लुटेरे स्त्रियों दुष्टोंका नाश कर तथा सत्यने अनेवाली वृष्ट स्त्रियोंकी भी दुष्टता दूर कर दे ॥ २ ॥

इन दुष्टोंका संहार यह है कि ये सामसमें गाधियां देते रहते हैं, हरएक काम पास भागते करते हैं, यहीतक वे मूर होते हैं कि रक्त पीनेकी इच्छासे मरे उत्पन्न घातककी हो चूसना आरंभ कर देते हैं ॥ ३ ॥

इनकी स्त्री भयने पुत्रको भी खा जाती हैं, बहिन तथा सतीकी भी खा जाती हैं, तथा एक दूसरेके घाल एकदूसकर भासमें ही लडती रहती हैं ॥ ४ ॥



## दुष्टनाशन सूक्त

संस्कृतमें ' वि दग्ध ' ( विशेष प्रकरसे जला हुआ ) यह शब्द ' अति विद्वान् ' लिये प्रयुक्त होता है । यहां अज्ञानका रहन अज्ञान धारि धर्म समझना अज्ञित है । जिस प्रकार धर्म को अधिको लपककर दूष्ट करती हैं । उसी प्रकार उपवेशक द्वारा प्रेषित धानाग्नि जलानी मनुष्योंके

जानकी जला देती है । इस कारण ' ब्राह्मण ' के लिये वेदमें ' अग्नि ' शब्द आता है । ब्राह्मण और धर्मिके वाचक वेदमें ' अग्नि और इन्द्र ' शब्द मिलते हैं । ब्राह्मणधर्म अग्नि वेदताके और धर्मधर्म इन्द्र वेदताके सुपतंगी प्रकट होता है । इस सूक्तमें ' अग्नीष-चातनः ' ( रोगोंको दूर करनेवाला )

यह घट्ट बिरोध रूपमें थापा है। यह वहाँ चिकित्सा द्वारा रोग दूर कर सकनेवाले उत्तम वैद्यका भी बोध करता है। उपदेशकको जैसे साक्षरमें प्रयोग होना चाहिये वैसे ही उसे उत्तम वैद्य भी होना चाहिये। वैद्य होनेसे वह रोगियोंको चिकित्सा करता हुआ धर्मका प्रचार कर सकता है।

### दुर्जनोके लक्षण

इस दूरनमें दुर्जनोके पूर्वकी व्येता कुछ अधिक लक्षण कहे हैं, इसलिये उनका विचार यहाँ करते हैं—

१ दूपाधितः— मनमें एक भाव और बाहर एक भाव, ऐसा कण्ट करनेवाले। ( मं १ ) ' किमीदिन् यातुधान् ' इन शब्दोंका भाव सूत्र ७, ८ को दृष्टव्यके प्रसंगमें धताया ही है। इस सूत्रमें दुर्जनोके कई भ्रमहार बताये हैं, वे भी यहाँ बतिये—

२ श्रापनेन शशाप— भावसे श्रापवेना, बुरे छन्द बोलना, गालियाँ देना हायादि। ( मं ३ )

३ अयं मूर्ख आदधे— प्रारम्भमें पापका भाव रहना। हरएक कामका प्रारंभ पाप बुझिके ही करना।

४ दसस्य हरणाय जातं शोकं आदधे— रक्त चीनेके लिये भवजात मन्त्रको सा जाती है।

५ यातुधानीं पुत्रं स्वप्नार मर्त्यं भक्षि— यह बुद्ध भासुरी स्त्री बचका, बहिन अपका भातीको सा जाती है।

६ विकेदयाः मिथः विप्रतां, भितृहान्तां— आपसमें केस पकड़ कर परस्पर सारपीड करती हैं।

ये सब दुर्जन श्मशुपुत्रोके लक्षण हैं। बाउबचोंकी छाने-बाते लोग इस समय भरीकामें कई स्थानोंपर हैं, परंतु भाग्य दैवीमें सब वे नहीं हैं। जहाँ कहीं वे हों, वहाँ धर्मोपदेशक जावे और उनकी उपदेश देकर उत्तम मनुष्य बना देवे, शानी बनाने, उनकी बुद्धता दूर करके उनकी सज्जन बना देवे।

ऐसे मनुष्य-भक्षक बुद्ध, क्रूर, हिंसक मनुष्योंमें भी जाकर प्रमोदितकरे और उनकी सुधारनेका यत्न करनेका उपदेश होनेसे इससे कुछ सुघटेहुए शिवित् उपरकी जेनोके मनुष्योंमें बर्ष कायुति करनेका आग्रह इयं ही स्पष्ट हो जाता है।

### दुष्टका सुधार

दुष्ट लोगोंने बुद्धता होनेके कारण हो वे भक्तव्य समझे

जाते हैं। उनकी बुद्धता उपवेश जाति द्वारा हटाकर उनकी सम्य ज्ञाना बाह्यमार्ग है और उनकी बंध बेकर दा करा पमकाकर उनका सुधार करनेका धन करना शास्त्रमार्ग है। वेदमें अग्नि वेवहाये बाह्यमार्ग और दान वेवहाये शास्त्रमार्ग बताया है। ज्ञाते या तपस्ते तो दोनों ही हैं। परंतु एक उप-वेदा द्वारा उनके ज्ञानको ज्ञाता है और दूसरा शास्त्र इष्ट और इसी प्रकारके कठोर उपायोसे पीडा देकर उनको सुधारता है।

सुधारतो सोनेसि होता है, परंतु अग्निमेले बंध द्वारा तपाने-के उपायोसे बाह्यमार्गके ज्ञानार्जित द्वारा तपामेंका उपाय अधिक उत्तम है और इसमें बल भी बच है।

यहाँ अग्नि धावसे जलका घट्टन करके जलसे दुधोंकी जलावेक भाव इस सूत्रका नहीं है, क्योंकि इस सूत्रका लक्ष्य मानेपीछेके अनेक सूत्रोंसे है और अग्निके गुणोंके प्रमाण देकर ज्ञानी उपदेशक ही अग्नि धावसे ऐसे सूत्रोंमें अभीष्ट है। इसके अतिरिक्त ' रोप दूर करनेवाला अग्नि ' इस सूत्रमें कहा है यदि यह उन लोगोंको ज्ञाता ही वेवे तो उनके रोगमुक्त करनेके गुणसे क्या लाभ हो सकता है। इसलिये यह अग्निबल लक्षणा ' ज्ञानान्ति ज्ञातव्यका ज्ञानान् ' ही है। बुद्ध सुधारणोंको हटाना और बहा भेज मनुष्यमें स्थापित करना ही यहाँ अभीष्ट है और इसीलिये रोगमुक्त करनेवाला उत्तम वैद्य ही धर्मोपदेशकका कार्य करे यह सूचना इस सूत्रमें हमें मिलती है। क्योंकि रोगोंके जन पर वैद्यके उपदेशका जैसा असर होता है, वैसा बलशक्त व्याख्यावसे श्रोताओंपर मही होता। रोगीका मन भासुर होता है इसलिये धावका ही दुई उत्तम बात उनके मनमें लय जाती है और इस कारण वह शीघ्र ही सुधार जाता है।

[ यहाँ तृतीय और चतुर्थे मन्त्रमें ' अन्तु ' छन्द है जिसका जन्म ' कथे ' ऐसा होता है परंतु ' शशाप आदधे ' इन श्रियाओंके अनुसंधानसे ' अन्तु ' के स्थानपर ' अक्षि ' मानना युक्त है। क्योंकि यहाँ यातुधानोंकी रीति बताई है जैसे ( शशाप ) छान देते रहते हैं, ( अय आदधे ) पाप स्वीकारते रहते हैं, ( शोकं भक्षि ) बचनेको खाते रहते हैं अर्थात् यह उनकी रीति है। दूसरेपर संयंसे यह जन्म यहाँ अभीष्ट है ऐसा हमें प्रतीत होता है। ]

## शत्रुदमन

## कांड ८, सूक्त ४

( अथिः - पातनः । वेक्ता - इत्यालोषी )

इन्द्रासोमा तपतं रथं उज्जतं न्यर्षितं वृषणा तथोवृषः ।  
 परा शणीतमचितो न्योषितं हवं नुदेयां नि शिञ्जीतमृत्तिप्रणः ॥ १ ॥  
 इन्द्रासोमा समुघशंसमृष्यं तर्पुष्यस्तु चरुर्गृहीतं हव ।  
 ब्रह्मविषं क्रुष्यादे घोरचक्षुसे द्वेषो घचमनवायं किमीदिने ॥ २ ॥  
 इन्द्रासोमा दुष्कृषो वघ्रे अन्तरनास्मणे तमसि प्र विष्यतम् ।  
 यतो नैपां पुनरेकक्षनोदयच्छासस्तु सहसि मनुमुमच्छवः ॥ ३ ॥  
 इन्द्रासोमा वृषयं दिषो वृधं सं प्रीयन्त्या अचर्षसाव तर्हणम् ।  
 उचक्षतं स्वयं पर्येत्यो येन रथो वावृषानं निजूर्ययः ॥ ४ ॥

अर्थ— हे ( वृषणा ) वलवान् इन्द्र और सोम । ( रक्षा तपतं ) राक्षसोंको ताप दो, ( उज्जतं ) जलनी बारी । ( तमो-घुघः नि अर्षयते ) अग्निकार बहानेवालोंको गोने गिरा दो । ( न-चितः परा शणीतं ) अन्तःकरण रहित बुद्धीका नाश करो, ( नि ओषतं, हवतं, ) उनका नाश करो, उनका वध करो । उनको ( नुदेयां ) निकाल दो, ( अतिप्रणः निशि-शीतं ) हृत्तरोंको बालेवालोंको निर्बल करो ॥ १ ॥

हे इन्द्र और सोम ! ( अग्निमन् चरुः इव ) अग्निकार चरु हुए हाथीके समान ( अघशंसं अर्थ अग्नि ) पाप करनेवाले पापोंके शम्भु ( तपुः सं दयस्तु ) ताप-नुष्ण दो रहे । ( ब्रह्मविषे क्रुष्यादे ) ब्रह्मके शत्रु, मांसभक्षक, ( घोरचक्षुसे किमीदिने ) क्रूर बुद्धिवाले दुष्टके ( अनवायं द्वेषः घर्षं ) निरन्तर द्वेष करो ॥ २ ॥

हे इन्द्र और सोम ! ( अन्तरमणे घये तमसि अन्तः ) अग्निकार अग्निकारके बीचमें ( दुष्कृतः प्रवि-धत्तं ) दुष्कर्म करनेवालोंको वेष्टाईलो, ( यतः पर्यां यकः बन्ध ) जिससे इनमेंसे एक भी बूझा ( न उद् अयाद् ) न उठ सके । इस प्रकारका ( वां मनुमुत् तद् शवः ) तुम्हारा जसाहमकत वह बल ( उचक्षे अस्तु ) शत्रुदमनके लिये होवे ॥ ३ ॥

हे इन्द्र और सोम ! आप दोनों ( अघ-शंसाय ) पाप करनेवाले दुष्ट मनुष्यके लिये ( विषः प्रीयया । ) सुलोक और पुष्पीलोकके बीचमें ( तर्हणं चर्षं संघर्षयतं ) विनाशक वध करनेवाले अस्त्रको प्रवृत्त करो । ( पर्येत्यः स्वयं उद् तपतं ) पर्यंतिकासी अन्तर्गते लिये अतितीक्ष्ण अस्त्र तैय्यार रहो । ( येन वावृषानं रक्षा निजूर्ययः ) जिससे बहनेवाले राक्षसोंका तुम नाश कर सको ॥ ४ ॥

माथार्थ— बुद्धीको वध दो, उनका ताड़न करो, ब्रह्म बहानेवालोंको दूर हटा दो, दुष्ट हृदयवालोंको समाजो बाहर निकाल दो, उनका वध भी करो, अथवा उनको बाहर निकाल दो । जो क्रूरोंको रातों में अपनी निमित्त बनाओ ॥ १ ॥ जो सदा पाप करता है उसको कठिन दण्ड दो । ज्ञानका नाश करनेवाले, मांसभक्षक, क्रूर और हिंसकति होव करो ॥ २ ॥

गात्र अग्निकारके रहनेवाले, दुष्कर्मियोंको वेष्ट जाओ । वेष्टी व्यवस्था करो कि इनमेंसे एक भी फिर कष्ट देनेके लिये न बच सके, तुम्हारा जसाहमकत वध अपने विक्रयके लिये ही लगे ॥ ३ ॥

पाप करनेवाले दुष्टकी विधा करो और वध करो । उनको दूर करनेके लिये अपने अस्त्र सिद्ध रहो । जिससे तुम उनका नाश कर सको ॥ ४ ॥

इन्द्रासोमा वृत्तयंत दिवस्पर्षमित्तोर्मिर्बुधममहन्मभिः।

तपुर्वेषभिरजरेभिरत्त्रिणो नि पश्याने विष्पतं यन्तु निध्वरस् ॥ ५ ॥

इन्द्रासोमा परि वां भूत विष्पतं इयं मतिः कृष्पाश्चैव वृजिना ।

यां वां होत्रां परिहिनोमि मेघयेमा ब्रह्माणि नृपतीं ॥ विन्वतम् ॥ ६ ॥

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिर्वैहृतं द्रुहो रक्षसो मद्भुसवतः ।

इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भुयो मां कदा चिदभिदासति द्रुहः ॥ ७ ॥

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अन्वैतेमिर्वचोभिः ।

आप हव काष्ठिना संगृमीता अस्त्रस्वामेत इन्द्र वक्ता ॥ ८ ॥

ये पाकशंसं विहरन्त एवैषे वा भद्रं दूषयन्ति स्वधार्मिः ।

अहं ये वा तान्प्रददातु सोम ओ वां दधातु निर्जितेरुपस्थे ॥ ९ ॥

अर्थ— हे इन्द्र और सोम । ( युवं ) तुम दोनों ( अग्नितलेभिः अङ्गमहन्मभिः ) अग्निमें तपे और बीजावले बने हुए ( मज्जरेभिः तपुर्वेषभिः ) क्षीन न होनेवाले और सत्ताम देकर बध करनेवाले ब्रह्मणो ( विद्य, अत्रिणः परित्यक्तयते ) द्रुहोके भोगो भोगोंको हटा दो और उनको ( पश्याने नि विष्पतं ) कठिन स्वायत्त बनाकर बध करो, जिससे वे ( निस्वर्त यन्तु ) शस्त्र न करते हुए भाग जाय ॥ ५ ॥

हे इन्द्र और सोम । ( कृष्पा पाजिना ब्रह्मा इव ) जैसे सर्वव्यापी बलवान् बीजोंसे संभवित होता है, वैसे ही ( इयं मतिः ) वह हमारी बुद्धि ( यां परि भूतु ) तुमको सब प्रकार मान्य होवे । ( यां होत्रां यां मेघयेमा परिहिनोमि ) इस साक्षात् करनेवाली वाणीको भावों बुद्धिके साथ तुम्हारे प्रति प्रेरित करता हूँ, अतः तुम दोनों ( नृपती इव ) राजाओंके समान ( ब्रह्माणि मा विन्वतं ) इन स्तुति वाक्योंको प्रेमसे स्वीकार करो ॥ ६ ॥

हे इन्द्र और सोम । ( तुजयद्भिः एवैः प्रतिसरेथां ) देववान् बह्वन्ति दुष्टोंके गतिका पीछा करो । ( मंगु-रायतः द्रुहः रक्षसः हृतं ) विनाशक और क्रोहशील राजाओंका नाश करो । ( य द्रुहः कदाचित् मा अभिदासति ) जो दुष्ट मुझे कभी कष्ट पहुंचावे । ( दुष्कृते सुगं मा भूतु ) जत दुष्कर्म करनेवालेको तुमसे सुमनेका अवकाश न हो ॥ ७ ॥

हे इन्द्र । ( पाकेन मनसा चरन्तं मा ) परित्यक्त भूद्ध यवसे आचरण करनेवाले मृतको ( या अन्वैतेः वचोभिः अभिचष्टे ) जो अत्यन्त बचनीति शिक्कता है, ( काशोना संगृमीताः आपः ॥ ) मृद्धी द्वारा पकड़े जलने लपान बह । ( अस्ततः वक्ता ) अस्तित्व बचन बोधनेवाला ( अ-सन् अस्तु ) न होनेके समान होवे ॥ ८ ॥

( ये एवैः पाकशंसं विहरन्ते ) जो विनाश गति लायनेके परित्यक्त बुद्धिवालेको विशेष प्रकारसे हराते हैं, ( ये वा भद्रं दूषयामिः दूषयन्ति ) जो अच्छे अनुष्यको अप्रथी दूषित करते हैं, ( सोम या तान् प्रददातु ) सोम अब दुष्टोंको तापके तिमि तीव्र देवे अथवा ( निर्जितैः उपस्थे या आदधातु ) विनाशके संधेव उनको पहुंचावे ॥ ९ ॥

भावार्थ— अग्निमें तपा कर बीजावले बनाने अतितीव्र और प्रबुद्ध नाश करनेमें तपमें दारप्रति अपने दुष्ट राजाओंको बध डालो, जिससे वे विना बिलाने ही नाशको प्राप्त हों ॥ ५ ॥

तुम्हारे अन्तर यह विचार-सङ्कुलता करनेका विचार स्थिर रहे, जिससे ब्रह्माओंको प्राप्त हो, जैसे बलिवर्तोंसे राजा सोम प्रशंसित होते हैं ॥ ६ ॥

देववान् बह्वन्ति बंधकर राजाओंका पीछा करो । ॥ ७ ॥ दुष्टोंको प्राप्त करके उनका नाश करो । दुष्ट कर्म करनेवाले तुम्हारे सामागम पहुंचते न भ्रमण कर सके और किसीको कष्ट न पहुंचावे ॥ ७ ॥

मृद्ध यवसे कर्म करनेवालेको जो बिना कारण मृद्ध मृद पातियां देता है, वह अत्यन्तवली बीजित न रहनेवालेके समान बन जावे ॥ ८ ॥

यो भो रसं दिप्सति पितृो अग्ने अर्घानां गवां यस्तनूनाम् ।

रिपुः स्तेन स्तेयकुदभ्रमेतु नि प ह्रीयतां तन्वा रे तनां च ॥ १० ॥

पूरः सो अस्तु तन्वां रे तनां च विष्ठाः पृथिवीरधो अस्तु विष्ठाः ।

प्रति शुष्यतु यथो अस्म देवा यो मा दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥ ११ ॥

सुविज्ञानं चिक्त्रिषु जनाय सचासंध वर्चसी पस्पृधाते ।

तथोर्षस्सस्यं यत्तरदजीपस्तदित्तोमोज्वति हन्त्यासद् ॥ १२ ॥

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।

इन्ति रक्षो हन्त्यासद्दन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसिती श्रयाते ॥ १३ ॥

अर्थ— हे माने । ( यः नः पितृा रसं दिप्सति ) जो हमारा अन्नके रसको बिगाड़ता है, ( यः अर्घ्यानां यथां तनूनां ) जो घोड़ों, गौओं और सब ज़रीरोंका नाश करता है, वह ( स्तेयकुद रिपुः स्तेनः ) चोरी करनेवाला शत्रुकी ओर ( दर्शयतु ) नाशको प्राप्त होवे । ( सः तन्या तनां च नि ह्रीयतां ) यह ज़रीरों और पुत्रादिके हीन बने ॥ १० ॥

हे देवो । ( यः मा दिवा ) जो मुझे बिनके समय ( यः च नक्तं दिप्सति ) और जो रात्रिके समय पीटा देता है, ( सः तन्या तनां च पूरः अस्तु ) वह अपने ज़रीरोंके साथ और पुत्रोंके साथ दूर रहे, वह ( विष्ठाः पृथिवीः अथा अदतु ) सभी तीनों भूमिनामोंके नीचे रहे और ( अस्म यश्च प्रति शुष्यतु ) इसका पक्ष कूल जाय ॥ ११ ॥

( चिक्त्रिषु जनाय सुविज्ञानं ) ज्ञान प्राप्त करनेवाले ऋषयों के लिये यह उक्त ज्ञान कहा जाता है कि, ( सत् च अस्तु च ) साथ और अस्तवके ( यश्च सी पस्पृधाते ) भावकोंमें स्वर्ण होती है । ( तयो यत् सस्य ) उनमें जो साथ है और ( यतरत् प्राजीयः ) जो सरल है, ( तद् इत् सोमः अयति ) उसकी सीम रखा करता है और ( अस्तु इति ) अस्तवका विनाश करता है ॥ १२ ॥

( सोमः वृजिनं न वा उ हिनोति ) सोम पाशकी कमी सहायता नहीं करता, ( मिथुया धारयन्तं क्षत्रियं न ) मिथ्या व्यवहार करनेवाले क्षत्रियकी कमी सहायता नहीं करता । ( रक्ष- इन्ति ) यह राक्षसोंकी मारता है, ( अस्तु घदन्तं इति ) अस्तव कोलनयनेकी मारता है, ये दोनों ( इन्द्रस्य प्रसिती श्रयाते ) इन्द्रके वयनमें रहते हैं ॥ १३ ॥

भाष्यार्थ— जो कुछ अपने अपनेक सामन्तोंके सख्तोंको चूरते हैं, और अच्छे आर्यवर्षोंके अर्घ्योंका बिगाड़ करते हैं, वे चर्षके योग्य हैं ॥ १ ॥

जो अस्तवोंको बिगाड़ता है, धनूषों और पशुओंका घात करता है, चोरी करता है, वह अपने आत्मचर्षकोंके साथ नाशको प्राप्त होवे ॥ १० ॥

जो कुछ दिन रात दूसरोंको पीटा देता है वह अपने बाल धक्केके साथ माझको प्राप्त होवे और उसका पक्ष कम होवे ॥ ११ ॥

सम लोगोंको यह साथ ज्ञान कहा जाता है कि साथ और अस्तवकी स्वर्ण इस अवस्थ में प्राप्त रही है । जो साथ और जो सोया है उसकी रक्षा पक्षेष्टर करता है और जो अस्तव है उसका नाश करता है ॥ १२ ॥

जो पाप करता है, मिथ्या व्यवहार करता है, अस्तव खावण करता है और घात करता है उसको वयनमें आत्मदा धाहिमें अवश उसका वध करना चाहिये ॥ १३ ॥



यदि वाहमर्तदेवो अस्मि मोघं वा देवो अम्प्यहे अग्ने ।  
 किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचंस्ते निर्ऋत्यं संचन्ताम् ॥ १४ ॥  
 अथा मुंरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्तवपु पुरुषस्य ।  
 अथा स वीरैर्दुर्गाभिर्वि यथा यो मा मोघं यातुधानेन्याह ॥ १५ ॥  
 यो मायातुं यातुधानेस्याह यो वा रथाः शुचिरस्मीत्याह ।  
 इन्द्रस्तं इन्तु महता बुधेन विश्वस्य जन्तोरेवमस्पर्दीष्ट ॥ १६ ॥  
 न या जिगाति स्वर्गलैव नक्तमर्षं द्रुहस्तन्वैः गृह्णाना ।  
 वृषमनन्तमय सा पदीष्ट प्राचोषो मन्तु रक्षसं उपन्दैः ॥ १७ ॥  
 वि तिष्ठत्वं मरुतो विश्वीकृच्छतं गृह्णायत्वं रक्षसः सं पिनष्टन ।  
 वयो ये भूत्या पतयन्ति नक्तमिधे वा रिषो दधिरे देवे अंघ्रिरे ॥ १८ ॥

अर्थ— ( यदि वा अहं अमृतदेवः अस्मि ) यदि मैं अमृतपका उपासक बनूँ, ( यदि वा देवान् मोघं ऊहे ) अपना देवोंको भ्रम्यं उपासना करने, तो हे ( जातवेद अग्ने ) जातवेद भव्ये । ( किं अस्मभ्यं हृणीषे ) क्या हमारे ऊपर बीज करोगे ? ( द्रोघवाचा । ते निर्ऋत्यं सचन्ताः ) क्रोहका भावना करनेवाले विनाशकारी प्राण हों ॥ १४ ॥

( यदि यातुधानः अस्मि ) यदि मैं पौरव देनेवाला हूँ । ( यदि वा पुरुषस्य आयुः तवपु ) और यदि मैं किसी मनुष्यको आयुको लाभ देऊँ तो ( अथा मुंरीय ) आज ही मर जाऊँ । ( अथा ) और ( यः मा मोघं यातुधानः इति आह ) जो मुझे भ्रम्यं ही बुद्ध कहता है, ( सः दुराभिः वीरैः वि यूयाः ) वह सबों को धेरे विधुन हो काय ॥ १५ ॥

( यः मा वा-यातुं यातुधानः इति आह ) जो मृत यातना न देनेवालेको भी बुद्ध कहता है, ( या या ) और जो ( रथाः ) स्वयं राक्षस होते हुए भी ( शुचिः अस्मि इति आह ) मैं शुद्ध हूँ ऐसा कहता है । ( इन्द्रः तं महता बुधेन हन्तु ) इन्द्र प्रसक्तों के बड़े बड़े रक्षकों मारे । और वह ( विश्वस्य जन्तोरेवमस्तः पदीष्ट ) सब प्राणियोंके बीजों मारने लगे ॥ १६ ॥

( या मरुतो स्वर्गला इव ) जो शरीरोंके समान ऊँचके समान ( तन्वैः गृह्णाना ) अपने शरीरको छिपाती हुई ( प्रजिगाति ) जाती है और ( द्रुहः नयजिगाति ) क्रोह करने बढती है, ( सः भनन्तो यम पदीष्ट ) वह गहरे गर्भमें फिर पड़े और ( प्राचोषः रक्षसः उपन्दैः मन्तु ) पक्षर राक्षसोंको शत्रुओंके लाभ मारें ॥ १७ ॥

हे ( भनन्ताः ) मरुतो ! ( विभु वि तिष्ठत्ये ) प्रजाओंमें विधेय प्रकारसे स्थिर रहो ( इच्छत ) अपना राज्य करनेको इच्छा करो, ( ये ययः भूत्याः ) जो पृथिवीके समान होकर ( नक्तमिः पतयन्ति ) रात्रियोंमें घुमने हैं, ( ये वा ) अपना लो ! ( देये अरधरे रिपः दधिरे ) यज्ञ देवके विषयमें विनाशका भाव धारण करते हैं ( रक्षसः गृह्णायत ) उन राक्षसोंको पकड़ो और ( संपिन्नष्टन ) पीछे छोड़ो ॥ १८ ॥

भावार्थ— यदि हमने अलग बड़ा अपना देवोंको पूजा करते हैं, तो हमारी अपायण होगी । सब क्रोहका भावना करनेवाले प्राणोंको प्राप्त होंगे ॥ १४ ॥

यदि मैंने किसीको पीडा दी हो अपना किसीके स्वास्त्यमें विनाश किया हो, जो मेरी मृत्यु हो जाये । परंतु मेरे ऐसा कामो म करने पर भी जो मुझे बुद्ध कहता है उसके बर्णों प्राण हूँ ही जाऊँ ॥ १५ ॥

दुराचारों होते हुए भी मुझे भी बुद्ध बड़े और जो दुराचारी स्वयं बुद्ध होते हैं जो अपने भावों पवित्र करना रहे, उसका मय हूँ और जहाँ सबके शत्रुओंको प्राप्त हूँ ॥ १६ ॥

जो ऊँचके समान रात्रिके समान शिथिलकर बुद्धभावसे सकार करता है वह गर्भमें पड़े और पक्षरोंके समान मय दिया जाये ॥ १७ ॥

प्रजाओंमें घसता हुआ जो, बुद्धको दुराचर निराकरणकी इच्छा करो, बुद्धोंको पकड़ो, उनको पीट डालो, जो बुद्ध शरीरोंके समान संभार करते हैं और ईश्वर तथा सबके विषयमें बुद्ध भाव धारण करते हैं, उनका मय दिया जाये ॥ १८ ॥

प्र वंर्य दिवोऽदमानमिन्द्र सोमंशितं मघवन्त्सं शिश्राधि ।

प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तोऽभि जहि रक्षसः पर्वतेन

॥ १९ ॥

एत उ त्वे पतयन्ति स्रवातव इन्द्रं दिव्यन्ति विप्रवोऽदाम्यम् ।

शिश्रिति श्रुक्ः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदुशनिं पातुमश्रः

॥ २० ॥

इन्द्रो यातुनामभवत्पराजितो हविर्मर्षीनामभ्याहुर्विवांसताम् ।

अवीदुं श्रुक्ः परशुर्यथा वने पात्रेव मिन्दन्तसुत एतु रक्षसः

॥ २१ ॥

उलूकपातुं शुश्रुलूकपातुं जहि शयातुमुत कोकपातुम् ।

सुपर्णपातुमुत गृध्रपातुं हयैवैव प्र संभूय रथं इन्द्र

॥ २२ ॥

मा सो रक्षो अभि नंदयातुमावदपोऽञ्जन्तु मिथुना ये किमीदिनः ।

पृथिवी नः पार्थिवारप्तात्वंहंसोऽन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वंस्मान्

॥ २३ ॥

अर्थ—हे ( मघवन् इन्द्र ) मघवान् इन्द्र । ( दिवः अदमानं प्रवर्तय ) कुलोकते अदमानको वला मोर ( सोम-शितं सं शिश्राधि ) सोम द्वारा शीतल किये हुए धरमको नियन्त्रित प्रेरित कर । ( पर्वतेन ) पर्वतारोहते ( प्राक्तः अपाक्तः ) अधरात् उदक्तः रक्षसः । सामगते, घोडते, घोडेते और ऊपरते राजसौकी ( अभिजहि ) विनाश कर ॥ १९ ॥

( एते उ त्वे पतयन्ति ) वे के कुलुकिपातन वर्ताव करनेवाले बुद्ध ( पतयन्ति ) हल्ला करते हैं, ( दिव्यन्ति ) अदाम्यं इन्द्रं दिव्यन्ति । हिलक लाने करनेवाले इन्द्रको सतते हैं । ( श्रुक्ः पिशुनेभ्यः ) धर्म दिश्रिती । इन्द्र इन शीव कुशुको घन बन्ध वेता है । ( यातुमश्रः ) अशनि नूनं सृजत् । बलना केनेवाले किये विदुत्को सजता है ॥ २० ॥

( इन्द्रः ) इन्द्र ( हविर्मर्षीनां ) हविर्षिक विनाश ( अभि माविपासतां ) सपोय स्थित ( यातुनां ) पातना केनेवाले बुद्धीको ( परा-भारः ) अमघवत् । दूर हुडाकर भाग करनेवाला होता है । ( यथा धर्मे परम्पुः ) जैसे वनको कुलुका बाधता है, तथा जैसे ( यथा इय ) बिट्टेके कर्तव्यको तोडा जला है, उसीप्रकार ( श्रुक्ः ) समर्थ इन्द्र ( सतः ) रक्षसः मिन्दन् । उपस्थित राजसौकी तोडता हुमा ( इन्द्र उ अभि वन्तु ) भाग बडे ॥ २१ ॥

हे इन्द्र । ( कोकपातुं ) विट्टीके समान व्यवहार करनेवाले अर्वात् शायो, ( शुश्रुलूकपातुं ) मैट्टीके समान वर्ताव करनेवाले अर्वात् कोपी, ( गृध्रपातुं ) गीधके समान वर्ताव करनेवाले अर्वात् लोभी, ( उलूकपातुं ) उलूके समान वर्ताव करनेवाले अर्वात् मोहित, ( सुपर्णपातुं ) गवहके समान वर्ताव करनेवाले अर्वात् पर्वरी ( उत भयातुं ) और कुलुके समान आपसमें संग्राम करनेवाले अर्वात् मासरी लोभीको ( जहि ) मार और ( हयैव इय ) जैसे परधरते पक्षीको मारते हैं जैसे ( रक्षः प्रमुखा ) राजसौकी भाग कर ॥ २२ ॥

( यातुमावत् रक्षः नः मा अमिन्द्र ) बलना केनेवाला राजसौ हल्लाक न आवे । ( ये किमीदिनः ) जो मृधे हैं और जो ( मिथुनाः ) गाय उच्छन्तु ) पातक हैं वे दूर भाग जायें । ( पार्थिवारप्ता भंहसः ) पृथिवी सर्वको पारते ( पृथिवी ता पातु ) पृथिवी हमारी रक्षा करे । तथा ( दिव्यात् भंहसः ) कुलोक सर्वको पारते ( अन्तरिक्षं अस्मान् पातु ) अन्तरिक्ष हमारे बधावे ॥ २३ ॥

मापार्थ— यपने शीतल शास्त्रारोही बुद्धीका सब ओरसे भाग करो ॥ १९ ॥

जो कुलुकि समान बुद्ध है, जो दूराको द्रिष्टा करते हैं, उसका वध और भाग दासपत्रमे किया जाये ॥ २० ॥ पर्वरी भाग करनेवाले, हल्लाकामे विनाशनेवाले, कुलुकी समानेवाले बुद्धीको हटा दो और जैसे पशुने बलना भाग लिया जाता है वैसे ही उसका भाग लिया जाये ॥ २१ ॥

मासरी, कोपी, लोभी, अशानी, धर्मही और मासरी के ल. प्रचारके बुद्ध हैं इनका भाग कर ॥ २२ ॥

मातना केनेवाले हमारे दूर हैं, सदा भूलें रहनेके समान व्यवहार करनेवाले बुद्ध दूर भाग जायें । पृथ्वी और स्वर्गके संभरते होनेवाले सब पार्थिव हय वध जाय ॥ २३ ॥

इन्द्रं जहि पुमांसं यातुधानंमृत स्त्रियं मायया शार्ङ्गदानम् ।

विश्रीवासो मूर्देया अदन्तु मा ते दंशन्तसूर्यैमुधरान्तम्

॥ २४ ॥

प्रति चक्षु वि चक्षुवेन्द्रश्च सोम जागृतम् । रक्षोभ्यो वृषमस्यतमश्चानिं यातुमज्जः

॥ २५ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! ( यातुधानं पुमांसं ) यातका देनेवाले पुष्पका तथा ( मायया शार्ङ्गदानम् ) कष्टसे व्यवहार करनेवाली शर्माका ( जहि ) नाश कर । ( मूर्देया विश्रीवासः अदन्तु ) मूर्त्तिके उपासक वासन धहित होकर मरगको प्राप्त हों । ( ते उधरन्त सूर्ये मा दंशन्त ) वे उधरको प्राप्त होनेवाले सूर्यको न डंक सके ॥ २४ ॥

हे सोम ! ( इन्द्रः प्रतिचक्षु ) इन्द्र विरोधन करे, ( विचक्षु ) विरोध प्रकारसे देंगे । माय हीनों ( जागृतं ) जागत रहो । ( रक्षोभ्यः यातुमज्जः ) राक्षस और पीडक इन सब पर ( धंशं अशानिं ) मृत्युदण्ड और बलदण्ड ( अक्षयते ) जैके ॥ २५ ॥

भाषार्थ— यातका देनेवाला काहे वह पुष्प हो या शर्मा हो, उपासक नाश हो । मूर्त्तिके अनुयायियोंकी गर्वन काटी जाय । वे इन्द्र सूर्योदय होनेतक भी ओलित न रहें ॥ २४ ॥

विरोधन करो और सबका अवलोकन करो, जागते रहो । जो राक्षस अर्थात् यातका करनेवाले और दूसरोंके तातायेवाले हों, उनकी वधका दण्ड दिया जाये ॥ २५ ॥



## शत्रुदमन

### दुष्टोंका दमन

हुष्ट शत्रुधोका दमन करनेका विषय इस सूक्तमें है । यही विषय पूर्व सूक्तमें भी था । 'चातन' श्रविके सूक्तमें प्राय ऐसी ही शत्रुदमनके विषय हुआ करते हैं । 'चातन' शब्दका ही अर्थ 'हटाना, हटा देना, निकाल देना, दूर करना, नाश करना' है । शत्रुको हटानेका उपदेश करनेवाले सूक्तोंके श्रविके नामका भी 'शत्रुको हटाना' ही अर्थ हो, ऐसी अर्थ-वाला यही एक सूक्त और यही श्रविके ही ऐसा नहीं है । कई अन्य सूक्तोंमें यह बात ऐसी ही दिखाई देती है । श्रविकों ( अ० १० सू० १८३ का ) 'उलो यातायनः' श्रविके ही और दूसरों शत्रु वायु क्षीयन देनेवाला है ऐसा विषय आता है । यातायनका अर्थ लिङ्गको है और निङ्गकोका संभव मूढ़ हुआ घरमें आनेके साथ है । इस प्रकार कई श्रविकोंके नाम और उनके सूक्तोंके आगत परापर सम्बन्धित हैं । इस सूक्तमें दुष्टोंका दमन करनेका उपदेश है । अथ प्रथम दुष्टोंके गुण कथन यहां देते हैं । पूर्व सूक्तके विवरणके प्रथममें जिन सप्तशोका विचार किया है, उनको यहां नहीं दुहराएंगे । इस सूक्तमें जो नये कथन आये हैं वेही यहां देंगे—

### दुष्टोंका लक्षण

पूर्वके सूक्तमें 'रक्षः, राक्षसाः, भंगुरापय, कम्पाद, किर्मादिन्, यातुधान, मूर्देय' ये शब्द हुष्ट वाचक आये हैं, जो स्पष्ट पूर्व सूक्तमें नहीं दिये और इस सूक्तमें विशेष रूपसे बहे हैं, उनका ही विचार यहां अब करते हैं—

१ तमोऽध्यायः— अन्तर्गतो बहामेवाते, तानप्रकारका प्रति-अथ करनेवाले, नाश देनेवालोंको इष्ट देनेवाला अथवा उनसे कार्यमें रुकावट उत्पन्न करनेवाले । ( अ. १ )

२ अन्तिम्— जिनके जित नहीं है, अर्थात् जितका, अन्त करण उत्पन्न नहीं है, चेष्टे शत्रुदमनके जितके समान शिष्टा जित नहीं, जिन्हा जिनसे मरण दृष्टतासे बिचार है । ( अ. १ ) पूर्व सूक्तमें इसीका भाव अन्तर्वाता 'दुष्टोदः, गच्छ है ।

३ अन्तिम्— ( अन्ति इति ) भी शत्रुघोरो अथ तेकर अपनी पुष्टि करता है, अपने शत्रुघोरोके शत्रु को शत्रुघोरो अन्ति-पर दृष्टि करता है । ( अ. १ )

४ अथः अथदांस— नाश करने के लिये जितका नाश जिताना है, जितके नाश करनेके कारण ही जितको मर लोग जानते हैं । ( अ. २ )

५ ब्रह्मदिप्- ज्ञानका हेतु करनेवाला, ज्ञानका प्रतिबिम्ब करनेवाला, ज्ञान प्रसारमें सकाशमें उत्पन्न करनेवाला । ( म २ ) तमोबुध्- ( म १ ) यह शब्द इसी अर्थका सुषुप्त है ।

६ दुष्टदृष्ट- दुष्कर्म करनेवाला, पापी । ( म ३ )

७ दुष्ट- श्रेष्ठ करनेवाले, जो विप्रवासपात करते हैं, जो बपटमें भूटमार करते हैं, जो अत्याचारी हैं । ( म ७ )

८ अनुतेभिः घर्षेभिः अभिचष्टे- असत्य भाषण करता है, असत्य गवाही देकर दूसरोंको कष्ट पहुँचता है । ( म ८ )

९ असत् घक्ता ( म ८ ), असत् घदन् ( म १३ ) - असत्य वचन बोलनेवाला ।

१० ये एषौ हि हरन्ते- जो विविध साधनसे दूसरोंके धनविक्रोंका विनाश-रीतिसे हरन करते हैं । ( म ९ )

११ स्यधामि- भद्रं कूपयन्ति- जो अपनी दमितधर्मसे दूसरोंको कूपण करते हैं । जो जपके द्वारा भले मनुष्योंको दूषित करते हैं, बुरे जप प्रयोगसे सज्जन्योंको कष्ट पहुँचाते हैं । ( म ९ )

१२ स्तेनः, स्तेनकृत्- चोर और चोरी करनेवाला, मयण चोरोंका सङ्गठन बनानेवाला बडा डाकू । ( म १० )

१३ रिपुः- जो सन्तुष्ट करता है, उस कष्ट करनेवाला है । ( म १० )

१४ मिथुया धारयन्- मिथ्या व्यवहार करनेवाला, मिथ्या भावको धारण करनेवाला । ( म ११ )

१५ अनुत्तप्रेक्षः- असाधका उपलक्षक, सदा यत्नपूर्वकविचार, असाध भाषण और असाध आचार करनेवाला । ( म १४ )

१६ देवाम् श्रेष्ठ ऊहे- । वसति- ) जो देवोंकी स्वयं उपाकर धर्मता है, जो कपटसे देवताओंके उत्सव करता है, जो स्वयं मजिहून होता हुआ अपने स्वयं साधनके लिये देवताके महोत्सव रचता है । ( म १४ )

१७ द्रोहयाक्- द्रोहपूर्ण भाषण करनेवाला, कठोर भाषण करनेवाला, दूसरोंको दुःख देनेके लिये कठोर भाषण करनेवाला । ( म १४ )

१८ रक्षः शुचिः गस्ति इति आह- जो स्वयं राक्षस होता हुआ अपने भाषणों में द्रुह और पवित्र करता है ।

( म १६ )

१९ अपार्तुं यातुधान इत्याह- जो भले आशयोंको धृष्ट करता है । ( म १६ )

२० तस्य गृहमाणा मत्त प्रजिघाति- छिन्नकर रात्रिके समय हत्या करती है । ( म १७ )

२१ दिप्सुः- हितक, घातक । ( म २० )

२२ पिशुनः- घुसाली करनेवाला । ( म २० )

२३ हविर्मिथिन्- हविका नाश करनेवाला । ( म २१ )

२४ कोऽन्यातुः- विविधाके समान काम व्यवहार करनेवाला धर्मार्थ आगत काम व्यवहारमें आसक्त । ( म २२ )

२५ शुश्रूक्षपातुः- भेदियेके समान क्रूरता करनेवाला, क्रूरतासे दूसरोंका नाश करनेवाला, महाक्रूर ।

२६ मृधयातुः- लौहके समान दूसरोंके शीघ्रन लिकर लूण होनेवाला, लोभी, इसीको पूर्व सूक्तमें ' अस्तु-दृष्ट ' कहा है ।

२७ सुपर्णपातुः- गरुडके समान ऊपर ही ऊपर प्रमदसे व्यवहार करनेवाला, गर्वित, प्रमदी ।

२८ उत्कृष्टपातुः- उत्कृष्टके समान विनाशोत्तमसे व्यवहार करनेवाला अर्थात् महामुष्ट ।

२९ श्रयातुः- द्रुतसे समान धावसमं करनेवाला, रजदलीयोंसे सारने और दूसरोंके सामने हूडा हिलानेवाला । ( म २२ )

३० मायया शाश्वदानः- कपटसे सब व्यवहार करनेवाला कपटो इसी । ( म २४ )

इतने लक्षण बुझोंकि हे ऐसा इष्ट सुपार्ण कहा है । पूर्व सूक्तमें २१ और इस सूक्तमें २० लक्षण दुष्टोंके कहे हैं, दोनों सूक्तोंके मिलकर ५१ लक्षण हुए हैं । इन पचास लक्षणोंके बुझोंकी पहुँचान हो सकती है । ये बुझों और राक्षसोंके लक्षण हैं । इन लक्षणोंके तुलना भीमद्वयवर्षासके ( म १६ में कहे ) आधुर सप्तिके लक्षणोंके साथ करनेसे बुझोंका निश्चय करनेमें बड़ी सहायता हो सकती है । ये राक्षस कोई मित्रमोदिके प्राचीन नहीं हैं, ये मानवजातिमें ही द्रुष्ट स्वभावके स्त्री पुरुष हैं, यह बात महा भूलनी नहीं चाहिये । अतः राक्षसोंके अपने रक्षा करनेका साधन अपने समाजके अथवा मानव जातिके द्रुष्ट जनसे रक्षा करना है । इसीलिये इस सूक्तमें कहा है—

प्रतिचक्ष्व, विचक्ष्व, आपृष्टम् । ( म २५ )

' प्रत्येक स्वायत्त देव, त्रिजघ्नी रीतिसे ॥ और आपृष्ट रह । ' ये दोनों सदिन आचारालापी द्रुष्टोंके आगत महत्वके हैं, जो इस जनताको रक्षा करनेके काममें नियुक्त होते हैं, जो स्वयं लेख होकर जनताको रक्षा करता चाहते हैं वे सदा आपृष्ट रह, अपनी रक्षा आपृष्ट रहनेसे ही हो सकती है । जो तोते हैं या जो गुप्त हैं वे अपनी रक्षा नहीं कर सकते । आपृष्ट रहनेके परामर्श (प्रतिचक्ष्व) प्रत्येक मनुष्यका

अव्यवहार देना चाहिये, अपने और पराने सब मनुष्योंके व्यवहारको अच्छी प्रकार परीक्षा करने चाहिये। और देना चाहिये कि कौन मनुष्य सहायक है और कौन घातक है। यह निरीक्षण ( विचक्षण ) विशेष रीतिसे करना चाहिये, गृहपति के साथ निरीक्षण करना चाहिये, क्योंकि कई सब ऐसे होते हैं जिन्होंने बिना अपने घर के लोगों के बिना ही सब कुछ देना शुरू कर दिया है, इसका फल ही नहीं मिलता। अब हर एक बातका विशेष दस्तावेज निरीक्षण करना चाहिये। अपनी रक्षा करने के दृष्टिकोण से तीन आत्म-संरक्षण के प्रकार स्मरण करें। इसी भाषण के अन्तिम स्थानों पर करनेवाली आत्मा १८ वें मन्त्र में निम्नलिखित प्रकार आई है—

विभु वित्तियुध, विभु इच्छत,

रक्षसः गृहमायत, रक्षतः सपिण्डतः । ( म. १८ )

‘ प्रजापति के विभिन्न प्रकारसे उपस्थित रहो, प्रजापति के प्रति तुल्य स्थापन करने की इच्छा करो और इस कार्य के लिये राजाओं की दृष्टि मिलाओ, उनको धन दे दो और उनकी रक्षा करो । ’ यह प्रजापति के विशेष रीतिसे उपस्थित होने का आदेश है, धारण मनुष्य जैसे होते हैं, वेता रहने का आदेश यहाँ नहीं है, यहाँ वेब कहता है कि अनायास रीतिसे प्रजापति के सर्व सवार करो, विविध स्थापना धारण करके सब कर्तव्य विशेष ब्यापक साथ निरीक्षण करो और पता लगाओ कि कौन मनुष्य राजा है और कौन वेब है। सम्बन्धों की रक्षा और दुर्जनता नाश करने के लिये रहित सम्बन्धों और दुर्जनता निवृत्त करना चाहिये। यह निवृत्त विशेष निरीक्षण के बिना नहीं हो सकता, अब यह आदेश की है।

( विभु इच्छत ) प्रजापति के प्रति और तुल्य स्थापन करने की इच्छा धारण करो, इसी दृष्टिकोण प्रजापति के विविध प्रकारसे उपस्थित हो और राजा के कौन हैं इन आदेशों का समझो । जो राजा है उन राजाओं को ( गृहमायत ) धन दे दो, उनको अनायास धन देने से रोक दो, उनको हस्तक्षेप रोक समाओ और उनकी ( सपिण्डतः ) रक्षा करो । यहाँ पौत्रों का धन धारण करना अभीष्ट नहीं है। उनके सम्बन्ध वध में न दो, उनकी अनायास अलग करके उनकी रक्षा करो । उनको अलग कर दो। इसी विषय में देखिये—

रक्षसः प्राक्तो अपाक्तो अधरात् उदकं जडि ।

( म. १९ )

‘ इन दुष्टों की सामने, पीछे, नीचे और ऊपर से

१७ [ अर्ध भा २ भाग ० द्वितीय ]

अर्थात् सब ओरसे प्रतिपक्ष रक्षक मण्ड करो । ’ यहाँ उनके देहों को आने का सहायक नहीं है। शरीर उनके वेब के अधीन रहे, परन्तु उनकी गति ( प्राक्तः ) सामने से एक भाग, ( अपाक्तः ) पीछे से न जा सके, ( अधरात् ) वे नीचे न जा सके और ( उदकः ) ऊपर भी न हो सके, अर्थात् चारों ओरसे उनकी चतुर्दश बाहों के ओर से ऐसे प्रतिपक्ष रहें कि वे किसी प्रकार दृष्ट न कर सके। इस प्रकार वे अपनी दृष्टि के अलग हुए, तो उनका मानो पूर्ण नाश हो गया। अर्थात् यहाँ उनको दृष्ट करने से रोकना अर्थात् उनकी दृष्टि का नाश करना अभीष्ट है, इसी लिये कहा है—  
इमौ प्रसिद्धो शयते । ( म. १९ )

‘ दोनों प्रकारसे दृष्ट करने से होते हैं । ’ अर्थात् कारा-नाश में पड़े रहें, जिससे वे अपने पीछे पीछे और ऊपर हिल न सके। वे दृष्ट पुरुष हों या स्त्री हों, दोनों का समान रीतिसे प्रतिपक्ष करना चाहिये, इस विषय में निम्नलिखित मन्त्र वेब के योग्य है—

पुमांसं यातुधानं जडि ।

मायया वासनादन्तरं स्त्रियं जडि । ( म. २४ )

‘ पुरुष दृष्ट हो, या कष्टाचारिणी स्त्री हो, दोनों की उसी प्रकार अलग कर देना चाहिये । ’ स्त्री है, इस लिये उसको लपट करना योग्य नहीं, क्योंकि एक दृष्ट करने की कोशिश बहुत बुरा है, अब किसी भी दृष्ट को लपट नहीं देनी चाहिये। सभी दृष्ट अपनी दृष्टता छोड़ें और सम्बन्ध करें, ऐसा प्रवृत्त होना आवश्यक है। रात्रि के देवी स्थापना करनी चाहिये कि—

हुष्कृते सुगं मा भूत् । ( म. ७ )

‘ हुष्कृते करने वाली दृष्ट मनुष्य और ऊपर हुष्कृते न भूत सके । ’ उनके अलग करने और प्रतिपक्ष हो। जब वे अपनी दृष्टता छोड़ दें, तब उनके सब प्रवेष्टों को समा करने की सुविधा मिले। इस उपवेष्टों का समझो कि वेब चाहता है कि रात्रि का प्रवृत्त करने वाले अपने रात्रि के अलग धारण के प्रवृत्त करने के दृष्ट मनुष्यों को एक पूर्ण रूप से धारण और उनके ऊपर निभारणी रहें, वे कहा रहते हैं, क्या करते हैं यह देखें और उनकी ऐसे अलग रहें जिन्हें वे दृष्ट न कर सके। सम्बन्धों की रक्षा करने के लिये दृष्टि पर इस रीतिसे अलग रखना अत्यन्त आवश्यक है, इस लिये कहा है कि—

दयं गति विम्वतः पतिन्तु । ( म. ९ )

‘ यह आचार्य और सम्बन्धकारी दृष्टि मनुष्यों के सर्वत्र अर्थात् सब स्थानों पर निभारणी से स्थिर रहे । ’ कोई मनुष्य इसकी न भूले और—

वा मन्थुमत् शय सहसे अस्तु । ( म ३ )

‘ तुम्हारा उस्ताह् युक्त बन्ध अपने विजय और अनुकूल पराजयके लिये तमरित हो । ’ शयु तो वे ही लोग हैं कि जिनके उत्तम इस सूक्तमें और पूर्व सूक्तमें दुष्ट शत्रुके साथ फटे हैं । इन दुष्टोंको दूर करने और सज्जनोंको रक्षा करनेके कार्यमें शयको अतः लगाना चाहिये । दुष्टोंके सवारके साथ यव हों और सज्जनोंके भाग अधिक पड़े हों । ॥ वात अनेक प्रयत्नोंसे साध्य करनी चाहिये । हरएक मनुष्य अपने अपने कामधेयमें इस बातकी सिद्धताके लिये परम प्रयत्न करे । इस पन्थका स्वयम् यह है—

अस्तु, यका अ-सन् अस्तु । ( म, ८ )

‘ अस्तव भाषण करनेवाला अर्थात् दुष्ट मनुष्य ( अ-सन् ) न होनेके सामान होवे । ’ न होनेके समान होनेका अर्थ यही है कि यह दुष्ट मनुष्य या तो प्रतिस्पर्धमें रहे या कारागृहमें रखा जावे, उसकी दुष्टता मार्ग उसके लिये खुले न रहें ।

### सत्यका रक्षक ईश्वर

इस सूक्तमें एक महत्वपूर्ण बात कही है कि ‘ सत्यका रक्षक परमेश्वर है । ’ सत्यमार्गपर जानेवालेके सम्मुख अनन्त असुविधां भां पड़तीं हैं ॥ भी यह नहीं डरेगा, क्योंकि यह इस आदेशके अनुसार जान जायगा कि उसका रक्षक परमेश्वर है । जब सत्यका रक्षक परमेश्वर है । तब उसको डरनेवाला कौन हो सकता है ?

सुविज्ञान धिक्छिपे जवाय

सथासथा घचसी पस्पृधते ।

तथोर्धःसत्य एतरदजीयस-

दिरसोमोऽयति इगंयास्तु ॥ ( म १२ )

‘ यह उस न शान शान्ती अनेकी इच्छा करनेवाले मनुष्यके हितके लिये कहा जाता है कि सत्य और असाध्य भाषणकी इस जगत्में स्पर्धा चल रही है । उनमेंसे जो सत्य और जो सोचा होता है, उसकी परमेश्वर रक्षा करता है और जो असत्य और झुठिल होता है उसका नाश करता है । ’ अर्थात् साधका फलन करनेवाले और सत्य आचरण करनेवाले मनुष्योंको रक्षा परमेश्वर स्वयं करता है और असाध्य भाषणी तथा झुठिल व्यवहार करनेवालेका नाश करता है । हरएक मनुष्य इस ईश्वरके नियमका हमरण रखे और अपना आचरण सोचा और सत्यके अनुसार रखे । जो अपना आचरण ऐसा रखेगा वे कभी सोचो नहीं हो सकते और उनको ईश्वरको

ओरछे कभी दण्ड नहीं मिल सकता । परमेश्वरकी रक्षा प्राप्त करनेका यह एक उत्तम उपाय है ।

जो ऐसा आचरण करे और सत्य फलनमें दक्षित हो न वे कभी दुष्ट नहीं होंगे । अपितु दुष्ट वे अनेक ओं असत्य और झुठिल व्यवहार करेंगे । इन दुष्टोंको दण्ड देना परमेश्वरका ही कार्य है । इनको जो विविध दण्ड दिये जाते हैं, वे इस प्रकार हैं—

### वृषदण्ड

इन दुष्टोंको दण्ड देनेके विषयमें निम्नलिखित मन्त्रभाग प्रमाण हैं—

अरित्रण, हत, योयत,

अयशसः सईण यध घर्तयतम् । ( म ४ )

हुह भंगुयत रश्मः हतम् । ( म ७ )

रक्ष हन्ति । अस्तु यद्वत हन्ति । ( म ११ )

तं मइता यधेन हन्तु । ( म १६ )

पिमुनेभ्यो यध शिशीते । ( म २० )

रश्तोभ्यो यध । ( म २५ )

‘ मोचो, पावो, डोही, राग करनेवाले, असाध्य भाषण करनेवाले, धुरती करनेवाले, जो शासकवृत्तिवाले लोग हैं वे यधरक्षके लिये योग्य हैं । इसी प्रकार—

दुष्कृत अनारमणे समसि यत्रे प्रविशयतम् ।

( म ३ )

सः अमन्त यध अय पर्दाष्ट । ( म १७ )

अतितसैमि अहमदन्ममि तपुर्धेधेमि

आविणः पिष्यतम् । ( म ५ )

‘ दुष्ट कर्म करनेवालोंको अचकारने स्थानमें रखो और उनपर अस्त्रधन्य वेध करो । अग्निमें तपे, सोताते घने, धातक धत्वले मोचो मोचोवा यध करो । ’ वेध करनेका अर्थ यह है कि उनपर धातकधतक उनके शरीरको धातक करना । मानसि अथवा धतुषकी पोतसे वेध करना यदि वेध दूरसे हो लिया जाता है । इसी प्रकार—

यातुमद्रथः अशनिं सुजत् । ( म २० )

यातुमद्रथः अशनिं अस्यतम् । ( म २५ )

मूदेया विधीयासः फदन्तु । ( म २४ )

तान् निर्धृते उपरुधे आदघातु । ( म ९ )

द्रोघघाघा निर्धृते सखन्ताम् । ( म १४ )

‘ यातना देनेवालोंपर अशनी छोड़ी जावे, मूदेये उपा

सहोहा गला काश जाये, ये नाभके हारपर पहुँचे, रोहका भारन क'नेशले मातको प्राप्त हों । ' इस प्रकार यह करीब वय दण्ड हो है । तपारि दसमें अथ प्रकारका नाम भी समझनीय है । पत्परसे दृष्टका अथ करनेका भी उल्लेख है—

प्रापाणः रक्षसः उपन्दैः प्रभुः । ( म. १७ )

उपदा इव रक्षः प्रभुः । ( म. २२ )

' पत्परसे राक्षसोंका अथ किया जाये । ' जो पक्षत है ऐसा निश्चय हो जाय, उसको किसी स्थानपर सदा करके अथवा पक्षके साथ रसतेसे दीपकर दूरसे उत्तर पत्पर मारकर उसका अथ किया जाये । इस प्रकारका अथबन्ध इस समय अकण्ठातिशयार्थमें है ।

### देशसे निकाल देना

पातुला पराशर अभयः ।

रक्षस मिदम् पतुः । ( म. २१ )

' मातला ईनेवालोंकी दूर करनेवाला और राक्षसोंकी तोड़ता हुआ जाये । ' यह औरत सदा है, वह और पातला बेनेवालोंके कटुताओंको सह नहीं करता । ' पराशर ' शब्दका विलक्षण अर्थ है । ( परा ) दूर से जाकर ( शर ) नाश करनेवाला भी और है उसको पराशर कहते हैं । राक्षसोंको समाप्तसे और प्रायसे दूर करना चाहिये, ये कभी प्रायवातियोंको कष्ट देनेके लिये न जाये, इस विषयमें वेदकी आज्ञा देखिये—

भक्षितः परा शृणीतं, जुदेधाम् । ( मं. १ )

पतः परा पुनः एकस्मिन् न उद्वाह । ( म. ३ )

यातुमावह रक्षः नः मा अभिसह । ( म. २३ )

किमोदिनः मियुना अपोच्छ्यन्तु । ( मं. २३ )

' जिनके आज कारण सदा नहीं हैं, वे दूर हटाये जाय, इनमेंसे एक भी फिर न लौट सके, मित्रकाजसे सब दूर भाग जायें । ' ये आज माताएँ दुष्टोंको राक्षसे बाहुर करनेका ही भाव बताती हैं । इस प्रकार देशसे बिछाता हुआ कोई दुष्ट फिर देशमें या घाममें न आ सके । ऐसा करनेसे ही प्रजा सुखी रह सकती है ।

### दुष्टोंको तपाना

दुष्ट दुर्जनको सताय देनेका भी एक उपाय है तपाने कहा है, बिचार करना चाहिये कि इस तपानेका अर्थ क्या है । इस विषयके अर्थ ये हैं—

रक्षः तपतं, उन्मत्तं । ( मं. १ )

अधोर्ध्वं अथ तपुः वसतु । ( म. २ )

' रक्षसों दुष्टों, पापवृत्तिकाओंको तप दो । ' उनको संतप्य करो । किन्तु सत्यमें सताय उत्पन्न करना है, इसका यहाँ उल्लेख नहीं । तपानि धुक्का विचार करनेसे हमें ऐसा प्रतीत होता है कि सब दुष्ट अपनी दुष्टताके कारणसे हटाये जायेंगे और धारों ओरसे उनको रोका जायगा, तब उनको सताय होगा और इस प्रकारका सताय ही यहाँ अनोख होगा ।

### दुष्टोंसे द्वेष

वस्तुतः, ऐसा भाव तो कोई मनुष्य किसीसे नहीं द्वेष न करे । परन्तु बिभ्रदुष्टिसे द्वेष । यह निश्चय अर्थ है । परन्तु दुष्ट मनुष्य और दुष्टतासे द्वेष करनेकी आज्ञा वेद वेदा है । यदि द्वेष करना हो तो दुष्ट मनुष्यसे और उनकी दुष्टतासे द्वेष करना योग्य है देखिये—

महाद्वेषे कल्पये धोरवक्षसे किमोदिने

अनवायं द्वेषो धनम् । ( मं. २ )

' मानसे द्वेष करनेवाले, मातमीश्री, कुरदुष्टि, सदा नीच विचार करनेवाले दुष्टके साथ निरन्तर द्वेष करो । ' यदि द्वेष करना है, तो इससे ज्ञान करो, अपना ( मित्रद्वय चक्षुषा समीक्षामहे । यन् ) विषयी दुष्टिसे सबको और देखो और किसीसे कभी द्वेष न करो । स्वयं शृङ्गाचारी हीनर दुष्टोंसे द्वेष करना योग्य है । मनुष्य स्वयं पापसे अग्रवर्गे लिये इस प्रकार प्रार्थना करे—

पार्थिवान् दिव्यान् च बहवः नः पातु । ( म. २३ )

' भूमिके सबसे तथा स्वर्गके प्रदामनं जो पाप हो, उससे हमें बचाओ । ' इस प्रकार मनुष्य ईश्वरकी प्रार्थना करे । अपने आपसे पापसे बचाये । ऐसे मनुष्यको ही अधीन स्वयं पापसे बचनेवालेको ही दुष्टसे द्वेष करनेका अधिकार है । जो स्वयं पाप करता है उसको दूसरेसे द्वेष करनेका अधिकार नहीं है ।

### पापीकी अधोगति

पापी दुष्ट मनुष्यकी अधोगति होती है उसको भर्त्सित होती है, वह बदनाम होता है इस विषयमें इस सूत्रमें निम्न लिखित मन्त्रपाप मिलते हैं—

अस्त्र यथाः प्रतिगुप्यतु ।

यः दिवानक दिप्सति स अघः अस्तु । ( म. ११ )

स्तेनहृत् स्तेनः रिपुः दधं यतु ।

स तस्या तना च निक्षीयताम् । ( मं. १० )

स दशमि धीरेः वि यूया । ( मं. १५ )

धिम्बर्य जन्तोः अधमः पस्पदीष्ट । ( मं. १६ )

‘ इस दुष्टका यह मष्ट हो जावे, जो बिनराज दुष्टता करता है वह नीचे गिरे, घोर मूटेरा दुष्ट शत्रु तब घनसे हीन होवे, यह धातारज्योति हीन होवे । उसके दशों प्राण दूर हों । ऐसा दुष्ट सब प्राणियोंसे भी सबसे नीचे गिर जावे । ’ अर्थात् जो इस प्रकारका दुष्ट है वह परमेश्वरीय नियमसे अपोषितको प्राप्त होता है, जब तक वह अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता तब तक उसकी उन्नतिको कोई आशा नहीं है । उन्नतिकी इच्छा है तो दुष्टता छोड़नेकी आवश्यकता है, वह यात यहा सिद्ध होती है । सब दुष्टोंकी उन्नतिको यह मार्ग सुका है, अर्थात् उन्नति करना उनके बाधोप है । ये यदि पूर्वोक्त प्रकार ‘ पापसे बचनेके लिये ’ ईश्वरकी मार्गना करेंगे, तो उनमें दुष्टता छोड़नेका तब भा जायगा । इसके नियम ये हैं—

आत्मदण्ड

या य-यातुं यातुधान इत्याह ।

या रक्षः द्रुधिः मसि इत्याह । ( मं. १६ )

‘ मलेशो धुय कृता बौर अपवित्रको पवित्र सप्तता ’

यह दुष्टपर लक्षण है । जो उन्नत होना चाहते हैं । ये ऐसा न करें, ये मलेशो भला, धुरेको दुष्ट, राक्षसको राक्षस, पवित्रको पवित्र, अपवित्रको अपवित्र समझें । डरते हुए ऐसा समझें और माननेके अनुकूल कहनेसे आत्मिक बल बढ़ता है । इसी रीतिसे हृष्टक मनुष्य कहे कि—

यदि यातुधानोऽसि, यदि वा पुररक्ष आयु ततप, अया मुरीय । मं. १५ )

‘ यदि मैं किसीको यातना देनेवाला बनू अथवा किसी मनुष्यको तप बूझो मैं मात्र हो मर जाऊँ । ’ ऐसा उन्नत होनेवाला मनुष्य कहे अर्थात् यदि अपने हाथसे कुछ पाप या दोष हुआ हो, तो उसके प्रापदिवत्तके निरु मनुष्य तैयार रहे । अपने द्वारा विशेष दोष होनेपर मरने तक तैयार होना चाहिये । जिसकी जिनप्रमाणसे इस प्रकारकी तैयारी होनी, वह उस प्रमाणसे उन्नत होगा । इस आत्मरक्षके मार्गसे मनुष्य दीप्त उन्नतही सकता है ।

## शत्रुका निष्कारण

कांड ७, सूक्त १२२

( मथिः - मथुराद्विभिः । वेयता - इन्द्र । )

वा मुन्दैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयुरोमभिः ।

मा स्वा के चिदि ययन्वि न पाश्चिनोऽति मन्वेव तौ इदि

॥ १ ॥

अर्थ— हे इन्द्र । ( मन्दैः मयुरोमभिः हरिभिः यावाहि ) सुन्दरभोरके पक्षोंके समान सुन्दर पुच्छवाले घोड़ोंके साथ यहा आ । ( पाश्चिनः विं न ) जैसे पक्षीको आत्ममें पकड़ने हे उस प्रकार ( स्वा केचिद् मा वि ययन् ) तुमने जोई न पकड़े । ( ययन् इव तान् अति इदि ) रीतिले स्वात्मपरसे जैसे गुजरते हैं ॥ वाका प्रतिक्रिया कर ॥ १ ॥

इन्द्र ( इन्द्र+इन्द्र ) अश्वप विदारण करनेवाले वीरका यह नाम है । ऐसे वीर सुन्दर घोड़ोंपर अथवा ऐसे घोड़ोंवाले रथपर तयार होकर स्वात् स्थानमें जाय । उनको रोकनेवाला कोई न हो । ये ही दुष्टोंकी दोरे वीर उतरी दबाकर रखे ।



## शत्रुका काश

कांड ७, सूक्त ११०

( अग्नि - भू । देवता - इन्द्राग्नी । )

अम् इन्द्रश्च दाशुषे हुतो वृत्राण्यप्रति । उभा हि वृत्रहन्तमा ॥ १ ॥

साम्यामर्जयन्त्स्व१११ एव यावात्तस्यतुर्भुवनानि विशां ।

प्रचर्षणी वृषणा वज्रबाहू अग्निमिन्द्रं वृत्रहणा हुवेऽहम् ॥ २ ॥

उप त्वा देवो अग्रमीशप्सेन् वृहस्पतिः । इन्द्रं गीर्भेर्नु आ विश्वं यजमानाय सुम्नवे ॥ ३ ॥

वर्ध - हे जन्मे ! तू और ( इन्द्रः च ) इन्द्र मिलकर ( दाशुषे ) दान देवताके लिये ( वृत्राणि अग्रति हतः ) सन्मुखोंके बिना भूके पारो । वर्वणी ( उभा ) तुम दोनों ( हि वृत्रहन्तमा ) शत्रुके नाश करनेवाले हो ॥ १ ॥

( याभ्यां धमे एव स्व. अज्ञयन् ) जिस दोनोंको बहुयतासे पहिले ही रक्षणीकको जीत दिया था । ( यौ पिभ्यां भुवनानि यातस्थतु ) जो दोनों सन्मुख भुवनमें व्याप्त हैं । ( प्र-चर्षणी ) मनुष्य चोद, ( वृषणा ) बलवान्, ( वृत्र-हणौ वज्रबाहू ) शत्रुका मथ करनेवाले यज्ञधारी ( अग्नि इन्द्र अहं दुषे ) अग्नि और इन्द्रको मैं मृताता हू ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! ( वृहस्पतिः देवः त्वा समसेन उप अग्रमीत् ) ज्ञानपति देव तुम यथसत्ते प्रदान करता है । ( सुम्नवे यजमानाय ) सोमधारी यज्ञमजने कारण ( नः गीर्भिः आ विश्वं ) हमारे लिये हुए भुवनें साथ रहा प्रवेश कर ॥ ३ ॥

## शत्रुका काश

कांड ४, सूक्त ४०

( अग्नि - ज्ञान । देवता - वृहदवत्यम् । )

ये पुरस्ताजुह्वति जातवेदः प्राच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।

अग्निमृषा ते परांश्चो ज्यधन्तां प्रत्यर्गेनान्प्रतिसरेणं हन्मि ॥ १ ॥

ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।

पुनमृत्वा ते परांश्चो ज्यधन्तां प्रत्यर्गेनान्प्रतिसरेणं हन्मि ॥ २ ॥

वर्ध - हे ( जातवेदः ) सर्वज्ञ ! ( ये पुरस्तात् जुह्वति ) जो सन्मुख रहकर आहुति देते हैं और ( प्राच्या दिशः ) अस्मान् अभिदासन्ति ) पूर्व दिशासे हमें दक्ष बलसे प्रदान करते हैं ( ते अग्निं कृत्वा परांश्चो ज्यधन्तां ) वे अग्निको प्राप्त हो कर पराजित होते हुए कण्य भोज्ये । ( पुनर्न प्रत्या प्रतिसरेणं हन्मि ) इनका पीछा करते और इनपर हमका करते हैं इनका नाश करता हू ॥ १ ॥

हे ( जातवेदः ) सर्वज्ञ ! ( ये दक्षिणतो जुह्वति ) जो दक्षिण दिशासे आहुति देते हैं और ( दक्षिणाया दिशः ) अस्मान् अभिदासन्ति ) दक्षिण दिशासे हमारा नाश करता चाहते हैं । ( ते यमं कृत्वा परांश्चो ज्यधन्तां ) वे यमको प्राप्त होकर पराजित होते हुए पुनः प्राप्त हों ( पुनर्न ) इनको पीछा करते और इनपर हमका करते हैं इनका नाश करता हू ॥ २ ॥

ये पञ्चाङ्गुलंति जातवेदः प्रतीच्या दिशोभिदासन्त्यस्मान् ।

वरुणमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसुरेणं हन्मि

॥ ३ ॥

य उचरतो जुह्वति जातवेद उर्ध्वा दिशोभिदासन्त्यस्मान् ।

सोममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसुरेणं हन्मि

॥ ४ ॥

वेष्टभस्ताङ्गुलंति जातवेदो ब्रुवा दिशोभिदासन्त्यस्मान् ।

भूमिमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसुरेणं हन्मि

॥ ५ ॥

येऽन्तरिक्षाङ्गुलंति जातवेदो व्यध्वा दिशोभिदासन्त्यस्मान् ।

वायुमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसुरेणं हन्मि

॥ ६ ॥

य उपरिष्ठाङ्गुलंति जातवेद ऊर्ध्वा दिशोभिदासन्त्यस्मान् ।

सूर्यमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसुरेणं हन्मि

॥ ७ ॥

ने दिशामन्तर्द्वेष्यो जुह्वति जातवेदः सर्वाभ्यो दिग्भ्योभिदासन्त्यस्मान् ।

ब्रह्मर्षा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसुरेणं हन्मि

॥ ८ ॥

अर्थ— हे सर्वत । ( ये पञ्चाङ्गुलंति ) जो पोंछेकी मोरसे आहुति देते हैं और ( प्रतीच्या दिशः अस्मान् अभिदासन्ति ) पश्चिम दिशासे हमारा घात करना चाहते हैं ( ते वरुण आत्वा० ) वरुणकी प्राप्ति होकर पराभूत होते हुए वरुण भोगें, मैं इनपर हमला करके उनका नाश करता हूँ ॥ ३ ॥

हे सर्वत । ( ये उचरतो जुह्वति ) जो उठर दिशासे हवन करते हैं और ( उर्ध्वा दिशः ) ऊपर दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे ( सोमं आत्वा० ) सोमकी प्राप्ति होकर पराभूत होते हुए वरुण भोगें, मैं इनपर हमला करके उनका नाश करता हूँ ॥ ४ ॥

हे सर्वत । ( ये वेष्टभस्ताङ्गुलंति ) जो भोषेकी मोरसे आहुति देते हैं और ( भ्रुवायाः दिशः ) इस श्रुव दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे ( भूमिं आत्वा० ) भूमिकी प्राप्ति होकर पराभूत होते हुए वरुण भोगें, मैं इनपर हमला करके उनका नाश करता हूँ ॥ ५ ॥

हे सर्वत । ( ये अन्तरिक्षाङ्गुलंति ) जो अन्तरिक्षसे आहुति देते हैं और ( व्यध्वा दिशः ) विशेष धार्गवाली दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे ( वायुं आत्वा० ) वायुकी प्राप्ति होकर पराभूत होते हुए वरुण भोगें, मैं इनपर हमला करके उनका नाश करता हूँ ॥ ६ ॥

हे सर्वत । ( ये उपरिष्ठाङ्गुलंति ) जो ऊपरकी कीले आहुति देते हैं और ( ऊर्ध्वा दिशः ) ऊर्ध्व दिशासे हमारा नाश करते हैं वे ( सूर्यं आत्वा० ) सूर्यकी प्राप्ति होकर पराभूत होते हुए वरुण भोगें, मैं इनपर हमला करके उनका नाश करता हूँ ॥ ७ ॥

हे सर्वत । ( ये दिशामन्तर्द्वेष्यो जुह्वति ) जो विश्व अपदिशाओंसे आहुति देते हैं और ( सर्वाभ्यः दिग्भ्यः ) सब दिशाओंसे हमारा नाश करनेका घात करते हैं ( ते ब्रह्मा आत्वा० ) वे ब्रह्मकी प्राप्ति होकर पराभूत होते हुए वरुण भोगें, मैं इनपर हमला करके उनका नाश करता हूँ ॥ ८ ॥

## शत्रुका नाश

### शत्रुका नाश

जो लोग हमारा नाश करते हैं, हमें वासनासे है अथवा अन्य प्रकारसे हमें मारते हैं, वे सब शत्रु हैं, उनका प्रतिकार करना चाहिये । जो शत्रु होते हैं वे पोछते, खाते, दखी ओरसे और बायीं ओरसे, नीचे से अथवा ऊपर से हमला करते हैं और हमारा नाश करते हैं, किसी किसी समय शत्रु इस प्रकार छिप छिपकर गुप्त प्रयत्नसे हमारा नाश करना चाहते हैं कि साधारण मनुष्य उनके प्रयत्नोंका पता भी नहीं लगा सकते । ऐसे गुप्त शत्रुका नाश करना तो बड़ा कठिन कार्य है । इस दृष्टान्तमें जिन शत्रुओंका वर्णन है, वे शत्रु तो बर्ब-भाषका बौध विज्ञाकर विज्ञात उत्पन्न करके गुप्त रीतसे घात करनेवाले हैं । ये शत्रु ( शुकृति ) हवन करनेका यत्न करते हैं, यज्ञपात्र और सज्जका ढोंग रखकर जनताका भला करनेका ही अपना प्रयत्न है, ऐसा विश्वास जनतामें उत्पन्न करके अदर अदरसे नाश करनेको तैयारी करते हैं । हवनमें ऐसे अधिविशुद्ध यज्ञार्घ्य-अर्घ्यात् नाश आबिक-प्रयुक्त करते हैं, कि जिससे देशमें दीर्घायु की उपाति हो जाये और उससे मनुष्योंका सब हो जाये । यज्ञका और हवनका ढोंग रखकर ऐसे अनर्थकारक कर्म करनेवालोंका जो प्रयत्न होता है उसी जनताका बड़ा नाश होता है । विधिपूर्वक किसे हुए वैदिक यज्ञयाग ती आरोग्य बढ़ानेवाले होते हैं, परन्तु ऐसे निमि होग आहुति देनेके प्रकार जनताका घात करनेवाले होते हैं, ढोंग बड़ाकर नाश करनेके प्रकार और भी अनेक हैं, कई शत्रु ऐसे होते हैं, कि जो उपकार करनेका भाव विज्ञाकर अहित ही करते हैं, उन सबका यही विचार करना चाहिये । ऐसे शत्रुओंका नाश करना बड़ा कठिन होता है, परन्तु इनका नाश ही अवश्य ही करना चाहिये । क्योंकि बहुत हानि करनेवाले शत्रुसे ये छिपकर नाश करनेवाले शत्रु बड़े घातक होते हैं । इनका नाश करनेके लिये कुछ उपाय इस सूत्रमें दिये हैं । इसका भाव रामायणके लिये निम्नलिखित कोष्टक बतिये—

| दिशा    | देवता | गुण         | कर्म                |
|---------|-------|-------------|---------------------|
| प्राची  | अग्नि | ज्ञान, सेवा | अज्ञान नाश          |
| दक्षिण  | वसु   | निवस        | दुष्टोंको दण्ड देना |
| पश्चिमी | वध    | विमोचन      | शत्रुका विचार       |

| दिशा  | देवता  | गुण      | कर्म                |
|-------|--------|----------|---------------------|
| उदीची | सोम    | आन्ति    | शान्तिका उपाय       |
| पुनः  | पृथ्वी | अभार     | सज्जनोंको आभार देना |
| अग्नि | याम    | बल, जीवन | मलका उपयो           |
| उदीची | सूर्य  | प्रकाश   | श्रेयसा करना        |

विज्ञातके अनेक देवताओंमें ये गुण कर्म देखनेसे मनुष्यको पता लग सकता है, कि अपने शत्रुओंको दूर करनेके लिये हमें क्या करना चाहिये । सबसे प्रथम अपने लोगोंके भक्षणका नाश करना चाहिये और उनकी शान उत्तम प्रकारसे रक्षा चाहिये । जो इस शासकत्वमें कर्ममें शिरोप करें उनको दण्ड देना चाहिये और फिर शिरोप न हो ऐसा दोष शासन प्रबंध करना चाहिये । इतना करनेपर भी जो शत्रुता करे उनका सुप्रबन्ध द्वारा विचारण करना चाहिये । सबसे प्रथम शान्तिसे उपायें यह पूर्वोक्त प्रबंध करना चाहिये और शान्तिसे उक्त कार्यमें असफलता हो तो शक्तिका भी उपयोग करके दुष्टोंको हडाना चाहिये । सज्जनोंकी रक्षा और दुष्टोंका नाश करने के लक्ष्योंको अपने धर्मद्वय नि श्रेयसका मार्ग सुलभ करना चाहिये । इस प्रकार ध्यक्ष्य करनेसे जनताके अन्दर इतनी शक्ति बढ़ेगी कि सब उसने शत्रु दूर हो जायेंगे और फिर क्वाबमें उत्पन्न करनेवाले शत्रु उनकी सतानेमें असमर्थ हो जायेंगे । शत्रु भीता भी प्रयास करे, उस विद्यासे अपनी रक्षा करके साधन अपने पास पहिलेसे ही संभार रहने चाहिये । अर्थात् शत्रु यदि मारते छाड़ी करे ती शान द्वारा उसका प्रतिबन्ध करना चाहिये, शत्रु मारते हमला करे तो मलसे उसका निवारण करना चाहिये । इसी प्रकार जिन शत्रुओंको लेकर शत्रु हमला हमला करे, वतका निवारण करनेका पूर्ण प्रबंध अपने पास रहना चाहिये । देशके शत्रु-रहित होनेसे ही मनुष्योंका आशुदय होना और उनको नि श्रेयस प्राप्त होना सम्भव है । शत्रुसे हमने चारबार होते रहे तो उत्पत्ति असम्भव है ।

इसमें कामा, वाचा, मनसे तथा अपने पापके अग्रद्वय साधनोंसे शत्रुओंको दूर करनेका प्रयास होना चाहिये और अथवा आत्मिक, भौतिक, मानसिक, शारीरिक तथा मध्य सब प्रकारका बल इतना बढ़ना चाहिये कि मितसे अपने सामने शत्रु उठे हो न सके ।

## शुद्ध-नरक्षण-सूक्त

## कांड १ सूक्त १९

( श्रुति - ब्रह्मा । देवता - इन्द्र, ऋषि । )

मा नो विदन् विव्याधिनां सो अमिव्याधिनां विदन् ।

॥ १ ॥

आवाच्छरव्या अस्मद्विपूर्वतिन्द्र पातय

विश्वंश्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः ।

॥ २ ॥

दैर्वामनुष्येषवो ममामिश्रान् वि विंध्यत

यो नः स्वो यो अरवः सजात उत निष्टयो यो अस्मो अभिदासवि ।

॥ ३ ॥

रुद्रः शरव्यैतान् ममामिश्रान् वि विंध्यत

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विपन् क्षपाति नः ।

॥ ४ ॥

देवास्तं सर्वं धूर्वन्तु ब्रह्म चम ममान्तरम्

अर्थ— ( वि विव्याधिनाः ) विशेष वैष करनेवाले भ्रष्ट ( नः मा विदन् ) हमतक न पहुँचे । ( अमिव्याधिनाः ) चारों ओरसे आरक्षा करनेवाले ( मा मा विदन् ) हमतक कभी न पहुँचे । हे ( इन्द्र ) परमेश्वर । ( विपूषीः शरव्याः ) राव और शैलनेवाले वाण समूहोंको ( अस्मत् अस्मात् पातय ) हमसे दूर गिरा ॥ १ ॥  
 ( ये अस्ताः ) जो सँके हुए और ( ये च अस्याः ) जो फँके आवेने, वे सब ( विश्वंश्चो शरवः ) चारों ओर फँके हुए वाण आवि वाह्य ( अस्मत् पतन्तु ) हमसे दूर जाकर गिरें, ( दैवीः मनुष्येषवः ) हे मनुष्यकी हिम्य पावो । ( मम मिश्रान् ) मेरे अनुसूक्तों ( विविंध्यत ) वेच डालो ॥ २ ॥

( या नः स्वः ) जो हमारा अपना अपना ( यः अरवः ) जो बूढ़ा परकीय ही, किंवा जो ( स-जातः ) समान वंशज जातिवा कुलीन ( उत ) अथवा जो ( निष्टयः ) निष्ठ जातिवा या संकर जातिवा हीन मनुष्य ( अस्मान् अभिदासवि ) हमपर छाड़ करके हमें बात बनानेकी चेष्टा करे ( एतान् मम मिश्रान् ) इन मेरे अनुसूक्तों ( रुद्रः ) दसानेवाला और ( शरव्यया विविंध्यत ) माथेति सेच करे ॥ ३ ॥

( यः ) यो ( सपत्नः ) विरोधी और ( या असपत्नः ) जो प्रकट विरोधी नहीं है ( यश्च द्विपन् ) और जो द्वेष करता हुआ ( न क्षपाति ) हमको क्षमवेत्ता है ( तं ) उतवा ( सव्येदेवः ) सब देव ( धूर्वन्तु ) नाश करें । ( मम अन्तर चम ) मेरा आंतरिक कवच ( ब्रह्म ) ब्रह्मज्ञान ही है ॥ ४ ॥

भावार्थ— हमारे शरीरका अर्थ ऐसा हो कि हमारा नाश करनेकी इच्छा करनेवाले सब भ्रष्ट हमसे दूर रहें और हमतक वे कभी न पहुँच सकें । उनके दान भी हमसे दूर रहें ॥ १ ॥

तब प्रायः हमसे दूर गिरें और हमारे अनुसूक्त ही सब वस्त्र मिले रहें ॥ २ ॥  
 कोई हमारा मित्र या शत्रु, हमारी जातिवाला या परजातिवा, कुलीन या हीन, कोई भी बुरा न हो, यदि वह हमें बात बनाने या हमारा नाश करनेकी चेष्टा करता है तो उनका नाश अवश्य करना योग्य है ॥ ३ ॥

जो प्रकट या छिपा हुआ शत्रु हमारा नाश करना चाहता है या बुरे शब्द बोलता है, सब सज्जन जाको दूर करे । मेरा आंतरिक कवच ब्रह्मज्ञान ही है ॥ ४ ॥



## शत्रु-नाशन-सूक्त

## आन्तरिक कवच

इस सूक्तमें जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात कही है वह शक्ति कवचकी है। देशके कवच पर्वत, दुर्ग और समुद्र होते हैं, इनके होनेके कारण बाहरके शत्रु देशमें घुस नहीं सकते। सामके कवच किते होते हैं इनके कारण शत्रु साममें घुस नहीं सकते। शरीरके कवच सोढ़ने अथवा तारके बनाने जाते हैं कितने कारण शत्रुके शस्त्र शरीरपर नुं सगते नहीं और शरीर सुरक्षित रहता है। शरीरके कवर लातका और अत करण है, मन, बुद्धि, बल और सहकार ये मिलकर अत करण होते हैं, इनका सहयोग आत्मके किये सदा रहता है। इस 'अत-करण' के किये 'अंतः कवचम्' अवश्य चाहिये, जो इस दान्वादान सूक्तमें 'ब्रह्म धर्म ममान्तरम्' धर्मों द्वारा बताया है। 'तानकप कवचं हो मेरा आन्तरिक कवच' है। जिसके आत्मा और अत करणका मानकप कवचसे संरक्षण होता है, उनको किसी भी शत्रुसे डर नहीं हो सकता, वह अमातशत्रु ही बना रहता है। इस मानकप कवचके वर्णनमें जो शानभावक 'ब्रह्म' शब्द सूक्तमें प्रयुक्त किया है, वही परमेश्वर या परब्रह्मका वाचक है और इसलिये इस 'ब्रह्म' शब्दसे 'परमात्म विषयक आन्तरिक बुद्धिमुक्त ज्ञान' ज्ञानात्मक समं समता बोध्य है।

## छत्के दो विभाग

इस सूक्तके दो विभाग हैं, प्रथम विभागमें शरभसे वसुंके मन्त्रके तृतीय चरणतकके सर मन्त्र आते हैं और द्वितीय विभागमें वसुंके मन्त्रके तत्पुं करणका ही समावेश होता है। इन विभागोंको देखकर इस सूक्तका विचार करनेसे क्या बोध मिलता है।

## वैदिकधर्मका सारभ्य-प्राप्त कवच

'परमात्माकी भक्तिये परिपूर्ण सत्य ज्ञानात्मक ज्ञान ही मेरा कवच है' इस वाक्य कवचसे सुरक्षित होनेपर मनुष्य किसी भी शत्रुका भय नहीं, वह अज्ञानविज्ञान प्रत्यक्षमें उत्पन्न करण वैदिक धर्मका शास्त्र है। यह शब्द मनुष्मताश्रयें स्थापित करनेके लिये ही वैदिक धर्मकी शिक्षा है। परन्तु यह सत्य समय समयपर दोहरे पवित्र ब्रह्मशास्त्रोंमें ही लक्ष्य होता है और उसके भी पीछे सीतोंमें इसका छायावत् अनुभव होता है, यह बात हम इतिहासमें देखते हैं। इसलिये यद्यपि वेदका

१८ [ अध्याय भा २ भाग १ हिन्दी ]

यह शास्त्र है, यद्यपि सब मनुष्योंमें यह शास्त्र आत्माव प्रत्यक्षमें आता कठिन है इसमें भी सदेह नहीं है। इसलिये सर्व साधारण मनुष्य आत्मिक द्वितीय शक्तिको शत्रु जानकी अथवा अतभेदक निरवय करनेके समय शारीरिक वातावरण में अतिवृत्ति हो आशय लेते हैं। अतः इस प्रकार प्रथम विभागके मन्त्र आशयो ध्वनितका विचार करते हुए साधारण जनोंका धर्म बतल रहे हैं और द्वितीय विभागका मन्त्रशास्त्र आत्मिक विषय अन्तरिका मानकी अन्तिम श्रेय बता रहा है।

'आत्मिक शक्ति या आत्मिक ज्ञान ही मेरा सबसे बड़ा कवच है, जिससे मैं सब प्रकारके शत्रुओंसे सुरक्षित रह सकता हूँ, मेरे अत अहंसाका भाव पूर्ण करने नियम हो, तो जो जो मेरे पास आयेगे उनके लक्ष्यसे भी शत्रुताका भाव दूर हो जायगा।'

इसप्रकार वैदिक धर्मकी शिक्षा अन्तिम शास्त्र है, मनुष्यको वही बात अन्तमें स्वीकार करनी है, परन्तु वह स्वीकार बाह्य रूपावस्थे नहीं होना चाहिये, अथिन् अत स्मृतिसे ही होना चाहिये, अन्त स्वभाव ही ऐसा बनाना चाहिये। इसी भावसे मनुष्यका सबसे अधिक कल्याण है।

## अन्य कवच--शत्रु कवच

शरीरके, वस्त्रके तथा देशोंके सम्प्राप्त कवच उपर विभागके अन्तर्गत आकरके हो हैं। स्वशरभके आश्रय आदि सब इस कवचमें ही लक्ष्य है। अथिन् जलतक जलता पूर्वोक्त अधिकारके लिये बोध्य नहीं होती, सबतक शूरवीर शत्रुवच शत्रुका संरक्षण इन शस्त्रास्त्रोंसे करें। ये शत्रु साधन हैं। ज्ञान कवचसे सुरक्षित होना आह-साधन और सोढ़के कवचों तथा अशक्तियोंसे सुरक्षित होना शत्रु-साधन है। आहसाधनको स्वीकार करने बोध्य जगताकी उन्नति धर्मसाधनसे करनी चाहिये और जलतक जलती उन्नति नहीं होती, तबतक शरभधामनसे शत्रुशोक प्रतिकार करना बोध्य है। आहसाधनसे युद्धों बहुत होनेके ही मनुष्य ज्ञान साधनसे शूरताका अनुभव करता है और आहसाधनको अन्तर्गत लक्ष्य करता है।

इस प्रकार युद्ध भी मनुष्यकी आहसाधनसे शत्रुनाशनेवाले धर्मवचनसे बनते हैं।

## दासभाषका नाश

क्षीय मन्त्रमें कहा है कि 'ओ ययता या पयता हमें शत्रु

घननेकी चेष्टा करता है उसका वाद करना चाहिये ।  
राष्ट्रीय पारतन्त्र्य शारीरिक दास भावका छोटक है, इसके  
अतिरिक्त मानसिक, बौद्धिक तथा धार्मिक पारतन्त्र्य भी है  
और ये सबसे अधिक घातक हैं । किसी प्रकारका भी पारतन्त्र्य  
जो अपने वादका कारण हो वह स्वीकार नहीं करना चाहिये,  
आपको दास बनने नहीं बनना चाहिये । स्वाधीनता ही

मनुष्यका साम्य है । ज्ञान और पुरुषार्थसे स्वाधीनता अर्पित  
बचनेसे मुक्ति प्राप्त होती है, इसका भी आशय यही है ।  
मनुष्यके सब कुछ वादका कारण हैं । इसलिये कोई मनुष्य  
या कोई राष्ट्र दूसरे मनुष्यको या राष्ट्रको वादकायमें डबानेका  
मान न करे और यदि कोई ऐसा प्रयत्न करे भी तो सब  
मनुष्य उसका विरोध करें ।

## शक्रुदमन

### कांड ७, सूक्त ७०

( ऋषि. - अथर्व । देवता - इन्द्र, अश्विन । )

यत्किं चासौ मनसा यथं वाचा युजैर्जुहोति हविषा यजुषा ।

तन्मृत्युना निर्कृतिः संविद्वाना पुरा सत्पादाहुमि हन्स्वस्य ॥ १ ॥

यातुधाना निर्कृतिराहु रसुस्ते अस्व मृत्युनृतेन सुत्यम् ।

इन्द्रैपिता देवा आर्ज्यमस्य भग्नन्तु मा तत्सं पादि यवसौ जुहोति ॥ २ ॥

अजिराधिराजौ इयेनौ संपातिर्नावि । आर्ज्यं पृतन्वते इतां पो नः कर्धाम्यपापति ॥ ३ ॥

अपाञ्ची उ उमौ वाहू अपि नष्टाम्यास्यम् अग्नेदेवस्य मृत्युना तेन तेऽवधिपं हविः ॥ ४ ॥

अपि नष्टामि ते वाहू अपि नष्टाम्यास्यम् । अग्नेर्पोरस्य मृत्युना तेन तेऽवधिपं हविः ॥ ५ ॥

अर्थ— ( असो यह किं च मनसा ) यह शत्रु को हार भी करने और ( यत् च वाचा ) जो कुछ भी वाणीसे  
करता है तथा जो कुछ ( यजुषा हविषा यही जुहोति ) यज्ञ, हवि और वाणीसे हवन करता है । ( अस्य तत् संपि-  
द्वाना निर्कृतिः ) इसका वह उद्देश्य जाननेवाला सहरावर्तित ( सत्पात् पुरा मृत्युना आहुति हन्तु ) यज्ञकी पूर्णता  
होनेके पूर्व ही मृत्युसे उसकी मारुति मध्य करे ॥ १ ॥

( यातुधानाः रक्षः निर्कृतिः ) यातना देनेवाले, राक्षस और विनाशचरित्र के सब ( आत् उ अस्य सत्य  
मृत्युतेन हन्तु ) निश्चयपूर्वक इस दुष्ट शत्रुके सत्यका भी अनुमते घात करें । ( इन्द्र-इयिताः देवाः ) इन्द्र द्वारा प्रेषित  
देव ( अस्य आर्ज्यं मृत्युनृतेन ) इस दुष्ट शत्रुके घातकी मर्चे और ( यत् वसौ जुहोति तत् मा संपादि ) जिस उद्देश्यसे  
यह हवन करता है वह तिष्ठ न हो ॥ २ ॥

( अजिर-अधिराजौ संपातिर्नावि इय ) क्षीप्रगतौ पक्षिराज वाज जैसे एक दूसरेपर आपात करते हैं,  
उसी प्रकार ( या वः च नः अग्नि अधायति ) जो कोई हमें पाप या बन्ध देता है उस ( पृतन्वतः आर्ज्यं इतां ) तेरा-  
वाले शत्रुका भी मध्य करे ॥ ३ ॥

( ते उमौ वाहू अपाञ्ची ) कुछ शत्रुके दोनों बाहू में पोछे मोझकर पापता हृतपा ( आस्यं अपि नष्टामि ) तेरा  
गुरु में बांध देता हू । ( अग्ने देवस्य तेन मृत्युना ) अग्निदेवके उस क्रोधसे ( ते हविः अवधिपं ) तेरे हविषा में मात  
करता हू ॥ ४ ॥

( ते वाहू अपि नष्टामि ) तुम शत्रुके दोनों बाहुओंकी बांधता हू । ( आस्यं अपि नष्टामि ) तुमको भी  
बांधता हू । ( ओरस्य अग्नेः तेन मृत्युना ) भगवान् अग्निदेव वस कोचसे ( ते हविः अवधिपं ) तेरे हविषा में म मा  
करता हू ॥ ५ ॥

जो शत्रु धारण ( धृत्-वृत्तः ) समर्थ हवें सनाता है और ( न-अधायति ) हर्ष पायी प्रकृतियों विविध कष्ट देता है, उस दुष्ट शत्रुके साथ सब प्रकार प्रबल भी संकलन हों । ऐसे दुष्ट शत्रु जो भी साथ काम करते हैं उसका उद्देश्य इतना ही होता है कि उससे उनकी शक्ति बढ़े और उस शक्तिका उपयोग हमें दानकी सुविधाओं से करें । दुष्ट लोग जो कुछ सत्कर्म करते हैं, वह सबके प्रेमसे नहीं करते, बल्कि अपनी शक्ति बढ़ानेके लिये करते हैं और वे मतमें यही इच्छा धारण करते हैं, कि इस शक्तिसे हम निर्बलोंको कुटे और अपने मोक्ष ल्याये । अतः इस सूक्तमें ऐसी शायदा की है कि ऐसे दुष्टोंके सत्कर्म भी संकलन न हों और उनकी शक्ति भी न बढ़े, दुष्टोंकी शक्ति घटनेसे अप्रत्यक्ष शान्ति रह सकती है ।

## शत्रुका नाश

कांड ६, सूक्त १३४

( ऋषि - शुक । देवता - सत्योक्ता, वसु. । )

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावांस्य राक्षसं दन्तु जीवितम् ।

शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातुष्मिहा वृत्रस्येवं शचीपतिः

॥ १ ॥

अर्धरोऽधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोस्तुंपत् । वज्रेणावहतः शयाम्

॥ २ ॥

यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिजं हि ।

जिनसो वज्र एवं सीमन्तमन्वच्छमनु पातय

॥ ३ ॥

अर्थ— ( अयं ऋतस्य घलः तर्पयतां ) यह सत्यका हाथ लूँट करे, यह ( अस्य राक्ष् उपहन्तु ) इसके शत्रु-भूत शत्रुका नाश करे और ( जीवितं अपहन्तु ) शत्रुके जीवनका भी नाश करे । ( शचीपतिः वृत्रस्य इव ) इन्द्र भी तो वृत्रका पराजय करता है, उसी प्रकार यह शत्रुकी ( ग्रीवा शृणातु ) गर्तोंको काटे और ( अग्निघ्ना म शृणातु ) पशु-निर्मियोंका काट देवे ॥ १ ॥

( उत्तरेभ्यः अधरः अधरः ) ऊपरोंसे नीचे और नीचे होकर ( पृथिव्या, गूढः ) पृथ्वीमें छिपकर रहे और ( मा उत्पुपत् ) कभी ऊपर न आवे । तथा ( वज्रेण अवहतः शयाम् ) वज्रसे मारा जाकर पड़ा रहे ॥ २ ॥

हे वज्र ! ( यः जिनाति तं अन्विच्छ ) जो हानि करता है उसको दूढ़ निकालः ( यः जिनाति तं हृत् जाहि ) जो कष्ट पहुँचाता है उसकी मार डाल । ( स्य जिनतः सीमन्तमन्वच्छ अनुपातय ) तू इस देनेवालेके लिये सोपा गिरा दे ॥ ३ ॥

भावार्थ— यह वज्र सत्यका संरक्षण करता है और असत्यका नाश करता है । जो इस राक्षुका साथ करना चाहता है उस शत्रुका नाश इस वज्रसे हो । यह वज्र उनका नाश करे जो दूसरोंको सताते हैं ॥ १ ॥

शत्रुका अथ पतन होके, वे अपना सिर कभी ऊपर न करें और अन्तर्में बचते-सते जाकर भूमिपर गिर जायें ॥ २ ॥

जो बिना कारण दूसरेका नाश करता है, उसीका नाश करना योग्य है । उसी दुष्टका सिर काटा जाये ॥ ३ ॥

## वज्रादि शस्त्रोंका उपयोग

वज्र आदि सत्वाशक्तोंका उपयोग जनताकी हानि करनेवाले दुष्टोंका नाश करनेके लिये ही किया जाये । सब पक्षकी सहायता करने और उस-पक्षके विरोध करनेके लिये ॥ शस्त्रोंका उपयोग किया जाये । असत्यके भोग सम्प-समपरा प्रबल भी हो जाय तथापि वे फिर प्रतिविम नीचे गिरते जाते हैं । उनका पक्ष ही ऐसा होता है, कि वह उनको उठने नहीं देता । निजके कारण जनताकी हानि होती है, सब मिलकर उसका नाश करें ।

## शत्रुका नाश

कांड ६, सूक्त १३५

( अर्थः - युध् । वेवता - यन्त्रोपता, यन्त्रः । )

यदुशामि यलं कुर्वे इत्थं वज्रमा ददे । स्कन्धानुगृह्य स्रुतयन्त्रस्वैव शचीपतिः ॥ १ ॥

यत्पिपासामि सं पिपामि समुद्र इव संपियः । प्राणानुगृह्य संपाय सं पिपामो अमुं वृषम् ॥ २ ॥

यद्विरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः । प्राणानुगृह्य संगीर्य सं गिरामो अमुं वृषम् ॥ ३ ॥

अर्थ - ( यद् अशामि यलं कुर्वे ) जो मैं पाऊँ उससे मैं अपना बल बढाऊँ । ( इत्थं यत्नं आददे ) इस प्रकार मैं यत्न हाथमें लेता हूँ और ( अमुष्य स्कन्धान् शासयन् ) उस यन्त्रके अर्थोंकी कारता ॥ ( शचीपतिः वृषस्य इव ) इन्द्र जैसे वृषको पावता है ॥ १ ॥

( यद् पिपासामि संपिपासामि ) जो मैं पीता हूँ वह ओछ हो पीता हूँ । ( समुद्र इव संपियः ) समुद्र जैसे पीता है । ( अमुष्य प्राणान् संपाय ) उस यन्त्रके प्राणोंकी पीकर ( ययं अमुं स पिपासः ) हम, वृषकी पी जाते हैं ॥ २ ॥

( यद् गिरामि संगिरामि ) जो मैं निपलता हूँ उसकी छीक गलेके नीचे उतार देता हूँ ( समुद्रः संगिरः ) समुद्र जैसे निपलता है । ( अमुष्य प्राणान् संगीर्य ) उसके प्राणोंको निपलकर ( ययं अमुं संगिरामः ) हम उसको गलेके नीचे उतार देते हैं ॥ ३ ॥

भाषार्थ - जो मैं जाता हूँ और गलेके नीचे उतारता हूँ, उसका मैं अपने अंदर बल पैदा करता हूँ । जिस प्रकार समुद्र नदियों और बृन्दि जलोंकी पीता है और अवलता है, उसी प्रकार मैं भी चाये और पीये हुए जन्तुओंकी भक्षता हूँ और उनसे अपना बल बढाता हूँ और उस बलसे युक्त होकर हाथमें लिये वज्रके लिये शत्रु लेता हूँ और दुष्टोंका नाश करता हूँ ॥ १-३ ॥

अपना बल बढाकर उस बलका उपयोग युद्धके समय करनेके कार्यमें करता पाहिये ।



## शत्रुका नाश

कांड ६, सूक्त १०३

( अर्थः - उष्णोषनः । वेवता - इन्द्राग्नी, यदुवेवताम् । )

सुंदानं यो वृहस्पतिः सुंदानं सविता कर्तु । सुंदानं मिश्रो अयंसा सुंदानं मगो अभिना ॥ १ ॥

अर्थ - हे शत्रुओ ! ( वृहस्पतिः यः सुंदानं कर्तु ) बृहस्पति तुम्हारे टुकड़े करो, ( सविता सुंदानं ) सविता नाश करो, ( मिश्रः सुंदानं, अयंसा सुंदानं ) मिश्र और अयंसा टुकड़े करें, ( मगः अभिना सुंदानं ) मग और अभिना-देव तुम्हारा नाश करें ॥ १ ॥

भाषार्थ - शत्रु, मृग, मिश्र, व्याधवादी, धनवान्, धनवान् से सब शत्रुकी खाते लिये अपनी अपनी शक्तिते शत्रुका नाश करें, कोई डर कर पीछे न रहे ॥ १ ॥



सं परमान्तसमेवमानयो सं वामि मध्यमान् । इन्द्रस्तान्पर्येहार्दाशा तान्मे सं या त्वम् ॥ २ ॥  
अमी ये युधमायन्ति केतून्कृतवानीकवः । इन्द्रस्तान्पर्येहार्दाशा तान्मे सं या त्वम् ॥ ३ ॥

अर्थ— शत्रुओंके ( परमान् अवमान् ) अघो मध्यमान् सं खं सं घामि ) बुरके, पातके और बोचके सैनिकोंको काटता हूँ, ( इन्द्र : तान् परि अहः ) इन्द्र उन सबका निवारण करे । हे अमी ! ( त्वं तान् दासा सं घ ) तू उनको पातसे अपने आपीन रख ॥ २ ॥

( केतून् कृतवा ) शत्रुओंको उठाकर ( अमी ये वसीकशः युद्धं आपयन्ति ) वेओ अपनी अपनी दुर्दृष्टियोंके साथ युद्धके लिये आते हैं, ( तान् इन्द्रः परि अहः ) उनका इन्द्र निवारण करे । हे अमी ! ( त्वं तान् दासा सं घ ) तू उनको पातसे अपने रख ॥ ३ ॥

भावार्थ— शत्रुसैन्यमें जो पातवाले, बोचके और बुरके सैनिक हूँ, उनका निवारण दिव्य शक्ति और भी मौलिक शक्ति उनकी अपने आपीन किया जाये ॥ २ ॥

जो सैनिक शत्रुओंको उठाकर छोटे छोटे दुर्दृष्टियोंमें मिलकर हमला करते हैं, उनका भी पूर्वीय प्रकार माघ किया जाये ॥ ३ ॥

### शत्रुका दमन

द्विज समय राष्ट्र रत्नाका प्रश्न उपस्थित हो, उस समय ( युद्धस्थिति ) ज्ञानी जन, ( सविता ) धीर वीर, ( मित्र ) मित्रवशके लोग, ( धर्म-या ) श्राव्य करनेवाले, कौन खेद है और कौन नहीं इसका निश्चय करनेवाले, ( भय ) ऐश्वर्यवान्, ( अधिपति ) अश्वशाली, अर्थात् छोड़ोपर तबहार होनेवाले वीर, ( इन्द्र ) वीरस मजल, धीर, वीर, ( अग्नि ) प्रकाशक आदि सब प्रकारके लोग अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये कटिबद्ध होकर हर प्रकारसे शत्रुका नाश करें और अपने राष्ट्रका बचाव करें । इनमेंसे कोई भी पीछे न रहे, अपनी अपनी शक्तिके अनुसार लो हो सकें, वह हरएक अनुम्य करे और अपने राष्ट्रकी रक्षा करे ।

इस सुवर्णमें जो देवतावशक नाम आये हैं, वे देवोंके दिव्य राष्ट्रके अनेक ओहदेदार हैं, वेच राष्ट्रमें उनके कार्य निश्चित हैं । वे ही कार्य करनेवाले मालकराष्ट्रके ओहदेदार भी उसी प्रकारके अपने अपने कार्य करें और अपने राष्ट्रकी रक्षा करें, यह इस सूक्तका आशय है । अंता देव करते हैं वंता ही अनुम्य गहर करें और देव करें ।

## शत्रुका पराजय

कांड ६, सूक्त १०४

( ऋषि - प्रश्नोत्तर । देवता - इन्द्राग्नी, महर्षो वेत्ता । )

आदानेन संदानेनामित्राना वामसि । अपाना ये चैषां प्राणा अनुनामन्तसमच्छिदन् ॥ १ ॥

अर्थ— ( आदानेन संदानेन ) एकदके और वसमें करके ( अमित्रान् आ घामसि ) शत्रुओंको हम नष्ट करते हैं उन ( येषां ये च प्राणाः अपाना ) इनके जो प्राण और वपान हैं उन [ असन् अस्तुना स अज्जिदम् ] प्राणोंको प्राणोंसे ही काट डालता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ— शत्रुको एकदकर उनको वसमें रखकर हम उनका नाश करते हैं । उनके प्राणोंका वच ही हम नष्ट करते हैं ॥ १ ॥

इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम् । अमित्रा येऽत्र न सन्ति तानेव आद्या त्वम् ॥ २ ॥

ऐनाभ्यतामित्राभी सोमा राजा च मेदिनी । इन्द्रो मरुत्वानादानमभिर्धेभ्यः कृणोत नः ॥ ३ ॥

अर्थ— ( इन्द्रेण तपसा संशितं ) इन्द्रके द्वारा तपसे तीव्रण किया गया ( इदं आदानं अकरं ) यह पाश मैंने बनाया है, ( ये अत्र नः अमित्राः सन्ति ) जो यहाँ हमारे शत्रु हैं, हे बन्ने ! ( तान् त्वं आद्य ) उनका तू नाश कर ॥ २ ॥  
( इन्द्राभी एतान् आद्यतां ) इन्द्र और जनि इनका नाश करें ( सोमः राजा च मेदिनी ) सोम और राजा भी जानवसे यह कार्य करें । ( मरुत्वान् इन्द्रः ) मरुतोंके साथ इन्द्र ( नः अभिर्धेभ्यः आदानं कृणोतु ) हमारे शत्रुओंको पकड़ कर रखे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— तपसे द्वारा बनाया यह पाश है उससे शत्रुको बांध और उनका नाश कर ॥ २ ॥

सब देव शत्रुनाश करनेके कारण हमारी सहायता करे ॥ ३ ॥

### शत्रुको पकड़ना

शत्रुको पकड़कर उसकी बांध देना चाहिये । उसकी शत्रुता यदि मरु हो जाए तो शत्रु भी नष्ट हो जाता है । मनुष्यके तपसे प्रभावसे उसका शत्रु क्षीण होता है और उसमें तप न होनेसे शत्रु भी प्रबल हो जाता है ।

## शत्रुके तेजका नाश

### कांड ७, सुक्त १३

( धातिः - अर्वा द्विषोर्वाहर्तृकाम् । रेवता - शोमः । )

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यस्तेर्वास्याददे । एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥ १ ॥

यार्षन्तो मा सुपत्नानामापन्तं प्रतिपश्यथ । उद्यन्सूर्यं इव सुपत्नी द्विषतां वर्च आ ददे ॥ २ ॥

अर्थ— ( यथा उद्यन् सूर्यः ) जैसे उद्यन् होता हुआ सूर्य ( नक्षत्रार्थां तेर्वास्ति आददे ) तारोंके प्रकाशोंको हर लेता है, ( यथा द्विषतां स्त्रीणां च पुंसां च ) उसी प्रकार देव करनेवाले मित्रों और पुरुषों ( वर्चः आददे ) तेज में हर लेता है ॥ १ ॥

( अपत्नानां यार्षन्तः ) शत्रुओंमेंसे जितने ( मां याप्यन्ति प्रतिपश्यथ ) मुझे मारते ॥ २ ॥ वे लेंते हैं, उन ( द्विषतां वर्चः आददे ) सब शत्रुओंका तेज मैं उसी प्रकार खींच लेता हूँ, ( सुपत्नी सूर्यः इव ) जैसे सोने हुए मनुष्योंका तेज मैं खींच लेता हूँ ॥ २ ॥

भाषार्थ— शत्रु स्त्री हो अथवा पुरुष हो, वह सोता हो अथवा जापत हो, जो कोई शत्रुता करता है उसका तेज कम करना चाहिये, अर्थात् उससे अथवा तेज घटाना चाहिये ॥ १-२ ॥

### शत्रुका तेज घटाना

इस सूक्तमें शत्रुका तेज घटानेका उपाय कहा है । नक्षत्र और सूर्यको उपायसे वह विधाय कहा है । सूर्यके उद्यन् होनेके पूर्व मलय चमकते रहते हैं, परन्तु सूर्यके उद्यन् होने ही नक्षत्रोंका तेज हलचल हो जाता है । इसमें नक्षत्रोंका तेज घटानेके लिये सूर्य कोई मल नहीं करता है, अपितु सूर्य अपना तेज बजाता है जिससे आप ही आप नक्षत्रोंका तेज घट जाता है ।

इसी प्रकार हेप करनेवालोंका विचार न करते हुए अपना तेज बढ़ानेका मत करना चाहिये । जो शत्रुके तेजको घटानेका मत करेंगे वे पंतिने, परंतु जो सूर्यके समान अपना तेज बढ़ानेका मत करेंगे उनका सम्बुद्ध होना । शत्रुका विचार करनेके समय ' सूर्य और नवाग्रोंका दृष्टान्त ' ध्यानमें रहें । ॥ स्वयंसे एक ओर भी बात बड़े महत्वकी बताई है कि सोते ॥ मनुष्योंका तेज सूर्य हर होता है । अर्थात् सूर्यके उदय होने पर भी जो सोते रहते हैं वे मनुष्य निस्तेज हो जाते हैं । इसी लिए सूर्यवियसे पूर्व ही निद्रावस्थाका विधान है ।

## शत्रुको दूर करना

कांड ६, सूक्त १७

( अग्नि - अथर्व । देवता - मित्रावरुण । )

अग्निभूर्यज्ञो अग्निभूरग्निमिभूः सोमो अग्निभूरिन्द्रः ।

अभ्यर्चुहं विश्वाः पृतना यथासाम्येवा विधेमामिहोत्रा इदं हविः ॥ १ ॥

स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावेत्सुत्रं मधुनेह पिबन्तम् ।

पापेधा दूरं निश्चिंति पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्षुमस्मत् ॥ २ ॥

इमं वीरमनु इर्वस्वमग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रमध्वम् ।

ग्रामनिर्तं गोखितं वज्रपाहुं जयन्तुमज्मं प्रमुणन्तुमोक्षसा ॥ ३ ॥

अर्थ— ( यथाः अग्निभूः ) यथा शत्रुका पराभव करता है, ( अग्निः अग्निभूः ) अग्नि शत्रुकी पराजय करता है, ( सोमः अग्निभूः ) सोम शत्रुका पराभव करता है, ( इन्द्रः अग्निभूः ) इन्द्र शत्रुका पराभव करता है । यथा आहं विश्वाः पृतनाः अग्निं यत्नानि ) निश्चित मैं भी सब तेजसोंका पराभव करूँ । ( एवा ) इसविषय मैं भी । अग्निहोत्रा इदं हविः यियेम ) अग्निहोत्र करनेवाला होकर ॥१॥ हविका समर्पण करता हूँ ॥ १ ॥

हे ( विपश्चिता मित्रावरुणा ) आनी मित्र और वरुण ! आपके लिये ( स्वधा अस्तु ) यह अन्नभाग हो । ( प्रजायत् सुत्रं इह मधुना पिबन्तं ) प्रजावृत्त अग्निम सब वहाँ लींचे । ( निश्चिंति पराचैः दूर पापेधां ) दुर्गतिको दूर करके दूर ही नष्ट करो और ( कृतं चिदेनः ) किये ॥१॥ पापको भी ( अस्मत् प्रमुमुक्षुं ) हमसे दूर करो ॥ २ ॥

हे ( सखायः ) मित्रो ! ( उग्रं प्रामाणितं गोखितं वज्रपाहुं वीरं ) उग्र स्वभावयुक्त, पापको बीतनेवाले, वीरको बीतनेवाले अपना इन्द्रियोंकी वश करनेवाले, वस्त्रधारण करनेवाले वीर, ( योजसा अजम् प्रमुणन्तं ) वस्त्रों शत्रु-वस्त्रका नाश करनेवाले और ( जयन्तं ) विजय करनेवाले ( इन्द्रं अनु सं रमध्वम् ) इन्द्रके अनुकूल भवने सब व्यवहार करो ॥ ३ ॥

भावार्थ— ॥१॥ सर्वात् परीवकार, अग्नि, सोमादि औषधि, शूर वीर ये सब अपने अपने शत्रुओंको दूर करते हैं । उस प्रकार मैं भी सेनासे आक्रमण करनेवाले शत्रुओंपर विजय प्राप्त करूँगा । मैं इसविषयके लिये ऐसा आचमनसमर्पण करूँगा । अग्निहोत्रार्थ हविर्द्वय अपने आपका समर्पण करता हूँ ॥ १ ॥

इस समयमें सब शत्रुओंके उत्तम शूरवीर वात्सवन्ते हूँ और वे राष्ट्रमें ऐसा प्रथम करें, कि उतने सब दुर्गति नष्ट होवे और सब पाप दूर होवे ॥ २ ॥

जो शत्रुके पापको बीतनेवाला, शूरवीर, वस्त्रधारण करनेवाला अपने वस्त्रों शत्रुवस्त्रका नाश करता है, उस विजय समर्पण करनेवाले वीरके अनुकूल अपना आचरण करो ॥ ३ ॥

इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः । जयन्तु सत्त्वानो मम स्थितेणेन्द्रेण मेदिना ॥ ३ ॥

अर्थ— ( इन्द्रः प्रथमं असुरेभ्यः नैर्हस्तश्चकार ) इन्द्रने पहिले असुरोंको गिहरवा अर्थात् निर्बल बनाया । अतः ( स्थितेण मेदिना इन्द्रेण ) स्थिर मित्र इन्द्रकी सहायतासे ( मम सत्त्वानिः जयन्तु ) मेरे सत्त्ववान् पौर लोग विजय प्राप्त करें ॥ ३ ॥

अपना दल इतना रखना चाहिये कि अपने सम्मुख सब निर्बल सिद्ध हों, इस प्रकार अपना दल बढ़ावै और शत्रुनाशपूर्वक शत्रुको कमजोर करनेसे विजय प्राप्त होये ।

## शत्रुपर विजय

कांड ६, सूक्त ६६

( ऋषि - अथर्व । वेदता - यजुः, इन्द्रः । )

निर्हस्तः शत्रुमिदासंस्तु ये सेनामिदुर्ध्वमायस्यस्मान् ।

समर्पयेन्द्र महता वधेन द्राक्षैषामघातो विविधः ॥ १ ॥

आतन्वा मा आपच्छन्तोऽस्पेन्तो ये च धार्वथ । निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोऽथ पराधरीत् ॥ २ ॥

निर्हस्ताः सन्तु शत्रुवोऽङ्गैर्वा म्लापयामसि । अथैषामिन्दु वेदांसि द्रव्यो वि मजामहे ॥ ३ ॥

अर्थ— ( नः अभिदासन् शत्रुः निर्हस्तः अस्तु ) हम पर हल्ला करनेवाला शत्रु गिहरवा अर्थात् निर्बल होये । ( ये सेनाभिः अस्मान् युधं आयन्ति ) जो सैन्य लेकर हमारे साथ युद्ध करनेके लिये आते हैं, हे इन्द्र । ( महता वधेन समर्पये ) उनकी मर्ने शत्रुसे मार डाल । ( एषां अघातोः विविधः द्राव्यः ) इनका विधेय पात करनेवाला बीर विद्ध होता हुआ भाग लाये ॥ १ ॥

हे ( शत्रवः ) शत्रुओं । ( ये आतन्वा माः ) जो तुम अनुपस्थिते हुए ( आपच्छन्तोः अस्पेन्तोः च धार्वथ ) लौंठते हुए और बाग छोड़ते हुए चौकते चले आते हो, तुम ( निर्हस्ताः स्वयं ) हल्ला रहित हो जाओ । ( इन्द्रः अथ च पराधरीत् ) ॥ मातृ तुमको मार डाले ॥ २ ॥

( शत्रवः निर्हस्ताः सन्तु ) अब शत्रु हल्ला रहित हों, ( एषां अंघ्रा म्लापयामसि ) इनके अंगोंको ॥ निर्बल करते हे और ( एषां वेदांसि द्रव्योः विमजामहे ) इनके सबोंको हम सबको अकारते बाँटते हे ॥ ३ ॥

## शत्रुपर विजय

कांड ६, सूक्त ६७

( ऋषि - अथर्व । वेदता - यजुः, इन्द्रः । )

परि वर्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः । मुक्षन्तुधामः सेना अमित्राणां परस्तराम् ॥ १ ॥

अर्थ— ( इन्द्रः पूषा च ) इन्द्र और पूषा ( सर्वतः वर्मानि परि सस्रतुः ) सब भागोंसे धमका करें, जिससे ( अमित्राणां सेनाः परस्तराम् मुक्षन्तुः ) शत्रुसेनाएं बुरतक धमका जायें ॥ १ ॥

मूढा अभिप्राधरताशोर्षाणि दुर्वाहवा । तेषां चो अभिमूढानामिन्द्रो हन्तु चरैवरम् ॥ २ ॥  
पेषु नम्र वृषाजिनं हरिणस्या भिषं कृषि । पराहृमित्र एवैत्वाची गौरुषेवतु ॥ ३ ॥

। अर्थ— हे ( समिप्राः ) शत्रुको ! तुम ( मूढाः ) भ्रान्त होकर ( अशीर्षाणिः अहयः इव चरत ) बड़े हुए सिरवाले सपके समान बनो । ( अभिमूढानां तेषां चः ) हमारे भ्रान्तवाक्यसे मोहित हुए तुममेंसे ( धरैवरं इन्द्रः हन्तु ) बरिष्ठ हरिण कीरको इन्द्र मार डाले ॥ २ ॥

( एषु वृषा हरिणस्य भजिन आनया ) इन हमारे पीछेकी बलसे युक्त हरिणका भजन पहिना । हमारे संगीते शत्रुसंग्राम ( मिय कृषि ) मय उत्पन्न कर । ( अभिप्राः पराहृ एषतु ) शत्रु परे जग लाने और ( गौः गौराची उप एषतु ) उसकी भूमि का गोवं हमारे पास आवाले ॥ ३ ॥

ये दोनों सूक्त शत्रुको पराजित करनेके हैं । शत्रुको मोहित करके उन्हें डरा कर ऐसे भगा देना चाहिये कि इनमेंसे कोई भी न बचे । इनमें जो दूर हों उनके मार डालना चाहिये और ऐसा पराक्रम करना चाहिये, कि जिससे शत्रुके मनमें डर पैदा हो जावे । ये दोनों युक्त सरल हैं इतकिये अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

## शत्रुको दधाना

### कांड ५, सूक्त ८

( अर्थ— अथवा । देवता — शान्तदेवता, अग्नि, विष्णुदेवता, इन्द्र । )

देवैरुक्तेनेध्मेन देवभ्य आर्ष्य वह । अग्रे तां इह मांदय सर्व आ यन्तु मे हवम् ॥ १ ॥  
इन्द्रा यदि मे हवमिदं करिष्यामि सख्यं । इम ऐन्द्रा मतिस्तु आर्क्षि सं नमन्तु मे ।

तेभिः एकैव वीर्यं । आर्षेवस्वर्नृबन्धिन  
यदुसाबभूवौ देवा अद्रेवः संधिकीर्षति । ॥ २ ॥

मा सस्याभिर्हृष्यं वांसीद्वर्ष देवा अक्षु मोषं शुर्मैव हवमेवम् ॥ ३ ॥

अर्थ— हे आने । ( देवैरुक्तेनेध्मेन ) भुवा [ एक प्रकारका वृक्ष ] वृक्षके इन्धनसे ( आग्नेय आ दह ) देवोंके लिये धृत पशुका और ( तान् इह मांदय ) उनको यहाँ प्रसन्न कर, वे ( सर्वे ) सब ( मे हव्य आपातु ) मेरे यत्नमें आवें ॥ १ ॥  
हे इन्द्र ! ( मे हव्य आपाहि ) मेरे यत्नमें आ । जो ( इदं करिष्यामि सख्यं ) यह प्रार्थना मे कर, उसे मैं सुन । ( इमे ऐन्द्रा मतिस्तुः ) ये इन्द्र तकभी अध्यामी पुत्र्य ( मे आर्क्षि सं नमन्तु ) ॥ तबन्पके अनुकूल हों । हे ( तान्-यशिनः जातयेदं ) दासीको यत्नमें करनेवाले जानक्य । ( तेभिः वीर्यं शक्ये ) उन प्रयासोंसे वीर्यकी प्राप्ति हम कर सकें ॥ २ ॥

हे ( देवाः ) देवों ! ( असौ म-देवाः सन् ) यह देवता रहित होकर ( अमृतः यत् चिरीयति ) बढ़ाते जो ॥ पात जाना चाहता है, ( तस्य हव्यं अग्निः सा वांसीद्वर्ष ) उसका हव्य अग्नि न पशुवाले ( देवाः अस्य द्यं मा उपयुः ) ॥ ३ ॥ भी इसके यत्नमें न आवें । अमृत ( मम पय हव यत्न ) मेरे ही यत्नमें आवें ॥ ३ ॥

भाषार्थ— अग्नि इस यत्नमें देवोंके लिये युक्तकी आहुतिपर पशुवाले और यहाँ देवोंको आवांशित करे, जिससे सब देव संतोषित मेरे यत्नमें आते रहें ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! मैं मेरे यत्नमें आ और जो मे प्रार्थना करता है उसे सुन । वे जो इन्द्रके संबन्धमें कार्य करनेवाले हैं, वे मेरे अनुकूल कार्य करें । हे दासीको यत्नमें करनेवाले जानी ! उन प्रार्थनाओंसे हमको वीर्य प्राप्त होवे ॥ २ ॥

अति घावतातिसरा इन्द्रस्य वचसा हव ।

अवि वृक इव मध्रात स मो जीवन्मा मोचि प्राणमस्वापि नशत ॥ ४ ॥

यममो पुरोदधिरे वृद्धाणामवभूतये । इन्द्र स ते अवस्पदं तं अत्यस्वामि मृत्यवे ॥ ५ ॥

यदि प्रेयुर्देवपुरा वृद्ध वर्माणि चक्रिरे ।

तनुपानं परिषाणं कृष्णाना यदुपोचिरे सर्वं तद्वरसं कृचि ॥ ६ ॥

यानसावतिसरांश्चकार कृणवंच यान् ।

एव तानिन्द्र वृषदन्वशीचः पुनरा कृचि ययामुं तुणहां जनम् ॥ ७ ॥

यद्येन्द्र उदाचनं लब्ध्वा चुको अवस्पदम् । कृण्वेहमवरांस्तथापृच्छंश्चठीम्पुः समाभ्यः ॥ ८ ॥

अर्थ— हे ( अतिसराः ) अथवाभी पुत्रो । ( अतिघावत ) वेगसे बीड़ो । ( इन्द्रस्य वचसा हव ) इन्द्रके वचनसे मारो । ( अवि वृक इव मध्रात ) जैसे भेड़के भेड़िया मारता है, उसी प्रकार तानुको मार जाते । ( सः जीवन् ) वह तानु जीवित ही ( यः मोचि ) हुनसे न छूट जावे । ( प्राणमस्वापि नशत ) इसके प्राणको भी नाश वालो ॥ ४ ॥

( यमी यं वृद्धाणं ) वे जिस जानीको ( यममृतये पुरः दधिरे ) अवतलिके तिये जाने करते हैं । हे राज । ( सः ते अवस्पदं ) वह तेरे पाँके नीचे होवे, ( तं मृत्यवे प्रत्यस्वामि ) उसको मृत्युके लिये संभला हूँ ॥ ५ ॥

( यदि देवपुराः प्रेयुः ) यदि वज्रजोने देवके नगरीपर चढ़ाई की है और जमूँने ( वृद्ध वर्माणि चक्रिरे ) जानको ही अपना कबच बनाया है और ( तनुपानं परिषाणं कृष्णाना ) शरीररसक साधन भी बनाते हैं ( यत् उप ऊचिरे ) भी कुछ कहते हैं ( सर्वं तत् वरसं कृचि ) उस सबको ग्रहणहीन करो ॥ ६ ॥

( असी यान् अतिसरांश्चकार ) इसने जिसको अथवाभी बचाया था और ( च यान् कृणवच् ) जिनको अभी बनाया है, हे : पुत्रदन् इन्द्र । तानुनाम इन्द्र । ( यं तान् पुनः प्रतीचः आकृचि ) हूँ उनको पुनः बापत लाँटा रे । ( यथा अमुं जने तुणहां ) जिससे उस जनसमूहको हम पार शकें ॥ ७ ॥

( यथा इन्द्रः उदाचनं लब्ध्वा ) जैसे इन्द्रने वज्रजालेनाले तानुको प्राप्ता करने उसको ( अवस्पदं चुको ) पाँके नीचे बना दिया ( तथा मृद् ) उस प्रकार वें ( शब्ध्वातीभ्यः समाभ्यः ) तराके लिये ( अमृद् अघरांश्च कृण्वे ) हैं तानुओंको नीचे करता हूँ ॥ ८ ॥

भावार्थ— हे देवो ! जो वस्तुतः प्रभुकी मलिन न करता हुआ कुछ अन्य कर्म करना चाहता है, उसकी मनुषीय मलिन भी देवोंको न पटुबावे और देव भी इसके वल्लभ न आवें । अतियु के मेरे पातमें जावे ॥ ३ ॥

हे अथवाभी पुत्रो ! वेगसे प्रचुरर हमला करो । इन्द्रकी आज्ञासे प्रभुका बच करो । जैसे भेड़िया भेड़की मारता है, उसी प्रकार तानुको मार जाते । तानुके प्राण लो । कोई तानु तुम्हारे हाथसे न बच पावे ॥ ४ ॥

जो तानु अपने विद्वान् पुत्रोंको भी अवतलिके जायमें लगाते हैं, उनको अयोग्यत हीये, मैं तो उसको मृत्युके लिये समर्पित करता हूँ ॥ ५ ॥

यदि देवके नगरीपर वज्रजोने चढ़ाई की है और अपनी शरीररसके लिये कबचारिरे द्वारा मजजी तैयारो की है तथा अपने सब साधनको भी इस युद्धकर्ममें ही लगा दिया है, ऐसे तानुका वह सब प्रयत्न विफल होवे ॥ ६ ॥

जो तानु अपने बीरोंको साथे करके हमला करता है, उस तानुके सब प्रयत्न उल्टे हो जायें, जिससे सब तानुओंकी हम पार शकें ॥ ७ ॥

जिस प्रकार इन्द्र धमकी तानुओ भी नीचे बढाना है, उसी प्रकार मैं सब अपने तानुको नीचे बढाकर रखूँ ॥ ८ ॥

अत्रैनानिन्द्र धुप्रहनुग्रो मर्मणि विष्य । अत्रैवैनांनिभि विष्टेन्द्र मेव्युहं तर्ब ।

अनु त्वेन्द्रा रमाभवे स्याम सुमतौ तर्ब

॥ ९ ॥

अर्थ — हे ( धूम्रहन् इन्द्र ) अनुनामक इन्द्र ! ( अथ उग्रः एनान् मर्मणि विष्य ) यहाँ क्षर होकर इनके मर्मोंको छेद दे । हे इन्द्र ! ( अथ एव एनान् समित्तिष्ठ ) यहाँ क्षर पर चढ़ाई कर । ( अहं तव मेदी ) मैं तेरा निज होकर रहता हूँ । हे इन्द्र ! ( त्वा अनु आरमाभवे ) तेरे अनुकूल हव कार्यात्म्य करे और ( तव सुमतौ स्याम ) त्वि सुमतिमें रहूँ ॥ ९ ॥

भावार्थ — हे ममो ! तू उग्र होकर यहाँ अङ्गुके मार्गस्थानोंको छेद, इन जगज्जीवर चढ़ाई कर । मैं तेरा निज होकर त्वि अनुकूल कार्य करता हूँ और तेरी सुमतिमें निज रहता हूँ ॥ ९ ॥

## शत्रुको दवाना

### शत्रुका नाश

जब शत्रु का नाश करनेका उपदेश देनेवाला है । इसके पहिले वो मर्मोंमें परमेश्वरकी प्रार्थना करके बल प्राप्त करनेका उपदेश किया है—

### ईश प्रार्थना

मर्मिमें शत्रुकी आशुतियाँ देकर यजमान प्रार्थना करता है कि— ' मैं देवताओंको लज्ज करके ये आशुतियाँ इस यज्ञमें दे रहा हूँ, ये आशुतियाँ देवताओंको आप्त हों और इससे देवता समुष्ट होकर मेरी प्रार्थना सुनें । प्रभुकी भी मैं प्रार्थना करता हूँ कि वह मेरी प्रार्थना सुने और सब वस्तुकी शक्तिमें मेरे अनुकूल हों और मुझे बहुत बल प्राप्त हो । '

( म १-२ )

### नास्तिकोंकी असफलता

जिस पुरुषके मनमें परमात्माकी अज्ञानता नहीं होती, उसको नास्तिक अपना भविष्यहीन अनुष्ट बहते हैं । युद्ध उपस्थित होनेपर दोनों पक्षके लोग प्रभुकी प्रार्थना करते हैं । तत्पश्चात् दोनों अपने पक्षके लिये प्रभुकी प्रार्थना करता है, उसी प्रकार कुछ पक्षके लोग भी विजयके लिये प्रार्थना करते हैं । इस प्रकार दोनों ओरके संज्ञिक विजय प्राप्तिके लिये प्रार्थना करने लगे और पक्षपात करने लगे, तो प्रभु किस पक्षकी सहायता करता है और किसकी नहीं करता, इस विषयमें सुतीव्र संशय उपदेश लक्ष्यपूर्णक देखने योग्य है—

' जिस समय नास्तिक भक्तिहीन कुछ अनुष्ठ अपने विजयके

लिये यज्ञयाग अपना ईशप्रार्थना आदि करता है, उस समय अग्नि उल्लेखी आशुतियाँ देवताओंके प्रति नहीं पहुँचाता और देवता भी उसके पक्षमें नहीं जाते, क्योंकि देवता केवल आस्तिक भक्तोंके पक्षमें ही जाते हैं । ' ( म. ३ )

इस संशयस्पष्ट हो जाता है, कि दोनों पक्षके लोग प्रार्थना करें भी, तो भी धार्मिक लोगोंकी ही प्रार्थना परमेश्वर सुनता है, बुद्धोंकी प्रार्थनाएं कभी नहीं सुनता । इसलिये सत्यपक्षके लोग ही प्रार्थनासे ईश्वरीय बल प्राप्त करते हैं और वह बल अत्यन्त पक्षके लोगोंकी नहीं प्राप्त होता । इस कारण तब अत्यन्त सत्यपक्षकी ही विजय होती है । इसलिये वस्तुचर्च संभव नहीं है कि— ' प्रभुकी आज्ञासे अनुसार शत्रुवर हत्या करो, शत्रुको मार डालो, कोई शत्रु तुम्हारे हस्तगत होता न सके । ' ( म. ४ ) यह बल सत्यपक्षकी ही प्राप्त होता है, इसलिये सत्यपक्ष पक्ष व्यवहारकी बुद्धिसे अशक्त प्रतीत हो तो भी वह आस्तिक पक्षकी बुद्धिसे अज्ञितसंभव होनेके कारण अन्तमें विजयी होता है । अत्यल्पमात्रोंकी परमेश्वरकी भक्तिसे लाभ नहीं होता, बहो बतानेके लिये पंचम और षष्ठ अधोत्तर उपदेश है—

' जो अत्यल्पकर व्याप्य करनेवाले लोग अपनी विजयके लिये आहुत्योंकी भी अपने भवनतिकारक कर्ममें मर्त्या उपासनादि कार्य करनेके लिये ध्यायित करते हैं, उनकी परमेश्वर अत्यन्त करता है और मृत्युवश पहुँचाता है । जो दृष्ट देव-अन्तर्गत धर्मोंपर हस्तगत करने अपनी विजयके लिये उपासनादि कर्म करते हैं और सत्यपक्ष हैं कि इससे हमारी

रक्षा होगी और हम सुरक्षित होंगे, वे भ्रममें रहते हैं, क्यों कि उनके ये राय प्रयत्न विफल हो होनेवाले हैं ।' ( भं. ५-६ )

अर्थात् अस्तमशकी विजय कभी नहीं होगी । सदा सत्यका पक्ष ही जय प्राप्त करेगा । यह वैदिकयमका निष्कर्षावधि-निश्चय है । कोई इसको व्यर्थवाच्य कर नहीं सकता ।

अन्तिम तीनों मंत्रोंमें यही बात निम्न रीतिसे कही है—  
' जो दृष्ट मनु अपने तनिकोंको साथे बढाकर वेगले हमला करता है, उसका वह कार्य अन्तमें उसके विपक्ष होजाता है । ( भं. ७ ) ' अर्थात् बलके समझमें आकर मनु सत्यके भास करानेकी बेसी बेसी चेष्टा करता है, बेसा बेसा वह अधिकसे अधिक धिक्क जाता है । अतः यह सामान्य इसो दृष्ट भावके कारण मायाकी प्राप्त हुई है और ये कभी पुनः उठे नहीं, यह जान कर लोगोंको स्थिर है कि ये कभी अथर्वपक्ष न चले और दूसरेकि नाशसे अपनी उन्नति करनेके कार्य न करें । क्योंकि ऐसे कार्योंमें कदापि सफलता प्राप्त नहीं होती ।

' ऐसे यमोंकी और धरमद करनेवाले मनुको नीचे बसाया चाहिये, यह सदा पालन करने योग्य नियम है ।' ( भं. ८ )

अर्थात् राजनोंको भी मनुको जेहा नहीं करनी चाहिए ।

### मनुके नाशका उपाय

नवम मंत्रमें मनुका नाश करनेका उपाय बताया है—

( १ ) उग्रम अग्रममि विधय- दूर होकर मनुके समक्षपानीपर वेध कर । ( भं. ९ )

( २ ) अत्रैव यनान् अमितिष्ठ- वहीं उनका सामना कर अर्थात् उन मनुओंपर वेगले हमला कर । ( भं. ९ )

( ३ ) अहं तव मेदी । तव सुमतौ स्वाम् । दधा अम्भारभासदे- मैं तेरा मित्र होकर रहूँ, तेरी सुमतिमें मैं रहूँ और तेरे अनुकूल कार्य करूँ । ( भं. ९ )

परमात्मके अनुकूल कार्य करनेका तात्पर्य अर्थात्सुख व्यवहार करना है । इस प्रकार धार्मिक व्यवहार करते हुए आश्रमिक बल बढ़ाकर, परमात्मके प्रेमी बनकर रहना और मनुका हमला उल्टा देनेका सामर्थ्य भी अपने पास रखना, अर्थात् अपने पक्षकी रक्षाके लिये तैयार रहना चाहिए । इस प्रकार आश्रमिक और धार्मिक बलसे दूरत होनेसे राक्षस मनुमें विजय अवश्य हो प्राप्त होती है ।

## मनुओंको दूर करना

### कांड ४, सूक्त ३

( पृथिवी - अथर्व - वेदता - धा, व्याघ्रः । )

उदितस्तथैव अक्रमन्वाग्रः पुरुषो वृकः ।

हिंस्रमि पन्ति सिन्धवे हिंस्रवेनो वृक्षमस्ति हिंस्रमस्तु अर्थवः ॥ १ ॥

परैणैव पथा वृकः परमेणैव तस्करः । परेण दुत्पत्तौ रज्जुः परेणाधायुरैव ॥ २ ॥

अर्थ— ( व्याघ्रः, वृकः, पुरुषः अर्थः ) बाघ, भेड़िया और चोर मनुष्य ये तीनों । इस उद्गमन् ) पृथुति भाग पावें । ( सिन्धवः हिंस्र पन्ति ) नहिर्गम नीचेकी ओर गतिसे जाते हैं, ( पृथुः वृक्षमस्ति हिंस्रः ) विष्वक्पत्तयति भी दोनोंकी नीचेकी पतिते भगा देती हैं, इसी प्रकार ( अथर्व हिंस्र वृक्षमस्तु ) बाघ नीचे होकर गले रहें ॥ १ ॥

( परेण पथा वृकः पन्तु ) दूरके मार्गसे भेड़िया पला जाये । ( उत परमेण तस्करः ) और उतसे भी दूरसे चोर पला जाये । ( परेण दुत्पत्तौ रज्जुः ) दूरसे बाँधवासी रस्सी अर्थात् धापित कभी जाये । और ( अधायुः परेण अर्थवः ) पापी दूरसे भाग जाये ॥ २ ॥

भावार्थ— बाघ, भेड़िया, और चोर पृथुति भाग पावें । जिस प्रकार नहिर्गम नीचेकी ओर जाते हैं, और विष्वक्पत्तयतिसे रोग दूर होते हैं, इसी प्रकार पन्तु हलसे दूर हो जावें ॥ १ ॥

भेड़िया, चोर, बाघ और पापी दृष्ट हल समेत दूर भाग जावें ॥ २ ॥



अस्याँचि ते मुखं च ते व्याम्र जम्भयामसि । आत्सर्वाँन्विश्रुवि नृपान् ॥ ३ ॥  
 व्याम्रं द्रुत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि । आर्दु ऐनमयो आर्हि यातृधानमधो धुकम् ॥ ४ ॥  
 यो अथ स्तेन आयति स संपिष्टे अपायति । पृथामपभ्रंसेनैस्त्विन्द्रो वज्रेण हन्तु वम् ॥ ५ ॥  
 मूर्णा मृगस्य दन्ता अपिधीर्णा उ पृथयः । निमृक्ते गोधा र्ववतु नीचावच्छन्नपुर्मगः ॥ ६ ॥  
 यत्संयमो न वि र्यमो वि र्यमो यत्र संयमः । इन्द्रजाः सौमजा आथर्वणमसि व्याम्रजम्भनम् ॥ ७ ॥

अर्थ—हे व्याम्र ! ( ते अक्षौ ) तेरी दोनों आँखोंके, ( च ते मुखं ) तेरी मुँहके, ( आत् स र्वाँन् विश्रुतिं नृपान् ) नीचोंके और ॥ ३ ॥  
 ( द्रुत्वतां प्रथमं व्याम्रं ) द्रुत्वताओंमें पहिले व्याम्र, ( आत् उ आर्हि ) और ताँका ( अयो धुकं ) और भेदियेका, ( स्तेन अयो यानुधानं ) चोर और लुटेरा ( वयं प्रथमं जम्भयामसि ) हम नाश करते हैं ॥ ४ ॥

( अथ यः स्तेन आयति ) अथ जो चोर आये, ( संपिष्टः सः अथ अपयति ) चूर चूर हुआ हुआ वह हूँ जाने और वह ( पया अप प्येतेन एतु ) मार्गके बिनागले अपातु मार्गकी भूलकर चल जाये और ( इन्द्रः वज्रेण स इन्द्र ) इन्द्र वज्रेसे उसे मार डाले ॥ ५ ॥

( मृगस्य दन्ताः मूर्णाः ) हिरण्यपशुओंके दाँत तोड़ दिए वये ( अपि पृथयः शीर्षा उ ) और उतली वस्तियों तोड़ दीं । ( ते गोधा निमृक् भवन्तु ) तेरी गोहूँ नीचे हों जाने और ( सुगः शशशुः शीचा अयत् ) हिरण्यपशु निरुता हुआ नीचे घाग जाये ॥ ६ ॥

( यत् संयमः न विर्यमः ) जिसका संयम किया जा चुका हो उसको विशेष बचावमें न रखो, परंतु ( यत् न विर्यमः संयमः ) जिसकी विशेष बचावमें न रखा हो उसको मर्जी प्रकार संयममें रखो । यह ( इन्द्रजाः सौमजाः ) इन्द्रसे और सोमसे उत्पन्न हुआ हुआ ( आथर्वणं जम्भनं असि ) अथर्वविद्याके व्याम्रदिकी बचावेका उपाय है ॥ ७ ॥

मार्गार्थ—अथर्वणोंके, मुखके दाँत और उतले कीत मात्न हूँ बन्द कर देते हैं ॥ ३ ॥

शीर्षा दाँतवालोंमें थायकी, भेदियेकी और ताँका तथा हुँदोंमें चोर और लुटेरोंके हूँ बन्द करते हैं ॥ ४ ॥

अथ जो चोर हमपर हमला करे उसका पूछं नाश हो और यदि वह बचे तो पथराकर धरना मारें भूल जाए ।

चिर चूर पुरख अपने घरमें उसको काट दे ॥ ५ ॥

हिरण्यपशुके दाँत तोड़ें मार्ग और वस्तियोंका काटो धातु ताँक सब हिरण्यपशु नीचे भूल हारके डरते भग जायें ॥ ६ ॥

जिसकी उत्तम प्रकारसे काटनी किया जा चुका है, उसकी और अधिक बचावमें न रखो; परंतु जिसकी काटनी नहीं किया है, उसकी मर्जी प्रकारसे बचावमें रखो । यह इन्द्र, सोम और अथर्वणोंके हुँदोंके बचल करनेका उपाय है ॥ ७ ॥

## अनुशौकी दूर करना

### हुँदोंका दमन करनेका उपाय

### अथर्वविद्याका नियम

इस सूक्तमें हुँदोंको दमन करनेका उपाय कहा गया है । यह सूक्त वने व्यापक अर्थवाला है इसलिये इसके पढ़नेके समय अपना दृष्टिकोण आध्यात्मिक रखना चाहिये, तभी इससे योग्य लाभ हो सकेगा । अब इस हुँदोंके दमनका उपाय देखिये—

१ यत् सं-यमः, न वि यमः,

२ यत् न वि यमः, सं-यमः ॥ ( सं. ७ )

\* जिसका संयम किया हो, उसकी और विशेष न बचाव जाये; परंतु जिसका दमन विष्णुतत्त्व न किया हो, उसका संयम बचाव किया जाये । यह अथर्व विद्याका नियम है—

आथर्वणे व्याघ्रजम्भजम् । ( मं. ७ )

'यह भयमें बिघा संभयो व्याघ्रादिकोंके बमन विघाका नियम है, 'यह ॥ प्रकारसे किया जाता है—

इन्द्रजाः सोमजाः । ( मं. ७ )

'इन्द्र अर्थात् इन्द्रियोंका अधिष्ठाता जो मन बमका अंतःकरण चतुष्टय है उससे उत्पन्न होनेवाली (इन्द्र-जाः) अंतःशक्तिसे एक बमन होता है और (सोमजाः) सोम आवि योनिपर्योकी शक्तितसे एक बमन किया जाता है । ' बुद्धिके बमनके ये दो मार्ग हैं ।

इस संवृत्त सूक्तमें ' ( १ ) व्याघ्रः ( बाघ ), ( २ ) वृकः ( भेड़िया ), ( ३ ) अहिः ( साँप ), ( ४ ) वृक्षती रज्जुः ( बाँतवाली काढ़नेवाली रस्सी अर्थात् साँपिन ), ( ५ ) तथा अन्य बाँतवाले, बाकूनीवाले हिंस्रः मूढः ( हिंस्र पशु ) और गोघा ( गौह ) ' इन बुद्ध प्रतीकयोंके नाम भी गिनाये गए हैं । तथा ' तत्स्करः, स्तेनः पुण्यः ( चोर धनुष्य ), अधायुः ( पानी ), धातुघानः ( लूटेरा ), दातुः ( बेरी ) ' बुद्ध ससृष्टोंके नाम भी शिष्टे गए हैं । इससे स्पष्ट होता है ॥ बुद्ध धनुष्योंकी समाजसे दूर हटाना आवश्यक है, वसी प्रकार हिंस्र पशु आदियोंको भी दूर करने समाजको सुखी करना चाहिये । यहाँ जिनकी पिनती नहीं हुई ऐसे जो भय बुद्ध हों उनको इती बिधिते काटने करना चाहिये और समाजसे दूर करना चाहिये और समाजको सुखी करना चाहिये । यह सूक्तका भाष्य है ।

बाघ, साँप और साँपिन के बाँत उखाड़कर उनके हीन्य बमनका उपाय तीसरे मंत्रमें बताया है, यह उपाय सभी पशु की दाँती और नाकूनीति हिसा करते हैं उनके शमनके लिये बर्ता जाने योग्य है ।

साँप, बाघ, भेड़िया आदि हिंस्र प्राणी आये तो उनको पीटना चाहिये, उनको पराजित तोड़नी चाहिये, उनको इतना मारना चाहिये ॥ वे मर जायें यह बात मंत्र व ये ६ तक के चार मंत्रोंमें बताया है । तथा इन्हीं मंत्रोंमें चोर लूटेरा डाकू दुष्ट आदि समाज घातक लोग समाजमें आकर उपद्रव मचायें लगे तो उनको जो उछो उपायसे खान्त करना चाहिये, ऐसा कहा है ।

॥ उल्टेकी मारसे इन सब बुद्धों हिंस्रों और शत्रुओंको शान्त या दूर करना चाहिये, यह इस सूक्त द्वारा उपदेश दिया है । परंतु बाघ, साँप, चोर, लूटेरे ये बाह्यके समाजमें ही रहते हैं, ऐसा मानना बड़ी भारी भूल है । वे भी बाहर हैं

बंते ॥ धनुष्यके अंदर जो हैं और इस सूक्तमें बाघ, भेड़िया, चोर आदि बाह्यके शत्रुओंके शमनके उपदेशके बहाने बाह्यता बाँतरिक हिंस्र शत्रुओंका और अंतरिक शत्रुओंका ही शमन करनेका उपदेश किया है । शमन सूक्तके ' संयम ' शब्दसे यह बात स्पष्ट हो रही है ।

धनुष्यके अंतःकरणके संयमके नाम क्रोध, मोम, मोह, पर और भस्तर ये छः शत्रु हैं और इनको धरमें पशुही गिना है—

उल्लूकपातुं शुशुलूकपातुं  
अहि भ्ययानुमुत कोकयातुम् ।

सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं

एषेषे प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥ ( ऋग्वेद ५।१०।१२९ )

' ( सुपर्ण-यातुं ) गडगडे समान घातघमन अर्थात् यंत्र, ( गृध्रयातुं ) गीघड़े समान व्यवहार अर्थात् लोभ, ( कोकपातुं ) बिबिधोंके समान आहार अर्थात् काम, ( अघ्रयातुं ) कुत्तेके समान घात अर्थात् स्वकीयसि भस्तर या द्वेष, ( उल्लूकपातुं ) उल्लूके समान आहार अर्थात् भूख, ( शुशुलूकपातुं ) भेड़ियोंके समान कूत्ता ये छः पशु धनुष्यके अंतःकरणमें रहते हैं, इनका नाश ऐसे ही करना चाहिये बंते परंपरसे प्रशिक्षणकारी हैं । ' क्रोध, मोम, मोह, पर और भस्तर ' ये छः शत्रु हैं, ये पशु हैं, उनको दूर करना चाहिये । इनके संयम करनेका यह उपाय समाज मंत्रमें रहा है—

१ जिनका संयम हो जाय, उन पर और विशेष दबाव नहीं आता चाहिये ।

२ और जिनका संयम न हुआ हो, उनको संयम के अंदर लाना चाहिये ।

यह बात सत्यमें जानेंके लिये एक उदाहरण लेते हैं । पांडीके घोड़े पहिले केवल पशु होते हैं, परचात् उनको शिक्षाया जाता है, सिखातेपर वे पांडीमें जाते जाते हैं । जो घोड़े अच्छे नियम से चलनेवाले सुजील होते हैं यदि उनको विना कारण अधिक दबाया, सताया, या पीड़ित किया जाय तो वे विरग्न बंधते हैं । अति दंडर इस प्रकार घातक होता है । इन्द्रियोंके नियममें भी यही बात है । जो इन्द्रिय संयमित होती है, यदि उनको और कड़े नियमोंमें रखा जाय तो उनमें प्रतिक्रिया मूढ़ हो जाती है और इस कारण उनके विनाश करनेकी संभावना हो जाती है । इसलिये संयममें रहकर योग्य कार्य करनेवाली इन्द्रियोंकी भी उचित स्वतंत्रता देनी चाहिये, परंतु साथ ही साथ उपरर बलताके साथ अपनी बुद्धि

रसवी चाहिये और उनका आश्रय देना चाहिये ताकि वे कुमारपद न जाय और संगमनें हो सियर रहें । इस प्रकार संयमित इन्द्रियों और वृत्तियों बर्तन करना चाहिये । परंतु जो संयममें स्थित नहीं हैं उनको नियमित बांध कर प्रयत्नसे उनको यशमें करना चाहिये और जब यशमें आ जायें तब उनको पूर्वोक्त रीतिके अनुसार योग्य स्वतंत्रतामें रखते हुए संयमके मार्गमें सुरक्षित चलाना चाहिये ।

बच्चोंमें जो सिंह व्याघ्रादिकोंको बचाने रखते हैं वे भी इसी प्रकार यशमें रखते हैं । वहिसे प्रेयसे उनके साथ व्यवहार करते हुए उनमें अपने विषयमें विद्वत्ता उत्पन्न करवाते हैं, बशवात् योग्य रीतिसे शिक्षा ॥१॥ हैं । शिक्षित हो जानेपर उनपर बाहरी बहुत बलाय न आये हुए, परंतु किसी भी प्रकार के अपादाका उत्तराधान न कर सकें, ऐसे व्यवस्थासे उनकी रक्षा करना करते हैं । संयमके पूर्व और वरपक्ष व्यव-

हार करनेकी भी यह सूचना हमें दूनामें दी है यह पक्षो उपयोगी है ।

मनुष्यके अंत करणमें ये वस्तु हैं, उसी प्रकार अन्य रिपु, पेंदो, सुटेरे बहुतसे साध हैं । इन सबको अपने स्वाधीन करना अपना दूर करना चाहिये । यह संयम अपनी अंतः-प्रवृत्तियोंसे करना चाहिये, ताकि ही साध मौषमि प्रयोगमें भी कुछ अक्षतक सहायता ही ला सकती है । जैसे ताजगुली खमके सेवन करनेसे कामकोय कुछ अक्षतक काम होते हैं और रसोगुली या तपोगुली अन्न सेवन करनेसे वे थक जाते हैं । यशसांसारसे कामकोय बढ़ते हैं और अन्न परावर्ति सेवनसे निवृत्त होजानेपर उनसे बच जानेकी बहुत सामावना पड़ती है । इसी प्रकार सोमसि औषधि रस सेवनसे भी वधे लाभ होने संभव है ।

इतना होनेपर भी अपनी अंत प्रवृत्तियोंसे कामादिपोंका संयम करनेका अनुष्ठान अतिशेष्ठ है ।



## दुष्टोक्त संहार

कांड ७, सूक्त १०८

( अथि - नृपुः । श्वता - अथिः । )

यो नस्तथादिस्तिति यो न आधिः स्वो विद्वानर्षो वा नो अये ।

प्रथीच्ये त्वरणी दुत्वती वान्मिर्षामये वास्तु भूम्यो अर्षवम् ॥ १ ॥

यो नः सुताज्ञार्षो वाभिदासाविष्ठो वा चरंवा जातवेदः ।

पैश्वानरेण सुधृजां सुजोपास्तान्प्रवीचो निर्देह जातवेदः ॥ २ ॥

अर्थ— हे अने ! ( यः नः तायित् दिस्तिति ) जो हयें छिपकर लुपता है तथा ( यः नः आधिः ) जो हयें प्रत्यक्ष होतु नही देता है । वह चाहे ( नः स्वः विद्वान् अथिः ) हमारा अपना संबंधी विद्वान् शिवा परधीय जो सर्वो न हो ( तान् पृथ्वी अरणी प्रतीची यतु ) उनपर बान्मलसे सोरो जसदी बसे । हे अने ! ( यो वास्तु मा भूत् ) इनका कोई घर न हो और ( आ भयत्वं उ ) न उनकी कोई लप्ताय हो ॥ १ ॥

हे जाननेर जाने ! ( यः नः सुताय् आप्रता वा अभिदासात् ) जो हमारा भोते हुए या जानते हुए भाग करे, ( वा चरतः ) जो ठहरे हुए या चलते हुए भाग करे । हे ( जातवेदः ) अने ! ( पैश्वानरेण सधृजां सजोपाः ) विश्वके नेता अपने मित्रके साथ मिसकर तु ( तान् प्रतीचः निः दह ) उन अनिष्टम चलनेवालोंको भग्न कर ॥ २ ॥

जो छिपकर हमारा भाग करे, ॥ प्रकटकपते हयें लनाये । वह हमारा संबंधी हो, मित्र हो, स्वधीय हो या परधीय हो, इस लतानेवालेका भाग किया जाये ।

सोते, जागते, खड़े हुए या खलते हुए किसी अवस्थामें हुए हों, जो हमारा ध्यान करता है, उसका भी नाम किया जावे ।

अग्ने सतानेवाते शम्भुरी उपेता न को वात्से, यह इस सूक्तका तात्पर्य है ।

## दुष्टका निष्कारण

कांड ७, सूक्त १०

( ऋषिः - भारिष्ठः । वेत्ता - मन्त्रीस्ता । )

अपि धृष पुराणवद् द्रवतेरिव गुणितम् । ओजो वासस्य दम्भय ॥ १ ॥

वयं उदस्यु संभृतं वस्तिन्द्रेण वि भवामहे । स्थापयामि भ्रजः शिञ्चं वरुणस्य द्रतेन ते ॥ २ ॥

यथा क्षेपो अपायति स्त्रीषु चासदनावयः ।

अवस्थस्य ऋदीवेतः शङ्कुरस्य नितोदिनः पदाततमव उचम् यदुचतं नि उचनु ॥ ३ ॥

अर्थ— ( मततेः पुराणवत् गुणितं इव ) सतप्रोक्ती पुराणी वृक्षी सर्वविधोक्ति सामान ( वासस्य मौजः अपि-वृक्ष धम्भय ) हिसकके बसको काटो और बचाओ ॥ १ ॥

( वयं अस्य सत् संभृतं सन्तु ) हम इनके उस एकचित्त पनको ( इन्द्रेण विभजामहे ) प्रभुके साथ बाँट देते हैं । तथा ( वरुणस्य द्रतेन ) वरुण देवके द्रतके साथ ( ते भ्रजः शिञ्चं स्थापयामि ) तेरे सैन्यके धर्मवकी मिटा देते हैं ॥ २ ॥

( अवस्थस्य ऋदीवेतः ) नीच पात्री बेनेवाते, ( शङ्कुरस्य नितोदिनः ) कटक धेते व्यवहार करनेवाते और पीडा देनेवाते दुष्ट मनुष्यका ( यत् पदाततं ) जो पैसा हुआ दुष्टत्व है, ( सत् अव सन्तु ) मिट जावे, ( यत् उचतं सत् नितनु ) जो अगर उवा ही वह नीचा हो जावे । ( यथा शेषः स्त्रीषु अपायति ) जिस रीतिसे इनका दुष्कर्म विप्रयोगे विषममें न होवे उस प्रकार उगतक ये दुष्ट ( अनापयाः असत् ) न पहुँचनेवाते हों ॥ ३ ॥

भाषार्थ— हे ईश्वर ! दुष्ट और उग्रव्य देनेवाले मनुष्यका बट यद्य को ॥ १ ॥

दुष्ट मनुष्यका धन लेकर ईश्वरके शुभ कर्ममें लगा दो ॥ २ ॥

पीडा देनेवाले दुष्ट मनुष्य विप्रयोगे कमी कष्ट न बँ देता प्रबंध करो ॥ ३ ॥

यह सूक्त स्पष्ट है मतः इसका विशेष विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं । दुष्टोंके धाकमगसे विप्रयोगे बचाव करना कर्त्तव्य है । विप्रयोगे पला पीछे छोड़, दुष्ट मनुष्य न पहुँच सके ।

## यातुधान नाशन

कांड १, सूक्त ७

( ऋषिः - घातनः । वेत्ता - जीनः ( यातवेत्ता ), अमीन्द्रो । )

स्तुवानमग्न आ र्वह यातुधानं किमीदिनम् । रवं हि देव वन्दितो हुन्ता दस्योर्विभूविष्य ॥ १ ॥

अर्थ— हे जाने ! ( स्तुवानं ) स्तुति करनेवाले ( यातुधानं किमीदिनं ) घातक यात्राओंके भी ( या घह ) यहाँ ते जा । ( हि ) क्योंकि हे देव । ( वन्दितः रवं ) नमनकी प्राप्ति हुआ तु ( दस्योः ) बन्धुका ( हुन्ता ) हनन करने-वाला ( यभूविष्य ) होता है ॥ १ ॥

आज्यस्य परमेष्ठिन् जातेवेदुस्तनूवाञ्चिन् । अये तौलस्य प्राञ्चान् यातुधानान् वि लापय ॥ २ ॥  
 वि लेपन्तु यातुधानां अस्त्रिणो ये किंसीदिनः । अयेदमये नो हविरिन्द्रश्च प्रतै हयैतम् ॥ ३ ॥  
 अग्निः पूर्वे आ रमतां प्रेन्द्रो नुदत बाहुमान् । अर्वावु सर्वो यातुमानयमुस्मीत्येत्य ॥ ४ ॥  
 पश्याम ते वीर्यं जातेवेदुः प्र गां ब्रूहि यातुधानाञ्चसः ।  
 स्वया सर्वे परिवत्साः पुरस्ताच्च आ यन्तु प्रनुवाणा उपेदम् ॥ ५ ॥  
 आ रमस्य जातेवेदोऽस्माकमेषं जज्ञिषे । दूतो नो अये मूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥ ६ ॥  
 स्वमीम यातुधानानुपयंरद्वो इहा वंह । अयेपामिन्द्रो वस्त्रेनार्पि और्पाणि धृशतु ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (परमेष्ठिन्) अथवा स्थानमें रहनेवाले (जातेवेदुः) ज्ञानको प्राप्त करनेवाले और (तनू-वाञ्चिन्) शरीरका संवय करनेवाले अग्ने ! तू (तौलस्य आज्यस्य) तौले हुए धी आँविका (प्राञ्चान्) भोजन कर और (यातुधानान्) दृष्टोंको (वि लापय) स्वयं ॥ २ ॥

(ये) ओ (यातुधानाः) दृष्ट (आश्रयणः) करनेवाले और (किंसीदिनः) कालक है, वे (विलपायु) विनाश करें (अथ) और अब, हे अग्ने ! (इदं हविः) यह हवि तू और (इन्द्रो च) इन्द्र (प्रतिहयैतं) स्वीकार करो ॥ ३ ॥

(पूर्वः अग्निः आरमतां) पहिले जमीन आरंभ करे, तथा पश्चात् (बाहुमान् इन्द्रः प्र नुदतु) बाहुमन्वाका इन्द्र विशेष प्रेरणा करे, जिते (सर्वः यातुमान्) सब दृष्ट लोग (परय) आकर (अर्वावु) पीले, कि (अयं अग्नि इति) यह मैं हूँ ॥ ४ ॥

हे (जातेवेदुः) मनी ! (ते वीर्यं पश्याम) तेरा पराक्रम हय देखें । हे (नु-वाञ्चः) मनुष्यके मार्तण्डोंक । (यातुधानान्) दृष्टोंको (नः) हमारा आदेश (प्र ब्रूहि) विशेष रूपसे कहूँ । (स्वया) स्वयं (पुरस्तात्) पहिले (परितता) तबे हुए (ते सर्वे) वे सब (इदं सुवाणाः) यह कहते हुए (उप आयन्तु) हमारे पास भावें ॥ ५ ॥

हे (जातेवेदुः) मनी ! (आरमन्तु) आरंभ कर (अस्माकमर्थाय) हमारे प्रयोजनके लिये तू (जज्ञिषे) उत्पन्न हुआ है । हे अग्ने ! (नः दूतः आरुहः) तू हमारा दूत बनकर (यातुधानान् वि लापय) यातुधानोंको विनाश करा ॥ ६ ॥

हे अग्ने ! तू (यातुधानान्) दृष्टोंको (उपयन्तु) आँवकर (इहा आ वंह) यहाँ आ (अयं) और इन अग्ने वस्त्रों (एवा और्पाणि) इनके मातृक (धृशतु) काट लीये ॥ ७ ॥

## यातुधान नाशन

इसका आचार्य हय समीति पीछे लिखते बर्षाक इस सुत्रके कई धर्मोंके अर्थोंका विचार पहिले करना चाहिये । इस सुत्रके कई धर्म भय उत्पन्न करनेवाले हैं और जगतक इसका निश्चित शोक अर्थ ध्यातमें न आना, तब तक इस सुत्रका उल्लेख समझमें नहीं आता । सबसे प्रथम 'अग्नि' कौन है ? इसका निश्चय करना चाहिये—

अग्नि कौन है ?

इस सुत्रमें अग्निवस्त्रों के विनाश ग्रहण करना चाहिये,

इसका निश्चय करनेवालेके लिये यह इस सुत्रमें है— 'जात-वेदुः, परमेष्ठिन्, तनूपशिन्, नृचक्षः, पश्वितः, दूतः, देव, अग्निः ।' इन धर्मोंका अर्थ देखकर अग्नि का स्वयं सबसे प्रथम हय देखें—

१ जातेवेदुः— (जातं पौष्टि) जो बनी हुई पृथ्वीके शोक शीघ्र जानता है । (जात-वेदुः) जिसने ज्ञान प्राप्त किया है । सृष्टिकिया और आनन्दिमान् बनावत आनन्दवात्य ।

२ परमेष्टिन्- ( परमे पदे स्थाना ) परम्परानेकहस्ते-  
वाला अर्थात् तामाधिकी अतिशय अवस्थाकी भी प्राप्त है,  
आत्मानुभव सिद्धने प्राप्त किया है, तुर्या- चतुर्थ अवस्थाका  
धनुमय करनेवाला ।

३ तनूयशिन- ( तनू-यशिन ) अपने शरीर और इन्द्रि-  
योंको स्थायी करनेवाला, इन्द्रिय संयम और मनोनिग्रह  
करनेवाला, आसनादि योगाभ्याससे ब्रह्मने अपनी कायसिद्धि  
की है । जो मनुष्यका ' परमे-ष्टिन् ' होगा संभव है ।

४ नू-चक्षः- ' चक्षस् ' शब्द स्पष्ट अर्थों द्वारा उपदेश  
देनेका भाव बता रहा है । मनुष्यको जो धोष धर्म मार्गका  
उपदेश देता है ।

### ज्ञानी उपदेशक

ये चार शब्द ज्ञानिके गुण धर्म बता रहे हैं । इन शब्दोंकी  
देखतेसे स्पष्ट होता है, कि यहाँका ज्ञान ' धर्मोपदेशक  
धर्मित ' ही है । तृष्टिविद्या कावनेवाला, अध्याप्यज्ञानमें  
प्रयोग, योगाभ्याससे शरीर, इन्द्रिय और मनको धाममें रचने-  
वाला, समाधिकी सिद्धि शिकने प्राप्त है, यही ब्राह्मण धर्मित  
' नू-चक्षः ' अर्थात् लोगोंकी धर्मोपदेश करनेके योग्य है ।  
उपदेशक ज्ञानिके पूर्व उपदेशककी संभारी केशो होनी चाहिये  
इसका बोध यहाँ प्राप्त हो सकता है । ऐसे उपदेशक हों, तो  
धर्मका ठीक प्रचार होना संभव है ।

५ चिन्तितः- इस प्रकारके उपदेशककी ही सब चीज  
बाधता कर सकते हैं ।

६ दूतः- जो तारेका पुरुषवत्ता है वह दूत होता है । यह  
उपदेशक पवित्र धर्मका सन्देश सब जनता तक पहुँचाता है  
इसलिये यह ' धर्मका दूत ' है । दूत शब्दका दूतरा अर्थ  
' गीकर, भूषा ' है ॥ अर्थ यहाँ नहीं है । धर्मका सन्देश  
स्थान स्थानपर पहुँचानेवाला वह दूत धर्मका उपदेशकही है ।

७ वेदः- प्रकाशमान, तेजस्वी ।

८ अग्निः- प्रकाश देकर समझाकरका वाद्य करनेवाला ।  
ज्ञानकी रोशनी बढ़ाकर महानात्म्यकारका मान्य करनेवाला ।  
उष्णता ( गर्मी ) उत्पन्न करके हृत्तल करनेवाला ।

ये सब शब्द धोष उपदेशक ही धर्मित कर रहे हैं । इस  
प्रकार वेदमें ' अग्नि ' शब्द शान्ती उपदेशक ब्राह्मणका वाचक  
है । तथा ' इन्द्र ' शब्द क्षत्रियका वाचक है ।

### ब्रह्म क्षत्रिय

' ब्रह्म क्षत्रिय ' शब्द ब्राह्मण और क्षत्रियका बोध कराता

है । वेदमें ये दो शब्द दृष्टके कई स्थानपर आये हैं । यही  
शब्द ' अग्नि-इन्द्र ' में दो शब्द वेदमें कई स्थानोंपर स्पष्ट  
कर रहे हैं । अग्नि शब्द ब्राह्मणका और इन्द्र शब्द क्षत्रियका  
वाचक है । अग्नि शब्दका ब्राह्मण अर्थ हमने देखा, अब इन्द्र  
शब्दका अर्थ देखेंगे—

### इन्द्र कौन है ?

स्वयं इन्द्र शब्द क्षत्रिय वाचक है, क्योंकि इसका ॥ ही  
चतुर्नामक है—

१ इन्द्रः- ( इन्द्रः ) शत्रुओंकी क्षत्रिय करनेवाला ।

२ यादुमान्- बाहुवाला, भुजावाला, सर्पात् बाहुवती  
लिये सुप्रसिद्ध । हरएक मनुष्य भुजावाला होता ही है, परंतु  
क्षत्रियको ही ' बाहुमान् ' इसलिये कहा है, उसका शत्रु ही  
बाहुवत्यक होता है ।

३ इन्द्रः यजेण क्षीर्पाणि वृद्धतु- क्षत्रिय तत्त्वधारसे  
शत्रुओंके तिर काटे । यह क्षत्रियका कार्य इस सूक्तके अतिशय  
मर्ममें वर्णित है । मुझमें शत्रुओंके तिर काटनेका कार्य तथा  
दुष्टोंके तिर काटनेका कार्य क्षत्रियोंका ही प्रसिद्ध है ।

इससे सिद्ध है, कि इस सूक्तमें ' इन्द्र ' शब्द क्षत्रियका  
भाव सूचित करता है । अग्नि शब्दसे ब्राह्मण उपदेशक और  
इन्द्र शब्दसे क्षत्रियका कार्य करनेवाले क्षत्रियका बोध लेकर  
इस सूक्तका अर्थ देखना चाहिये ।

### धर्मोपदेशका क्षेत्र

वाचक यह न तर्को, कि साप्ताहिक ॥ वादिक ज्ञानमें  
ध्यायवाच देना ही धर्मोपदेशकका कार्यक्षेत्र है । यहाँ तो  
धार्मिक बोध ही आते हैं । पहिलेसे जिसकी प्रवृत्ति धर्ममें  
होती है, वे ही धार्मिक लोग ज्ञानमें आते हैं; इसलिये ऐसे  
धार्मिकोंको धर्मोपदेश देना धोषे हुए कपटकी तिर बोलेके  
समान हो है । वास्तवमें यत्नित कपटकी ही धोकर स्वच्छ  
करना चाहिये, इसी तरह सवाधक धृतिके लोगोंको ही  
धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये, यही सच्चा धर्मप्रचार है,  
यह बातोंके लिये इस सूक्तमें धर्मप्रचार करने धोष सोमोंका  
वर्णन निम्नलिखित शब्दोंसे किया है — ' यातुपान, किमी-  
दिन्, दस्सु, अविन् । ' अब इनका अर्थ देखें—

१ यातु- ' यातु ' मटकनेवाले का नाम है । जिसका  
घरवार कुछ भी नहीं है और जो धन पतने समान रूप  
उपर गड़बड़ा रहता है उसका नाम ' यातु ' है । मटकनेका  
अर्थ बतानेवाली ' या ' यातु इसमें है ।

२ यातुमान्- यातुमान्, यातुमान्, यातुमान् ,  
घाम्बका भाव यातुवाता ' है अर्थात् जिसके पास बहुतसे  
घातु ( भटकनेवाले ) लोग होते हैं । अर्थात् भटकनेवालोंके  
समावेश मूलिदा ।

३ यातुमावान्- बहुतसे यातुवानोंको अपने कबूतमें  
रखनेवाला ।

४ यातुघान्- यातुओंका पारण पीषण करनेवाला,  
अर्थात् भटकनेवालोंको अपने पास रखकर उनको पीषण  
करनेवाला । ' यातु घाम्प ' भी इसी भावका वाचक है ।

जिसके घरबार स्त्रीपुत्र आदि होते हैं, और जो भूतदुर्गमें  
रहता है, वह जतना उपद्रव देनेवाला बड़ा होता, जिसका कि  
न घरबारवाला और भटकनेवाला होता है । वह लदा भूखा  
रहता है, किसी प्रकारका मजका समाधान उसकी नहीं होता,  
इसलिये हृदय प्रसन्नताका उपद्रव करनेके लिये वह तैयार  
होता है, इसी कारण ' यातु ' शब्द ' भुरी वृत्तिवाला ' इस  
अर्थमें प्रयुक्त होता है । दुष्ट, डाकु, चोर, मूढे, बटवार  
आदि इसी शब्दके अर्थ आते जाकर बने हैं । ये चोर, डाकु  
अदक अकेले रहते हैं, सब एक इनका नाम ' यातु ' है, ऐसे  
दोटे शोधार डाकुओंकी अपने घरमें रखकर डाका डालनेवाला  
' यातु-मान्, यातु-वान्, यातुमान् ' अर्थात् यातुवाता  
जिसका डाकुवाला कहा जाता है । पहिलेकी अपेक्षा इससे  
समावेशकी अधिक कष्ट पड़ता है । इस प्रकारके छोटे डाकु-  
ओंके अनेक सङ्घोंकी अपने आपीन रखनेवाला ' यातुमा-  
घान् ' अर्थात् डाकुओंकी कई समायोंको अपने आपीन  
रखनेवाला । यह पूर्वकी अपेक्षा अधिक कष्ट घामों और  
प्रान्तोंकी भी पठका सकता है । इसीके नाम ' यातु-घान्,  
यातुघान्प ' है । ये वैरिह दार जो कि वेदमें कई स्थानोंमें  
आते हैं, हीन और दुष्ट लोगोंके वाचक हैं । अब और  
देखिये—

५ अयिह- अयिह ( अयिह ) मतलब भटकता रहता है ।  
यह शब्द भी पूर्व शब्दका ही भाव बताता है । इसका  
भूषण भाव ( अयिह ) माने राजा, सदा अपने भोमके लिये  
दुसरोंका घना काटनेवाला । जो पीछेसे धक्के लिये चल  
करते हैं, इस प्रकारके दुष्ट लोगोंका वाचक यह शब्द है ।

६ किर्मादिन्- ( किर् इदानीं ) अब क्या लालच, इस  
प्रकारकी वृत्तिवाले भूले किता पेटके लिये ही दुसरोंका घात-  
पत करनेवाले दुष्ट लोग ।

७ दस्यु- ( दस्यु उपद्रव ) घातपत करनेवाले, दुष्टों-  
का नाम करनेवाले, हर प्रकारके दुष्ट लोग ।

ये सब लोग समावेशके मुख्यका वाता करते हैं, इनके कारण  
समावेशके लोगोंकी कष्ट होते हैं । ये घाममें जाकर चोरी,  
डकती, छून, छुट्टाकर करते हैं । स्त्री विषयक अपाचार  
करते हैं, सम्बन्धोंकी अपेक्षा प्रकारके कष्ट होते हैं इसलिये  
इन लोगोंको धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये, यह इस  
सूक्तका आशय है । जो घरबारले हीन हैं, जो अणकों और  
कामोंमें रहते हैं, जो चोरी, डकती आदि दुष्ट कार्य करते हैं ।  
उनको धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये । अर्थात् जो नाप-  
रिह हैं, जो पहिलेसे ही धर्मके प्रेमी हैं, उनमें धर्मकी जागृति  
करनी योग्य है, परन्तु जिनके पास ' धर्मकी आवाज नहीं  
चूकी और जिसका जीवनकर्म ही धर्मवादा कामोंमें सदा  
बध्ना रहता है, उनका सुधार करने ही उनको उत्तम  
मार्गात्मिक बनाना चाहिये । धर्मोपदेशक यह अपना कार्य  
लेख देंगे ।

धर्मोपदेशकके शुभ, उत्तम कार्योंमें निपुण क्षमिकसे  
गुण, और जिन लोगोंमें धर्म प्रधारकी अपेक्षा आशयकता  
है उनके युष्कर्त्त हूयने इस सूक्तके आशयसे हैं । अब इन  
समावेशीके प्रकाशमें यह सूक्त देखना है—

## दुष्टोंका सुधार

प्रथम मन्त्र- ' हे धर्मोपदेशक ' तेरी प्रशंसा करनेवाला  
दुष्ट डकतीको यहाँ ले आ, धर्मोपदेशक तू अपना प्राप्त करनेपर  
दस्युओंका नाशक होता है—

( १ ) स्तुति करनेवाले डाकुको यहाँ ले आ, और

( २ ) उनका बमरकार प्राप्त करने उनका नाशक हो ।

इसका मतलब यह है— ' धर्मोपदेशक ऐसे दुष्ट, डाकु,  
बटवार आदिकोंमें धर्मोपदेश करनेके लिये जाने, उनकी  
तत्त्व धर्मका उपदेश करे, चोरी आदि पाप कर्म है यह उनकी  
ठीक प्रकार समझा दे, उन दुष्ट कर्मोंमें उनको बह निपुण  
करे, अब वे ठीक प्रकार जानेंगे कि चोरी आदि उनके  
व्यवसाय बुरे हैं और धर्मवानोंकी रक्षा करनेवाला तब धर्म  
इस धर्मोपदेशकके प्राप्त हो सकता है, तब वे इसके द्वारा धर्म  
अभिज्ञे व्याप्ये, इसको प्रशंसा करेंगे और इसके पामने तिर  
लुकायेसे अर्थात् इनको प्रभाव करेंगे । अब उनमें इतनी  
आत्मनिष्ठता पड़ेगी, तब उनका आत्मनका भाव ॥ हृदय  
स्वय ही हो जायगा । इसलिये कहा रहता है कि ' धर्मोपदेशक  
हृदय वन्युओंको अपने उपदेश द्वारा अपनी प्रशंसा करनेवाले  
बटवार अर्थात् अपने अनुपायो बनाकर, अपने समाजमें से  
आगे और उनसे बमरकार प्राप्त करने उनके दुष्ट गुणोंकी  
नाशक बनें । '

‘जिनसे नमस्कार प्राप्त करना उनका ही ध्येय करना’ प्रथम विधिप्रज्ञा प्रतीत होता है, परंतु अथर्ववेद दृष्ट मनुष्यों के सुधार करनेवालेसे ऐसा ही बनता है। जब दृष्ट मनुष्य धार्मिक बन जाता है उस समय यह पहिले धर्मोपदेशकके सामने अपना विर झुकाता है और तब सुकृते ही दृष्ट मनुष्यके रूपसे मर कर धार्मिक नवजीवन प्राप्त करनेके द्वारा वह मानी गया ही मनुष्य बनता है। यदि एक डाकू धर्मोपदेश सुनकर धार्मिक बन गया, तो उसका सामाजिक दृष्टिसे साथ अपने यही है कि एक डाकू मर गया और एक सच्चा धार्मिक मनुष्य नया पैदा हुआ। अब दूसरा प्रश्न है कि—

### मित्र भोजन करो

द्वितीय मंत्र- ‘हे परम श्रेष्ठ अवस्थाके रहनेवाले, शरीर बशमें रहनेवाले तानी धर्मोपदेशक ! यो खादि पदार्थ तोष कर अर्थात् प्रमाणसे भक्षण कर और दुष्टोंको दत्त’ ॥ १ ॥

इस द्वितीय मंत्रमें दो भाष्य हैं—

( १ ) तोषकर यो भक्षि भोजन खा और

( २ ) दुष्टोंको दत्त ।

धर्मोपदेशकोंको दो चीजें बतलें ध्यातमें परनी चाहिये । धर्मोपदेशक जिस समय दाहुर प्रकारके सिधे खाते हैं, उस समय भगत लोग उनको सेवा, मिठाई, घी, मखन, दूध आदि पदार्थ आभक्षणकालसे भी अधिक देते हैं । तथा जो नये धर्ममें प्रविष्ट होते हैं, उनकी मरिचकी तीव्रता अत्यधिक होनेके कारण वे ऐसे उपदेशकोंका अधिक ही आदर करते हैं । इस समय बहुत सभ्य है ॥ तत्त्वज्ञानी कालक्रमें आकर उपदेशक धार्मिक साधु, और स्वाध्यायके विग्राहके कारण बीमार पड़े । इसलिये वे अपने उपदेश दिया कि धर्मोपदेशकोंको तोषकर ही खाता चाहिये । ये उपदेशक सदा भ्रमणमें रहनेके कारण जलवायुके सदा परिवर्तन होनेसे इनकी पाचन शक्तिके विनाश होता संभव है; अतः जिनको पाचन शक्ति होती है, उसके भी कम ही खाना इनके लिये योग्य है । कारण वेद कहता है, कि ‘उपदेशक तोषकर ही घी खादि पदार्थ खावें’ कभी अधिक न खावें ।

मंत्रमें दूसरी बात ‘दुष्टोंको दत्त’ की है । यदि उपदेशक प्रभावशाली होगा, और यदि उसके उपदेशसे श्रोताओंमें अपने दुराचारका पता लगा तथा उनके अंतःकरणमें अपने ‘सत्त्व’ जागृत हो गई, तो उनके दो पक्षोंमें तथा अपने पूर्व दुराचारमय जीवनके विषयमें पूर्ण पश्चात्ताप होनेमें कोई

उन्हे ही नहीं है । इस प्रकार द्वितीय मंत्रका भाव देखनेसे पश्चात्ताप अब तीव्रता मंत्र देखिये—

### दुष्टजीवनका पश्चात्ताप

तृतीय मंत्र- ‘दृष्ट लोग रो पड़े, और हे धर्मोपदेशक !

॥ सिधे यह हमारा दान है, मित्र भी इसको स्वीकार करे’ ॥ ३ ॥

सच्चे धर्मोपदेशकके धर्मोपदेश सुनकर दृष्ट लोगोंको अपने दुराचारका पश्चात्ताप होवे और वे रो पड़ें । तथा जनता ऐसे धर्मोपदेशकोंको तथा उनके सहायक क्षत्रियोंको भी यथाशक्ति दान देती रहे । जनताको धर्मरिही सहायतासे ही धर्मोपदेशका कार्य चलता रहे । अब चतुर्थ मंत्र देखिये—

### धर्मोपदेशक कार्य चलाये

चतुर्थ मंत्र- ‘पहिले धर्मोपदेशक अपना कार्य आरंभ करे । पीछेसे क्षत्रिय उसकी सहायता करे । इसका परिणाम ऐसा हो कि सब दृष्ट आकर ‘मैं यहाँ हूँ’ ऐसा कहे’ ॥ ४ ॥

धर्मोपदेशक देशदेशान्तरमें, जहाँ जहाँ वे पहुँच सकें, जहाँ निद्रतापूर्वक वे जाकर, अपना धर्मप्रचारका कार्य औरते करते जायें । कठिनसे कठिन परिस्थितिमें भी न रुकते हुए वे अपना कार्य औरते बतावें । पीछेसे क्षत्रिय उनकी सहायता करें । परन्तु ऐसा कभी न होवे कि धर्मोपदेशक पहिले ही क्षत्रियोंसे सहायता प्राप्त करके सामान्यसे जोर-बर धर्मप्रचारक का कार्य चलाने, यह ठीक नहीं । इसलिये वेदका कहना है कि धर्मोपदेशक आहूत वा प्रत्यक्ष भरोसे तो अपने धर्मप्रचारका कार्य न करे, प्रत्यक्ष धर्म प्रचारकी ध्वजा अवश्यक कर्तव्य समझ कर ही अपना कर्म करेगा रहे । इस धर्मप्रचारका परिणाम ऐसा हो, कि सब दृष्ट दुराचारी मनुष्य अपना साधारण सुधारने और भुले दिल्से उपदेशकोंके पास जाकर कहें कि ‘हम अब आपकी शरणमें आये हैं’ । यही धर्म प्रचारका सत्य है । धर्म प्रचारसे दुराचारी दाहुर सुपर जाय और शब्दे धार्मिक सों, वे अपने पूर्व दुराचारका पश्चात्ताप करें, अब पूर्व दुराचारका उनको स्मरण आवे उस समय उनसे रोना आवे । क्षत्रियके बलकी अपेक्षा न करते हुए केवल आहूत हो अपने धार्मिक और आत्मिक दक्षितसे यह कार्य करें । पीछेसे क्षत्रिय उनकी मदद पहुँचावे । क्षत्रियके खोसे जो धर्म प्रचार होता है, यह सत्य नहीं है, परन्तु आहूत अपने आत्मिक दक्षितसे जो दूरप पकटा देता है, यही



सच्चा धर्मपरिवर्तन है। इस प्रकार बहुतों मन्त्रका आशय परमात्मा मय भगवान् मन्त्र देखिये—

## दुष्टोंकी पश्चात्तापसे शुद्धि

पंचम मंत्र— 'हे शानी उपदेशक ! हम तुम्हारा पराक्रम देखते हैं। हे मनुष्योंको सम्मान उत्तलनेवाले ! तुम दुष्टोंको अपने धर्मका उपदेश करो। तुम्हारे प्रयत्नसे पश्चात्तापको प्राप्त हुए हुए सब दुष्ट लोग हमारे पास आवें और बंसा हो कहें ' ॥ ५ ॥

पूर्वोक्त प्रकारका सच्चा धर्मोपदेशक जिस समय धर्मोपदेशके लिये चलने लगता है, उस समय उसका चौरस कहते हुए लोग कहते हैं कि ' हे उपदेशक ! अब तू उपदेश करनेके लिये जा रहा है, हम देखेंगे कि तू अपने चरित्रात्मा सत्पुरुषके कितने धर्मोंके हृदयोंको पलकता है और कितनोंको सत्य धर्मकी सीमा बताता है। इसीसे तेरे पराक्रमका हमें पता लगा जायगा। वृत्त, हम तैरा भीरु कहते हैं। सत्यधर्मका संज्ञा सब जनता एक पहुँचा। तेरे उपदेशकी शालागिने तबे हुए और पश्चात्तापको प्राप्त हुए लोग हमारे मंदिर आवें और कहें ' ॥ हमने सब धर्मानुत्तम किया है। और अब हम आपके बने हैं '।

'सत्त, सत्त, परित्त' ये शब्द पश्चात्तापके सूचक हैं। तब शब्द तपकर शुद्ध होनेका सूचक है। अग्नि तपकर सोना, चाँदी, ताँबा आदि धातुओंकी शुद्ध करता है अर्थात् उनके धर्मोंकी दूर करता है। इसी प्रकार यहूतका अग्नि-जो शानी धर्मोपदेशक है-वह अपनी शालागिने सब दुष्टोंकी सत्ता है और अन्तरी प्रकार उनके धर्मोंकी दूर करता है। शुद्धि की यही विधि है। भौतिक जीवनको छोड़कर उसके जीवनमें आना ही धार्मिक बनना है। इस दृष्टिसे इस मन्त्रका 'परि-तप्ताः' शब्द बड़े भावका सूचक है। अब छोटे मन्त्रका भावार्थ देखिये—

## धर्मका दूत

॥ पञ्चम मंत्र— 'हे शानी पुत्र ! अपना कार्य सार्वभौम कर। हमारे कार्यके लिये ही तुम्हें आगे किया है। हे उपदेशक ! तू हमारा धार्मिक संदेश धर्मवानेका वृत्त बन कर दुष्टोंकी पश्चात्तापसे दल' ॥ ६ ॥

धर्म प्रचारके लिये बाहर जानेवाले उपदेशकको लोग कहते हैं कि— 'अब तू अपना धर्म प्रचारका कार्य आरम्भ कर। पिता उसके देशदेशांतरमें जा और वहाँ सत्यधर्मका

प्रचार कर। यही हमारा कार्य है और इसी कार्यके लिये तुझे आगे भेजा जाता है, अपना आगे रखा जाता है। हमारा धार्मिक संदेश धर्मवाने का वृत्त है, इस संदेशको स्थान स्थान में पहुँचानेवाला वृत्त ही तू है। अब जा और धार्मिक संदेशको धर्मोपदेशकों के पास और इस समय तक जो लोग धार्मिक वृत्तिसे रहते हैं, उनको अपने सत्पुरुषके द्वारा शुद्ध कर और उनको अपने धर्म दुराचरका धर्म पश्चात्ताप होने दे। उनके दिलोंको ऐसा पलक ॥ जिससे वे अपने धर्मोपदेशकका स्वरूप करके लेने लगे।' इस प्रकार भगवान् सुचार करनेके लिये धर्मोपदेशकोंको भेजा जाता है।

## डाकुओंकी दण्ड

इतने धर्मोपदेशके बादबूढ़ भी जो नहीं सुधरे और अपना दुराचर जारी रखे अपना पूर्वोक्त प्रकारके धर्म धर्मोपदेश-वर्तिकापक्षके प्रपन्न करनेपर भी जो अपना दण्ड आचरण नहीं छोड़ते और अन्तरी चोरी डकैती आदिमें अत्यंत रण्ड होते हो रहें, उनको योग्य दण्ड देना ब्राह्मणका कार्य नहीं, यह कार्य क्षत्रियका है यह शासक भागसे मन्त्रमें कहा है—

सप्तम मंत्र— 'हे धर्मोपदेशक ! तेरे प्रपन्न करनेपर भी दण्ड डाकु आदि अपने दुराचर नहीं छोड़ते उनको बाधकर तू वहाँ का और पश्चात् क्षत्रिय उनके सिर तलवारसे काट दे ' ॥ ७ ॥

धर्म धर्मोपदेशक अपना धर्मोपदेशका प्रपन्न करे और दुष्टोंको पवित्र धार्मिक बनानेका यत्न करे। जो सराचारी धर्म में अपनेमें संमिलित हो जाय। परन्तु जो बारबार प्रपन्न करनेपर भी अपना दण्ड आचरण जारी रखे उनको दण्ड देना आवश्यक ही है। क्योंकि जब शासन सत्ता समाजकी नाविके लिये ही है। परन्तु दुष्टोंको भी सत्पुरुषका दुराचर देना चाहिये। अब बारबार प्रपन्न करनेपर भी वे न सुधरे तो क्षत्रिय आगे बढ़े और अपना कठोर दण्ड आगे करे। क्षत्रिय उन अशासकारी दुष्टोंको बाधकर उनके सिर ही काट दे, इससे अन्तोंको भी वह उपदेश मिल सकता है कि हम भी धार्मिक बननेसे बच सकते हैं, नहीं तो हमारी भी यही अवस्था बनेगी।

## ब्राह्मण और धर्मियोंके प्रपन्नका प्रमाण

इस सूचकमें ब्राह्मणके प्रपन्नके लिये छ मन्त्र हैं और एक ही मन्त्रमें क्षत्रियका कठोर दण्ड आगे करनेकी सूचित किया है। इससे स्पष्ट है कि कमसे कम ॥ गुणा प्रपन्न ब्राह्मण अपने सत्पुरुषके, इतने प्रपन्न करनेपर भी यदि वे न सुधरे, उनपर ही क्षत्रियका दण्ड प्रहार करना योग्य है।

इस प्रकार उत्तको योग्यता बढ़ाई जाय और उसके धार्मिक भावका पोषण किया जाय । नहीं तो धर्मसंघर्ष प्रविष्ट हुआ मय मानव सत्संगियोंकी उन्नतिनताके कारण उदात्तता होकर सत्ता प्राप्या और अधिक विरोधो करनेपा; इसलिये महीन प्रविष्ट हुए मनुष्यको जपवालेके विषयमें सत्संगियोंपर यह बड़ा भारी बोझ है । इस विषयमें देखके धार अवैश ध्यायमें करने योग्य है ।

१ यह मनोम प्रविष्ट हुआ है,

२ इसका गौरव करो,

३ प्रविष्ट होते हो सानी की निजममें जलनेको शिक्षा है और

४ अन्य विद्वान् उसका निरोक्षण करें ।

इस संश्रम 'विधत्त' शब्द है, उसका प्रसिद्ध अर्थ विज्ञाना मारना है, विज्ञाना मारनेका सात्वत् उत्तर वैद्यक बुद्धि रखना, उसकी विशेष निगरानी करना है । उसका विशेष बवाल रखना, उसका सदा भला करनेका पाल करना । अस्तु । अब तीसरा मंत्र देखिये—

### दुष्टोंकी संतानका सुधार

सुतीय मंत्र— 'हे सोमपाल करनेवाले ! कुछ लोगोंकी मजाको अर्थात् इनके बालकबच्चोंकी प्राप्त करो और उनको उत्तम मार्गोंसे बलाओ । जो मुग्धभी प्रसन्न करेगा उसकी शीर्षों आँखें नीची करी ' ॥ ३ ॥

सोम-पाल करनेवाला अर्थात् पशुधर्मा ब्राह्मण यज्ञद्वारा धर्मप्रचारका बड़ा कार्य करता है । दुष्टोंका सुधार करनेके महाबलूर्ण कार्यमें विशेष मनुष्यकी सहाय यह है कि, धर्मके प्रचारक साधुसे बड़े बूढ़ भाइयोंकी अपेक्षा नवयुवकोंके सुधारका अधिक पाल लें । नवयुवकोंके संघ बनाने, उनका आचार सुधारें, उनकी सच्च सदाचारकी ओर करें अर्थात् हरएक रीतिसे उनकी धार्मिक धननेका सबसे पहिले उद्योग करें । क्योंकि साधुसे बड़े लोग अपने दुष्टाचारमें हो सक्त रहते हैं अथवा उनकी गहरी आचार निय और सदाचारक प्रतीत होता है, मतः उनको पालनका कर्तव्य कार्य है । परंतु नवयुवकोंके कोनाल मन होते हैं, उनमें अपने बड़ कुलस्कार नहीं होते, इसलिये नवयुवकोंका सुधार अति जोर हो सकता है । इसके अतिरिक्त यदि नवयुवक सुधर गये, तो उनकी मायोंका बंधा ही एकदम सुधर जाता है । इसलिये नवयुवकोंकी

सुधारनेका प्रयत्न विशेष रीतिसे करना चाहिये । दुष्टोंके बालकोंकी जमा करके उनकी धर्मनीति अर्थात् धार्मिक आचारकी शिक्षा देनी चाहिये । उनमें जो तुम्हारे धर्मकी प्रशंसा करे उसको आँखें पहिले नीची करो, अर्थात् उनको जो आँखें ऊँची होती हैं वह नीची हो जाय । इसका आशय यह है कि उनकी धर्मही बुद्धि दूर करके उनमें मात्र भाव-युक्त बुद्धि स्थापित करो । अर्थात् कुछ लोगोंकी आँखें सात और धर्मोन्मत्त होती हैं, भीहूँ देवी और चंडी हुई होती हैं, दूसरे मनुष्यकी मान लेना उनके लिए एक गहन बात होती है, यह देवी बुद्धिका भाव है । नीची बुद्धिका भाव धाम-चलनकी मज्जता, धट्टा, भक्ति, आत्मपरोक्षा, आत्मसुधार आदि है ( 'आदि निपातय' ) मंजु नीची करना, यह बुद्धिमें भेद है । साधारण मनुष्यको बुद्धि और प्रकारकी होती है, चोरकी बुद्धि और होती है, साधुकी बुद्धि और होती है तथा डाकूकी बुद्धि और होती है । बालकही बुद्धि तथा लटप और बुद्धीकी बुद्धिमें भेद है । इसलिये धर्ममें सदा है कि उनको बुद्धि कम कर दो । अस्तु । इस प्रकार सुतीय मंत्रका पात्र देखनेके पश्चात् अतुर्थ मंत्रका आशय अब देखिये—

### घरोंमें प्रचार

अतुर्थ मंत्र— 'हे इतने उपदेशक ! यहाँ कहीं दुष्टा-लोंमें इन बटकनेवालोंमेंसे किंचित् भले पुरुषोंके कुछ वा संतान हों, वहाँ पशुंय कर तानकी उनमें बुद्धि करते हुए, उनसे होनेवाले संकटों रूढ़ोंको दूर कर ' ॥ ४ ॥

और इतने आदिमोंके सुधारका विचार करते समय उनके घरोंमें उपदेश करना यह साधारण ही बात है, इससे अधिक परिणामकारक बात यह है, कि उनके परिवारमें जाकर बहुत उनके धर्मोपदेश करना चाहिये । ऐसा करनेके समय उन दुष्ट लोगोंमें जो कुछ भी भले मायों ( सत्ता अग्रिया ) हों, उनके घरोंमें पहिले जाना चाहिये, क्योंकि उनके दिल किंचित् नरमसे होनेके कारण उनपर मीठ परिणाम होना संभव है । इनके घरोंमें जाकर उनकी, उनकी स्त्रियोंकी तथा उनके बालबच्चोंको योग्य उपदेश देना चाहिये । उनकी उन्नति ( ब्रह्मणा वाचुधानः ) ज्ञान द्वारा करनेका पाल करना चाहिये, अर्थात् उनकी मान देना चाहिये । सत्ता धर्मज्ञान देखेंसे ही इनका उद्धार हो सकता है । एकबार धर्म-ज्ञानमें इनकी सच्च बढ गयो, तो इनसे होनेवाले संकटों दूर हो जायेंगे और इनका भी नश्यत होगा ।

# शत्रुसेनाका समोहन

कांड ३, सूक्त १

( ऋषिः — यजुर्वेद । देवता — सेनासमोहनं, बहुवचसम् । )

अभिर्नः शत्रुन्प्रत्येतु विद्वान्मैतिदहन्मिशोस्तिमरातिम् ।

स सेना मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवन्नातवेदाः ।

॥ १ ॥

युयुप्ता मरुत ईदृशे स्थापि प्रेतं मृणतु सहध्वम् ।

अभीमृणन्वसवो नाधिता इमे अविर्षेभि दूताः प्रत्येतु विद्वान् ।

॥ २ ॥

अभिप्रसेना मघवन्प्रमातुं छन्पुतीमपि । युवं तानिन्द्र वृषहस्रविधं दहतं प्रति ।

॥ ३ ॥

प्रसृत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां म ते यज्ञः प्रमृणन्तु शत्रून् ।

जहि प्रतीचो अनुचः पराचो विष्वक्पुत्रं कृणुहि चित्तमेपांम् ।

॥ ४ ॥

अर्थ— ( विद्वान् अग्निः ) विद्वान् अग्निके सपान तेजस्वी वीर ( अभिशस्ति अरति ) घातपात करनेवाले शत्रुको ( प्रति दहन् ) जलाता हुआ ( यः शत्रून् प्रत्येतु ) हमारे शत्रुओंपर चढ़ाई करे । ( सः ज्ञातवेदाः ) वह जानी ( परेषां सेना ) शत्रुओंकी सेनाको ( मोहयतु ) मोहित करे । ( च निर्हस्तांश्च कृणवन् ) और उनकी हस्तछिन्न करे ॥ १ ॥

हे ( मरु+उता ) मरुतके निम्ने तैयार वीरो । ( ईदृशे युयं उपाः स्व । ऐसे समयमें तुम बड़े वीर हो, इन्द्र-पुत्र ) ( अभि-प्र-इत, मृणता, सहध्वम् ) अपने बड़ो, काटो और जीत लो । ( इमे नाधिताः यस्यः ) ये बलवान् करनेवाले वीर ( अभीमृणन् ) काटते रहे हों । ( पराचो दूतः विद्वान् अग्निः ) इनका शत्रुहर्ता जानी अग्निके सपान तेजस्वी वीर ( प्रत्येतु ) विजय चढ़ाई करे ॥ २ ॥

हे ( मघवन् वृषहन् इन्द्र ) यमवान् शत्रुनाशक अस्मात् तथा ( य अग्निः ) हे जानी । ( युवं ) तुम दोनों मिलकर ( अस्मान् शत्रुवर्ती अभिप्र-सेना ) हमसे शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको ( अभि ) पराभूत करके ( तान् प्रति वृद्धं ) उनको जला दो ॥ ३ ॥

हे ( इन्द्र ) नरेन्द्र ! ( प्रवता ते हरिभ्यां ) वेगले ईरुजमील दोनों द्वारा ( प्रसृता यज्ञः ) चलाया हुआ यज्ञ ( शत्रून् प्रमृणन् प्र+पतु ) शत्रुओंको काटता हुआ मारने बड़े । ( प्रतीचः, अनुचः, पराचः ) सम्पुत, पीछे और परे भागनेवाले शत्रुओंको ( जहि ) मार और ( एपां चित्तं ) ॥१॥ शत्रुओंके चित्तको ( सत्यं विष्वक् कृणुहि ) ठीक प्रकार चारों ओर भटक ॥ ४ ॥

भाषार्थ— राजनीतिकी जाननेवाले विद्वान् और तेजस्वी युद्ध पात करनेवाली शत्रुसेनाको जलाते हुए शत्रुओंपर चढ़ाई करे । सेनासमोहनकी विद्याको जाननेवाले जानी शत्रुसेनाको मोहित करे और उनकी हस्तछिन्न जैसे बना दें ॥ १ ॥

हे मरुतके निम्ने तैयार हुए सूरवीरो । ऐसे युद्ध समयमें तुम बड़े वीर हो, इन्द्रजिने अपने बड़ो, शत्रुको काटो और उनकी जीत लो । ये बलवान् अपने योद्धाजनोंको और शत्रुओंको काटते हैं, इनका साथी जानी तेजस्वी वीर भी शत्रुको जलाता हुआ शत्रुपर चढ़ाई करे ॥ २ ॥

हे यमवान् शत्रुनाशक नरेन्द्र ! तथा हे तेजस्वी जानी वीर । तुम दोनों मिलकर हमसे शत्रुता करनेवाली शत्रु-सेनाको पराभूत करो और उनको जला दो ॥ ३ ॥

हे नरेन्द्र ! वेगले चलाया हुआ युद्धद्वारा दहनेका सम्पुत शत्रुओंको काटता हुआ मारने बड़े । संभवते पोछेओ और चारों ओरसे भागनेवाली शत्रुसेनाका हवन करके उनके चित्तमें ऐसी घबराहट उत्पन्न करो कि जिससे वे चारों दिशाओंमें भाग लगे ॥ ४ ॥

इन्द्र सेनां मोहयामिश्राणाम् । अग्नेर्चातस्य धान्या तान्निर्धूचो वि नाशय ॥ ५ ॥  
 इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो मन्त्वोर्जसः । चक्षूंष्यगिरा दंष्ट्रां पुनरितु पराजिता ॥ ६ ॥

अर्थ— हे ( इन्द्र ) नरेन्द्र ! ( अग्निप्राणां सेनां मोहय ) शत्रुओंकी सेनाको डरा । ( अग्नेः चातस्य धान्या ) अग्निके और चातके प्रबल वेपते ( तान् ) उन शत्रुत्वैरिक्तोंको ( तान्निर्धूचो वि नाशय ) चारों ओर मटकाकर नाश कर डाल ॥ ५ ॥

( इन्द्रः सेनां मोहयतु ) नरेन्द्र शत्रुसेनाको मोहित करे, ( मरु+जसः ) मरुनेके लिये तिष्ठ जगु और ( जोजसा मन्तु ) वेपते हवन करे । ( अग्निः चक्षूंषि आदंष्ट्रां ) अग्नि वर्षान् प्रकाश उसकी आँखोंको ले लेवे । इस प्रकार शत्रुकी ( पराजिता ) पराभूत हुई सेना ( पुनः एतु ) फिर भी पीछे हटे ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे नरेन्द्र ! अग्निप्राणके बाहरी और वायव्यात्मके वेपते शत्रु सेनाको ऐसा डराओ कि वे चारों दिशाओंमें भाग जाय और इसी रीतिले उनका नाश करो ॥ ५ ॥

नरेन्द्र शत्रुके लैप्यको डरावें, धूर धीर वेपते शत्रुसेनाका हवन करें और शत्रुसेनामें ऐसी घबराहट पैदा करें कि जिससे उनकी कुछ भी न दीज पड़े और इस प्रकार शत्रुकी पूर्ण पराजय होकर उनका पूर्ण नाश हो जावे ॥ ६ ॥

इसी विषयका द्वितीय सूक्त है इसलिये उस सूक्तका भी अर्थ हम यहां पहले देखते हैं, और पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे ।



## शत्रुसेनाका संमोहन

कांड ३, सूक्त २

( अग्निः - अथर्वः । वेपता - सेनापोहनं, बहुवेपयम् । )

अग्निर्नि दूतः प्रत्येतुं विद्वान्प्रतिदहन्मिश्रंस्तिमरातिम् ।  
 स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्ताथ कृण्वज्जातवेदाः ॥ १ ॥  
 अथमगिरंमुमुहुषानि चित्तानि वो हृदि । वि वो धमसोर्कंसः ॥ वो धमतु सर्वतः ॥ २ ॥

अर्थ— ( मः दूतः विद्वान् अग्निः ) हमारा दूत जानी वेदानी धीर ( अग्निशस्त्रित अराति प्रतिदहन् ) घात करनेवाले शत्रुको नालाज हुआ ( प्रत्येतुं ) चढ़ाई करे । ( सः जातवेदाः परेषां चित्तानि मोहयतु ) वह तानी शत्रुओंके चित्तोंको मोहित करे और उनको ( निर्हस्ताथ च कृण्वत् ) हस्तहीन बना दे ॥ १ ॥

( यानि वो हृदि ) जो दुश्मनरे हृदयमें हैं उन ( चित्तानि ) चित्तोंको ( अथ अग्निः अमृमुहन् ) वह तेजस्वी धीर घबराहटमें डालता है । वह ( यः ओकसः विधमन् ) तुमको-शत्रुको-घराते निकालवे और ( यः सर्वतः प्रधमतु ) तुमको-शत्रुको-सब ओर से हटा देवे ॥ २ ॥

भावार्थ— हमारे जानी रखरिखक धीर घात करनेवाले शत्रुसेना पर चढ़ाई करे, शत्रुओंको घबराहटमें डाले और उनको हस्तहीन बंसे बना ॥ १ ॥

शत्रुके चित्तोंको मोहित करे, उनको घराते निकाले और सब दिशासे उनको हटा ॥ २ ॥

इन्द्रं चित्तानि मोहयन्नुवादाकृत्या चर । अपेक्षांस्तस्य धान्या तान्निपूचो वि नाशय ॥ ३ ॥  
 ध्यात्तु य एषाभितायो चित्तानि मुस्रत । अथो यदुपैषां हृदि तदेषां परि निर्बहि ॥ ४ ॥  
 अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृह्णाणाङ्गान्यप्ये परेहि ।  
 अग्नि मेहि निर्दह इत्तु शोकैर्ग्राप्ताविश्रान्तमस्य विष्य शर्वून् ॥ ५ ॥  
 असी या मेनां मरुतः परेषामस्मानैतत्स्वभोजस्य स्वर्धमाना ।  
 तां विष्पष्ट समसापन्नतेन यथेषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६ ॥

अर्थ— हे ( इन्द्र ) नरो ! तबूके ( चित्तानि मोहयन् ) चित्तोंको मोहयुक्त करता हुआ तू ( आकृत्या अर्थात् चर ) क्षमयकल्पते हमारे पक्ष मा । ( अथो : यातस्य धान्या ) अग्नि और तबूके वेगसे ( तान् विपूचा विनाशाय ) उनको धारों मोरसे नष्टभ्रष्ट कर दे ॥ ३ ॥

हे ( एषां ) इन तनुमोंके ( आकृतयः ) लक्ष्मणे ! ( वि ) तुम परस्पर विरुद्ध हो जाओ, परचात् तूम ( इत ) हट जाओ ( अथो चित्तानि ) और चित्तों ! तुम ( मुस्रत ) मोहित हो जाओ ( अथो अथ ) और मास ( यत् एषां हृदि ) तो इनके हृदयमें समाप्त है ( एषां तत् परि निर्बहि ) इनका यह लक्षण पूर्णतासे बष्ट हो जाय ॥ ४ ॥

हे ( अन्ये ) ध्यामि ! ( अमीषां चित्तं प्रतिमोहयन्ती ) इनके चित्तोंको मोहमें लगी हुई इनके ( अंगानि गृह्णाण ) भवयोंको परब्रह्म और ( परा इहि ) परेतक जाली जा । ( अग्नि प्र इहि ) सब प्रजालते भावे यत् । ( इत्तु शोकैः निर्दह ) हृदयके शोकसे साय तबूको जला दे । तथा ( गृह्णाणा समसा ) जलनेवाले रोपते और मूषां रोपते ( अमिभान् शर्वून् विष्य ) कुछ तनुमोंको माल कर दे ॥ ५ ॥

हे ( मरु+वतः ) मरुतोंके लिये लिख बीरो ! ( परेषां असी या सेना ) तनुमोंकी यह सेना ( स्वर्धमाना ) मालात् मोलाया भाभि-भा एति ) स्पर्धा कराते हुई हम पर वेगसे बजाई करके जाती है, ( तां अपमतेन समसा विष्यत ) वतरो कर्महीन करनेवाले मक्कालते मोहित कर डाली, ( यथा ) शिलो ( एषां अन्यः अन्यं न जानात् ) इनमेंसे एक दूसरेको माल भी न लये ॥ ६ ॥

भाषार्थ— हे राजन् ! तू तनुमोंका चित्तोंको मोहित कर, अन्वयन और वायव्यात्मके वेगसे उनको धारों शिलाओंमें मगा दे और परचाय दिग्बन्धनं तुम्हें संलक्ष्यते हमारे पास मा ॥ ३ ॥

तनुमोंके संलक्ष्य आपसमें एक दूसरेमें विधेयी हों, उनके चित्तोंमें प्रवराहद वेरा हो और उनमें चित्तोंमें जो संलक्ष्य प्राप्त हों वे सत्त्व बल तब भी स्थिर न रहें ॥ ४ ॥

ध्यायिषां तथा अन्य भय भी तनुमोंके दिलको सवभीत कर दें, तनुमोंके अन्वयन ध्यायिषोमे भवद भाप, तनु-संय रोपोंसे और नाना प्रकारसे भयसे प्रसन्न हो जाय । सविशाल और मूषां रोप तनुमोंके डरा दें, ऐसे वृत्ति समझने प्रम पर हमका हट और तनुमोंके हृदयोंको शोकसे माला दे ॥ ५ ॥

हे वीर दुपयो ! जो सेना हमारे साथ स्पर्धा कराते हुई हम पर बजाई करके मा रही है, उसको ऐसा मोहित करो कि वे दुपचार्यहीन होकर मूर्खतासे हो जाय और उनमेंसे एक तनुम्य दूसरेको माल भी न लये ॥ ६ ॥

## शत्रुसेनाका संमोहन

### सेनाका संमोहन

ये दो सूक्त तनुमोंका संमोहनका विषय बता रहे हैं । जो तनुमी सेना मालो और बाली हुई अपने राघुवर अथवा अपने तीनोंपर बजाई करके मा रही है, उसे मोहित

करके, हराकर पराजित करना चाहिये और उसको मगा देना चाहिये । इसका नाम है ' सेना-संमोहन ' ।

कई लोग बलवान् करते हैं कि यह तनुमी सेनाका लक्ष्य संलक्ष्यत्वमेव होता है, परंतु वास्तविक बात बनी नहीं

है। यह समोहन केवल व्यवहार ही है अर्थात् अनुतेना पर ऐसे हमले करने आदिपे कि अनुतेनिकोंको कार्यय मूढ बनकर भाग जाना ही एक मार्ग जोय यजानेके लिये अवशिष्ट रहे।

ये दोनों सूक्त स्पष्ट है इसलिये अधिक विवरण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उपाधि इन सूक्तोंमें कई शब्दप्रयोग ऐसे किये गये हैं, कि जिनका विशेष स्पष्टीकरण करना आवश्यक है, अन्यथा संदेह उत्पन्न होगा सम्भव है। इन सूक्तोंमें 'अग्नि, इन्द्र, मरुत्' आदि शब्द हैं, जिनके अर्थ देवता प्रत्ययों अग्नि, विद्युत्, वायु आदि लिये जाते हैं, तथा अज्यान्त प्रत्ययों वापी, वन, और प्राय लिये आते हैं, इस विषयका स्पष्टीकरण पूर्व वाच्य है। ये दोनों प्रसंग इन दोनों सूक्तोंमें नहीं हैं। इन सूक्तोंका विषय युद्ध है, अनुतेना घोहनका सम्भव है, अपनी सेना और अनुतेनाके आग्रेका यह अवसर है, इसलिये यह न अज्यान्त का विषय है और ना ही अग्निदेवताका विषय है। प्राणिधों ने परस्परके सबका वर्णन आधिभौतिक प्रकरणमें हुआ करता है। इस कारण आधिभौतिक प्रकरणको प्राणितमोऽपि विषयका प्रकरण कहा जाता है और इस प्रकरणमें उक्त शब्दोंके अर्थ प्राणिविषयक होते हैं अर्थात् यहां मनुष्य-प्राणिविषयक शब्द समझना उचित है। अब उक्त शब्दोंके अर्थ देखिये—

### १ इन्द्र

( इन्द्र+ ) अनुतेनाका भेदन करनेवाला, यह इसका आशय है, परन्तु मूलतः इस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग होता है, जैसे— मृगेन्द्र = मृगीका मुखिका, सिंह, समेन्द्र = पक्षि-मौला मुखिका वक, मरेन्द्र = मनुष्योंमें मुख्य राजा अथवा सम्राट् इत्यादि। इन्द्र शब्दके ये अर्थ प्रसिद्ध हैं। इन दो सूक्तोंका अन्तः भवन करना उचित है। इस अर्थसे ये वता लग जायगा कि ऐसे प्रसंगोंमें मनुष्य विषयक ही इन्द्रादि शब्दोंका अर्थ सेना योग्य है। इस विषयको अच्छी प्रकार समझने आनेके लिये इन दो सूक्तोंके कई वाक्य उदाहरणके लिये लेते हैं—

१ इन्द्र । ते प्रसूत राजाः प्रभून् प्रभूषन् वतु ।

प्रतीच भनूच, जहि ।

एषा चित्त विपन् रुशुहि ॥ ( सू १, म ४ )

२ इन्द्र । अमित्रानां सेनां मोहय ।

अग्रे वानस्य भ्राज्या विपूषा तान् विनाशय ॥

( सू १, म ५ )

३ इन्द्र । सेनां मोहयतु ॥ ( सू १, म, ६ )

४ इन्द्र । चित्तानि मोहयन् आकृत्या अर्षाद् वर ॥  
( सू २, म, ३ )

‘हे राजन् । तेरे द्वारा चलाया हुआ शस्त्र अनुमौको काटता हुआ आगे चले । तब औरसे अनुमौका हलना बर । इन अनुमौके चित्तको धारों कीर मटकनेवाला कर ॥ ( २ ) हे राजन् । अनुमौ सेनाको मोहित कर । अग्नि और वायुके प्रवाहसे अनुतेनको धारों और मना दे ॥ ( ३ ) राजा अनु सेनाको डरा ॥ ( ४ ) हे राजन् । अनुतेनाको मोहित करके अपने युध सकलसे हमारे पास चला आ ॥ ’

इस प्रकारके ये शब्द इन्द्र शब्द द्वारा राजाका कर्तव्य बता रहे हैं । यहां ‘राजा, मरेन्द्र, सम्राट्’ आदि प्रकार का ही सामान्य अर्थ है । यहां इन्द्र शब्द सामान्यतया ही और राजाका वर्णन कर रहा है, ईश्वर युद्ध भूमिमें उपस्थित रहकर अपनी सेनाको चलाता है, और केवल सेनापति पर ही निर्भर नहीं रहता है । इसी इन्द्रके अर्थ समझ भी इन सूक्तोंमें आये हैं ये अब देखेंगे—

### २ मघवन्

‘ ( मघ ) धन ( वन् ) वाला । जिसके पास धन है । और राजा अपने पास बहुत धन रखता है वही युद्धमें विजय पा सकता है । युद्धमें विजय प्राप्त करनेका यह एक बड़ा भारी साधन है, यहीही राजा यदि युद्धका प्रारम्भ करेगा तो उसके पराभूत होनेमें कोई संदेह ही नहीं है । इस सम्बन्ध में होवेवाला यह सब पाठक देखें और राजाका बल धनकोसम होता है यह बात जान लें ।

### ३ वृन्वन्

‘ ( वृन् ) घेरनेवाले शत्रुको ( वृन् ) हल करनेवाला । अर्थात् जो शत्रु घेरकर हलका करता है अथवा मर्गों से बला है । और उसको अपने आश्रितों प्रभावसे मारता है, उसका यह नाम है ।

इत प्रकार इन वाक्य शब्द और उसके वर्णन परसे मघवीर राजाके कर्तव्य बता रहे हैं । इन्द्रसे साम ‘मघन्’ रहते ही हैं, इनके विषयमें अब देखिये—

### ४ मरुतः

( मरु+उत् ) मरनेके लिये जो उठकर खड़े हुए हैं, मरनेके लिये जो तैयार हुए हैं, शत्रुका पराभव करनेके लिये अपने प्राणोंको आहुति देनेके लिये जो कटिबद्ध हुए हैं, उन

घोरोंका यह नाम है। इन्द्रकी सेनाके बहुत मानक जो घोर हैं उनका धर्म भी इस अर्थकी सार्वकता बता रहा है। ॥॥  
साम्य धर्मिकोंका जसाह बता रहा है। इस प्रकारके जसाही घोर जिस सेनामें होंगे, उनकी विजय नि सन्देह हो सकती है। इस शब्दका प्रयोग जिन ग्रंथोंमें है उनके उदाहरण यहां देखिये—

- १ हे मरुतः । ईदो यूयं उग्रः स्य ।  
अभिप्रेत, मृणत, सहस्यम् । ( सु. १, मं. २ )
- २ मरुत भोजसा प्रन्तु । ( सु. १, मं. १ )
- ३ हे मरुतः । या असौ परेषां सेना  
स्पर्धमाना मरुमान् अभ्येति,  
सा अपमतेन तमसा पिथ्यत,  
यथा यथा मन्या अभ्यं न आनाम् । ( सु. २, मं. ६ )

‘ ( १ ) हे मरुतों जिनसे सेनाएं घोर । ऐसे प्रसन्न हों तुम सब यदि उग्र हो । इसलिये आगे बढ़ो, काटो और बंरिओंको पराजित करो ॥ ( २ ) घोर लोग बलके साथ बंरिओंको पराजित करो । यह जो बंरिओंकी सेना हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हमपर आबाकर रही है, उसको कर्पहीन मोहमय तमसे विद्ध करो, जिससे उनका एक अनुभव दूसरेको पहुँचान न सके । ’

ये मरुतोंके मंत्र स्पष्टतया धैर्यिक घोरोंके कर्तव्य बता रहे हैं। युद्धमें सेनाके घोर संज्ञा पद कर्म करें, उसका उपदेश यहां इस प्रकार मिल रहा है। इसका मनन करने काज सेनाके युद्ध वीर युद्धोंकी बड़ा जसाह का सकता है। इससे मन्तर ‘ यस्तथा ’ शब्द देखिये—

#### ५ वृत्तः

समौघात्तोंका नाम ‘ यस्तु ’ है। जो अपने राष्ट्रमें अपने अधिकारके बसना चाहते हैं, शत्रुके हमले होनेपर भी स्वयं अपने रयाते हिंसा नहीं मानते वे ‘ यस्तु ’ होते हैं । इन वस्तुओंके विषयमें अर्थवेदमें दो अन्य रयामें कहा है—

प्रचलित वृत्तके मंत्र आयक अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है देखिये—

इमे साधिता वसवः अग्नीमुणम् ।

एषां वृत्तः अग्निः विद्वान् प्रत्येतु । ( सु. १, मं. २ )

‘ ये प्रभावशाली राष्ट्रमूल्य बंरीसेनाको काटते हैं । इनका विद्वान् वृत्त अग्नि बंरीपर चढ़ाई करे । ’ इस मंत्रमें हमें पता लगता है कि वहाँका अग्नि शब्द वस्तुओंके एक वस्तुका वाचक है अर्थात् यदि उक्त मंत्र ‘ यस्तु ’ राष्ट्रमूल्य है, तो ‘ अग्नि ’ भी वस्तुओंमें से एक राष्ट्रमूल्य अथवा राष्ट्रका वृत्त ’ है जो समग्र है और बड़ा शत्रु भी है। इन्द्र और अग्निमें यह भेद है। इन्द्र स्वयं सत्ता अथवा राजा है, यह स्वयसेवक या राष्ट्रमूल्य नहीं है, और अग्नि राजा नहीं है परंतु राष्ट्रमूल्य है। अग्नि विद्वान् है और इन्द्र वनवान् है ये भेद ही वैदिक राज्य पद्धतिके स्वरूप स्पष्ट कर रहे हैं। इस प्रकार वस्तु शब्दका अर्थ देशके वरणात् और अग्निको जगत्के एक जगत्के वरणात् अब आधिका अर्थ देखते हैं—

#### ६ अग्निः

वस्तु शब्दके जो सफल पूर्व शब्दके वर्णनके प्रसंगमें बताये हैं वे इसके साथ भी दंत होते हैं। यह प्रभावशाली देश है, शत्रुको जलता है और वपासकको तेज प्रदान करता है। यह ( विद्वान् ) वाणी है, समग्र है, सर्वव्यापी शोक प्रकर समग्रता है। यह ( जात-येदाः=जातं धेति ) बने हुए वस्तुनिर्पतिको बचावत् सावनेवाला है। ऐसा योग्य राष्ट्रमूल्य ( वृत्तः ) राष्ट्रका वृत्त, कितना उग्रवीर होता और ऐसे युद्धके प्रसंगमें इस प्रकारके राष्ट्रवृत्तको सेवाका कितना नाम राष्ट्रको हो सकता है यह स्पष्ट है।

अग्नि आहूतेन और इन्द्र साक्षीय ध्यान करता है, जिस समय राष्ट्रपर आपत्ति आती है, उस समय वे दोनों मिल जुलकर राष्ट्रकार्थिकें, इस विषयकी श्रुति इस वृत्तोंमें मिलती है। इस विषयका धर्म देखिये—

यदुवकयानृतं जिहया वृजिनं बहू । राज्ञस्तथा सत्पधर्मणो मुञ्चामि वरुणादुदम् ॥ ३ ॥  
मुञ्चामि त्वा वैश्वानरदर्शिवान्महत्तस्परि । सजातानुग्रहा वंदु ब्रह्म चार्प चिकीहि नः ॥ ४ ॥

अर्थ— हे मनुष्य ! ( यत् ) जो ( अमृतं धृतिनं ) अमृत और पापवचन ( जिहया ) जिह्वासे ( बहु उचक्य ) बहुतसा तू बोला है, उससे तथा ( सत्यधर्म ) सच्चे म्यापी ( राज्ञः वरुणात् ) राजा वरुण देव ईश्वरसे ( अहं ) मैं ( त्वा ) तुमको ( मुञ्चामि ) छुड़ाता हूँ ॥ ३ ॥

हे मनुष्य ! ( त्वा ) तुमको ( म्हाता वैश्वानरात् वर्जनात् ) बड़े समूहके समस्त गोभोर विश्वनाथक वेषसे ( परि मुञ्चामि ) छुड़ाता हूँ । हे ( उग्र ) बोर ! ( इह ) यहाँ ( सजातान् ) अपनी जातिवालोंको ( आ यद ) सय बहू है और ( नः ) हमारा ( ब्रह्म ) शास ( अथ चिकीहि ) तू मान ॥ ४ ॥

भाषार्थ— हे पानी मनुष्य ! तू अपनी जवानसे बहुत सत्य और बहुत पापवचन बोलता है । इस पापसे दूसरा कोई तुझे बचा नहीं सकता । मैं तुझे उसकी शरणसे ले आता हूँ और उसकी कृपासे तेरा बचाव कर सकता हूँ ॥ ३ ॥

हे पानी मनुष्य ! तुमको विश्वेश्वरके ओपसे इस प्रकार छुड़ाता हूँ । हे बोर ! तू अपनी जातिमें सय बातें कह और हमारे शानकी शोककर गयना ॥ ४ ॥



## असत्यभाषणादि पापोंसे छुटकारा

### पापसे छुटकारा पानेका मार्ग

यद्यपि यह सूक्त अति सरल है तथापि पापकेलि विषये सरल बोधके लिये यहाँ थोड़ासा स्पष्टीकरण दिया जाता है ।

इस सूक्तमें पापसे छुटकारा पानेका जो मार्ग बताया है वह निम्नलिखित है—

### एक शासक ईश्वर

( १ ) 'देवानां असुरो विराजति'— धर्मब्रह्मादि देवों को विविध शक्ति देनेवाला एक प्रभु ईश्वर ही सब जगत्का परम शासक है । इन्हीं शक्ति दायित्वोंके द्वारा कोई नहीं है । ( मं. १ )

( २ ) 'राशे यदणक्ष यदा हि सत्या'— उस प्रभु ईश्वरका शास जातल है । उसको इच्छा सर्वोपरि है । उसके आभूषण शासनका कोई उत्सर्जन कर नहीं सकता । ( मं. १ )

( ३ ) 'चिर्यं ह्युग्र निषिकेहि दुग्धम्'— हे प्रभु ईश्वर ! तू हम सबके दासोंको पचावत् आनता है । अर्थात् कोई मनुष्य अपने पाप उससे छिपा नहीं सकता । क्योंकि वह शर्मन् है इसलिये हम सबके भूरे असे कम वह पचावत् उसी समय जानता है । ( मं. २ )

ईश्वरकी तथापि मानना, सबसे शर्मन्गामी यह है यह

स्मरण रखना और उससे छिपाकर कोई मनुष्य कुछ कर नहीं सकता, यह निश्चित रीतिसे समझना, पापसे बचनेके लिये आवश्यक है । पापसे बचानेवाले ये तीन सहस्रपूर्ण विद्यवात इस सूक्तमें बहे हैं, ये ही तीन भाव मनुष्यका पापसे बचान कर सकते हैं ।

### ज्ञान और भक्ति

मनुष्यको पापसे बचानेवाले ज्ञान और भक्ति में ही हैं । इसका धर्म इस सूक्तमें निम्नलिखित रीतिसे दिया है—

( १ ) 'असत्या आश्रयः'— ज्ञानसे तोषण क्या हुआ मनुष्य पापसे बच जाता है और दूसरोंको भी बचाता है । सुष्टिके तथा आत्मिके धर्मार्थ विज्ञानको 'अस्र' कहते हैं । यह कह अर्थात् सुष्टिविद्या और आत्मविद्या उन्नत ज्ञान मनुष्यको तीव्र बनाता है । अर्थात् तेज बनता है । जिस प्रकार तेज दाह शक्नुमा भाग करता है उसी प्रकार ज्ञानका तेज दाह भी अज्ञान पाप अर्थात् पापोंका भाग करता है । मनुष्यकी सभी उन्नतिका यही साधन है । ( मं. १ )

( २ ) 'अमस्ते राजन् धदणास्तु मन्यसे'— हे ईश्वर ! तेरे कोषके सामने हम नमन करते हैं, तू शासनसे सामने हम अपना तिर झुकते हैं । अर्थात् हम तेरी दास्यमें आकर पड़े हैं, हम अपने आपकी तेरी इच्छामें समर्पित



करते हैं। तू ही हमारा सारनेवाला है। तेरे बिना हम किसी अन्यके शरण जाने योग्य समझते नहीं। ( म १ )

( ३ ) ' शरतं जीवाति शरदस्तथायम् । '— तो वर्ष भीषित रहेगा सो तेरा बनेगा। ओ परमेश्वरका भक्त बनकर रहेगा उसका मात कौन कर सकता है। ( म २ )

इन तीन मन्त्राचार्योंमें शाल और ईश्वरके पापमोचनकी संभावना देख सकते हैं। सृष्टिविधारे नियमोंको जानकर सबकुछ आचरण करना, आत्मशिक्षाको जानकर परमात्माको सार्वभौम सत्तापारी मानना, भक्तिते ईश्वरके सन्मुख नम्र बनना और ईश्वरका भक्त बनकर आत्मबसे उसका होकर रहना यही पापमोचनका सीधा और निश्चित मार्ग है। इस सूक्तमें जिस मार्गसे पापमोचनकी संभावना कही है वह यही मार्ग है और यही निश्चित ओर सीधा मार्ग है—

### प्रायश्चित्त

पापों बचनेके लिये प्रायश्चित्त भी यहां कहा है और यह वही देखने योग्य है—

( १ ) ' प्रक्षु अपाधिकीहि '— पूर्णतः क्षाम जागकर अपना उत्तम ज्ञान प्राप्त करना, तथा सनेपसे को निमग्न कर देता है उसकी जानना यह उपनिषदा निदिष्ट साधन है। जब इस ज्ञानसे अपने अज्ञानोंका ज्ञान सनेगा, अपने कुराधारका क्षान होगा, तब परमात्माके क्षुद्धि करनेका मार्ग है, वह इस प्रकार है। ( म ४ )

( २ ) ' सज्जानानुमेदा पद '— हे वीर ' तू अपनी आतिते दुष्कर्मों क्षामने अपने सब अपराध कह दे। यही प्रायश्चित्त है। अपनी आतिते स्त्री पुरुषोंके सम्मुख अपने अपराधोंकी न छिपाते हुए कहना, यह बड़ा भारी प्रायश्चित्त है और इससे मनुष्यके मनकी क्षुद्धि होती है। ( म ४ )

ज्ञान प्राप्त करनेके पदवात् या जिस समय पदवात्ता ही उत्तम समय अपने सब अपराध अपनी आतिते सम्मुख कहना

बड़ा धर्मका तथा मनकी पवित्रताका ही कार्य है। हरएक मनुष्य इस प्रकार प्रायश्चित्त नहीं कर सकता। प्रायः मनुष्य अपने अपराधोंको छिपानेका ही चल करते हैं, परतु भी लोग अपने दोषोंको जनताके सम्मुख कहते हैं वे शूद्र बनकर जीव हो बड़े महात्मा ॥ जाते हैं।

इस सूक्तमें ' वरुण ' आदि शब्दों द्वारा परमात्माका वर्णन हुआ है, ' मुञ्चामि ' आदि शब्दोंसे पापोंकी पापों क्षुद्धिनेवति सहोपदेशका वर्णन है और ' दम ' आदि शब्द से पापी मनुष्योंका भी वर्णन हुआ है। धर्मोपदेशक पापियोंको पापों बचनेका उपदेश परमेश्वर भक्तिका मार्ग बता कर कर रहा है, यह बात इस सूक्तके शब्दोंसे स्पष्ट होती है। अर्थात् धर्मोपदेशक इसी मार्गसे स्वयं दासके बंध और दूसरोंको पापसे बचावें।

### पापी मनुष्य

पापी मनुष्य सहजों प्रकारसे पाप करता है, परतु ज्ञान सूक्तमें कुछ मुख्य पापोंकाही उल्लेख किया है, वह भी यहां देखने योग्य है—

( १ ) ' विश्व दुग्ध । '— सब द्रोह अर्थात् सब प्रकारका पोषा। पोषा देना, काया-वाचा-मनसे विश्वासप्राप्त करना, बड़ा पाप है। इसमें बहुतसे पाप ॥ जाते हैं। ( म. १ )

( २ ) ' एतुयपयानुतं जिहषा धृजिन यदु ' जिहृषा से असत्य तथा वापभावसे दुष्ट वचन बोलना भी बड़ा पाप का कार्य है। ( म ३ )

द्रोह करना और असत्य बोलना, इन दोनोंमें प्रायः एक पाप तथा जाते हैं। इन पापों मनुष्योंका सुधार पूर्वोक्त रीतिसे ही होना संभव है। धर्मोपदेशक तथा साधारण जन आदि इस सूक्तका विचार करेवे तो उनको पापमोचनके विषयमें बहुत ही योग्य धोष मिल सकता है।

## पापसे बचनेकी प्रार्थना

### कांड ११, सूक्त ६

( ऋषिः— वासतिः । देवता— वरुणा, मन्त्रोक्ता । )

अग्निं भूमो वनस्पतीनोर्षकीरुत वीरुषः । इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यं ते नो मुञ्चन्वंहसः ॥ १ ॥

अर्थ— अग्नि, वनस्पति, ओषधि, ( वीरुष ) सता, इन्द्र, बृहस्पति और सूर्यकी ( भूमः ) ॥ सब प्रार्थना करते हैं ॥ ( ते ) वे ( मे ) अहस्तः हम सबको पापसे ( मुञ्चन्तु ) बचावें ॥ १ ॥

ब्रूमो राजानं वरुणं मिथ्रं विष्णुमथो मरुतम् । अंशं निर्वस्वन्वं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥  
 ब्रूमो देवं संवितारं घातारमुत पुष्यम् । त्वष्टारमग्निं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥  
 सन्धर्वास्तरसो ब्रूमो अश्विनो ब्रह्मणेस्पतिं । अर्घमा नाम यो देवस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥  
 अहोरात्रे इदं ब्रूमः धर्षाचन्द्रमसाधुमा । विश्वानादित्यान्ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥  
 वार्ते ब्रूमः पर्जन्यमन्तरिक्षमथो दिशः । आशाश्च सर्वो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ६ ॥  
 मुञ्चन्तु मा शपथ्यादहोरात्रे अथो उषाः । सोमो मा देवो मुञ्चतु यमाहुश्चन्द्रमा इति ॥ ७ ॥  
 पार्थिया विष्याः पशव्य आरुषा उत ये मुमाः । शक्रुर्वाङ्पक्षिणो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ८ ॥  
 भवाशुर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिंश्च यः । इष्या एषां संविद्य ता नः सन्तु सदा दिवाः ॥ ९ ॥  
 दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षिणि पर्वताम् । सुमुद्रा नवो विभ्रन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १० ॥  
 सप्तर्षीन्वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रनारतिम् । पितृन्पुमथ्रेष्ठान्ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ११ ॥  
 ये देवा दिविपदो अन्तरिक्षसदश्च ये । पृथिव्यां शुक्रा ये भिवास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १२ ॥  
 आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अथर्वाणः । अश्विंसो मनीषिणस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥  
 यज्ञं ब्रूमो पजमानमृचः सामानि भेषजा । यजुषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १४ ॥

अर्थ— राजा, वरुण, मित्र (अथो) और अग, अंग, विरवाङ् ॥ २ ॥ सविता देव, घाता, देवा, ( अग्निं त्यष्टारं )  
 मुख्य त्वष्टा ॥ ३ ॥ संधर्व और सतराज्य, अश्विनो देव, ब्रह्मणस्पति ( यः अर्घमा नाम देवः ) और जो अर्घमा नामक  
 देव है ॥ ४ ॥ अहोरात्र, सूर्य और चन्द्र ( उषो ) सोमो, ( विष्णुर्वाङ्मादित्यान् ) सप्त जातिय ॥ ५ ॥ ( घातः )  
 घात, पशव्य, अन्तरिक्ष ( अथो ) और विष्या, ( आरुषाः ) उपविष्ठाकी ( मूमाः ) हम सब प्रायणा करते हैं कि ( ते नः  
 भंहसः मुञ्चन्तु ) वे हम सबको पास्ते बघावें ॥ ६ ॥

अहोरात्र और उपार्ध ( मा शपथ्यात् मुञ्चन्तु ) मुझे शपथसे मुक्त करें, ( यं चन्द्रमा इति आहुः ) जिसे  
 चन्द्रमा कहा जाता है, वह तोमरेव ( मा मुञ्चन्तु ) मुझे पास्ते मुक्त करे ॥ ७ ॥

( पार्थियाः विष्याः पशव्यः ) पृथ्वीके ऊपरके पशु और आकाशमें रहनेवाले पक्षी ( उत ये आरुष्याः मुमाः )  
 और जो अरुष्यमें रहनेवाले मृग हैं, शक्रुन् पक्षी हैं उनसे प्रायणा करते हैं कि वे हमें पास्ते बघावें ॥ ८ ॥

मरु और धरं ( यः पशुपतिः रुद्रः ) जो पशुपतिरुद्र है, ( या एषां इषूः ) जो इनके प्राण ( सं दिवाः ) इमें  
 शिरित हैं ( ताः ) वे ( नः सदा भिवाः सन्तु ) हमारे लिये सदा बतलायकारी हों ॥ ९ ॥

( दिवं ) धूलोक, नक्षत्र, भूमि, ( यक्षणाणि ) यक्ष, पर्वत, समुद्र, गरियां, ( वेभ्रन्ताः ) जलाशय, ॥ १० ॥ सप्तवि-  
 ण, ( आपः देवी ) जल, प्रजापति, ( पितृन्पुमथ्रेष्ठान् पितृन् ) पितर और उनका अधिकारि धर्म ॥ ११ ॥

( ये दिविपदः देवाः ) जो धूलोकमें रहनेवाले देव हैं ( य ये अन्तरिक्षसदः ) और अन्तरिक्षमें रहनेवाले  
 हैं ( ये प्राजाः ) जो समर्थ देव ( पृथिव्यां भिवाः ) पृथिवीका जायज लिये हुए हैं ( ते नः भंहसः मुञ्चन्तु ) वे हम  
 सबको पास्ते बघावें ॥ १२ ॥

आदित्य, रुद्र, ऋषि ( दिवि य-थर्वाणः देवाः ) धूलोकमें जो निरवत देव हैं तथा ( मनीषिणः भंगिरः ) मन-  
 शोक भंगिरस हैं ( ते नः भंहसः मुञ्चन्तु ) वे हम सबको पास्ते बघावें ॥ १३ ॥

यज्ञ, यजमान, ( अथः ) अथर्व, साम, ( भेषजा ) बंधके साम ( यजुषि ) यजुर्वेद ( होत्राः ) होमकर्ता  
 धर्म ॥ १४ ॥

यथै राज्यानि वीरुषां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः । इमो भूक्तो यवः सहस्ते नो भुञ्चन्त्वंहंसः ॥ १५ ॥

अरायान्ब्रूमो रक्षसि सर्षान्पुण्यजनान्पितृन् । मृत्युनेकशतं ब्रूमस्ते नो भुञ्चन्त्वंहंसः ॥ १६ ॥

ऋतून्ब्रूम ऋतुषीनार्विबानुत हायुनान् । समाः संवत्सराण्मातांस्ते नो भुञ्चन्त्वंहंसः ॥ १७ ॥

एते देवा दक्षिणतः पश्चात्पश्च उदेव ।

पुरस्तादुत्तराच्छक्रा विश्वे देवाः समेत्य ते नो भुञ्चन्त्वंहंसः ॥ १८ ॥

विश्वान्देवानिदे ब्रूमः सत्यसंधानृतावृषः । विश्वामिः पर्यामिः सह ते नो भुञ्चन्त्वंहंसः ॥ १९ ॥

सर्वान्देवानिदे ब्रूमः सत्यसंधानृतावृषः । सर्वाभिः पर्यामिः सह ते नो भुञ्चन्त्वंहंसः ॥ २० ॥

भूतं ब्रूमो भूतपतिं भूतानांभूत यो बुधी । भूतानि सर्वा संगत्य ते नो भुञ्चन्त्वंहंसः ॥ २१ ॥

या देवीः पथं प्रदिशो ये देवा द्वादंशवर्षः । संवत्सरस्य दंष्ट्रास्ते नः सन्तु सदा शिवाः ॥ २२ ॥

यन्मातेली रथक्तीतममृतं वेदं मेपजम् । इन्द्रो अण्डु प्रावेशयच्छदापो दध मेपजम् ॥ २३ ॥

अर्थ— ( वीरुषां सोमश्रेष्ठानि पञ्चराज्यानि ) जितमें सोम श्रेष्ठ है ऐसी औषधियोंके पांच राज्य, बर्म, ( भक्त ) भाग, ( पथः ) ओ गौर ( महा ) अलगाकी प्रायकी ( ब्रूमः ) हम कहते हैं कि ( ते ) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १५ ॥

( अरायान् रक्षसि ) अराजक राजाओं, सर्षां, पुण्यजनों और पितरों ( एकशतं मृत्युन् ) एक सौ मृत्युमंत्रों ॥ १६ ॥

ऋतुओं, पातुओंके बलिओं, ( पार्षान् द्रापमान् ) ऋतुमंत्रि बलनेवाले अर्पणों ( समाः संवत्सरान् मासान् ) सम वर्ष, संवत्सर और अर्हिनोंको हम कहते हैं कि वे हमको पापसे बचावें ॥ १७ ॥

है ( देवाः ) देवी ! ( दक्षिणतः पृत ) दक्षिण दिशाके आगे, पश्चात् ( पश्चात् ) पूर्व दिशामें उदयको प्राप्त होनी, ( विश्वे शक्राः देवाः ) सब सर्वश्रेष्ठ देव ( पुरस्ताद् उत्तराद् समेत्य ) सगले और उत्तर दिशामें एकट्ठे होकर ( ते नः ) हम सबको पापसे बचावें ॥ १८ ॥

( सत्यसंधान् ) गायत्रिजिह्व ( ऋतावृषः ) सत्यकी ब्रह्मबैवासा ( विश्वान् देवान् ) सब देवोंको ( इदं ब्रूमः ) यह कहते हैं कि वे ( विश्वामिः पर्यामिः सह ) अपनी सब बलियोंके साथ शतकर ( नः ) हम सबको पापसे बचावें ॥ १९-२० ॥

( या वशी ) ओ सबकी वश करनेवाला है उस ( भूतानां भूतपतिं ) भूतोंके अधिराजियों तथा ( भूतं ) भूतको हम ( ब्रूमः ) कहते हैं कि ( सर्वा भूतानि संगत्य ) सब भूत मिलकर हम सबको पापसे बचावें ॥ २१ ॥

( याः पञ्च देवोः प्रदिशः ) ओ दिव्य पांच दिशाएँ हैं, ( ये द्वादंश क्रतयो देवाः ) ये द्वादश ऋतु देव हैं, ( ये संवत्सरस्य दंष्ट्राः ) ओ वर्षके सबके साधन हैं ( ते नः सदा शिवाः सन्तु ) वे हम सबको सदा शुभ हों ॥ २२ ॥

( मातेलीः ) मातको ( यत् रथक्तीतं अमृतं मेपजं वेदं ) जिस रथके द्वारा प्राप्त अमरपद देनेवाले औषधको जानता है ( इन्द्रः तत् अण्डु प्रावेशयत् ) इन्द्रने उस औषधको जलोंमें प्रविष्ट किया है, है ( आपः ) जल ! ( तत् मेपजं दत्तं ) उस औषधको हमें दीजिये ॥ २३ ॥

भाषार्थ— इन सब देवताओंकी सहायतासे अनुपमात्र पापसे बच जायें ॥ १-२३ ॥

## पापसे रक्षानेकी प्रार्थना

## इस सूक्तका विचार

इस सूक्तमें मानवोंकी पारोपि दूर करनेके लिये अर्पित उनको निष्पन्न करनेके लिये देवताओंकी प्रार्थना है।

इस प्रार्थनाकी विशेषता यह है कि यह प्रार्थना सार्व-जनिक अर्थात् सांघिक है। सब लोगोंके द्वारा मिलकर की जाने वाली यह प्रार्थना है, अतः इसमें 'ते नो मुच्यन्तु अंहसः' से हम सब प्रार्थना करनेवालोंको पापसे मुक्त करें, ऐसा बहु-वचन प्रयोग किया है। सांघिक प्रार्थनाकर, बहुत बह्विक मारस्वतमें बिगोए हैं, क्योंकि उससे सम्प्रतिष्ठित बढ़ती है।

अब इस सूक्तमें जिन देवताओंका नामनिर्देश आया है उनका वर्गीकरण इस तरह है—

## पृथ्वीस्थानीय देवता

|                                    |                                |
|------------------------------------|--------------------------------|
| १ अग्निः १                         | २५ मनुः १४                     |
| २ वनस्पतिः १                       | २६ होत्राः १४                  |
| ३ अश्विभिः १                       | २७ बीषदा पञ्च राजानि १५        |
| ४ वीर्यः १                         | २८ लोक ( वनस्पतिः ) १५         |
| ५ अहोरात्रं ५, ७                   | २९ वर्गः १५                    |
| ६ उपर्व्यः ७                       | ३० भयः १५                      |
| ७ उवाः ७                           | ३१ मयः १५                      |
| ८ पाचिवाः पाचा ८                   | ३२ सक्तः १५                    |
| ९ आरभ्याः मृगाः ८                  | ३३ अरायः १६                    |
| १० भूमिः १०                        | ३४ रक्षति १६                   |
| ११ दशः १०                          | ३५ सवः १६                      |
| १२ पर्वतः १०                       | ३६ पुण्यजनः १६                 |
| १३ समुद्रः १०                      | ३७ मृगः ( एकप्रतिमृगवः ) १४    |
| १४ गदो १०                          | ३८ ऋतुः ( द्वात्रिंशः ) १७, २२ |
| १५ घोरताः १०                       | ३९ ऋतुर्वातः १७                |
| १६ सुविभ्यां प्राजाः<br>प्रिताः १२ | ४० अर्जवः १७                   |
| १७ वसवः ( अष्टौ ) १२               | ४१ ह्यमम् १७                   |
| १८ उपर्वागः १३                     | ४२ सवः १७                      |
| १९ अरुनिरतः १३                     | ४३ संवत्सरः १७                 |
| २० दशः १४                          | ४४ आताः १७                     |
| २१ पञ्चमातः १४                     | ४५ विदेदेवाः १८, १९            |
| २२ ऋचः १४                          | ४६ वेपथ्याः १९                 |
| २३ आपानि १४                        | ४७ सूर्यः २१                   |
| २४ भेदजानि १४                      | ४८ भूतानां भूतपतिः २१          |
|                                    | ४९ भेषजः २३                    |

## अन्तरिक्षस्थानीय देवता

|                 |                          |
|-----------------|--------------------------|
| १ धन्यः ४       | ११ मातुलः ४              |
| २ अमरताः ४      | १२ भयः ९                 |
| ३ चंद्रमाः ५    | १३ धर्मः ९               |
| ४ वायुः ६       | १४ उवाः ९                |
| ५ पर्वण्यः ६    | १५ पशुपतिः ९             |
| ६ अन्तरिक्षः ६  | १६ इष्टः ९               |
| ७ दिशः ६        | १७ मनः ११                |
| ८ सर्वाः आताः ७ | १८ वितरः ११, १६          |
| ९ सोमः ७        | १९ अन्तरिक्षतरः देवाः १२ |
| १० वसिष्ठः ८    | २० उवाः ( एकावतः ) १३    |

## धुस्थानीय देवता

|                 |   |
|-----------------|---|
| १ इन्द्रः १     | १४ अश्विनी ४                                |
| २ ब्रह्मपतिः १  | १५ ब्रह्मपतिः ४                             |
| ३ सूर्यः १, ५   | १६ अर्धमा ४                                 |
| ४ राधा वषट् २   | १७ विषये माहित्याः<br>( द्वात्रिंशः ) ५, १३ |
| ५ दिशः २        | १८ दिव्याः पाचाः<br>( वसिष्ठः ) ८           |
| ६ विरक्तः २     | १९ सुः १०                                   |
| ७ भगः २         | २० नसमागि १०                                |
| ८ अंशः २        | २१ सप्तर्ष्याः ११                           |
| ९ विषत्वाद २    | २२ देवी आराः ११                             |
| १० सविता देवा २ | २३ प्रतापतिः ११                             |
| ११ घाता ३       | २४ विविधः देवाः १२, १३                      |
| १२ पुषा ३       |   |
| १३ त्वष्टा ३    |   |

यहाँ तीन स्थानोंमें देवताओंकी बंटाकर रखा है। देवताके नामके आगे जिस पंक्तिमें ये देवता आये हैं उनके अंक रखे गये हैं। और कई देवता अन्तरिक्षस्थानीय अथवा धुस्थानीय रहने योग्य होनेपर भी उनका पृथ्वी स्थानीय माननेके साथ धर्म माननेके कारण उन्हें पृथ्वीस्थानीय रखा है। इतना और विचारकी सुविधाके लिये किया है यह पाठक ध्यानमें रखें।

|                  |                    |
|------------------|--------------------|
| पृथ्वीस्थानीय    | ४९                 |
| अन्तरिक्षस्थानीय | २०                 |
| धुस्थानीय        | २४                 |
| मिलकर कुल        | ९३ इतने देवता हुए। |

इसमें ८ मनु, ११ उवा, १२ आश्वि, ७ ऋषिगण, १००

मृत्यु, १२ मास, १२ ऋतु, ६ ऋतु, २ अपर, ६ ऋतुमति, ४ दिना ४ उपदिना ये १८४ वेकता अधिक होते हैं। इनमेंसे १२ कुतद्वत होनेसे कम किये जाय तो शेष १७२ रह जाते हैं। इनके साथ पूर्वोक्त ११ देवताओंकी मितमनेसे २६३ देवता होते हैं।

इन देवताओंका मानबोके साथ केता संबंध जाता है यह देखकर पापसे बचनेका यत्न साधकको करना उचित है।

इसमें कई देवता पापके लिये साधक भी होते हैं। जैसे भूमि, जल, वनस्पति, पशु, पक्षी इनके कारण ही मनुष्य मृदु करते जाते हैं, भूमिके कारण मिजने शुरू हुए हैं और कितने मानव काटे पड़े हैं, यह इतिहासमें देखने योग्य है। मानबोमें राक्षसभाव इनके कारण ही जाता है। बचना तो इसी राक्षसभावसे है। अतएव देता करना चाहिये कि

मानबोका राक्षसभाव दूर हो और उनमें ईश्वरभाव स्थिर हो। इसीलिये कहा है कि—

ते नः सन्तु सदा शिवाः । ( २२१९ )

‘ ये सब देव तुम्हारे लिये सदा शुभमार्ग प्रदानेवाले हों । ’

इस प्रार्थनामें अशुभवृत्ति होनेकी समावना सूचित होती है। मन बलासे रजकर कितनी प्रकार भी अशुभवृत्ति मनमें न उठे ऐसा प्रबंध करना चाहिये।

इस तपह् मनुष्य पापसे बच सकता है। जल भीला रहेगा तो पाप होगा, यदि मन असबाद होगा तो मनुष्य पापमें डूब रहेगा।

इसतरह विचार करके मानव पापसे बचनेका साधन करे और पवित्रता हीकर यशस्वी बने।



एकैशतं लक्ष्म्योऽस्य मर्त्यस्य साकं तुन्वाऽनुषोऽपि जाताः ।

तासां पापिष्ठा निरितः प्र दिव्यः श्रिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ

॥ ३ ॥

एता एता व्याकरं खिले या विष्टिता इव । रमन्तां पुण्यां लक्ष्मीर्याः प्रापीस्ता अनीनशम् ॥ ४ ॥

अर्थ— ( मर्त्यस्य तन्वा साकं ) मनुष्यके शरीरके साथ ( अनुषः मधि ) जगते हो ( एकैशतं लक्ष्म्यः जाताः ) एकती एक सद्विषयों जगम हो गई हैं । ( तासां पापिष्ठा इतः निः प्रदिव्यः ) उनमेंसे पापी लक्ष्मीको यहाँसे हथ डूर करते हैं । हे ( जातवेद ) जानो देव । ( श्रिवाः अस्मभ्यं नि यच्छ ) और जो कल्याणमय लक्ष्मी हैं वे हमें प्रदान कर ॥ ३ ॥

( खिले विष्टिताः यः इव ) बरान्न भूमिपर चंडी हुई सौमंके समान ( एताः एताः वि-व्याकरं ) इन इन वृत्तिबोको में भ्रमण जलन करता हू । ( याः पुण्याः लक्ष्मीः रमन्तां ) जो पुण्यकारक लक्ष्मी हैं, वे यहाँ भ्रमण करते हैं । ( याः पापीः साः अनीनशः ) और जो पापी वृत्तियां हैं उनका नाश करता हू ॥ ४ ॥

भाषार्थ— मनुष्यकी जगमे साथ एकती एक अनित्यता प्राप्ता होती है, उनमें कई पापमय हैं और कई पुण्यमय हैं । पाप हमसे दूर हों और शुभ हमारे पास आवें ॥ ३ ॥

ये इनको पृथक् करता हू । जो पुण्यकारक हैं वे मेरे पास रहें और जो पापकारक हों वह मुझसे दूर हों आम् ॥ ४ ॥

मनुष्यके जगम होते ही उसके शरीरमें संकटों शक्तिया स्वभावतः पत्ती हैं । उनमें कुछ बुरी हैं और कुछ अच्छी होती हैं । अच्छी शक्तियां भयबा वृत्तियां जो हों उनको अपने अन्दर रचना और बढावा चाहिये, तथा जो बुरी वृत्तियां हों उनको दूर कराना चाहिये । ( मं. ३ )

बरान्न भूमिमें अनेक सौमंके भंडारी हैं, उनमें कई श्वेत रंगकी हैं और कई काले रंगकी हैं, वह जैसे पहचाना जाता है, उसी प्रकार अपनी शक्तियों और वृत्तियोंको पहचानना चाहिये । और शुभवृत्तियोंकी वृद्धि और अशुभ हीन, और हानि कारक वृत्तियोंका नाश करना चाहिये । ( म. ४ )

' लक्ष्मी ' का अर्थ है ' विगृह ' । अपने अन्दर कीजते विगृह बुरे हैं और कीजते अच्छे हैं, इसकी परीक्षा करना प्रत्येक मनुष्यका धायवश कर्तव्य है । मनुष्यके योनिमें ये विगृह विगृह देते हैं । ये वैसकर ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि जिससे उसमें शुभलक्षणोंकी वृद्धि हो और अशुभ लक्षण घट जायें । इस प्रकार करनेसे मनुष्यजी उन्नति होती है ।



## पापिष्ठा वृत्तः

कांड ६, सूक्त ११४

( अग्निः - ब्रह्मा । देवता - विष्णवेष्टाः । )

यद्विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चक्रुः श्रुता वयम् । ययं नस्वस्मान्मुञ्चत विधे देवाः सजोषसः ॥ १ ॥

अर्थ— ( यद् विद्वांसः यद् अविद्वांसः ) जब जानते हूँ । जबका न जानते हूँ । ( ययं एनांसि चक्रुः ) हम पाप करें, हे ( विष्णवेष्टाः ) सब देवो ! ( ययं सजोषसः तस्मात् नः मुञ्चत ) तुम एक मतवाले होकर उस पापसे हमें मुक्त करो ॥ १ ॥

भाषार्थ— जानते हूँ जबका न जानते हूँ जो पाप मनुष्यसे हो, उससे छुटकारा प्राप्ता करना चाहिये ॥ १ ॥

यदि जाग्रद्यदि स्वप्नेन एतस्योऽकरम् । भूतं मा तस्माद्भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥ २ ॥  
द्रुपदादिव मुमुक्षानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव । पुनं पवित्रैर्निवान्यं विश्वं शुभ्रमन्तु मैत्रेयः ॥ ३ ॥

अर्थ— ( यदि जाग्रत् यदि स्वप्न ) यदि जाग्रते हुए अवस्था सोते हुए ( एतस्यः एतः अकरं ) में पापी होकर भी पाप करे, तो ( द्रुपदात् इव ) सुतेसे पड़को जैसे मुक्त करते हैं उसी प्रकार ( भूतं भव्यं च तस्मात् मा मुञ्चतां ) भूत अवस्था भविष्य कालका जो पाप हैं उससे मुक्त मुञ्चानो ॥ २ ॥

( द्रुपदात् इव मुमुक्षानः ) जिस प्रकार तपू नयनस्तमसे मुक्त होता है अवस्था ( मलात् स्विन्नः स्नात्वा इव ) जैसे मलसे स्नानके बाद मुक्त होता है ( पात्रिणेन पुनं स्नात्वा इव ) अवस्था जैसे छाननीसे भी पवित्र होता है उसी प्रकार ( विश्वे मा एतसः शुभ्रमन्तु ) सब मुझे पापसे पवित्र करें ॥ ३ ॥

भावार्थ— जागते समय अवस्था सोते समय भी पाप मनुष्यसे हो, वह भूत कालका हो अवस्था वर्तमान कालका हो उससे छुटकारा प्राप्त करना चाहिये ॥ २ ॥

जैसे स्तपसे पट्ट सूटता है, लीपसे स्नानके द्वारा मल दूर होता है और जैसे छाननीसे घृत पवित्र बनता है, उस प्रकार मैं निर्दोष हो जाऊँ ॥ ३ ॥

### निष्पाप बननेके तीन प्रकार

शुद्ध होनेके तीन प्रकार हैं, अन्तःशुद्धि, बहिःशुद्धि और संबन्धशुद्धि । इसके तीन उदाहरण तृतीय मन्त्रमें मिले हैं देखिये—

१ अन्तःशुद्धि— ( पवित्रेण पुनं स्नात्वा इव ) छाननीके जिस प्रकार भी शुद्ध होता है । पी छानते हैं, उससे भी कै अवस्था मल दूर होते हैं, इस प्रकार मनुष्यके अन्त करणके मल दूर करने चाहिये । यह अन्तःशुद्धि है ।

२ बहिःशुद्धि— ( मलात् स्नात्वा स्विन्नः इव ) जैसे शरीरपर लगे हुए मलकी स्नान करनेसे शुद्धता होती है । यह बहिःशुद्धि है । मल शरीरपर बाह्यसे लम्बता है उस प्रकार बाह्य दोषोंसे वह मुक्तता करनी होती है ।

३ संबन्धशुद्धि— ( द्रुपदात् मुमुक्षानः इव ) स्तपके बपनसे जैसे पड़को छुटाते हैं अवस्था पल परिवर्तन होने से जिस प्रकार वह धूसरे छूट जाता है । उस प्रकार लवणके छेनसे मुक्त होता है । यह संबन्धशुद्धि है ।

इस प्रकार ये शुद्ध होनेके तीन भेद हैं । मनुष्यकी भी जो दिव्यता प्राप्त करनी है, वह इन तीनों प्रकारकी है । मनुष्य अपने संबंधोंको शुद्ध करे और पापी संबंधोंको दूर करे, अपनी बाह्य मुद्धता करे और उसके लिये अपना रहना सहज पवित्र रखे तथा अपनी अन्तःशुद्धि करे और उसके लिये अपने विचारोंको पवित्र करे । इस प्रकार मनुष्य पवित्र शुद्ध होता है ।

मनुष्य जानता हुआ अथवा न जानता हुआ, जानता हुआ अवस्था सोता हुआ पाप करता है, इन सब वापसी मुक्तता प्राप्त करनी चाहिये । परमेश्वरकी कृपा, ज्ञानियोंका सहाय और साधनशुद्धिका प्रयत्न करकेते पापसे छूटना संभव है ।

## पाप नाशन

## कांड ४, सूक्त ३३

( अर्थ: - ब्रह्मा । वेवता - वायव्यराज्य । अग्निः । )

|   |       |
|---|-------|
| अप नः ओशुचदुधम्ने शुशुग्या रुयिम् । अप नः ओशुचदुधम्         | ॥ १ ॥ |
| सुशेधिया सुगातुया वंसुया च यजामहे । अप नः ओशुचदुधम्         | ॥ २ ॥ |
| प्र यद्वन्दिष्ठ एषां प्रास्माकास्तथ सूरयः । अप नः ओशुचदुधम् | ॥ ३ ॥ |
| प्र यत् अमे सूरयो जायेमहि प्र ते वयम् । अप नः ओशुचदुधम्     | ॥ ४ ॥ |
| प्र यदमेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति मानवः । अप नः ओशुचदुधम्     | ॥ ५ ॥ |
| स्व हि विश्वतोमुख विश्वतोः परिभूरसि । अप नः ओशुचदुधम्       | ॥ ६ ॥ |
| द्विषो नो विश्वतोमुखासि नवेव पात्य । अप नः ओशुचदुधम्        | ॥ ७ ॥ |
| स नः सिन्धुमिव नावाति पर्पा स्वस्तये । अप नः ओशुचदुधम्      | ॥ ८ ॥ |

अर्थ— हे ( अग्ने ) प्रकाशक देव । ( नः अर्थ अथशोशुग्याम् ) हमारा पाप मि तब दूर होवे और हमारे पाप ( रयि शुशुग्या ) बन शुद्ध होकर जायें । ( नः अर्थ अप ओशुचत् ) हमारा पाप दूर होवे ॥ १ ॥

( सुशेधिया सुगातुया ) उत्तम क्षेत्रके लिये, उत्तम भूमिके लिये, ( च वंसुया यजामहे ) और यगके लिये हम यजन करते हैं । हमारा पाप दूर होवे ॥ २ ॥

( एषां यत् भन्दिष्ठः प्र ) इनके बीचमें जिस प्रकार अर्घ्य कत्याप युक्त होकर ( अस्माकास्तः सूरयः च ) और हमारे साथी जन भी उत्तम लक्षणा प्राप्त करें । इनके लिये वेता चाहिये वेता हमारा पाप दूर होवे ॥ ३ ॥

हे ( अग्ने ) विश्वतो देव । ( यत् ते सूरयः ) जैसे तेरे पिछान् है वैसे ( ते यपे प्र जायेमहि ) तेरे प्रकर हम भेद हो जायें, इसलिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ४ ॥

( यत् ) जैसे ( सहस्वतः अग्नेः ) बलवान् अग्निही ( मानवः विश्वतोः यन्ति ) किरने चारों ओर फैलती हैं, उसी प्रकार हमारी कर्म, इसलिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ५ ॥

हे ( विश्वतो-मुख ) सब ओर मुखवाले देव । ( स्व हि विश्वतोः परिभूः असि ) तू ही सबसे भेद है, वैसे यगके लिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ६ ॥

हे ( विश्वतो-मुख ) सब ओर मुखवाले देव । ( नाया ह्य ) नौकाके सपान ( नः द्विषः अतिपात्यति ) हमें शत्रुओंके समूहसे बच करा, और हमारे पाप दूर कर ॥ ७ ॥

( नाया सिन्धु ह्य ) जैसे नौकाके सपानके पार होते हैं, उसी प्रकार ( सः ) तू ( नः अतिपर्य ) हमें पार करा और ( स्वस्तये ) कल्याणके लिये ( नः अर्थ अप ओशुचत् ) हमारे सब पाप दूर हों ॥ ८ ॥

## पापको दूर करना

इस सूक्तमें पापको दूर करनेसे भी बनेक लाभ होते हैं उनका वर्णन है । पापको दूर करनेसे धीर दण्ड होनेसे ( रयि ) बन मिलता है, ( सुशेधः ) उत्तम क्षेत्र प्राप्त होता है, ( सुगातु ) उत्तम पार्य उपलब्धिके लिये सुखा होता है, ( भन्दिष्ठः ) कत्याप प्राप्त होता है, ( सूरयः ) पिछानोंकी संगति मिलती है, ( सूरयः जायेमहि ) मान संयमता प्राप्त होती है, ( मानवः विश्वतोः यन्ति ) प्रकाश चारों ओर फैलता है, ( परिभूः ) सबसे अधिक प्रभावशाली हो जाता है, ( अतिपात्यति ) बुरा दूर हो जाते हैं और ( स्वस्तिते ) कल्याण प्राप्त होता है, ये लाभ पापको दूर करनेसे होते हैं । जिस प्रमाणसे पाप दूर होता और पवित्रता होगी, उस प्रमाणसे पक्क लाभ हों ।



# पापी विचारका त्याग करो

कांड ६, सूक्त २६

( ऋषिः - बृहदा । देवता - वायव्य । )

अथ मा पाप्मन्सृज वृथी सन्मृदयासि नः । आ मा मद्रस्य लोके पाप्मन्धेद्यविद्रुतम् ॥ १ ॥  
 यो नः पाप्मस्य जहासि तर्धु त्वा जहिमो वृथम् । पयामनु वृषावर्तनेऽन्यं वृषामानु पयताम् ॥ २ ॥  
 अन्यम्रास्मन्पु च्यतु सहस्राक्षो अमर्त्याः । यं द्वेषाम तर्धुच्छतु यमुं द्विभस्तमिजहि ॥ ३ ॥

अर्थ—हे ( पाप्मन् ) पापी विचार ! ( मा मद्रस्य ) मुझे छोड़ दे । ( वृथी सन्मृदयासि ) बर्तन करता हुआ तू हमें सुख देता है ऐसा प्रतीत होता है । हे ( पाप्मन् ) पापी विचार ! ( मद्रस्य लोके ) कायापके स्थान-में ( मा अविन्द्रुतं जाघोहि ) मुझे बहुतित अवस्थाओं पर ॥ १ ॥

हे ( पाप्मन् ) पापी विचार ! ( यः नः न जहासि ) जो तू हमें नहीं छोड़ना सो ( तं त्वा उ वृथं जहिमः ) उत भ्रुवाँ हम ही छोड़ देंगे । ( पयाम् अनु वृषावर्तने ) मार्गमें अनुकूल प्रत्यावर ( वृषाम् अन्यं अनु पयताम् ) रात्री-विचार दूसरेके पास चला जाये ॥ २ ॥

( सहस्र-भक्षः अमर्त्यः ) हजार भाँसवाला और न भरनेवाला पापी विचार ( अस्मन् अन्यत्र नि उच्यतु ) हमसे भिन्न दूसरे स्थानमें चला जाये । ( यं द्वेषामः तं सृच्छतु ) जिससे हम द्वेष करते हैं, उससे बात लाये, ( यं उ द्विभः तं वृत् जहि ) जिससे हम द्वेष करते हैं उसका मात्र नष्ट ॥ ३ ॥

## पापी मन

पापी मन होनेसे सब प्रकारके शारीरिक, इंद्रिय संबंधी तथा धार्मिक आदि बन्ध होते हैं । इसलिये मनसे पापी सत्त्व सबसे प्रथम दूर करने चाहिये, मन दृढ़ हुआ तो सब कुछ दूर हो सकते हैं ।

पापी विचार मनमें उत्पन्न होते हैं, अनुपमकी वज्रमें बरते हैं और थोड़े प्रयत्नसे अधिक पुण्य प्राप्त करा देनेके प्रलोभनसे, जवान् गुण देनेसे प्रलीभनसे कतारते हैं । इसलिये इनसे बचना चाहिये ।

यदि पापी विचार मनसे स्वयं दूर नहीं हुआ, तो उससे प्रयत्नसे दूर करना चाहिये, ऐसा करनेसे ही मार्गिक मार्गकी अनुकूलता हो सकती है । तात्पर्य यह कि पापी विचार दूर करके विचित्रो दृष्ट करनीही उपरतिवा सत्त्वा मार्ग खुला हो सकता है ।

पापी विचार हजार भाँसवाला है, इसलिये यह हमारी स्मृता और बन्धनोरी शरणा जानता है और उत मार्गसे आवर प्रविष्ट होता है । शरीर छोड़ देनेपर भी वह पापी विचार छोड़ नहीं होता, इसलिये उसको प्रयत्नसे दूर करना चाहिये पापी विचारको दूर करनेसे सत्त्वकी पवित्रता होगी और पवित्रतासे सब बन्ध दूर होंगे । यह मात्पद्वि द्वारा उपरति प्राप्त करनेका मार्ग है ।



## पाप मोचन

## कांड ४, सूक्त २६

( ऋषिः— ब्रह्मा । वेदः— चावापुषियो )

मन्वे वां चावापुषिषी सुमोजसी सचेतसी ये अप्रयेयामर्षिता योजनानि ।

प्रतिष्ठे हर्मवतं वसुनां ते नो मुञ्चतुमर्हसः ।

॥ १ ॥

प्रतिष्ठे हर्मवतं वसुनां प्रष्टहे देवी सुमगे रुक्मी ।

चावापुषिषी मर्वतं मे स्योने ते नो मुञ्चतुमर्हसः ।

॥ २ ॥

असंतापे सुतपसौ हुयेऽहमुर्वी गम्भीरे कविर्भिर्नमस्ये ।

चावापुषिषी मर्वतं मे स्योने ते नो मुञ्चतुमर्हसः ।

॥ ३ ॥

ये अमृतं पिबुधो ये हवींषि ये सोत्वा विभुधो ये मनुस्पात्रि ।

चावापुषिषी मर्वतं मे स्योने ते नो मुञ्चतुमर्हसः ।

॥ ४ ॥

ये उस्त्रियां पिबुधो ये वनस्पतीन्पयोर्वा विश्वा सुर्वनान्यन्तः ।

चावापुषिषी मर्वतं मे स्योने ते नो मुञ्चतुमर्हसः ।

॥ ५ ॥

ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याग्यामृते न किं च न अस्नुवन्ति ।

चावापुषिषी मर्वतं मे स्योने ते नो मुञ्चतुमर्हसः ।

॥ ६ ॥

अर्थ— हे चावापुषियो । ( सुमोजसी सचेतसी ) तुम दोनों उत्तम और देनेवाले और उत्तम जानवाले हो । ( वां मन्वे ) तुम दोनोंका मैं मनन करता हूँ । ( ये अमिता योजनानि अप्रयेयां ) जो तुम दोनों अपरिमित कीलालकी हरीतक फेंके हो, ( हि वसुनां प्रतिष्ठे अमयतां ) क्योंकि तुम दोनों निवार करनेवाले प्राणी कारिणोंको क्षपार देनेवाले होते हो ( ते नः अंहसः मुञ्चतं ) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

तुम दोनों ( प्रष्टहे सुमगे रुक्मी देवी ) यही विनाश, उत्तम वैश्ववर्ति वृक्ष विस्तृत देवियां ( वसुनां प्रतिष्ठे हि अमयतं ) निवार करनेवालोंको आश्रय देनेवाली हो । ये ( चावापुषिषी मे स्योने भवतौ ) चावापुषिषी मेरे लिये सुखदायी हों और ( ते नः अंहसः मुञ्चतं ) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

( अहं ) मैं ( सुतपसौ जस्यन्तापे ) उत्तम तपस्वी परंतु सन्नाप न देनेवाली ( कविभिः नमस्ये उर्वी गम्भीरे ) कवियों द्वारा नमन करने योग्य यही लंबी लंबी और बड़ी गम्भीर चावापुषिषीको ( हुये ) प्रार्थना करता हूँ । मैं ( चावा० ) मेरे लिये सुख देनेवाली हों और हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

( ये अमृतं ये हवींषि पिबुधः ) जो हृत्त दोनों अमृतस्वी जल और अथको पारण करते हो ( ये सोत्वाः ये मनुस्पात्रि विभुधः ) जो यही आदि प्रवाहोंको और जो मनुष्योंको पारण करते हो । ये तुम ( चावा० ) चावापुषिषी मेरे लिये सुख देनेवाली बनो और हमें पापसे बचाओ ॥ ४ ॥

( ये उस्त्रियाः ये वनस्पतीन् पिबुधः ) जो हृत्त दोनों यौर्वा और वनस्पतियोंका पारण पोषण करते हो ( ययोः वां अन्ता विश्वा भुयन्तामि ) जिस तुम दोनोंके बीचमें सब भुवन है, ये ( चावा० ) तुम चावापुषिषी मेरे लिये सुखदायक होओ और वे हमें पापसे बचाओ ॥ ५ ॥

( ये कीलालेन ये घृतेन तर्पयथः ) जो तुम दोनों जल और घृतसे सबको तुल्य करते हो, ( चावा० ) चावापुषिषी मेरे लिये सुखदायक बनो और हमें पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

यन्मेदमभिज्ञोचति येनयेन ॥ कुतं पौकेपेयाध दैवात् ।

स्तौमि घावापृथिवी नाथितो बौद्धीभि ते नौ ह्युच्यतमहंसः

॥ ७ ॥

अर्थ— ( येन येन वा यौगपेयेष्व कृतं ) जिस किसी कारणसे कुछ प्रयत्नसे किया हुआ, ( न दैवात् ) ईश्वरी प्रेरणासे किया हुआ नहीं, ( यत् इदं मे अभिज्ञोचति ) जो ॥७॥ मुझे ओझमें डालता है, उसे कष्टों से दूर करनेके लिये ( घावा-पृथिवी स्तौमि ) घावापृथिवीको मैं स्तुति करता हूँ और ( नाथितः बौद्धीभि ) मैं उनसे सनाप होकर पुकारता हूँ कि ( ते नः भद्रस्य मुञ्चन्तं ) मे दोनों हम सबको पापसे बचावें ॥ ७ ॥



## पाप मोचन

### घावापृथिवी

यह सुनत सुनार धुवर्तमें पापमोचन विधयका प्रचुरं सुनत है और इसमें धूलोक और पृथिवी लोकके योगसे पातकसे मुक्त होनेकी आकांक्षा की है। पृथिवी लोक यह है जिसके ऊपर हम रहते हैं और धूलोक यह है जो शारंगि धूलत आकाश है। अर्थात् यह सब ब्रह्मांड इसके बीचमें समाया हुआ है। कोई चीज इनसे बाहर नहीं है। भित्ती सब शक्तिमान हैं इसके बीचमें भाग्य हैं। इस सब शक्तिपूर्णकी सहायतासे हमें अपना सुधार करने पापसे मुक्त होना है।

ये घावापृथिवी देवता ( भूमिता योजना । म. १ ) भगवति मोनन विस्तृत है। ये कितने विस्तृत हैं इसका मापन नहीं हो सकता। आकाशका विस्तार माना नहीं जा सकता है और न मापा जा सकता है। सबसेसे कहना हो तो इतना कहना जा सकता है कि ये दोनों ( प्रकृति उच्छ्वी । मं २; उर्ध्वी, गभीरे । मं ३ ) बड़े विस्तृत, महान्, गभीर हैं अर्थात् बड़े गहरे हैं। तथापि इनकी गहराईका किसीकी पता नहीं लग सकता।

ये दोनों हरएक पदार्थ मानके लिये ( प्रतिष्ठे ) आधार देती हैं। इसकी शक्तिपूर्णका विचार करनेसे (स-चेतसो) हममें एक प्रकारका स्फुरण होता है, इसलिये ( कविभिः समस्ये ) कवि लोक इनके विषयमें बड़ा आदर धारण करते हैं। इनमें सूर्यादितेजस्वी गोल ( सु-तपसी ) उत्तमप्रकार प्रकाशित हो रहे हैं, तथापि ये किसीकी ( ज-सुमार्पे )

सन्तान नहीं देते, प्रभुत संतान प्रदय जब इनकी और वृष्टि-अप करता है तब उनके दुःखका कुछ दूर होता है और यहां शान्तिका राज्य होता है।

ये दोनों लोक ( सु-भोजसी ) उत्तम भोजन हैं। ( चित्तलेन तर्पयत ) हमसे संतुष्ट करते हैं और हम सुख लगती हैं जब भी ( धृतेन ) जलसे प्राप्ति हैं। क्योंकि इनके अंदर ( अमृतं हवींषि पिबतः ) जल और अन्न रहता है। इनके अंदर ( उच्छ्रियाः ) गीर्वां हैं जो उत्तम हैं। देती हैं, तथा वनस्पतिवां हैं जो उत्तम रस देती हैं। इस कारण इन दोनोंसे सबका पालन पोषण होता है। अनुभवोंकी जिस समय शोक हो उस समय मनुष्य पृथ्वी या आकाशके उत्तम रूप देखें और अपने दिव्यताका अनुभव करें। इससे उनका शोक पूर्वतया दूर हो सकता है। धूलोक पिता है और पृथ्वी मत्तर है। मालो, यह दोनों मिलकर एक गृहस्थीका परिवार है। देखो, ये कैसे अपनी सब शक्तिपूर्ण परीनकार कर रहे हैं। ये अपनेसेनसे हमें बांध प्रताते हैं, अपने हमारी तुष्टि करते हैं, अपने हमारी शक्ति बढ़ाते हैं और अत्याय पीतिते हमारे सहायता करते हैं। इसी प्रकार हमें भी अपनी शक्तिपूर्णका परीनकारार्थ ध्यय करना चाहिये, हमें अपना जल करण इसके समान विस्तृत और उबार बनाना चाहिये। अथवा औरन बनाना अपने भाग्यके लिये समर्पित करना चाहिये और सब जगत्की एक परिवार मानकर सबके साथ इसके सद्ग सम्मान व्यवहार करना चाहिये। यह है पाप मोचनका भाग्य।



## पाप मर्चेत

कांड ४, सूक्त २३

( अथि - मृगार १ वेद्यता - प्रचेतसि १ )

अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतस्य पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्वते ।

विशोविशः प्रविश्विवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वहंसः ॥ १ ॥

यथा हव्य वहामि जातवेदो यथा वय कल्पयसि प्रजानन् ।

एषा देवेभ्यः सुमति च आ वंह स नो मुञ्चत्वहंसः ॥ २ ॥

यामन्यामश्रुपयुक्त पश्विष्ट कर्मन्कर्मभामगम् ।

अमिमीडे रक्षोहणं यज्ञवृषं घृताहुत स नो मुञ्चत्वहंसः ॥ ३ ॥

सुजात जातवेदसमभि वैश्वानरं विभुम् । हव्यवार्ह इवामहे स नो मुञ्चत्वहंसः ॥ ४ ॥

अर्थ— ( य बहुधा इच्छते ) जिसको बहुत प्रकार प्रकाशित करते ह उस ( पाञ्चजन्यस्य प्रचेतस्य प्रथमस्य जज्ञ ) पञ्च जनोंमें निवास करनेवाले विभिन्न जानी और सबमें प्रथमसे यज्ञभाम प्रकाशक देवताका ( म वे ) म मन्त्र करता ह । ( यिशा विशा प्रविश्विवांस ईमहे ) प्रत्येक प्रजाजनने प्रविष्ट हुएको हव प्राप्त करते ह ( स न भवत्स मुञ्चतु ) वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

हे ( जात-वेद ) यज्ञप्र हव्य पदावमानको जपनवाले । ( यथा हव्य वहामि ) जिस प्रकार तू हवनको पशुचाता है और ( प्रजानन् यथा यज्ञ कल्पयसि ) जानता हुआ जिस प्रकार वनको घनता है ( एषा देवेभ्यः सुमति न आयवह ) वही प्रकार देवोंसे उत्तम मतिको हमारे पास ले आ और ( स न भवत्स मुञ्चतु ) वह हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

( यामन् यामन् उपयुजत ) प्रत्येक समयमें उपयोजी ( कर्मन् कर्मन् भामग ) प्रत्येक कर्ममें भवनीय, और ( पश्विष्ट ) साधन बलवान ( अमि ईड ) तम प्रकाशक देवकी म स्तुति करता ह । वह ( रक्षोहण यज्ञवृषं घृताहुत ) राजसोम नागक यज्ञकी व्रतनवाला यज्ञमें यज्ञकी आहुतियां जिसके तिम यो जाता ह ( स न भवत्स मुञ्चतु ) वह हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

( सुजात जातवेदस ) उत्तम प्रतिष्ठित वन हुए विश्वको जपनवाले ( विभु वैश्वानर ) सबभवाक जिसके ( हव्यवार्ह इवामहे ) अर्धक देवताके प्रभुई हुए प्राप्त करने ह कि ( स न भवत्स मुञ्चतु ) वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

भावार्थ— पापों प्रकारको मनुष्योंमें जो फैलना देता है और विविध प्रकारसे प्रकट होता है उस प्रायेणके हुक्ममें उद्धारक प्रकाश देनवाले परमात्माको हम प्राप्त करते ह जो हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

जिस प्रकार हवन क्रिय हुए हवन इण्योंकी वर्गिन सन देवोंके पास पशुचाता है उसीप्रकार वह यज्ञान देव सब दिव्य भाववालोंके पास रहनवाली सुपति हमारे आनन्दनगर्भमें स्थिर करे और हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

प्रत्येक समय सहायता देनवाला हरएक कर्ममें सेवा करव योग्य बलवान प्रकाशक हुद्योंको दूरकरनवाला यज्ञकी वृद्धि करनवाला और जिसके तिम वनमें आहुतियां दी जाती ह वह ईश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

उत्तम प्रतिष्ठित, सबज्ञ, सब व्यापक सबको ध्यानवाला अक्षय्य दाता जो एक ईश्वर है उसीको हम प्राप्त करने ह कि वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

येन ऋषयो ब्रह्मघोतपन्थुजा येनासुराणामबन्धन्त मायाः ।

॥ ५ ॥

येनश्विना पृथीतिन्ध्रेऽजिगाय स नो मुञ्चत्सर्वहंसः

॥ ६ ॥

येन देवा अमृतं प्रन्वर्विन्दुन्येनोपधोर्मधुमतीकंष्वन ।

येन देवाः स्वश्रारमरुन्त नो मुञ्चत्सर्वहंसः

यस्पेदं प्रदिश पद्मिरोचते यज्ज्ञातं जनितव्यं च केवलम् ।

॥ ७ ॥

स्तौम्यश्वि नापितो जौदवीमि स नो मुञ्चत्सर्वहंसः

अर्थ— ( येन युजा ऋषयः यलं ब्रह्मघोतपन् ) जिसकी सहायतासे ऋषियोग बल प्रकाशित करते आये हैं, ( येन असुराणां मायाः अयुवन्त ) जिसकी सहायतासे राक्षसोंकी कष्टवृत्तियोंको दूर किया, ( येन श्विना इन्द्रः पृथीजिगाय ) जिस तेजस्वी देवताकी सहायतासे इन्द्रने असुरों का व्यवहार करनेवालोंको जीता था ( सः नः बंधुसः मुञ्चतु ) वह हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

( येन देवाः अमृतं अन्वयिष्यन् ) जिसकी सहायतासे देवोंने अमृत प्राप्ति किया, ( येन ओदधीः मधुमतीः अष्टपद्मम् ) जिसकी सहायतासे ओदधीको मधुर रसवाली बनाया है, ( येन देवाः स्वः श्रारमरुन्त ) जिसके आश्रयसे देवता लोग आत्मिक बल प्राप्त करते हैं। ( सः नः बंधुसः मुञ्चतु ) वह हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

( यस्य प्रदिश इव केवलं ) जिसके घ्रातयमें यह विश्व जितों अग्यकी सहायताकी अपेक्षा न करता हुआ स्थिर है ( यत् विरोचते ) जो इस समय प्रकट हो रहा है ( यत् ज्ञातं जनितव्यं च केवलं ) जो पड़िले बना था और जो भविष्यमें भी बनेगा, ( मापितो जौदवीमि ) स्वाप होकर मैं तेजस्वी देवकी स्तुति और पुकार करता हूँ ( सः नः बंधुसः पामु ) वह हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

भाषार्थ— ऋषि लोग जिसके शास्त्रों बल प्राप्त करते हैं, जिसकी सहायतासे ॥ असुरोंका पराभव करते हैं तथा जिसके आश्रयसे इन्द्रित व्यवहार करनेवालोंका पराजय किया जाता है वह ईश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

जिसकी सहायतासे देवतालोग अमरत्व प्राप्त करते हैं, जिसके आश्रयमें मधुर रसवाली बनायी है, जिसने देवता लोकोमें आत्मिक बल भर दिया है वह देव हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

भूत भविष्य और वर्तमान समयमें प्रकाशित होनेवाला यह सपूर्ण विश्व जिसके शासनमें रहता है उसकी मैं स्तुति, प्रार्थना और उपासना करके वाचना करता हूँ कि वह परमेश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

## पाप मोचन

### पापसे मुक्ति

बहुमन्ये पारका माय रहता है जो हरएककी उसलिये पथमें रुकावटें उत्पन्न करता है। इसलिये पाप भावसे बचने का उपाय हरएकको करना चाहिये। यहां २३-२९ में सप्त सूक्त इसी उद्देश्यके आये हैं, इन सत्तोंका अर्थ 'सुमार' है। इस अर्थमें नामका अर्थ 'आत्मशुद्धि करनेवाला' ऐसा है। इस २३ में सूक्तमें अग्नि नामकी घोषित होनेवाले परमेश्वरकी सहायतासे पाप मुक्त होनेका उपदेश है।

इस पृथ्वीपर पृथ्वी प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली शक्ति 'अग्नि' है। अग्निमें प्रकाशवृत्तिका गुण तथा ध्वन्यान्व गुण को विद्यमान हैं। ये जिस परमेश्वरने रखे हैं। वही सत्त्व अग्निका अग्नि है। इस दृष्टिसे यही अग्नि परका प्रयोग किया गया है। जो वेद सबसे पहिला है अर्थात् जिससे पुनः का कोई देव नहीं, जो ज्ञानी है, जो पञ्चजननी हृदयोंमें निवास करता है, हरएकके अंदर को प्रसिद्ध हुआ है, जो यज्ञकी बढानेवाला है, हरएक समयमें जिसकी सहायतासे हमारी स्थिति होती है, प्रत्येक कर्म जिसकी मृतात्मे तिये

बिधा जाता है, जो बुद्धोंको दूर करता है और यत द्वारा जो सज्जनोंका सगतिकरण करता है, इस प्रकार बुद्धोंका बल घटाकर जो सज्जनोंकी रक्षा करता है, जो सर्वत्र प्रसिद्ध है, सर्वत्र व्यापक होता हुआ संपूर्ण जगत्का जो शासन है, जिसके लिये बंसा अन्न धातुसे बंसा उसके लिये ॥ उत्पन्न करता है, शरीर तोय जिससे बल प्राप्त करते हैं, क्षत्रिय और जिससे शत्रुपर विजय प्राप्त करते हैं, बुद्ध रीतिसे व्यवहार करनेवालोंका जिसको व्यवस्थासे परामर्श होता है, जो सबको समुत्तम देता है, जिसने ओषधियोंसे विविध मयूर रख रखे हैं, जिससे आरोग्य प्राप्त प्राप्त होता है और जिसका शासन सब भूत, भविष्य, वर्तमान सत्कारण अवधिगत रीतिसे चलता है क्योंकि जिसके शासनमें बाधा बाधनेवाला कोई नहीं है वह एक ही प्रभु इस जगत्का पूर्ण शासक है, उसकी उपासना हम करते हैं, वह हमें निरुपद्रव पूर्ण पापसे बचावेगा । उसके गुणोंका मनन करनेसे और उसके गुणोंकी पारणा अपने अन्तर करनेसे ही जो शुद्ध भावनाएँ समझे स्थिर होती हैं,

जैसे वायु प्रवृत्ति हट जाती है । इसलिये परमेश्वरकी उपासना मनुष्यको अन्त बृद्धि करता है ऐसा कहते हैं वह विस्तृत सत्य है ।

इस अन्तिकी विवृति मनुष्यके अन्तर वाणीका रूप धारण करके रहती है ' अग्निर्वाग्भूया मुखं प्रागिशात् ' ऐसा ऐतरेय उपनिषद्में कहा है । इससे बाणीसे पाप न करनेका निश्चय करना धातुसे । बिचार, उच्चार और आचार यह त्रय है, इनसे विचार होता है, पश्चात् वाणीसे उच्चार होता है और अनन्तर शरीरसे कर्म होता है । मनुष्य अपने ही पापके सत्कारणों से तो उसको बला लग जायना कि बाणी का प्रयोग ठीक रीतिसे न होवैके कारण ही जगत्में कितने अनर्थ और वाय हो रहे हैं । यह बात तो सबके परिचयकी है कि वाणीका योग्य उपयोग करनेसे प्रचण्ड अनर्थ दल जाते हैं । इसलिये जो पापसे घबरा चाहते हैं वे अपने वाणीकी सत्यते पहले शुद्ध करें और पापसे बचे ।



## पापकी निवृत्ति

### कांड ३, सूक्त ३१

( अग्नि - ब्रह्मा । देवता - पाप्मन् । )

वि देवा जरसावृत्तन्वि स्वर्मे अरात्सा । व्यं१इं सर्वेण पाप्मना वि बर्हमेण समापुषा ॥ १ ॥

व्यात्पां पर्वमानो वि शुक्रा पापकृत्यसो । व्यं१इं सर्वेण पाप्मना वि बर्हमेण समापुषा ॥ २ ॥

अर्थ— ( देवाः जरसा वि अवृत्तन् ) देव ब्रह्मात्म्यासे दूर रहते हैं । ( अग्ने । स्वं अरात्सा वि ) हे अग्ने ! तू कलुषीसे तथा शत्रुसे दूर रह । ( अह सर्वेण पाप्मना वि ) मैं सब पापोंसे दूर रहूँ । तथा ( बर्हमेण वि ) रोपते भी दूर रहूँ । और ( आयुषा स ) दीर्घ आयुसे सम्पन्न होऊँ ॥ १ ॥

( पर्वमानः मातृर्वा वि ) शुद्धता करनेवाला पुत्र पौत्रोंसे दूर रहता है, ( शुक्रः पापकृत्यया वि ) सभ्य मनुष्य पापकर्मोंसे दूर रहता है, उही प्रकार ( अह सर्वेण ) सब पापोंसे और सब रोगोंसे मैं दूर रहूँ और दीर्घायुसे सम्पन्न होऊँ ॥ २ ॥

भाषार्थ— जैसे देव ब्रह्मात्म्याको दूर करके सब तपण रहते हैं तथा अग्निदेव अराती पुद्गलोंको दूर करके शत्रु पुद्गलोंको पास करते हैं, इसी प्रकार मैं सब पापोंको और रोगोंको दूर करके पुत्रपौत्रोंसे दीर्घ आयु प्राप्त करूँ ॥ १ ॥

अपनी शुद्धता रखनेवाला मनुष्य रोगविषीकर्मोंसे दूर रहता है और पुत्रपौत्रों सभ्य मनुष्य पापोंसे दूर रहता है, उसी रीतिसे मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायु प्राप्त करूँ ॥ २ ॥

वि ग्राम्याः पशुर्व आरण्यैर्व्यापिस्तृष्णयासरन् ।

व्यग्रहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा

॥ ३ ॥

वीडुमे घावापृथिवी इतो वि पन्यानो दिशेदिशम् ।

व्यग्रहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा

॥ ४ ॥

स्वर्षा दुहित्रे बहत्तु युनक्तीतीदं विस्व मुर्वनं वि वाति ।

व्यग्रहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा

॥ ५ ॥

अग्निः प्राणान्तं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः ।

व्यग्रहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा

॥ ६ ॥

प्राणेन विस्वतोधीर्य देवाः सूर्ये स्वैरयन् । व्यग्रहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा

॥ ७ ॥

अर्थ— जैसे ( ग्राम्याः पशवः आरण्यैः वि ) ग्रामके पशु अरण्यो पशुओंके दूर रहते हैं और ( व्यापः दुष्पाया वि असरन् ) जल व्याप्तके दूर रहता है, उसी प्रकार ( अहं सर्वेण० ) मैं सब पापों और रोगोंके दूर रह कर रोगोंसे मुक्त होऊँ ॥ ३ ॥

जिस प्रकार ( इमे घावापृथिवी वि इतः ) ये घुसोक और पृथ्वी जलम हैं और ( पन्यानाः दिशे दिशं वि ) ये सब मार्ग प्रायेक दिशामें अलग अलग होकर जाते हैं, उसी प्रकार ( अहं सर्वेण० ) मैं सब पापों और रोगोंके दूर रहता हुआ रोगोंसे मुक्त होऊँ ॥ ४ ॥

जैसे ( स्वर्षा दुहित्रे बहत्तु युनक्ति ) पिता अपनी कन्याको दहेज-पत्नी बन-देनेके लिये अलग करता है और जैसे ( ह्वं विश्वं भुवनं वि वाति ) यह सब भूवन अलग अलग चलता है, उसी प्रकार ( अहं सर्वेण० ) मैं सब पापों और रोगोंके दूर रहता हुआ रोगोंसे मुक्त होऊँ ॥ ५ ॥

जित रीतिसे ( अग्निः प्राणान् संहति ) जादर अग्नि प्राणोंको धारण करती है और ( चन्द्रः प्राणेन संहितः ) चन्द्रमा-मन-प्राणके साथ रहता है, उसी रीतिसे ( अहं सर्वेण० ) मैं सब पापों और रोगोंके दूर रह कर रोगोंसे मुक्त होऊँ ॥ ६ ॥

जिस ढंगसे ( देवाः विश्वतो-धीर्य सूर्ये ) देव सब सामर्थ्यसे युक्त सूर्यको ( प्राणेन स्वैरयन् ) अपने प्राणके साथ सम्बन्धित करते हैं उसी ढंगसे ( अहं सर्वेण० ) मैं सब पापों और रोगोंके दूर रह कर रोगोंसे मुक्त होऊँ ॥ ७ ॥

आचार्य— जैसे वी सावि गाँवके पशु सिंह व्याघ्र आदि बंजरके पशुओंके दूर रहते हैं और जैसे जलके पास मुष्क नहीं जाती, उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंके दूर रह कर रोगोंसे मुक्त होऊँ ॥ ३ ॥

जैसे माकाता मृगिते दूर है और प्रायेक विद्याको ज्ञाननेवाला मार्ग अनेक प्रकारसे मुक्त होता है, ऐसे ही मैं पापों और रोगोंके दूर रह कर रोगोंसे मुक्त होऊँ ॥ ४ ॥

घुसोका पिता जैसे घुसोके विवाहके समय बामादकी देनेके लिये दहेज अपने घरके अलग करके दूर करता है और जिस प्रकार मैं घृह नक्षत्रादि भोल कपनी गतिसे चलकर परस्पर अलग रहते हैं, उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंके दूर रह कर रोगोंसे मुक्त होऊँ ॥ ५ ॥

जैसे घरीरके जादर अग्नि अजायिका पावन करती हुई प्राणोंको अलग करनेवाली है और मन अपनी चतितसे प्राणके साथ रह कर दादर चलता है, उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंके दूर रह कर रोगोंसे मुक्त होऊँ ॥ ६ ॥

जैसे सबको बल देनेवाले सूर्यको भी अन्य देव प्राण चतितसे मुक्त करते हैं, उसी ढंगसे मैं पापों और रोगोंके दूर रह कर रोगोंसे मुक्त होऊँ ॥ ७ ॥

आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः । च्य१इं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ८ ॥  
 प्राणेन प्राणतां प्राणैर्वैव संव मा मृथाः । च्य१इं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ९ ॥  
 उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन । च्य१इं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १० ॥  
 आ पर्जन्यस्य वृष्टयोर्दस्वामामृतां यवम् । च्य१इं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ११ ॥

अर्थ— ( आयुष्मतां आयुष्कृतां प्राणेन जीव ) दीर्घायुवाले और आयुष्यवृद्धावस्थित ओ होते हैं उनके प्राणके साथ जीता रह । ( मा मृथाः ) मत मर, उसी प्रकार ( अहं सर्वेण० ) मैं भी सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायुवाला बनू ॥ ८ ॥

( प्राणतां प्राणेन प्राण ) जीवित रहने वालोंके प्राणसे जीवित रह, ( इह यव भय ) जहाँ प्रभावशाली हो और ( मा मृथाः ) मत मर । उसी प्रकार ( अहं सर्वेण० ) मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनू ॥ ९ ॥

( आयुषा उत् ) आयुष्यसे उत्कर्ष प्राप्त कर, ( आयुषा स्वं ) दीर्घायुसे युक्त हो, ( ओषधीनां रसेन उत् ) औषधियोंके रससे उत्पत्ति प्राप्त कर । इसी रीतिसे मैं भी सब पापों और रोगोंसे दूर होकर दीर्घायुवाला बनू ॥ १० ॥

( यव पर्जन्यस्य वृष्टया ) हम पर्जन्यकी वृष्टिसे ( आ उत् अस्थाम ) उत्पत्तिकी प्राप्त करें और ( अमृताः ) अमर हो जाय । इसीरिति मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घ आयुसे युक्त होऊँ ॥ ११ ॥

भावार्थ— स्वभावतः दीर्घायुवाले लोगोंकी जैसी प्राणवृत्ति होती है और अनेक सामर्थ्यसे अपनी शीघ्र मृत्यु करने वाली की जैसी प्राणवृत्ति होती है, वैसी अपनी प्राणवृत्ति यत्न युक्त करके यदुष्य जीवे और दीप्त न मरे । मैं भी इसी रीतिसे पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु युक्त बनू ॥ ८ ॥

प्राणधारण करनेवालोंके अंतर भी प्राणवृत्ति है, उसको बलवान् करके तू जहाँ पड़, छोटी आयुमें ही मत मर । मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु युक्त बनू ॥ ९ ॥

अपनी आयुसे उत्कर्ष प्राप्त कर और उससे भी दीर्घायु प्राप्तकर, औषधियोंका रस पीकर भीरोग, पुष्ट और बलवान् बन । इसी प्रकार मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायुवाला बनू ॥ १० ॥

पर्जन्यकी वृष्टिसे जैसे वृक्षादि अमर उत्पत्ति होते हैं, उसी प्रकार हम उत्पत्तिकी प्राप्त करें और अमरत्व भी प्राप्त करें । मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु से युक्त बनू ॥ ११ ॥

## पापकी निवृत्ति

### पापानिश्चासिने निरीमता और दीर्घायु

इस सूक्तमें कहा है कि पापोंको दूर करनेसे आरोग्य और दीर्घ आयु प्राप्त होती है और यह अनुष्ठान जिस रीतिसे करना चाहिये इसके उपाय भी गृह्य बताया है ।

### पाप और पुण्य

पाप और पुण्य क्या है, इसका यहाँ विचार करना आवश्यक है । पाप और पुण्य ये धर्मशास्त्रकी संज्ञाएँ हैं और धर्मशास्त्र अन्याय्य धर्मोंका सारस्वर धारण है । अन्याय्य धर्मोंसे निरा धर्मशास्त्र नहीं है । अन्याय्य धर्म एक एक विषयके संबंधमें ज्ञान ॥ है और धर्मशास्त्र संयुक्त

शास्त्रोंके निचोड़ लेकर मानवीं उन्नतियोंके सिद्धांत बनाता है, इसलिये धर्मशास्त्रके विधिविधेय सर्वसामान्य होते हैं और अन्याय्य धर्मोंके विधिविधेय एक धर्मशास्त्रके विषयसे प्राप्त संबंध होनेके कारण विशेष होते हैं ।

पाप पुण्यका विषय इसी प्रकार है । पुण्य धर्मका सर्व है ' वसिष्ठ वचना ' और पाप धर्मका सर्व है ' पतनका हेतु ' अन्याय्य धर्मोंमें मिलते जाति होती है ऐसा सिद्धांत है सब जहाँ धर्मशास्त्रमें ' पाप ' शब्दसे बताया जाता है और जो बातें उपनिषद्कारक सत्यकी जाती हैं उनको पुण्यकारक धर्म धर्मशास्त्रमें कहा है । यह बात अधिक स्पष्ट करनेके लिये एक ओर उदाहरण लेकर इसी विषयको विस्तार करते हैं—



वैद्यशास्त्र

धर्मशास्त्र

- १ भयभीतोंसे यज्ञार्थ और वेद विपद्यता है, सुनमें कमजोरी पैदा होती है इस कारण अनेक रोग होते हैं । इस्यादि
- २ व्याभिचार करनेसे बीर्यताम्र होनेके कारण मस्तिष्क कमजोर होता है और अनेक बीमारियाँ होती हैं । इस्यादि

आरोग्यशास्त्र

- ३ स्नान करके स्वच्छता करने, घरमें तथा बाहर स्वच्छता करनेसे रोग नहीं होते और आरोग्य बढ़ता है । इस्यादि
- ४ अन्न छाननेसे उसमेंसे रोगजन्य या अन्य रोगजन्य दूर होते हैं और इस कारण छाना हुआ अन्न पीना आरोग्य कारक है ।

समाजशास्त्र

- ५ साथ दोस्तोंसे अनुश्रवके व्यवहार उत्तम चलते हैं । इस्यादि
- राजशास्त्रमशास्त्र
- ६ चोरी, खून आदि करनेसे राजशासनके नियमके अनुसार दण्ड होता है ।

१ मद्य पीना पाप है ।

२ व्याभिचार पाप है ।

३ स्नान करना पुण्यकारक है । स्वच्छता करना पुण्य है ।

४ अन्न छानकर पीना पुण्यकारक है ।

५ साथ दोस्तों पुण्यकारक है ।

६ चोरी खून आदि करना पाप है ।

पापको दूर करना

सबसे पहले सब पाप दूर करनेका उपदेश दिया है ( मत्स्य संहिता पात्रमना वि० पं १-११ ) । वहाँ पाप शब्द मानिक, नासिक, मानसिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सभी पापोंका निर्देश है । ये सब दूर करने चाहिये । अपने मनसे पापीव्यचार दूर हटाने चाहिये, पापोंकी मूढ़ और पवित्र बनाना चाहिये, लचोरीसे कोई पाप वर्ज करना नहीं चाहिये, ईश्वरोंकी पाप प्रवृत्तिसे रोकना और उनको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि उनकी प्रवृत्ति उस पापकी ओर कभी न होवे । इसी प्रकार कुटुंब, जाति, समाज, राष्ट्रके व्यवहारोंमें अनेक पाप होते रहते हैं । उनको भी दूर करना चाहिये । यदि कोई कहे कि जाति और राष्ट्रके पापोंको हम दूर नहीं कर सकते तो उनको चाहिये कि वे अपना-निजका-तो सुधार करें । अपनी विषयवस्तु सिद्ध हुई तो उसका योग्य परिणाम प्राप्ति पर भी होगा और न भी होगा, तो भी उस अवस्थितको तो पापसे जचबेके कारण उन्नतिकर माप अवश्य ही मिलेगा । निजका पुण्यकर्म होगा उसका फल अवश्य मिलेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है । हरएक अवस्थाके अनुसार भी पतनका हेतु है उसे दूर करके अभ्युदयके हेतुकी प्राप्त में रचना चाहिये । ऐसा करनेसे पाप और रोग दूर होकर दीर्घजीवन प्राप्त होगा ।

आध्यात्म शास्त्रोंमें प्रत्येक कृष्णके दूरे या घने परिणाम कारणके साथ बताया हुआ होते हैं, परंतु उन सबका समीकरण करने पर धर्मशास्त्रमें ' पाप और पुण्य ' इन दो धर्मों द्वारा बड़ी भाव कारण न देते हुए और परिणाम न बताते हुए कहा जाता है । इससे धर्मशास्त्रके पाप पुण्य भी किस प्रकार शास्त्रसिद्ध हैं इसका पता पाठकीकी जाय सकता है ।

ये सब पाप ही रोग और अस्वास्थ्यके कारण हैं और पुण्य कर्म करनेसे ही निरोगता और दीर्घायु मिलनी है । यह बात सुकृतया इस सूत्रमें प्रतिपादित की गई है । इस सूत्रमें प्रत्येक संशका उत्तरार्थ यह है —

अथहं सर्वेण पाप्मना, वि यक्ष्मेण, सम्रायुषा ॥  
( अ. १-११ )

' मैं सब पापोंकी दूर करता हूँ, उससे रोगोंकी दूर करता हूँ और इसप्रकार दीर्घायुसे मुक्त होता हूँ । ' इस संशका उत्तरावस्थितसे भाव यह है कि— ' मैं पुण्य कर्म करनेसे निरोगता हुआ दीर्घजीवी बनता हूँ । ' अर्थात् दीर्घायु प्राप्त करनेका मूल उपाय पापोंको दूर करनेका पुण्य करना ही है, इससे स्वयं रोग दूर होंगे, निरोगता प्राप्त होगी और दीर्घायु भी मिलेगी । यह भाषा संक्षेप व्याख्यान कर कह कर यह संदेश पाठकोंके मनपर स्थापित करनेका यत्न इस सूत्रमें किया है ।

५. अथ पापों और रोगोंको दूर करनेके अनुष्ठान की रीति देखिये—

### देवोंका उदाहरण

देवोंका नाम 'तिर्यजः' है, इसका अर्थ है 'जरा, बुढ़ा-बूढ़ा और बुढ़ापा आदिको दूर रखनेवाले' । देवोंने इस प्रकारके अनुष्ठान से बुढ़ापेको दूर किया था, और यही आप हमें नेपर भी तब तक जैसे देखते थे । यह आपसे मनुष्योंको अपने समुक्त रखना चाहिये और जित अनुष्ठानसे देवोंको यह सिद्ध प्राप्त हुई थी यह अनुष्ठान करके मनुष्योंको भी यह सिद्ध प्राप्त करनी चाहिये । अतएव के लिये प्रथम मन्त्र—

देवाः जदस्ता पि भवृताम् । ( मं १ )

' देवोंने बुढ़ापेको दूर रखा था ' यह बात कही है । मन्त्र आगे देखिये—

### अधिका आदर्श

अग्नि भी ( अग्ने ' एवं वरास्था वि । मं. १ ) कजूसोंको दूर करता है । उदार मनुष्य ही जो अपने धन आदि द्वारा यह करना चाहते हैं, अग्निहोमादि करनेके लिये तथा अन्त्याय्य वधे यज्ञ करनेके लिये अग्निके पास इकट्ठे होते हैं और जो कजूस होते हैं, वे अग्निके दूर ही जाते हैं, क्योंकि वे अपना धन यज्ञमें लपटा नहीं चाहते । इसका अर्थ यही है कि अग्नि कजूस मनुष्योंको दूर करती है और उदार मनुष्योंको इकट्ठा करके उनका साथ बनाकर उनका सम्बुद्ध करके उन्हें उन्नत करती है । निम्न प्रकार यह अग्नि कजूसोंको दूर करती है, उसी प्रकार पापों और रोगोंको दूर करना मनुष्योंको उचित है । इसका अर्थ यह है कि मनुष्य पापियों और रोगियोंको दूर अपनेसे अलग रखे और पुण्यात्मा और नीरोग मनुष्योंका साथ बनाकर अपनी आरोग्य बढ़ावे ।

यों पापी मनुष्य होता है उसको तर्गतिये ओ ओ मनुष्य अर्थात् वे जो पापी बनें, इसलिये पापीको समाजसे बाहर निकाल देना चाहिये, इसी प्रकार जो रोगी मनुष्य होते हैं उनके समाने भी अन्य मनुष्योंके रोगों होनेकी सम्भावना होती है, इस कारण रोगियोंके लिये द्वितीय अर्थ्य करके उनको अलग करना चाहिये, जिससे उनके रोग अधिक न फैले । इस प्रकार पुरस्ते पापियों और रोगियोंको अलग रखनेका प्रथम करनेसे दोष समाजका निष्काय और नीरोग रहना शक्य है, और यह प्रथम जितनी पूर्णतासे किया जाय उतना अधिक लाभ होगा ।

### पवित्रताका महत्व

द्वितीय मन्त्र पवित्रता और शुद्धताके महत्त्वका वर्णन किया है । पवित्रतासे पाप और रोग दूर होते हैं—

( १ ) एकमात्र आर्था वि । ( १ ) शक्रः अपकृत्या वि । ( मं २ )

' ( १ ) पवित्रता करनेवाला रोगादिकोंके कष्टोंसे दूर होता है और ( २ ) अनोचलसे समर्थ मनुष्य पापसे रहता है । '

ये दोनों अर्थपूर्ण मन्त्रमात्र हैं । स्वच्छता, पवित्रता और निर्मलता करनेवाले जो होते हैं उनके पास प्रायः रोग आते ही नहीं, अथवा वे अपनी शुद्धतासे रोगोंको दूर रखते हैं । शुद्धताका अर्थ यह है कि जब आदिते शारीर निर्मल करना सत्यसे मनकी पवित्रता करना, विद्या और तपसे अपनी अथ मुक्ति करना, शुद्ध विचारों और प्रेमपूर्ण आचरणसे परिवारकी शुद्धता करना, घरकी पवित्रता भित्तवादि करना, अग्निसे हुवन करके वायुकी शुद्धता करना, छान कर जलकी शुद्ध बनाया, मत्तस्वानोंको शुद्ध करके नगरकी स्वच्छता करना, इसी प्रकार अन्त्याय्य लोगोंकी शुद्धता करनेसे रोग ओढ हट जाते हैं और मनुष्य रोगसे पीड़ित नहीं होता ।

इसी प्रकार साथ, परमेश्वरनिष्ठा, तप, धर्माचरण आदि द्वारा भक्त बल अन्तेसे जो सामान्य मनुष्यके अन्दर जाग्रत होता है वह मनुष्यको पापोंसे बचाता है । ऐसा समर्थ मनुष्य वाधाचरण नहीं करता और वह पवित्रता बनाता हुआ जनताके लिये आदर्श बनता है । यह मनुष्य न केवल स्वयं पापों और रोगोंसे दूर रहता है ब्राम्हण लोगोंको भी दूर रखता है ।

ग्राम, नगर और राष्ट्रोंकी पचायतों द्वारा ग्राम, नगर और राष्ट्रमें उन्नत प्रकार पूर्ण स्वच्छता और पवित्रता बनाते भी उन्नत क्षेत्रोंकी जनता पापों और रोगोंसे बची रहती है । यह द्वितीय मन्त्रका उपदेश प्रायशः फल देनेवाला होनेके कारण इसका अनुष्ठान सर्वत्र होना आवश्यक है ।

### स्थानस्वाशमे वचाव

पापी मनुष्योंका और रोगोंका स्थान छोड़ देना इसकी स्थान त्यागसे बचाव करना कहते हैं । इसका वर्णन तृतीय और चतुर्थ मंत्रों द्वारा हुआ है, देखिये—

१ आम्नाः पशयः आत्थयि वि । ( मं ३ )

२ इमे पाषाणुपि वि इति । ( मं. ४ )

' ( १ ) ग्रामके गो आदि पशु व्याध्यादि आरणाक धनु-  
मेति दूर रह कर बधाव करते हैं, ( २ ) तथा सुतोव  
पुष्पोति भंसे दूर रहता है । ' ये स्थानावाय करके बधाव  
करनेके उपाहरण है । व्याघ्र, सिंह, भेडिया आदि जिस स्थान  
में रहते हैं उस स्थानका व्याय करके गो आदि प्राणीय पशु  
अवना बधाव करते हैं । भूलोककी अशुद्धिसे बचनेके लिये  
और अपनी प्रकाशयता विष्टर रखनेके लिये धूलोक भूलोक  
से बहुत दूरीपर स्थित है । इस प्रकार पापी लोगोति दूर रह  
कर पापसे बचना और रोग स्थानसे दूर रह कर रोगोति बच  
बचना योग्य है ।

### स्वभावसे बचाव

जिनकी स्वभावसे ही पापसे बचनेकी प्रवृत्ति होती है  
और जिनमें स्वभावसे ही रोग प्रतिबन्धक शक्ति होती है वे  
पापी और रोगोति बचे रहते हैं, इस विषयमें धूमके कथन  
देखिये—

१ अपः हृष्याया वि असरम् । ( म. ३ )

२ पश्यामः विधां दिशं वि । ( म. ४ )

' ( १ ) जल अपने स्वभावसे ही व्याप्तते दूर रहता है  
और ( २ ) दिविष विद्याभीति जानेजाने मार्ग स्वभावसे एक  
दूसरेसे दूर रहते हैं । ' जलकी स्वभावसे ही व्याप्त नहीं  
सगती । इस प्रकार जो लोग स्वभावतः पापमें प्रवृत्त नहीं  
होते वे पापरहित होते हुए पापके फलभोगसे बचते हैं ।  
इसी प्रकार जिनके शरीरमें रोग प्रतिबन्धक शक्ति वर्धित  
रहती है वे रोगप्रदानमें रहते हुए भी रोगोति बचे रहते हैं ।  
यह स्वभावका नियम देखकर हृष्टकमी उचित है कि वह  
अपना स्वभाव उक्त प्रकार बनाने और पापी और रोगोति  
अपना बचाव करके दीर्घायु और रोगरहित तथा  
सखील बने ।

### दान

जनताकी विधाय और नारीय करनेके लिये धनी मनुष्य  
सपने धनका कुछ भाग भक्षण करके बल देवे जिस प्रकार—  
त्येषा दुहिते वदन्तं मुनिकि । ( म. ५ )

' पिता पुत्रीके बहेचके लिये धन योजनापूर्वक देता  
है । ' यह धन दामादके घरमें रहता हुआ स्त्रीधनके रूपसे  
दण्ड कार्य करता है, इसी प्रकार धनी मनुष्य अपने धनका  
कुछ भाग जनताकी रोगमुक्ति और पापमुक्ति करनेके लिये  
अर्पण करे और इस इच्छासे हृष्ट बनसे ऐसी वरदाण्य योजना

पूर्वक वलानी चाहे कि जो जनताकी पापप्रवृत्तिसे और  
रोगसे रक्षा करे । ॥ प्रयत्नसे सपूर्ण राज्य प्रतिदिन अधि  
कारिक निष्पाप, नारीय, दीर्घजीवी, संपन्न, स्वस्थ और  
सुखी बन सकेगा ।

### अपनी गतिमें रहना

जो एक दूसरेसे स्वर्ण करते हैं और अपना दुःख बताते  
हैं । यदि वे अपनी गतिसे बचते रहें और दूसरेकी गतिके  
साथ व्यर्थ स्वर्ण न करें तो भी पापसे और रोगोति बच  
सकते हैं । इस विषयमें एक उदाहरण है—

इदं विधमं भुज्यं विपयति । ( म. ५ )

' जो हृष्ट पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि गोल ग्रहकी अपनी  
विधि गतिमें चलते हैं । ' सूर्यको जलतासे बड़ स्वर्ण कर-  
के स्वयं उष्ण बनना नहीं चाहता और चन्द्रकी स्वर्ण कृता  
हृष्टा सूर्य स्वयं उष्ण बननेका इच्छुक नहीं है । इसी प्रकार  
ये सब ग्रह अपनी अपनी गतिसे अपना अपना कार्य करते  
हैं विविध भुवनोंकी रचनायता उपदेश देती हैं कि विविधता-  
से युक्त वे सब भुवन जिस प्रकार सपूर्ण भगवत्के अंत ब्र-  
ह्म कर वरस्पर अविरोधी हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी विविध  
गुण धर्मोंसे युक्त होते हुए धर्मपूर्ण राज्यके मरमम बनकर राज्य  
हित और सपूर्ण जनताका हित करनेकी बुद्धिसे आपसमें  
अविरोधी भावसे रहे । इस प्रकार रहनेसे पूर्वागत प्रकार वे  
उपायोक्त अवलम्ब करके अपने आपकी पापी और रोगोति  
बचा सकते हैं । अतः आपसमें लड़ते हुए रोगोति मरनेके  
पूर्व ही एक दूसरेके विर तोड़कर स्वयं मर जायगे । ऐसा  
नाश न हो, इसलिये बेर कहता है कि अपनी गतिमें चली  
और परस्पर सहामक बनकर अपनी वलनिका सामन करो ।

### पेटकी पाचन शक्ति

मनुष्यके शरीरमें रोग बीमोंका प्रवेश सब होता है जब  
उसकी पाचन शक्ति बिगडी हुई होती है । इसकी दृष्टाना  
देनेके लिये मध्य पत्रमें कहा है—

अग्निः प्राणान् सदधाति । ( म. ६ )

' जलर जग्नि—जलका पाचन करनेवाला उष्ण स्थानका  
जग्नि ही—प्राणीको सम्मन्त्रता पारण करता है । ' अन्य  
कोई साधन नहीं है जिससे प्राणीका पारण अच्छी प्रकार हो  
सके । इसलिये जो बीमों बीमनके इच्छुक हैं वे व्यायाम तथा  
जन्मजन्म योग साधनादि द्वारा अपनी पाचन शक्ति धरती  
प्रदोष करें । ऐसा करनेसे शरीरमें जो सम्मन्त्रता आयेगी वही  
रोगोंकी दूर रखेगी और पतन माने न देगी ।

दूसरी बात यह है कि जाकर अग्निके विषादसे युक्त, हृदय और मस्तिष्कका विषाद होता है। मस्तिष्कके विषाद से विचारोंमें परिवर्तन होता है अर्थात् मनुष्य पाप कर्मसे प्रवृत्त होता है। यदि पापक दण्डित होकर रहती, तो रोग आदि वैसे प्रबल नहीं होते। इसलिये पापों और रोगोंसे बचनेके लिये तथा दीर्घायुत्वकी प्राप्तिके लिये मनुष्य अपनी पापवशलि उत्तम प्रवृत्त करे। इसी मन्त्रमें और कहा है—

चन्द्रः प्राणेन सहितः । ( म ९ )

‘चन्द्र’ प्राणसे मिलता हुआ है। ‘यहा’ ‘च-न्द्र’ शब्दके तीन अर्थ हैं— ( १ ) वनस्पतिसे उत्पन्न हुआ अन्न, ( २ ) वनस्पति-पौके कलाहिकोंका रस, ( ३ ) और मनः प्राणसे । तीनोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यहा वनस्पतिसे प्राप्त होनेवाला द्युक्तभोजन प्राणसे स्थितिकरणसे लिये आवश्यक अन्नानेसे मांसवि सेवन दीर्घायुत्वके लिये अनिष्ट होनेका उपदेश स्वयं ही प्राप्त होता है।

### सूर्यका दीर्घ

सूर्यमें यही भावी जीवन विद्युत् है, उसको अपने अन्दर सहित करनेसे नीरोगता और दीर्घजीवन प्राप्त हो सकता है। इस विषयमें सप्तम मन्त्रका कथन यह है—

देवाः दिव्यतोदीर्यं प्राणेन संग्रहयन् । ( म. ७ )

‘देव’ शब्द प्रकारके दीर्घोंसे युक्त सूर्यको प्राणके साथ संग्रहित करते हैं। इसी अनुष्ठानसे देव ( निर्जरा ) जराहीन और ( अ-मरा ) अमरारहित हुए हैं। ‘इस लिये जो लोग अपने प्राणके अन्दर सूर्यकी जीवन विद्युत्को पारण करेंगे, वे भी उक्त सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। सूर्य प्रशान्तमें लगे होकर या दौटकर दीर्घायुत्व द्वारा सूर्यकी विद्युत् प्राणके अन्दर लेनेसे अपने अन्दर सूर्यका दीर्घ आजाता है। इसी प्रकार भगेश्वरी सूर्यास्तपूजन करनेसे भी घमडा के अन्दर सौरविद्युत्का प्रवेश हो जाता है। इसी प्रकार विविध योक्तानों द्वारा सौरविद्युत्से लाभ उठाया जा सकता है।

### दीर्घायु प्राप्त करनेवाले

जो ( मायुष्यम् ) दीर्घ आयुप्राप्ति मनुष्य है, अर्थात् दिवा

प्रयत्नसे जो दीर्घ आयुप्राप्ति प्राप्त है, तथा जो ( आयुष्यम् ) प्रयत्नसे दीर्घ आयु करनेवाले हैं अर्थात् योगादि अनुष्ठानद्वारा जिन्होंने दीर्घ आयु प्राप्त की है ( प्राणतां प्राणेन ) प्राणकी प्रबल शक्तिके युक्त पुरुषोंका प्राण कैसे सज्जता है इस प्रकार विचार करके मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपाय जान सकता है। वे उपर कहे मनुष्य अपना दैनिक व्यवहार कैसे करते हैं, किस दृष्टिसे व्यवहाराते इन्होंने दीर्घ आयु कमाई, इसका ज्ञान प्राप्त करके, इनके बदाचरण अपने सम्मुख रखकर, उननुसार अपना व्यवहार करना चाहिये। ( इह पृथ भव ) इस प्रकार इस मूलोक्तमें दीर्घकाल तक रहना चाहिये और ( मा मृषाः ) मीठ मरना उचित नहीं। अत उपदेश ५, ८ और ९ में है।

अबने राष्ट्रमें तथा अन्य देशोंमें जहाँ जहाँ शीघ्राम्, वीरोग, असमान, निष्प्राण और सज्जित लोग होंगे, उनके जीवन सार्वत्रिक देसकर उनके जीवनसे उचित दीर्घ प्राप्त करना चाहिये और उससे लाभ उठाया चाहिये।

### औषधिरस

यद्यपि मन्त्रमें औषधियोंके रसका सेवन करनेके दीर्घायुत्वकी प्राप्ति करनेका उपदेश है—

औषधीनां रसेन आयुषा सं उद् । ( म १० )

‘औषधियोंके रससे हृदय दीर्घायुप्राप्ति संवृत्त हों।’ इससे औषधीय प्राप्तिका सप्तम औषधियोंके रस प्राप्त करनेके साथ बताया है। इसी सुक्तमें छठे मन्त्रके विधानके साथ इसकी तुलना कीजिये।

अतिथि मन्त्रमें कहा है कि नित प्रहार ‘वृष्टि’ होनेसे दृष्टा वनस्पति आदि उषते हैं और उपरिक्तों प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार जल पृथ्वीसे उद्यतते। यद्यं अनुत्ताः उद्गच्छामि ) अमर होकर सब प्रकारकी उषति प्राप्त करें। ( म ११ )

यह सत्य है कि जो इस सूक्तमें निम्ना अनुष्ठान करेंगे वे इस प्रकारके सिद्धि प्राप्त करेंगे, इसमें कोई संदेह ही नहीं है। वेदमें वसुधैव कुटुम्बकम् कहा है ऐसे जो अनेक सूक्त हैं उनमेंसे यह एक है। इससे मन्त्रमें भेदकी उपदेश करनेकी संसोच्य भी जान हो सकता है।



## पापसे मुक्तता

कांड ७, सूक्त ६४

( अग्नि - देवता - सन्तोषता, निर्दोषता । )

इदं यत्कृष्णः शुक्लनिर्वाग्निष्पतुर्वापतत् । आपो मा तस्मात्सर्वस्मादुतितात्पान्त्वहंसः ॥ १ ॥

इदं यत्कृष्णः शुक्लनिर्वाग्निष्पतुर्वापतत् । आपो मा तस्मादेवंसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥ २ ॥

अर्थ - ( इदं यः कृष्णः शुक्लनिः ) यह जो काला शुक्ली पत्नी ( अग्निनिष्पतम् अपांपतत् ) सुरता हुआ गिरता है । ( तस्मात् सर्वस्मात् उतितात् अहंसः ) उस सब विराटके पापसे ( आपो मा तस्मात् ) कम नही रक्षा करे ॥ १ ॥

हे ( निर्दोषते ) दुर्गा ! ( इदं यः कृष्णः शुक्लनिः ) यह जो काला शुक्ली पत्नी ( ते मुखेन अवापृतम् ) मेरे पास मुझके साथ गिरता है ( गार्हपत्यः अग्निः ) गार्हपत्य अग्नि ( तस्मात् एवम् ) उस पापसे ( मा प्रमुञ्चतु ) मुझे छुड़ावे ॥ २ ॥

इन दोनों अर्थोंके प्रथम अर्थ दुर्गा है । दूसरे अर्थोंमें जल और अग्नि दोनोपुन करके पापसे बचाते हैं यह बात स्पष्ट हो गई । पहिले अर्थमें प्रतीत होता है कि शुक्लनिष्पतोका विरता या उज्ज्वला अग्नि या शुभका प्रथम है । परन्तु ये बात अत्यन्त प्रथम है ।

## पापसे मुक्तता

कांड ७, सूक्त ४२

( अग्नि - प्रकृत्य, देवता - सोमराज्य । )

सोमं रुद्रा वि वृहत् विपूष्मीमर्षिं या नो गम्यमाविवेश ।

पापेषां दूरं निर्गतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुञ्चतु मस्मत् ॥ १ ॥

सोमं रुद्रा युवमेवान्स्माद्विधां तमुप मेपजानि धत्तम् ।

अर्षस्पतं मुञ्चतु यज्ञो अर्षत्तनुषु वद्धं कृतमेनो अस्मत् ॥ २ ॥

अर्थ - हे सोम और रुद्र ! ( या अग्नीम् ) जो सोम ( यः गम्यमाविवेश ) हमारे परम प्रियतम हुआ है, उस ( विपूष्मीं विवृहत्तम् ) अर्षत्तनुषु सोमको दूर करो । ( निर्गतिं पराचैः दूरं पापेषां ) दुर्गागतिसे विशेष रीतिसे दूर हो रोक दो । ( कृतं चिदेनः ) हमारा किया हुआ भी जो पाप हो, वह ( अस्मत् प्रमुञ्चतु ) हमसे छुड़ाओ ॥ १ ॥

हे सोम और रुद्र ! ( युवमेवान्स्माद्विधां ) तुम दोनों हमारे अतीतमें ( एतानि विभ्या मेपजानि धत्तम् ) इन सब अर्षत्तनुषुकी स्थापित करो । ( यत्तु नः तनुषु वद्धं एनः अस्मत् ) जो हमारा अतीतमें सबलता हुआ पाप है, उससे ( अर्षस्पतं ) हमारा बचाव करो । ( अस्मत् एतं एनः मुञ्चतु ) हमसे छिड़े हुए पापसे हमारी मुक्तता करो ॥ २ ॥

‘ अर्षत्तनुषु ’ नाम इन सोमोंके हैं कि जो आम अर्षत्तनुषु न हुए अर्षत्तनुषु होते हैं । येनो जो अर्षत्तनुषु जाया है वह बड़ा हजम न हुआ तो वहाँ ही उसका नाम अर्षत्तनुषु है और उससे रोग उत्पन्न होते हैं । इन सोमोंके सोम और रुद्र से रोग

देव दूर करनेमें समर्थ है। 'सोम' शब्द मनस्पति और औषधियोंका वाचक है, अर्थात् योग्य औषधिके सेवनसे आमका रोग दूर होगा। यह एक उपदेश यह मंत्र दे रहा है।

'रुद्र' नाम प्राणका है, जीवन शक्ति जो शरीरमें है। यह चौदोशक्ति आमका योग दूर करनेमें समर्थ है। प्राणायामसे एक तो रक्तकी शुद्धि होती है और अर्तमें योग्य गति होनेसे शीघ्रशुद्धि होनेके कारण आमका योग दूर होता है।

शरीरकी सब दुर्गति शायं बिकारके कारण होती है अतः योग्य औषधि सेवनसे तथा प्राणायामके अभ्याससे उक्त योग शरीरसे दूर करना योग्य है। शरीरसे कुछ नियमविरोधी आचरण होकर कुछ पाप भी हो जाए तो भी उक्त वेदका ओंकी सहायतासे यह दूर होगा और पापसे आनेवाली सब विपत्ति दूर होगी।

द्वितीय मंत्रमें ( यिभ्यामि भेषजानि ) सर्व्व औषधियां योग्य और सबसे प्राप्त होती हैं ऐसा कहा है। सोम तो औषधियोंका राजा ही है, अतः उसके घरमें सब औषधियां रहती हो हें। रुद्र भी जीवनशक्तिमय है इसलिये वहां जीवन-शक्ति होगी, वहां रोग कैसे आसकते हें ? इस प्राणसे भी सब औषधियां अनुप्यज्येप्राप्त हो सकती हें। इनसे पूर्व्वक शरीरके योग और सब पाप दूर हो जाते हें। अतः सब अनुप्य इनसे अपना आरोग्य प्राप्त करें और नो रोग बनें।



## इष्टान्से फाफको दूर करना.

कांड ६, सूक्त ११३

( ऋक् - अथर्व। देवता - पूषा । )

त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनमनुभ्येषु ममृजे ।

ततो यदि स्वा प्राहिंरानुशे वां तै देवा नक्षणा नाशयन्तु

॥ १ ॥

मरीचीधूमान्म विद्वान् पाप्मक्षुदाराग्न्यर्च्छत वां नीहारात् ।

नदीनां फेनान् अनु तान्वि नश्य भूष्मि पूषन्दुरितानि मृक्ष

॥ २ ॥

अर्थ— ( देवाः यतस्त एनः त्रिते अमृजत ) देवोंने-इन्द्रियोंने-बहु पाप श्रितने-मनमें-रक्षा और उतने ( एनत् अनुभ्येषु ममृजे ) यह अनुभ्येषों रक्षा है ( ततः यदि स्वा प्राहिः आनशे ) उतने यदि तुझे गडिया आदि रोगने वध रक्षा हो, तो ( देवाः ते तौ प्रक्षणा नाशयन्तु ) वे तेरो उन चोडाको खानेके द्वारा दूर करें ॥ १ ॥

हे ( पाप्मन् ) हे पापी । ( मरीचीः धूमान् ग्रथिता ) सुपेरिगरणोंके या पूर्व्वमें घृत या अथवा ( उद्वारात् क्षनु गच्छ ) वपर जाये भाषने अनुकूलतासे वा, ( उत वा नीहारात् ) अथवा कोहरोंमें नीग हो । ( नदीनां तान् पेनान् अनुधितश्च ) नदीके उन फेनोंमें छिप जा, हे पूषा । ( भूष्मि दुरितानि मृक्ष ) गर्भपातकीमें पातोंको रक्त ॥ २ ॥

आचार्य— इन्द्रियोंका किया पाप मनमें इकट्ठा होता है और मनमें एकत्रित हुआ पाप अनुप्यमें स्थान होता है। यदि इससे विविध रोग हुए जा मानसे उसको दूर किया जा सकता है ॥ १ ॥

सूर्यदिवस, अथर्व, कोहरा अथवा दूसरे स्थान वही भी पापी जाए पर उतका पाप दूर नहीं होता। उसका जितना पाप होता है उतना सब गर्भपातकीमें रहता है ॥ २ ॥

द्वादशधा निर्दितं शितस्वार्थमृतं मनुष्यैस्तथानि ।

ततो यदि स्वा ग्राहिशब्देन तां तं देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु

॥ ३ ॥

अर्थ— ( शितस्य अथमृतं द्वादशधा निर्दितं ) निरुक्त योगों द्वारा पाप बराबर प्रकाशमें रखा है । यह ( मनुष्य-पुनस्तानि ) मनुष्यके पाप हैं । ( ततः यदि स्वा ग्राहिः आनश्ये ) उससे यदि तुम पापों का ग्रहण रोपने परका हो तो ( देवाः ते तं ब्रह्मणा नाशयन्तु ) देव तेरे उस रोपणों कापके द्वारा नष्ट करें ॥ ३ ॥

भाषार्थ— भगवान् पाप बराबर प्रकाशका प्रकाश जाता है वह मनुष्योंमें रहता है । उससे निरुक्त रोप होते हैं जो हाथमूर्धन उपान करनेसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रियों द्वारा पाप किये जाने हैं वे सब प्रकाशरूपमें प्रकाशमें आते हैं । उन पापोंका परिणाम मनुष्यादीर्यों रोगोंके रूपमें बिखरई देता है । ये पाप कभी छिपाये नहीं जाते । सबसे अधिक पाप वर्मका घात करनेसे होता है । इनसे पापोंको दूर करना हो तो सामको बुद्धि बढ़नी चाहिये । क्यों कि सात्वते ही सब पाप दूर होते हैं ।

## शापसे हानि

कांड ६, सूक्त ३७

( अथि - अथर्व [ रक्षाधर्मकाम ] । इत्यतः - अथर्व । )

उप प्रागास्तह्रस्वाक्षो मुक्त्वा उपधो रथम् । अस्मार्मन्विच्छन्मम वृक्षं द्युयविमशो गृहम् ॥ १ ॥

परि णो बृहधि शपथ हृदमुमिरिवा दहेन् । अस्मार्मन् नो अदि दिवो वृक्षमिवाशनिः ॥ २ ॥

यो नः शपादधोपतः शपथो यश्च नः शपात् । अमे पेदुमिवांधामे तं प्रत्यस्यामि मृत्यये ॥ ३ ॥

अर्थ— ( सहस्वाक्षः शपथः ) हमारे अनेकालों पाप ( रथं मुक्त्वा ) अपना रथ जोतकर ( मम शतार अभियच्छन् ) मुझे पाप देनेवालेको छुड़ता हुआ ( उप प्र अग्रात् ) उसके पाससे आता है, ( वृक्षः अदि-मृतः गृहं ॥ ) जिस प्रकार भेड़िया भेड़वालेके घरके प्रति आता है ॥ १ ॥

हे ( शपथ ) दुष्ट साधन ! ( दहेन् अग्निः हृदं ॥ ) जिस प्रकार जलनेवाला अग्नि जलपानकी छोड़ देता है ( नः परि बृहधि ) उसी प्रकार तू हमें छोड़ दे । ( दिवः अशनिः वृक्षं इव ) आकाशकी चिड़की जिस प्रकार वृक्षका नाश करती है ( अथ नः शतार अग्निः ) उसी प्रकार यहाँ हमारे पाप देनेवालेका नाश कर ॥ २ ॥

( अशपतः नः यः शपात् ) पाप न देनेवाले हमसे जो पाप देवे ( यः यः शपतः नः शपात् ) और जो पाप देनेवाले हमको पाप दें, ( अयक्षामं तं मृत्यये प्राति व्यस्यामि ) जब हीनको मैं मृत्युके सामने उसी प्रकार फेंकता हूँ । ( पेदु अमे ॥ ) जिस प्रकार दुष्टता कुतोंके सामने फेंकते हैं ॥ ३ ॥

## शापसे हानि

शापसे हानि

शाप देनेसे, दूसरेको बन्धन बन्धने जो हानि होती है, उसका वर्णन इस सूक्तमें किया है । पाप हमारे अधिकारसे भगवान् महाशक्ति भगवान् ब्रह्मजीवसे उत्पन्न होता है ।

२५ [ अथर्व भा. २ पाण० द्वितीय ]

जो पाप देता है, जोकरे बन्धन बढ़ता है, दूसरेको फोड़ता बुरा बढ़ता है, उसीका पाप उसको हमारे गुना मानकर होकर उसको बुरता हुआ जमीन पर चरने आता है देनेसे —

सहस्वाक्षः शपथः अस्मार्मन्विच्छन् उपगाम् । पं १ )

‘ शाप हजार गुनः बन्धक शाप देनेवालेको दृढता हुआ उसीको प्राप्त जाता है । ’ इसलिये शाप देनेवालेको हानि हजार गुना होती है । अंतः कोई किसीको शाप न देवे ।

शापथ । नः परिषृद्धिः । ( मं. २ )

‘ शाप हमारे पास न आवे ’ अर्थात् हमारे मुखसे कभी बुरा वचन न निकले, और कोई दूसरा हमारे उद्देश्यसे बुरा पथन न करे । अर्थात् हम कभी बुरा वचन न कहें और कभी हम बुरे राज्य भी न सुनें ।

शापथ । शस्तरं जहि । ( मं. २ )

‘ शाप शाप देनेवालेका ही नाश करे । ’ अर्थात् जिसका जो कटु वचन होता है वह उसीका नाश करता है । इसलिये कोई कभी कटु वचन न बोले । कटु वचनसे सच्चा हो अधिक

नाश होता है । इसलिये श्रेणी मनुष्य अपने आपको बड़ी सावधानीसे बचा लेवे ।

अवस्थामं मृत्यये अस्वामि । ( मं. १ )

‘ शाप देनेवाले हीन मनुष्यको मृत्युके प्रति भेता जाता है । ’ अर्थात् शाप देनेसे आपका नाश होता है । कारण कोई किसीको शाप न करे और बुरा वचन भी न करे ।

‘ स्वस्त्वयन ’ अर्थात् ( स्वस्ति-अयन ) ‘ उत्तम कल्याण प्राप्त करते हुए जीवन व्यतीत करना ’ इस मूलका उद्देश्य है । इस उद्देश्यको सिद्धिके लिये मनुष्यको उचित है कि वह कभी कटु वचन न बोले । इस नियमका पालन करता हुआ मनुष्य उत्तम होवे और अपना जीवन कल्याणपूर्ण बनावे ।



## पाप मोचन

कांड ४, सूक्त २७

( ऋचि - नृपार । देवता - वसतः । )

मरुतां मन्वे अधि मे भुवन्तु मेमं वाजं वानसाते अवन्तु ।

आशूनिव सुयमानह छठये वे नो भुञ्चन्मंहसः ॥ १ ॥

उत्सुमक्षितं व्यजन्ति ये सदा य आसिध्वन्ति रसमोपधीषु ।

पुरो देवि मरुतः पृथिवीमर्तस्ते नो भुञ्चन्मंहसः ॥ २ ॥

पयो घेनूनां रसमोपधीनां लवमर्षतां कवयो य इन्वय ।

शग्मा भवन्तु मरुतां नः स्योनास्ते नो भुञ्चन्मंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ— ( मरुतां मन्वे ) मरुताँक मे बनन करता हूँ कि वे ( मे अधि भुवन्तु ) मुझे उपदेश दें और वे ( इमं वाजं वाजसाते भवन्तु ) इस बजरी बज्रबानके प्रबंधमें रक्षा करें । ( सुयमान आशूनिव ) उत्तम नियमोंके पालन करने वाले श्रेष्ठके समान इनको ( छठये अहो ) रक्षाके लिये मैं बुलाता हूँ । ( ते नः मंहसः भुञ्चन्तु ) वे हमको पारने चाहें ॥ १ ॥

( ये सदा अक्षितं उत्सं व्यजन्ति ) जो सदा अक्षय अक्षयवाहको पंजराते हैं, ( ये ओपधीषु रसं आसिध्वन्ति ) जो औषधियोंमें रस सींचते हैं । प्रकाशने ( पृथिवीमर्तः मरुतः पुरः वृधे ) अन्तरिक्षमें जाताते उत्तम मरुताँको मैं अपने समान बुलाता हूँ, वे हमको पारने चाहें ॥ २ ॥

( घेनूनां पयः ) गोमूत्रके रूपमें ( ओपधीनां रसं ) औषधियोंके रसमें ( अर्षतां कवयः ) और धोरोंके वंशों ( ये कवयः इन्वय ) को गुप्त बलि होकर प्राप्त करते हो, वे ( मरुता नः शग्माः स्योनाः भवन्तु ) मरुत तथा हमें पारने । और मुक्त देनेवाले होवें और हमें पारने चाहें ॥ ३ ॥



अपः समुद्रादिवपुर्दहन्ति दिवस्पृथिवीमपि ये सृजन्ति ।

ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरीन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ।

॥ ४ ॥

ये भीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति ।

ये अद्भिरीशाना मरुतो वृषयन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ।

॥ ५ ॥

यदीदृदं मरुतो मारुतेन यदि देवा देव्यैर्नृदधारे ।

युग्मींशिष्वे वसवस्तस्य निष्कृतेस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ।

॥ ६ ॥

तिग्ममनीकं विदितं सहस्रन्मारुतं शर्वः घृतनासुग्रम् ।

स्त्रीमिं मरुतो नायितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ।

॥ ७ ॥

अर्थ— ( ये समुद्रात् आपः दिव्यं दहन्ति ) जो समुद्रसे जलकी धुनोक तक पहुँचाते हैं और जो ( दिव्यं पृथिवीं अपि दहन्ति ) धुनोकसे पृथ्वीपर पुनः छोड़ते हैं ( ये ईशाना मरुतः अद्भिः चरन्ति ) जो समर्थ मरुत जतोंके साथ विचरते हैं वे हमें पापसे बचावें ॥ ४ ॥

( ये भीलालेन ये घृतेन तर्पयन्ति ) जो अन्न और घेतसे सबकी तृप्ति करते हैं ( ये वा वयः मेदसा सारजन्ति ) और जो मनुको पुष्टिकारक पदार्थके साथ उत्पन्न करते हैं, ( ये ईशाना मरुतः अद्भिः तर्पयन्ति ) जो समर्थ मरुत असोति बुद्धि करते हैं वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

हे ( देवाः मरुतः ) विष्णु मन्त्रो ! ( यदि इदं मारुतेन ) यदि यह बलवत् वायुसे युक्त हुआ, ( यदि देव्येन ईदृक् आद ) और यदि दिव्य दक्षितसे युक्त हुआ, तो हे ( वसवः ) निदासको ! ( तस्य निष्कृतेः पूर्वं ईशिष्वे ) उसके उद्धारके लिये तुम ही समर्थ हो, वे तुम हमें पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

( मरुतं घनीकं शर्वः ) मरुतोंका संनिक बल ( घृतनासु तिग्मं ) तेराशोंमें तीक्ष्ण और ( सहस्रत् उग्रं विदितं ) बल युक्त प्रवण शक्तिवाला सबको विदित है । इहलिये वे ( मरुतः स्त्रीमिं ) घर्णीकी प्रज्ञा बनाते हैं और ( नायितः जोहवीमि ) उनसे सनाम होकर उनकी बुलाता हूँ कि वे हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

## वायु मोचन

### मरुत देवता

मरुत नाम विरचये वायुका है, वैद्यों प्राण की वस्तु कह-  
लाता है । इसका नाम मरुत इसलिए है कि यह ( मरु+उत् )  
मरनेवालोंको ऊपर उठाता है । शरीर मरनेवाला हो तो उस-  
को उठाकर सदा करनेवाला प्राणवायु ही है । मरनेवालोंकी  
उठानेका वयस्कार प्राण ही करता है, जिससे अन्यत्र यह दक्षिण  
गहाँ है । जैसे वानुओंमें धीरे सेवधान् होते हैं, उसी प्रकार  
देशोंमें वायु वेगवान् है । इनके कारण ही ॥३॥ प्रकारका  
( घात ) बल, अन्न, मोचन आदि वयायोग्य रीतिले अपने

अपने स्थानमें रहता है । वायु व केवल मनुष्योंका प्राण है  
अपि तु जीवधि वनस्पतिपौधों और बहुतों कोवनका संसार करता  
है और वनास्पतिपौधों को उसकोसम रस प्राण होता है वह  
सब इसी प्राणका कार्य है । वनस्पतियोंमें रीटिक रस,  
गोमयमें आपुलके समान रूप, आकाशमें वेधोंमें विहंगम जल  
रसनेवाला यह विदयव्यापक प्राण ही है ।

यह विदयप्राण ही संप्रकृते कपलके ऊपर से आया है, वहाँ  
उसके वेध बसते हैं और बुद्धि द्वारा फिर पुनः जल हमें  
प्राप्त होता है यह इसीका व्यवहार है । पृथ्वीके ऊपरसे

सब अन्न और पेय इसीके कारण मिलते हैं, हर एक अन्नपान-  
में जो पोष्टिक सत्वांश है वह इसी कारण है । ॥ जीवन  
वेनेवाली प्राण शक्ति वायुमें है, इसीलिये वायुको समका  
नियोजक कहा है ।

जो धोरोंमें तेज, यज्ञ, सामर्थ्य और वीर्य है वह सब इसीके  
कारण है; यह मस्तकों और प्राणोंका कार्य समझो देखना  
चाहिये । देखनेसे पता लगेगा ॥ पापसे बचनेका उपदेश  
मिल किन्तु वपसे ये रहे हैं ।

जगत्में देखिये अथ सब देव अस्तम्ये जाते हैं, परन्तु  
पादुकी प्राण सदासमरस रहकर सबको जिवन देता है ।  
इसी प्रकार धरीरमें सब अन्न इन्द्रिय तथा अवयव अवका  
भोग लेते हैं और कार्य करनेसे चल भी जाते हैं और विधाम  
भी लेते हैं । परन्तु प्राण ही ऐसा एक है कि जो, स्वयं भोग  
नहीं लेता, न विधाम चाहता है और न कभी चकता है ।  
नि स्वार्थ सेवा करनेका उपदेश इससे प्राप्त होता है : जो

जनताकी निःस्वार्थ सेवा करेंगे वे निष्पाप बन जायेंगे ।

वेदमें ' मरुत् ' देवता द्वारा धोरोंका वर्णन होता है ।  
मरते हैं और फिर ऊपर उठते हैं यह कार्य ब्रह्म ( मरु+उत् )  
शब्दमें श्रुति देखते हैं । धरीरमें देखिये- प्राण धरीरमें जाता  
है, वहाँका कार्य करता है अर्थात् धरीरके लिये स्वयं मर  
जाता है और फिर उठता है यह भाव वहाँ प्राप्यक्ष है । प्रति-  
शब्दमें धरीरके लिये प्राण मरता है, इसीलिये धरीर जीवित  
रहता है । प्राणका बरोबरकार धरीरपर होता है, इसीलिये  
धरीर जीवित रहता है । अर्थात् इस प्राणके वपसे धरीरकी  
स्थिति होती है । अपने सब सामान अर्थात् राष्ट्रमें भी यही  
होना चाहिये । राष्ट्रकी सत्ताईके लिये जय अनेक धीर साम-  
समर्थ स्वयं बल करते हैं तब राष्ट्र यशस्वी होता है । सब  
स्वार्थी संघट मनुष्य राष्ट्रमें अधिक मर्यामों होते हैं तब वह  
राष्ट्र गिर जाता है; मनुष्य इसी आत्मतर्पणसे निष्पाप  
बनता है यह बोध वहाँ निस्सता है ।

## फाफ मोचन

कांड ४, सूक्त २८

( श्रुति - धृषारो भवती वा । देवता - भवतावती करो वा । )

भवाश्रयीं मन्वे वां तस्य चित्तं ययोर्वाभिदं प्रदिशि यद्विरोचते ।

यावत्स्वेषधि द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतुमंहसः

॥ १ ॥

ययोरभ्यध्वं तुव यद्वरे चिद्यौ विद्विताविपुमुत्तमार्तिष्ठौ ।

यावत्स्वेषधि द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतुमंहसः

॥ २ ॥

अर्थ- हे ( भय-दायों ) जगत् उत्पन्न करनेवाले और जगत्का सय करनेवाले । ( धां मन्वे ) तुम दोनोंका  
जनन करता हूँ । ( तस्य चित्तं ) उसको तुम दोनों जानते हो । ( यत् इदं प्रदिशि विरोचते ) जो यह दिशाओंमें  
चमकता है वह सब ( ययोः यौ ) जिन तुम दोनोंका ही है ( अस्य द्विपदः यौ द्विपदौ ) इस द्विपद सप्तके जो तुम  
दोनों स्वामी हो, ( यौ चतुष्पदः ) जो चार पाँचपाँचोंके भी स्वामी हो ( तौ नः ओहसः मुञ्चतुमंहसः ) वे तुम दोनों हमें  
पापसे बचाओ ॥ १ ॥

( ययोः मन्वये उत यत् कुरे ) जिन तुम दोनोंके समीप यह सब है और जो दूर भी है और ( यौ चित्  
इपुमृतां भसिष्ठौ विदितौ ) जो निदमपसे बाण धारण करनेवालोंके बाण फेंकनेके समय तुम दोनों जाने जाते हो जो  
तुम दोनों द्विपद और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ २ ॥

सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेऽहं दूरेर्मन्वृती स्तुवन्मैत्र्यग्री ।  
 यावत्स्येष्टाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतमर्हसः ॥ ३ ॥

यावदिमाथे वृद्ध साकमग्रे य चेदसौष्टममिमा जनेषु ।  
 यावत्स्येष्टाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतमर्हसः ॥ ४ ॥

यथैविधात्रापपद्यते कथनान्वदेवैषुत मानुषेषु ।  
 यावत्स्येष्टाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतमर्हसः ॥ ५ ॥

यः कृत्याकृत्यलुक्कृषातुघामो नि तस्मिन्धत्तं बर्धसुग्री ।  
 यावत्स्येष्टाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतमर्हसः ॥ ६ ॥

अभि नो व्रूतं पृथनासुग्री मं वज्रेण मृजतं यः किमीदी ।  
 स्तौमि मवाञ्चवीं नाधितो जोहवीमि तौ नौ मुञ्चतमर्हसः ॥ ७ ॥

अर्थ— ( सहस्राक्षौ वृत्रहणा ) तुम दोनों हजारों आसक्तों और अनु विनाशक हो ( हुवे-गच्छती उग्री ) तथा इष्टक समन करनेवाले उप हो, तुम दोनों को ( अहं हुवे स्तुवन् येमि ) मैं पुकारता हूँ और स्तुति करता हुआ प्राण होता हूँ । जो तुम दोनों द्विपाद और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ३ ॥

( अग्रे यौ साकं वृद्ध आरेमाथे ) पहिले जो तुम दोनोंने मिलमिल कर बहुत कार्य मारम किये और ( जनेषु य अभिमां इत् म अष्टाष्टम् ) लोकमें तेजसे उपपन्न किया । जो वृद्ध दोनों द्विपाद और चतुष्पादोंके स्वामी हो वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ४ ॥

( यथोः घघात् ) जिसके बच करनेके सामर्थ्यसे ( देवेषु उत मानुषेषु अन्तः ) देवों और मनुष्योंके मन्वर ( कथन न अप-पद्यते ) कोई भी नहीं बच सकता और जो द्विपाद और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ५ ॥

( यः कृत्याकृत्य ) जो हिसा करनेवाला ( यः कृत्याधानः मूल इत् ) जो वातना बढ़ानेवाला और मूलको काटनेवाला हो ( तस्मिन्, उग्री, धत्तं निधत्तं ) उत्तर, हे उपवीरो । अपना वस्त्र धराओ । जो देखे तुम दोनों द्विपादों और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे हमसे पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

हे ( उग्री ) उपवन्नायकालो ! ( यः पृथनासु अधिवृत् ) हमसे सम्पूर्ण, क्षेत्राओंमें योग्य उपवेश करो । ( यः किमीदी ) जो स्वामी हो उस पर ( वज्रेण संसृजतं ) वस्त्रप्रहार करो । इसलिये मैं ( मवाञ्चवीं ) अब और बर्धको ( स्तौमि ) स्तुति करता हूँ और ( नाधितो जोहवीमि ) उनसे लगान होकर उनको पुकारता हूँ कि ( तौ नः बर्हसः मुञ्चतं ) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ७ ॥

## भव और शर्व

ये दो शक्तियाँ हैं, एक ' भव ' अर्थात् बढानेवाली शक्ति है और दूसरी ' शर्व ' अर्थात् घातक शक्ति है । इस सब अर्थमें ये दो शक्तियाँ कार्य कर रही हैं । एकसे बृद्धि हो रही है और दूसरेसे नाश हो रहा है । आत्मकमें विनाशक शक्तिका और कम रहता है और शर्वकशक्तिका अधिक रहता है, इस कारण बालक बढता है । पशुमें यह बात उल्टी होजाती है इस कारण पशु शीघ्र होता है । अन्तमें इन दोनों परस्परप्रतिपक्षीयोंका कार्य किस प्रकार चल रहा है यह बात इस रूपमें अच्छी प्रकार बताई है । मनुष्यमें भी ये दोनों शक्तियाँ हैं । जो मनुष्य पापसे बचना चाहता है उसको शक्ति है कि वह

■ शक्तियोगिता ऐसा उपयोग करे कि जयतमें उससे घातपात न बड़े, अपितु धान्ति और सुख बड़े । इस प्रकार करनेसे मनुष्य पापसे बच सकता है ।

मनुष्यमें ' भूय ' शक्ति है जिससे वह माना प्रभुवरके सुलोचनयोगके और दूसरे पदार्थ उत्पन्न करता है और मनुष्य में दूसरी ' शक्ति ' शक्ति भी है, जिससे वह लोभमयीय कर विघातक कार्य भी करता है । जो मनुष्य धारते बचना चाहता है, उसको उचित है कि वह अपनी भयशक्तिका उपयोग लोकजन्यायके उपायोंमें करे । अर्थात् जनताका जिससे हित हो ऐसे धूम कार्य करनेमें उचित शक्तिका उपयोग करे । उसके पास दूसरी शक्तिशक्ति है, इससे घातपात किया जा सकता है वह बलित सत्य है, परंतु इसका भी उपयोग जनताकी मत्तार्थके लिये किया जा सकता है । जो मानवोंकी उन्नतिका विघात करनेवाले दुष्ट हों उनको दूर करनेके कार्यमें इस शक्तिका उपयोग करनेसे यह विघातक शक्ति भी परोपकार करनेवाली बन सकती है । इस प्रकार इस शक्तिका भी उपयोग जब परोपकारमें होगा तब मनुष्यकी दोनों शक्तियोंसे परोपकार होनेके कारण इसका संपूर्ण जीवन यशस्व होगा और इसके पास नष्ट होंगे और यह पुनरात्मा बनता जाएगा । यह जय आत्मशक्तिके लिये आवश्यक है जो इस सूत्र द्वारा सूचित किया है ।



## पाक मोक्षन

कांड ४, सूक्त २९

( ऋषि. - भृगुवर । देवता - मित्रावरुणौ । )

भूये वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुहणो यौ नुदेधे ।

प्र सत्त्वावां नमवंधो भरेषु तौ नौ भुञ्चतुर्महंसः

॥ १ ॥

सचेतसौ द्रुहणो यौ नुदेधे प्र सत्त्वावां नमवंधो भरेषु ।

यौ गच्छधौ नृचक्षसौ वभ्रुणां सुतं तौ नौ भुञ्चतुर्महंसः

॥ २ ॥

पावङ्गिरसमवंधो पारुगस्ति मित्रावरुणा जमदग्निमर्विम् ।

यौ कृष्णपमवंधो यौ वसिष्ठं तौ नौ भुञ्चतुर्महंसः

॥ ३ ॥

मर्थ-- हे ( मित्रा-वरुणौ ) मित्र और वरुण ! ( यौ भूये ) वे भय दोनोंका मत्न करता हूँ, अतः दोनों ( सत्ताप्रधि सचेतसौ ) साथको यज्ञेयते और स्मृति देनेवाले हूँ, ( यौ द्रुहण नुदेधे ) जो तुम दोनों शोहरारियों की हटा देते हो । ( भरेषु सत्त्वावां ॥ भवध ) स्वर्णार्जोंमें सत्य प्राप्त करनेवालेके उत्तम रक्षा करते हो । ( तौ नः अहस सुञ्जत ) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

( यौ भरेषु सत्त्वावां भवधः ) जो तुम दोनों स्वर्णार्जोंमें सत्ताप्राप्तकी बचाते हो, ( यौ सचेतसौ द्रुहणः नुदेधे ) जो दोनों मत्त होकर, शोहरारियोंकी हटाते हो और ( यौ नृचक्षुषौ ) जो मनुष्योंका निरीक्षण करनेवाले दोनों ( वभ्रुणां सुतं गच्छधः ) दोषक क्षमिषे साथ यज्ञे प्रति पशुबन्धे हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ २ ॥

( यौ मित्रावरुणा ) जो मित्र और वरुण तुम दोनों ( पारुगस्ति अमदग्निमर्विम् अग्नि भवधः ) अग्नि मगस्ति, अमदग्नि और अग्निरी रक्षा करते हो, ( यौ कृष्णपमवंधो यौ वसिष्ठं ) जो कृष्ण और वसिष्ठकी रक्षा करते हो, वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

यौ श्यावाश्वमवयो वध्पथं मित्रावरुणा पुरुमीढमार्जम् ।

यौ विमदमवयोः सप्तर्वधि तौ नो मुञ्चतुमहेसः

॥ ४ ॥

यौ भरद्वाजमवयो सौ गविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्रं कुत्सम् ।

यौ कृषीवंतमवयोः प्रोत कण्वं तौ नो मुञ्चतुमहेसः

॥ ५ ॥

यौ मेघातिथिमवयो सौ विशोकं मित्रावरुणानुश्रुनां काव्यं यौ ।

यौ गौतममवयोः प्रोत मुद्गलं तौ नो मुञ्चतुमहेसः

॥ ६ ॥

मयो रथः सत्यवर्त्मसुरश्मिमिथुया चरन्तमभिधाति दूषयन् ।

स्तौमि मित्रावरुणौ नाधितो ओदुवीमि तौ नो मुञ्चतुमहेसः

॥ ७ ॥

अर्थ— ( यौ मित्रावरुणौ ) जो मित्र और वरुण तुम दोनों ( श्यावाश्वं, वध्पथं, पुरुमीढं, अर्धं अथवा ) श्यावाश्व, वध्पथ, पुरुमीढ और अर्धको रक्षा करते हो ( यौ विमदं सप्तर्वधिं अथवा ) जो विमद और सप्तर्वधीकी रक्षा करते हो ॥ ४ ॥

( यौ मित्र वरुण ) जो मित्र और वरुण तुम दोनों ( भरद्वाजं गविष्ठिरं विश्वामित्रं कुत्सं अथवा ) भरद्वाज, गविष्ठिर, विश्वामित्र और कुत्सकी रक्षा करते हो, ( यौ कृषीवंतं कण्वं अथवा ) जो कृषीवंत और कण्वकी रक्षा करते हो, ये तुम दोनों हमें पालते बचावो ॥ ५ ॥

( यौ मित्रावरुणौ ) जो दोनों मित्र और वरुण तुम दोनों ( मेघातिथिं, विशोकं, काव्यं अनुश्रुनां अथवा ) मेघातिथि, विशोक, काव्य उजालाकी रक्षा करते हो ( यौ गौतमं उत मुद्गलं अथवा ) जो गौतम और मुद्गलकी रक्षा करते हो, ये तुम दोनों हमें पालते बचावो ॥ ६ ॥

( यथोः सत्यवर्तमसुरश्मिमिथुया ) जिनका सातवर्गवाला सरल रश्मिवर्गवाला रथ । मिथुया चरन्तं दूषयन् अभिधाति ) मिथ्याचारिकी सताता हुआ चलता है, उन ( मित्रावरुणौ स्तौमि ) मित्र और वरुणकी मे स्तुति करता हूँ और उनसे ( नाधितः ओदुवीमि ) सलाह होकर उनको पुकारता हूँ कि वे दोनों हमें पालते बचावें ॥ ७ ॥

## पाप मोचन

### मित्र और वरुण

मृगार वृक्षोंमें यह उपवास या मन्त्रिय वृक्ष है । २३-२९ में सात वृक्ष पापमोचन विषयके हैं और इन सातों वृक्षोंका अर्थ मृगार है । ये वृक्ष आषाढी दुधिये बहुत सरल हैं, परंतु पापमोचनके अनुष्ठानकी दृष्टिसे अति तीव्र हैं । इनका विषय नीक प्रकार समझने आनेके लिये निम्न लिखित कोष्ठक देखिये—

| वृक्ष | देवता            | अपने शरीरमें शक्ति       | अनुष्ठानविधि                             |
|-------|------------------|--------------------------|--|
| २३    | अग्नि            | वायुशक्ति                | वस्त्राभरण                               |
| २४    | इन्द्र           | बल                       | वस्त्रका अनुपयोग                         |
| २५    | वसुः, सविता      | प्राण, वेद               | प्राणायाम और वेदकी पवित्रता              |
| २६    | धामावृषिकी       | सूक्ष्मसूक्ष्मशक्तियां   | साकर्म्यमें अपनी दक्षिणपंक्ति का उपयोग   |
| २७    | भरतः             | प्राण                    | प्राणायाम                                |
| २८    | भवापर्वी, रुद्रः | अर्धक और पातक क्षत्तिपां | अपनी इन दक्षिणपंक्ति का उत्तम उपयोग करना |
| २९    | मित्रावरुणौ      | मित्रभाव और श्रेष्ठभाव   | दोनोंका अनुपयोग                          |

॥ कोष्टका निरीक्षण करनेसे पता लग जायगा कि अनुष्ठान किस रीतिसे किया जाता है । इस अनुष्ठानका सम्बन्ध समझनेके लिये एक उदाहरण सीजिये, एक मनुष्य कहता है कि ' सूर्यदेव हमें मार्ग दिखाये ' इस वाक्यसे सूर्यका मार्ग विज्ञानका संबन्ध है यह बात निश्चित है । परन्तु यदि कोई मनुष्य अपने हाथ बंद करते और मार्गकी ओर अपनी दृष्टि न डाले तो सूर्य भ्रमभान सहस्र फिरणोंसे प्रकाश करता हुआ भी उसको मार्ग नहीं दिखा सकेगा । इससे अनुष्ठानका जो मार्ग निश्चित हुआ, यह यह है कि ' मनुष्य अपने अक्षरकी शक्तिको सम्मार्थके ओष होने योग्य भरस मार्गपर प्रेरित करे और बाह्यशक्तियोंकी सहायता प्राप्त करनेकी इच्छा करे । ' ऐसा करनेसे ही उसको कायमा पुणं हो सकती है ।

किसी मनुष्यको किसी वस्तुको जाना है, वह मार्ग जानना चाहता है । यदि वह अपने आस कोलकर अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर मार्ग देखनेका यत्न करेगा, तभी वह सूर्य देवताके प्रकाशसे शक्तिके अधिक लाभ उठा सकता है । इसी प्रकार अन्यत्र विषयोंके सम्बन्ध लक्षणा चाहिये । यहाँ प्रचलित विषय ' पापमोचन ' है । भक्त अपने आपको पापसे बचाना चाहता है, इसलिये उसकी पूर्वांश उदाहरणके आधारसे ही अपनी सब शक्तियोंका समग्र करने उसके समग्र द्वारा अपने आपकी पापसे बचानेका परम यत्न करना चाहिये, और उस प्रयत्नके करनेके समय बाह्यशक्तियोंकी सहायता प्राप्त हो, ऐसी इच्छा करनी चाहिये । समग्र रहे की बाह्यशक्ति या तो पूर्ण रीतिसे सहायता देनेके लिये तैयार हो है, जो श्रुतता है वह अपने प्रयत्नकी ही है । आस बंद करनेवाला मनुष्य सूर्यप्रकाशसे लाभ नहीं उठा सकता, प्रत्युत शक्ति कोलकर देखनेवाला ही लाभ उठा सकता है, अर्थात् इस मुख्यका प्रयत्न अवश्य होना चाहिये । यही बात विशेष स्मरण रखने योग्य है । अक्षरके अर्थात् सूर्यके सूर्यके ओ सात बाह्य शक्तियोंकी प्रार्थना की है और उनकी सहायता की याचना की है वह अपने अनुष्ठानको तैयारीके साथ ही को है अन्यथा अनुष्ठानके बिना ये सूर्य कोई लाभ दे नहीं सकते ।

' सूर्य हमें मार्ग दिखाये ' ऐसा कहनेवाले को अपनी शक्ति कोलकर मार्ग देखनेका यत्न करना चाहिये, ' यत्न हुआपो तथा दांत करे ' ऐसा कहनेवालेको प्रयत्न जल अपने हाथ में लेकर पीनेका प्रयत्न करना चाहिये, ' अन्न हमारे शरीर की पुष्टि बढ़ाये ' ऐसी प्रार्थना करनेवालेको उचित है कि

यह उत्तम अन्न तैयार करे और उसकी सेवन विविधता रीतिसे करे और पचवात् कहे की यह अन्न मेरा शरीर पुष्ट करे । हराएक प्रार्थना उसके पूर्व करने योग्य अनुष्ठानकी सूचना है यह बात ध्यानमें धारण करने योग्य है । प्रत्येक प्रार्थनाका अनुष्ठानपूर्वक उच्चार होना चाहिये । अनुष्ठान पूर्वक की हुई प्रार्थना ही सफल होती है अर्थात् अनुष्ठान रहित प्रार्थना निष्फल होती है । वैदिक प्रार्थनाओंसे मनुष्यको जो उत्तमता मार्ग दिखाई देता है वह इस रीतिसे अनुष्ठान पूर्वक प्रार्थना करनेसे ही है अन्यथा नहीं ।

अनुष्ठान अपने अक्षरके देवताओं द्वारा अर्थात् अपने इन्द्रियों और अवयवों द्वारा किया जाता है, इसका सबब निम्न बाह्य देवताओंसे है उनसे सहायतापूर्व प्रार्थना की जाती है । अर्थात् कोई प्रार्थना अनुष्ठानके बिना नहीं की जाती । पहिले अपनेसे शिवता ही सकता है, उत्तम अनुष्ठान करके अब अपनी शक्ति अन्न प्रतीत होती है और अधिक शक्ति की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है, उस समय प्रार्थनाका समय होता है । इस रीतिसे इन सातों सुवर्णका समग्र करनेसे पापमोचनके अनुष्ठानकी रीतिका स्वयं पता लग जाता है । सारांश रूपसे इन सुवर्णोंसे बोधित होनेवाला अनुष्ठान यह है ।

' बाणोंके पक्षि बनानेका प्रयत्न करना, अर्थात् मुखसे अपवित्र शब्दोंका उच्चारण न करना, अपने बलका उपयोग संस्कारमें करना और कभी दूसरोंकी पीड़ित न करना, अपने प्रार्थना कुत्रकादि द्वारा भावना करके मनकी शांति और समीर बनाए, नेशादि इन्द्रियोंको शून्य कर्मासे संपादा और उनके प्रभु प्रभुतिसे हृष्टा, अपने अक्षर भी कोई सामर्थ्य हो उसको संस्कारमें संपादा और अक्षरोंके दूर रहना, संपूर्ण दक्ष प्रार्थनाका व्यवहार उत्तम बलनेका यत्न करना, अपने अक्षर जो धर्म और धार्मिक शक्तियां हैं, उनसे किसी का वातपात न करवा, अपितु उन शक्तियोंको सम्मार्थमें प्रयुक्त करना, अपने अक्षरको मित्रभाव है और परिच्छेदाशय भाव है उसको शक्ति मयल कार्यमें करना और उनको अक्षरका कार्यसे शून्य करना । ' सारांशरूपसे यह अनुष्ठानकी विधि है । इसमें शिव अपनी शक्ति द्वारा अनुष्ठान किया जा रहा हो, उसके साथ प्रयत्न रखनेवाली बाह्य देवताकी प्रार्थना अधिक शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छासे करनी चाहिये । अर्थात् अपना अनुष्ठान और प्रार्थना एक क्षेत्रकी होनी चाहिये । मानी पीनेके समय मद्यको प्रार्थना न हो और भोजन करने के समय दूसरे किसी अन्य देवकी प्रार्थना न हो । प्रार्थना

अथवा सत्य विरवकी विशाल प्रतिमोंसे किया जाता है। इस एकता-नतासे बड़ा सान होता है।

२१ में मृत्युमें कहा है कि जो ( सत्यवान् ) सत्यका पालन करनेवाला होता है, उसको परमात्माकी प्रतिमोंकी सहायता मिलती है ( म. १-२ )। इस मन्त्रमें यह कह कर आगे सत्यपालन करनेवाले अनुष्ठानी महात्माओंकी किस प्रकार सहायता मिली है इसकी नामावली दी है। ये नाम एक एक विशेष गुणकी सूचना दे रहे हैं, इस कारण इन नामोंका विचार करनेसे तीन अनुष्ठानी अनुष्य ईश्वरकी सहायता प्राप्त कर सकते हैं इसका बोध होता है। इस-लिये इनका स्तोत्रार्च देखते हैं—

- १ सत्यवान्- सत्यप्रतिष्ठा, सत्यका पालन करनेवाला।
- २ अंगिरस्- अंगोंमें जो अंगका रस है उसको विद्या जाननेवाला।
- ३ आगस्ति- ( अग-वित् ) वायुको दूर करनेके प्रयत्नमें जो वसति होता है।
- ४ जमदग्नि- ( जमद्+अग्निः ) प्राण आदि अग्निमें जो प्ररक्षित करनेवाला।
- ५ अग्निः- ( भस्ति ) भक्षण करने उद्धारके लिये बाल करनेवाला।
- ६ कश्यपः- ( कश्यपः ) सूर्यवर्द्ध।
- ७ यक्षिष्ठः- सबका सुखपूर्वक निवास करानेवाला।
- ८ द्यावापथा- ( द्यौ गतौ ) गतिशील, प्रयत्नशील।
- ९ वसुध- ( वसि ) सत्य ( मन्त्रः ) धोड़ोंवाला अर्थात् जिससे इन्द्रियकी धोड़े चषक नहीं हैं।
- १० पुदमीडः- ( पुद ) बहुत ( मीड ) पतादि साधन-वर्धन।
- ११ धिमद्- ( धिगतः मद् ) जिसका समग्र गद्य हो गया है।
- १२ सप्तर्षिः- गिर्होंने अपने सातों इंद्रियोंको सत्य किया है।
- १३ भरद्वाजः- ( भरद्+वाजः ) जो आत्मा बाल करता है।
- १४ गविंष्टरः- ( गवि ) बाणोंमें जो शिपर रहता है अर्थात् जो अपने वचनका उपपा है।

१५ विश्वामित्रः- ( विश्वस्य मित्रः ) तबका मित्र, किसीसे द्वेष न करनेवाला।

- १६ कुत्सः- योषोंकी मित्र करनेवाला।
- १७ कक्षीवान्- ( कक्षी ) गतिशील, प्रयत्नशील।
- १८ कश्यपः- सम्प्रविश्यामें प्रवीण।
- १९ मेधातिथिः- ( मेधा ) बुद्धिकी शान्त करनेवाला।
- २० विशोक्कः- स्पृष्ट, सुदम और कारण इस तीन विशेषोंके अज्ञानका विनाशो शोक होता है।
- २१ उशान्त फान्यः- समी कवि।
- २२ योतम्भः- ( यो ) गतिशील, प्रयत्नशील।
- २३ मुद्गलः- ( मुद् ) आनन्दकी धारण करनेवाला, सानन्द-बुद्धिसे रहनेवाला।

इस अर्थमें पता चलता है कि आत्म-सुधारका प्रयत्न में किस ढंगसे करनेवाले हैं। इस प्रकारके प्रयत्न करनेवालोंकी पूर्वोक्त देवता सब प्रकारकी सहायता करते हैं और उनकी उन्नति होनेके लिये मदद हैं। जो लोग इसके सवाप प्रयत्न करेंगे उनकी भी इसी प्रकार देवताओंसे सहायता प्राप्त होगी। परंतु जो लोग अपनी उन्नतिके प्रयत्नमें इस नहीं होते, उनकी सहायता प्राप्त नहीं होती, इस विषयमें दो शब्द देखिये—

- ( १ ) दुष्कन्द- शोक करनेवाला, यातनात करनेवाला। ( म १-२ )
- ( २ ) मिथुया चरन्- विण्ण व्यवहार करनेवाला। ( म ७ )

पाठक यहां हमराय हर्ष कि अग्नि, वायु, सूर्यादि देवता सहायता करनेके लिये संभार हो हैं, परंतु उनको सहायता प्राप्त करनेका यत्न अनुष्यको करना चाहिये। अनुष्यते बल न हुआ तो लाभ होगा असम्भव है। जो अनुष्य आत्म सुधारका यत्न करते हैं वे पूर्वोक्त अविर्षिकी सत्य उन्नति प्राप्त करते हैं, अन्य लोग प्रयत्न न करनेके कारण पीछे रहते हैं।

इस प्रकारके दो लोग होते हैं, उनकी अवनति होती जाती है। इसलिये पाठकोंको उचित है कि वे अपने उन्नतिकी अनुष्ठान करें, सम्पादनेमें भर्षे, पूर्वोक्त अधिभोवनों का वाहर्ष अपने सम्मुख रखें और उन्नतिके पथसे गोप्य रूपर चढ़ें। कदापि अवनतिके मार्गमें न चढ़ें।

## दुःखमोचन और विजयप्राप्ति

कांड १६, सूक्त १

( ऋषि - अथर्वी । देवता - ब्रह्मपति । )

|   |        |
|---|--------|
| अतिष्ठो अपां वृषमोऽतिष्ठथा अथर्वो दिव्याः           | ॥ १ ॥  |
| रुक्मन्परिरुजन्मृणन्मृणन्                           | ॥ २ ॥  |
| प्रोको मनोहा पुनो निर्दुहि आत्मदार्पस्वनुद्विषः     | ॥ ३ ॥  |
| इदं तमतिं सृजामि तं माम्भयैर्निधि                   | ॥ ४ ॥  |
| तेन तमम्भयैस्सृजामो योऽस्मान्देष्टुं यं वृषं दिव्यः | ॥ ५ ॥  |
| अपामप्रमसि समुद्रं योऽभ्ययैस्सृजामि                 | ॥ ६ ॥  |
| योऽप्यभिरति तं सृजामि प्रोक्तं खनिं तनूद्विषम्      | ॥ ७ ॥  |
| यो व आपोऽभिराविवेश स एष यद्वो घोरं तदेतत्           | ॥ ८ ॥  |
| इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभि विंशेत्                   | ॥ ९ ॥  |
| अरिमा आपो अपं रिप्रमस्मत्                           | ॥ १० ॥ |
| प्रास्मदेनो बहन्तु प्र दुष्यन्त्यं बहन्तु           | ॥ ११ ॥ |

अर्थ— [ १ ] ( अपां वृषमः अतिष्ठथा ) गर्भोपी वर्षा करनेवाला मुखरुक्म, ( दिव्याः अथर्वः अतिष्ठथा ) दिव्य अग्नि मृगत की गई ॥ १ ॥

( रुक्मन् परिरुजन् ) तीव्रता हुआ, तब रीतिसे कोहते हुए, ( मृणन् प्रमृणन् ) भारते ॥ भीरु भावा करते हुए ॥ २ ॥

( प्रोक्तः पुनः ) यावत् और सोचनेवाले ( निर्दुहिः ) बाहू करनेवाले ( मनो-हा ) मनका नाश करनेवाले ( आत्मद्विषः ) भयवाको हुए करनेवाले भीरु ( तनू-द्विषः ) शरीरको दुषित करनेवाले ॥ ३ ॥

( इदं तं अतिष्ठजामि ) इस और उस समुको में ॥ करता हूँ ( तं मा अभ्ययनक्षि ) उसको मैं कदापि युक्त प्राप्त न होऊँ ॥ ४ ॥

( यः अस्मान् देष्टुं ) जो हमसे देने करता है भीरु ( यं वृषं दिव्यः ) मिलते हम देव करते हैं, ( तं तेन अभि मति सृजामः ) उसको उसके द्वारा हम दूर करते हैं ॥ ५ ॥

( अपां अपं असि ) वृष जलोका अथवाण हो ( यः समुद्रं अभिप्रयच्छामि ) समुद्र समुद्रके प्रति मैं छोड़ देता हूँ ॥ ६ ॥

( यः अप्पु मसिः ) जो जलोके अग्नि है ( तं मति सृजामि ) उसको मैं दूर करता हूँ । ( प्रोक्तं खनिं तनूद्विषं ) यावत् यावत् और शरीरको दुषित करनेवालेको ॥ करता हूँ ॥ ७ ॥

( यः अग्निः आपः यः आविशेत् ) जो अग्नि जलोके प्रति प्रविष्ट हुई है ( सः एषः ) वह वह है, ( एतत् यः घोरं तत् एतत् ) जो आपके लिये भयंकर है वह वह है ॥ ८ ॥

( इन्द्रस्य इन्द्रियेण यः अभिविजेत्र ) इन्द्रके इन्द्रियसे आपका अभिवेक किया जाने ॥ ९ ॥

( अरिमाः आपः ) जो विरोध कर रहे हैं ( अस्मद् रिप्रं अप ) हमसे बल दूर करे ॥ १० ॥

( प्रास्मद् पुनः प्रयहन्तु ) हमसे पाप दूर करे तथा ( दुष्यन्त्यं बहन्तु ) दुष्ट स्वप्नके हेतुको भी दूर करे ॥ ११ ॥



## [ 4 ]

|  |        |
|--|--------|
| विद्य तं स्वप्न जनित्रं प्राज्ञाः पुत्रोऽसि यमस्य करणः                           | ॥ १ ॥  |
| अन्तर्कोऽसि मृत्युरसि  | ॥ २ ॥  |
| तं त्वां स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्पन्थात्पाहि                         | ॥ ३ ॥  |
| विद्य तं स्वप्न जनित्रं निर्धृत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तर्को० । तं त्वां० | ॥ ४ ॥  |
| विद्य तं स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तर्को० । तं त्वां०      | ॥ ५ ॥  |
| विद्य तं स्वप्न जनित्रं निर्धृत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तर्को० । तं त्वां० | ॥ ६ ॥  |
| विद्य तं स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तर्को० । तं त्वां०  | ॥ ७ ॥  |
| विद्य तं स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तर्को० । तं त्वां०  | ॥ ८ ॥  |
| अन्तर्कोऽसि मृत्युरसि  | ॥ ९ ॥  |
| तं त्वां स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्पन्थात्पाहि                         | ॥ १० ॥ |

[ ६ ]

अजैष्मिन्नासनामाद्याभूभानामसो वयम् ॥ १ ॥  
उपो यस्मादुष्यन्त्यादमुष्मापु तदृच्छतु ॥ २ ॥  
द्विपते तत्परा वह क्षपते तत्परा वह ॥ ३ ॥

अर्थ—[५] (स्वप्न ! ते अनिष्टं विना) हे स्वप्न ! तेरी उत्पत्ति का हेतु स्वप्न वता है। तू (प्राणाः पुनः सन्ति) व भ्यापीका पुनः ही और (यमस्व करणः) यमका कारण है ॥ १ ॥

तू (अन्तःक) आसि ) वस्तु करनेवाला है और तू (मृत्युः भस्ति) भूत है ॥ २ ॥

हे स्वप्न ! ( तं त्वा तथा सं विधा ) उक्त तुम्हारे बंसा हन आगते हे । हे स्वप्न ! ( सः नः पुण्यमाप् पाहि ) यह वृ हमें पुण्य दयते यथा ॥ ३ ॥

(स्वयं ते जनित्रं विद्म) हे स्वयं ! मेरी उत्पत्ति का हेतु तुम्हीं बना है वृ (नि-संख्या पुत्रा अस्ति) इति।  
 पुत्र है और (यमस्य करणः) यमका वाहन है० ॥ ४ ॥

स्वप्नका हेतु हम जानते हैं वृ ( अमृत्वाः पुत्रः ) अमृतिता पुत्र है ॥ ५ ॥ वृ ( निर्भृताः पुत्रः ) निर्भ-  
ताका पुत्र है ॥ ६ ॥ वृ ( पराभृताः पुत्रः ) पराभवका पुत्र है ॥ ७ ॥ वृ ( वेद्यजामीनाः पुत्रः ) इतिविहितयोगी  
पुत्र है ॥ ८ ॥ ( अतकः अलि मृत्युः अलि ) वृ अन्तक और मृत्यु है ॥ ९ ॥ ( स्वप्न, वेत्ता तथा कं विष )  
है स्वप्न । उस उसको बैसा हम जानते हैं ( सः नः दुःप्राप्त्याह पाणि ) वह तु हमको इष्ट स्वप्नते बना ॥ १० ॥

[ ६ ] ( अथ अज्ञेयम् ) अग्न हस्ते निबध्न प्राप्तं नो है ( अथ असिनाम् ) हस्ते प्राप्तम्को प्राप्तं किया है ( धर्म अनागतः अनुम ) हम निष्पन्न हुए हैं॥ १ ॥

हे (उपः) उपःकात् । ह्य (यस्मात् दुष्पदवात् जमैषा) जिह दृष्ट त्वज्जि ह्ये भय होता है, (तत् भय उच्यते) यह हमसे दूर होये ॥ २ ॥

(तत् द्विपते परा वह) वह द्वेपते के लिये दूर से जा (तत् शपते परा वह) वह शपत देनेवाले के लिये दूर से जा ॥ १ ॥

|  |        |
|--|--------|
| यं द्विष्मो यच्च नो द्वेष्टि तस्मां एनद्रमपामः           | ॥ ४ ॥  |
| उषा देवी वाचा संविदानो वाग्देव्युः परा संविदाना          | ॥ ५ ॥  |
| उपस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुपस्पतिना संविदानः | ॥ ६ ॥  |
| तेऽमुष्मै परा वहन्वरायान्दुर्णाभिः सदान्वाः              | ॥ ७ ॥  |
| कुन्मीका दूर्पाकाः पीयमान्                               | ॥ ८ ॥  |
| जाम्रदुष्प्यं स्वप्नेदुष्प्यम्                           | ॥ ९ ॥  |
| अनागमिष्यतो यरानचित्तैः संकल्पानर्ह्यस्या ब्रुहः पाशान्  | ॥ १० ॥ |
| तदुत्तमा अमे देवाः परा वहन्तु वधिर्यथासाद्विर्ये न साधुः | ॥ ११ ॥ |

[ ७ ]

|   |       |
|---|-------|
| तेनैनं विषयाम्यभूत्यैनं विषयामि निर्भूत्यैनं विषयामि  |       |
| पराभूत्यैनं विषयामि प्राद्येनं विषयामि तमसैनं विषयामि | ॥ १ ॥ |
| देवानामिनं घोरैः क्रूरैः प्रैषैरभिप्रेष्यामि          | ॥ २ ॥ |
| वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोर्वपि दध्यामि                 | ॥ ३ ॥ |

अर्थ— ( यं द्विष्मः ) जिससे ॥ सव द्वेष करते हैं और ( यत् च नः द्वेष्टि ) वो हम सबसे द्वेष करता है, ( तस्मै एनत् नामयामः ) उसके पास हम इसको ले जाते हैं ॥ ४ ॥

( उषा देवी वाचा संविदाना ) उषा देवी वाणीसे समितित हो और ( वाग् देवी उपसा संविदाना ) वाग् देवी उषा देवीसे समितित हो ॥ ५ ॥

( उपस्पतिः वाचस्पतिना संविदानः ) उषाका पति वाणीके पतिके साथ समितित हो और ( वाचस्पतिः उपस्पतिना संविदानः ) वाणीका पति उषाके पतिके साथ मिले ॥ ६ ॥

( ते अरयान् दुर्णाभिः सदान्वाः ) वे निर्बलता बुध्दनामकाके कण्ड और जग्य आपत्तिवा ( अमुष्मै परा वहन्तु ) उस शत्रुके पास ॥ जायें ॥ ७ ॥

( कुन्मीकाः दूर्पाकाः पीयमान् ) पक्षके सगाव बढनेवाले उबररोमी, छारोले शीव उरपन करनेवाले रोमी और प्रायवातक रोमीको ॥ ८ ॥

तथा ( जाम्रदुष्प्यं ) जायतिके समय आनेवाला दुष्ट स्वप्न और ( स्वप्नेदुष्प्यं ) स्वप्नके समय आनेवाला दुष्ट स्वप्न ॥ ९ ॥

( अनागमिष्यतः यरान् ) न प्राप्त होनेवाले श्रेष्ठ कर्षण, ( अविच्छेः संकल्पान् ) हरिदताके संकल्प, ( अमुक्याः ब्रुहः पाशान् ) न छुटनेवाले बुरेके पाशोंको ॥ १० ॥

हे अने ! उन सब विपत्तिमोको ( तत् अमुष्मै ) शत्रुके पास ( देवाः परा वहन्तु ) सब देव ले चले । ( यथा ) जिससे वह शत्रु ( वधिरः ) निर्बल, ( विधुरः ) अथवाकुल और ( साधुः न असन् ) दूरा होवे ॥ ११ ॥

[ ७ ] ( तेन एनं विषयामि ) उससे उसका वेच करता हूँ, ( अभूत्या, निर्भूत्या, प्राद्या, एनं विषयामि ) कुंति, बारिह और रोपते इसको बिछ करता हूँ । ( पराभूत्या ) परामवले इसको श्रेष्ठित करता हूँ ( तमसा एनं विषयामि ) अतागले इसको बिछ करता हूँ ॥ १ ॥

( देवानां घोरैः क्रूरैः प्रैषैः ) देवोंके घोर क्रूर दुष्टोंके ( एनं अभिप्रेष्यामि ) इसको बुझो करता हूँ ॥ २ ॥ ( वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोः एनं अपि दध्यामि ) वैश्वानरकी दाढ़ीमें इसको भर देता हूँ ॥ ३ ॥

|  |        |
|--|--------|
| एवानुवाच सा गरत्   | ॥ ४ ॥  |
| योऽस्माद्देष्टु तस्मात्मा देष्टु यं वयं द्विषाः स आत्मानं देष्टु | ॥ ५ ॥  |
| निर्दिश्यन्तं दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद्भ्रजाम             | ॥ ६ ॥  |
| सुयाम्वाक्षुष  | ॥ ७ ॥  |
| इदमहमाशुषायणेऽमुषाः पुत्रे दुश्चर्यं मृजे                        | ॥ ८ ॥  |
| यदुदोर्भदो अम्बमच्छन्यदोषा यत्पूर्वां रात्रिम्                   | ॥ ९ ॥  |
| यज्जाग्रत्सुप्तो यद्विश पञ्चकम्                                  | ॥ १० ॥ |
| यद्वैरहराभिगच्छामि तस्मदिन्ममं दये                               | ॥ ११ ॥ |
| तं जह्मि तेन मन्दस्य तस्य पृथ्वीरपि शृणीहि                       | ॥ १२ ॥ |
| स मा जीवीन् प्राणो जहातु   | ॥ १३ ॥ |

[ ८ ]

|  |       |
|--|-------|
| जिवमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरिस्माकं |       |
| युक्तोऽस्माकं पुत्रयोऽस्माकं मृजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।                | ॥ १ ॥ |
| तस्माद्वसुं निर्मेजामोऽमुषाशुषाममुषाः पुत्रमसौ नः                        | ॥ २ ॥ |
| स प्राणाः पाशान्मा मोक्षि  | ॥ ३ ॥ |
| तस्येवं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वैद्यमादीक्षमेनमधुराब्धं वादयामि        | ॥ ४ ॥ |

अर्थ— ( सा एव अनेक ) वह भावित इस रीतिसे वा अन्य रीतिसे ॥ ४ ॥ अमुको ( अथ गरत् ) निमित्त अथ ॥ ५ ॥  
 ( यः अस्मात् देष्टु ) जो हमसे देव करता है ( तं आत्मानं देष्टु ) उसके आत्मा देव करे । ( यं वयं द्विषाः )  
 जिससे हम देव करते हैं ( सः आत्मानं देष्टु ) वह अपने आत्मासे देव करे ॥ ५ ॥

( निर्दिश्यन्तं ) देव करनेवालेका ( दिवः अन्तरिक्षात् पृथिव्याः ) युक्तो, अन्तरिक्ष और पृथिवीसे ऊपरसे  
 ( निः भ्रजामः ) सामना करते हैं ॥ ६ ॥

हे ( सुयामश्वाक्षुष ) उत्तम निवामक विरोधक ! ॥ ७ ॥ ( इदं अहं ) यह मैं ( अमुष्यादमे अमुष्याः  
 पुत्रे ) इस गोपके इसके पुत्रमें ( दुश्चर्यं मृजे ) कुछ स्वप्न भेजता हूँ ॥ ८ ॥

( यत् पूर्वः अहः ) जो ॥ ९ ॥ को ( अभिगच्छन् ) मैं उसमें शाय करता हूँ ( यत् दोषा यत् पूर्वां रात्रिं )  
 जो रात्रिमें अपना पूर्व रात्रिमें ॥ ९ ॥ ( यत् जाग्रत् ) जो जगते हुए, ( यत् सुप्तः ) जो सोये हुए ( यत् दिवा यत्  
 नष्टः ) जो निर्ममे और जो रात्रिमें ॥ १० ॥ ( यत् वहः अहं अभिगच्छामि ) जो प्रतिदिन मैं देखता हूँ ( तस्मात्  
 एनं अथ दये ) उस दोषके कारण मैं उसको पारता हूँ ॥ ११ ॥

( तं जह्मि ) उसको मार दे, ( तेन मन्दस्य ) उसके साथ कम, ( तस्य पृथ्वीः अपि शृणीहि ) उसको पत-  
 तिमा तोड़ दे ॥ १२ ॥ ( स मा जीवीन् ) वह न जीवे, ( तं प्राणः जहातु ) उसको प्राण छोड़ देवे ॥ १३ ॥

[ ८ ] ( अस्माकं जितं ) हमारा विजय हो, ( अस्माकं उद्भिन्नं ) हमारा उद्यम हो, ( अस्माकं फलं )  
 हमारा लाभ हो, ( अस्माकं तेजः ) हमारा तेज बढ़े, ( अस्माकं ब्रह्म ) हमारा ज्ञान बढ़े, ( अस्माकं स्वः ) हमारा  
 भाग्यप्रकाश बढ़े, ( अस्माकं यशः ) हमारा यश लक्ष्य हो, ( अस्माकं पञ्चवः ) हमारे पात नष्ट हों, ( अस्माकं  
 प्रजाः ) हमारी प्रजा-संसार-भेदे, ( अस्माकं वीराः ) हमारे शत्रु और हों ॥ १ ॥

|  |        |
|--|--------|
| जितम् ० ।०। स निर्ऋत्याः पाशान्मा मोचि ।०    | ॥ ५ ॥  |
| जितम् ० ।०। सोऽभूत्याः पाशान्मा मोचि ।०      | ॥ ६ ॥  |
| जितम् ० ।०। स निर्भूत्याः पाशान्मा मोचि ।०   | ॥ ७ ॥  |
| जितम् ० ।०। स पराभूत्याः पाशान्मा मोचि ।०    | ॥ ८ ॥  |
| जितम् ० ।०। स देवजार्मीनां पाशान्मा मोचि ।०  | ॥ ९ ॥  |
| जितम् ० ।०। स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि ।०     | ॥ १० ॥ |
| जितम् ० ।०। स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि ।०     | ॥ ११ ॥ |
| जितम् ० ।०। स ऋषेण पाशान्मा मोचि ।०          | ॥ १२ ॥ |
| जितम् ० ।०। स अग्निपाशां पाशान्मा मोचि ।०    | ॥ १३ ॥ |
| जितम् ० ।०। सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मोचि ।०     | ॥ १४ ॥ |
| जितम् ० ।०। स अङ्गिरसानां पाशान्मा मोचि ।०   | ॥ १५ ॥ |
| जितम् ० ।०। सोऽधर्वणां पाशान्मा मोचि ।०      | ॥ १६ ॥ |
| जितम् ० ।०। स अधर्वणानां पाशान्मा मोचि ।०    | ॥ १७ ॥ |
| जितम् ० ।०। स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि ।०    | ॥ १८ ॥ |
| जितम् ० ।०। स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि ।० | ॥ १९ ॥ |
| जितम् ० ।०। स ऋतूनां पाशान्मा मोचि ।०        | ॥ २० ॥ |
| जितम् ० ।०। आर्तवानां पाशान्मा मोचि ।०       | ॥ २१ ॥ |
| जितम् ० ।०। स मासानां पाशान्मा मोचि ।०       | ॥ २२ ॥ |
| जितम् ० ।०। सोऽर्धमासानां पाशान्मा मोचि ।०   | ॥ २३ ॥ |
| जितम् ० ।०। सोऽहोरात्रयोः पाशान्मा मोचि ।०   | ॥ २४ ॥ |
| जितम् ० ।०। सोऽहोः संघतोः पाशान्मा मोचि ।०   | ॥ २५ ॥ |

अर्थ - ( तस्मान् अमुं निर्मलाम् ) इस अपराधके कारण हम उस क्षत्रपुरुषका पशते हैं । अमुं अमुपचार्य अमुप्याः पुत्रं असौ यः ) जो इस गोत्रका इसका पुत्र हुआच समु है । २ ॥ ( सः प्राज्ञाः पाशात् मा मोचि ) वह रोगके पाशसे न छूटे ॥ ३ ॥ ( तस्य इदं उर्वः तेजः प्राणं आयुः निवेष्टयामि ) उसका यह तेज बल प्राण और आयु-को मैं चेरता हूँ और ( इदं एन अधराद्यं पादयामि ) वह मैं इसको नीचे गिराता हूँ ॥ ४ ॥ ० ॥ ० ( सः निर्ऋत्याः पाशात् मा मोचि ) वह निर्ऋतिके पाशसे न छूटे पावे ॥ ० ॥ ५ ॥ ० ॥ ० ( सः मभूत्याः पाशात् मा मोचि ) वह मभूतिके पाशसे न छूटे ॥ ० ॥ ६ ॥ ० ॥ ० ( सः निर्भूत्याः पाशात् मा मोचि ) वह निर्भूतिके पाशसे न छूटे ॥ ० ॥ ७ ॥ ० ॥ ० ( सः पराभूत्याः पाशात् मा मोचि ) वह पराभूतिके पाशसे न छूटे ॥ ० ॥ ८ ॥ ० ॥ ० ( सः देव-जार्मीनां पाशात् मा मोचि ) वह देवजोर्मिके पाशसे न छूटे ॥ ० ॥ ९ ॥ ० ॥ ० ( सः बृहस्पतेः " प्रजापतेः " "ऋषीणां " "अग्निपाशां " "अङ्गिरसां " "अधर्वणां " "अधर्वणानां " "वनस्पतीनां " "वानस्प-त्यानां " "ऋतूनां " "आर्तवानां " "मासानां " "अर्धमासानां " "अहोरात्रयोः " "अहोः संघतः " "प्रायश्चित्तयोः

जितम् ० १० स पावापृथिव्योः पाशान्मा मोचि ॥ २६ ॥

जितम् ॥ १० ॥ स इन्द्रान्योः पात्रान्मा भौचि ॥ ॥ २७ ॥

जितम् ॥०॥ स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मोचि ॥०॥

जितम् ॥०॥ स राज्ञो वरुणस्य पाशान्या मौचि ॥०॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकंभुवमस्माकं तेजोऽस्माकं ज्ञास्माकं स्वरिमाकं  
यजोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।

तस्माद्भुक्तं निर्गन्धमोऽमुमाहुष्यायणमहुष्याः पुत्रपत्नी यः

स प्रत्योः पदार्थशित्पाञ्चमा मीशि ।

तस्येवं वर्चस्तेजः प्राणमासन्नि र्हेष्टयामोदभेनमधराश्च पादयामि ॥ ३०-३३ ॥

[ ९ ]

**जितमदमाकमुद्धिभूमदमाकेमग्गधिं विद्याः पृथन्ना अरतीः**

तदुभिराह तदु सोम आह पृथा मां वात्सुकृतस्य लोके ॥ २ ॥

अगन्तुं स्वः। स्वरिगन्तुं सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्तुं ॥ ३ ॥

वस्तुभूषणं वस्तुमाम्यहो वस्तु वंदिषीथ वस्तुमाम्भूषणं वस्तु मयि धेहि ॥ ४ ॥

\*\*\*गुह्याभ्योः \*\*\*मित्रावरुणयोः \*\*\*वरुणस्य राहः \*\*\*मृत्योः पृथ्वीशाहः ॥ श्लोचि ) ॥ १०-१२ ॥

भृहस्पति, ब्रह्मापति, ऋषि, ऋषिर्गोत्रे उत्पन्न, भविरव, भविरर्गोत्रे उत्पन्न, भवर्षे, भवर्षति उत्पन्न, ब्रह्मापति, ब्रह्मापतिर्गोत्रे उत्पन्न, ऋतु, ऋतुर्गोत्रे उत्पन्न, नक्षत्रे, नक्षत्रगत, नक्षत्रोपाध, विज, वृ, पृथिवी, इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, राजा वरुण और नृपतये पाणीति न ॥ १०-३२ ॥ ( तत्त्व हर्द वर्चः । ) उत्पन्न यद्देव, कान्ति, प्राण, आत्मा आदिको न पोरता ह् । और उत्पन्नो गोत्रे विदाला ह् ॥ ३३ ॥

[ ९ ] ( अस्माकं जितं ) ह्यनारा विजय हो ( अस्माकं वल्लिषं ) ह्यनारा उजय हो, ( विश्वाः पृतनाः भरानीः )  
एव शत्रुसेनाका विरोध किया है ॥ १ ॥

( भग्निः तत् भावः ) भाग्यने यह कहा है । ( सोमः उ तत् भावः ) सोमने ॥ कहा है । ( दूषा सुष्ठुतस्य लोक मः धातु ) पूषा मने पुष्य सोमने धारण करे ॥ २ ॥

हम ( स्वः अग्रन्तम् ) ज्ञानवाणी ज्योतिषो प्राप्त होते हैं, ( स्वः अग्रन्तम् ) हम अपने ढेअको प्राप्त होते हैं ।  
( सूर्यस्य ज्योतिषा सं अग्रन्तम् ) सूर्यको ज्योतिसे हम संलग्न होते हैं ॥ ३ ॥

(वत्स्यः भूयाय) ऐश्वर्यही वृद्धि के लिये (वत्सुमान् भूयासं) बनवाने होऊँ (यत्सुमान् यद्वा) ऐश्वर्य जत हो है (यत्सु वृद्धिर्वाय) ऐश्वर्य प्राप्त करूँ । (मयि वत्सु घेदि) मुझमें वृद्धि की धारणा कर ॥ ४ ॥



|  |        |
|--|--------|
| जितम् ० ।०। स निर्भृत्याः पाशान्मा मोचि ।०   | ॥ ५ ॥  |
| जितम् ० ।०। सोऽभृत्याः पाशान्मा मोचि ।०      | ॥ ६ ॥  |
| जितम् ० ।०। स निर्भृत्याः पाशान्मा मोचि ।०   | ॥ ७ ॥  |
| जितम् ० ।०। स पराभृत्याः पाशान्मा मोचि ।०    | ॥ ८ ॥  |
| जितम् ० ।०। स देवजामीनां पाशान्मा मोचि ।०    | ॥ ९ ॥  |
| जितम् ० ।०। स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि ।०     | ॥ १० ॥ |
| जितम् ० ।०। स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि ।०     | ॥ ११ ॥ |
| जितम् ० ।०। स ऋषीणं पाशान्मा मोचि ।०         | ॥ १२ ॥ |
| जितम् ० ।०। स आर्यपाणां पाशान्मा मोचि ।०     | ॥ १३ ॥ |
| जितम् ० ।०। सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मोचि ।०     | ॥ १४ ॥ |
| जितम् ० ।०। स आङ्गिरसानां पाशान्मा मोचि ।०   | ॥ १५ ॥ |
| जितम् ० ।०। सोऽथर्वणां पाशान्मा मोचि ।०      | ॥ १६ ॥ |
| जितम् ० ।०। स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि ।०    | ॥ १७ ॥ |
| जितम् ० ।०। स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि ।०    | ॥ १८ ॥ |
| जितम् ० ।०। स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि ।० | ॥ १९ ॥ |
| जितम् ० ।०। स ऋतूनां पाशान्मा मोचि ।०        | ॥ २० ॥ |
| जितम् ० ।०। आर्तवानां पाशान्मा मोचि ।०       | ॥ २१ ॥ |
| जितम् ० ।०। स मासानां पाशान्मा मोचि ।०       | ॥ २२ ॥ |
| जितम् ० ।०। सोऽर्धमासानां पाशान्मा मोचि ।०   | ॥ २३ ॥ |
| जितम् ० ।०। सोऽहोरात्रयोः पाशान्मा मोचि ।०   | ॥ २४ ॥ |
| जितम् ० ।०। सोऽहोः संयतोः पाशान्मा मोचि ।०   | ॥ २५ ॥ |

अर्थ — ( तस्मात् अमुं निर्भृत्याः ) इति मन्त्राधिके कारणे ह्य उक्त शत्रुपरहृमता यदाते हे ( अमुं अमुप्यायर्णं अमुप्याः पुत्रं असौ यः ) ओ इति योनिक इति का पुत्र ह्यपरा शत्रु हे ॥ २ ॥ ( सः आह्वाः पाशात् मा मोचि ) ॥ रोपके पाशेति न छूटे ॥ ३ ॥ ( तस्य हृद् वर्त्तते तेजः प्राणं आयुः निवेष्टयामि ) उक्तं यत् तेन बल प्राण और आयु को मे घेरता हूं और ( इदं एनं अधराज्यं पादयामि ) यह मे इतको नीचे गिरता हूं ॥ ४ ॥ ० ॥ ० ( सः निर्भृत्याः पाशात् मा मोचि ) यह दुर्गन्तिके पाशेति न छूटने पावे ॥ ० ॥ ५ ॥ ० ॥ ० ( सः अभृत्याः पाशात् मा मोचि ) यह वारिदिके पाशेति न छूटे ॥ ० ॥ ६ ॥ ० ॥ ० ( सः निर्भृत्याः पाशात् मा मोचि ) यह वृक्षस्थानके पाशेति न छूटे ॥ ० ॥ ७ ॥ ० ॥ ० ( सः पराभृत्याः पाशात् मा मोचि ) यह पराभृत्यके पाशेति न छूटे ॥ ० ॥ ८ ॥ ० ॥ ० ( सः देवजामीनां पाशात् मा मोचि ) यह इमिजामीनेके पाशेति न छूटे ॥ ० ॥ ९ ॥ ० ॥ ० ( सः बृहस्पतेः ... प्रजापतेः ... ऋषीणां ... आर्यपाणां ... अङ्गिरसां ... आङ्गिरसानां ... अथर्वणां ... आथर्वणानां ... वनस्पतीनां ... वानस्पत्यानां ... ऋतूनां ... आर्तवानां ... मासानां ... अर्धमासानां ... अहोरात्रयोः ... अहोः संयतोः ... यावापृथिव्योः

जितम् ० ।०। स चावांशुयिभ्योः पाञ्चान्मा भौचि ॥ २६ ॥

जितम् ० ।०। स ईन्द्राभ्योः पाञ्चान्मा भौचि ॥ २७ ॥

जितम् ० ।०। स मित्रवरुणयोः पाञ्चान्मा भौचि ॥ २८ ॥

जितम् ० ।०। स राज्ञो वरुणस्य पाञ्चान्मा भौचि ॥ २९ ॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमुत्तमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरिस्माकं

यजोऽस्माकं पृथ्वोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।

हस्मावसुं निर्भवाभोऽमुमांस्तुधावणमसुभ्याः पुत्रसौ वः ।

स प्रत्योः पद्वीशुत्पाञ्चान्मा भौचि ।

तस्येदं वर्त्ततेजः प्राणमायुर्नि वैष्टयामीदमेनमधुराञ्च पादपाभि ॥ ३०-३३ ॥

[ ९ ]

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमुत्तमस्माकं विद्याः पूर्वना अरावीः ॥ १ ॥

तदुभिराह तदु सोम आह पूषा मां धातुकुतस्य लोके ॥ २ ॥

अगन्म स्वः स्वः अगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म ॥ ३ ॥

वसुभ्याय वसुमान्यजो ऋतां वंशिपीथ वसुमान्भूषां वसु मयि वेदि ॥ ४ ॥

“इन्द्राभ्योः ... मित्रावरुणयोः ... वरुणस्य राज्ञः ... सुभ्योः पद्वीशान् मा भौचि ) ॥ १०-१२ ॥ यह महत्पती, प्रजापति, ऋषि, ऋषियेति छात्र, अंगिरस, अंगिरसेति उत्पन्न, अथर्व, अथर्वेति उत्पन्न, वनस्पति, वनस्पतियेति उत्पन्न, ऋतु, ऋतुमतेति उत्पन्न, महोदे, अर्वाणात्, महोरात्र, दिन, रात्रि, पृथिवी, इन्द्र, सन्ति, मित्र, वरुण, राजा अथर्व और मनुके पासति न अवे ॥ १०-१२ ॥ ( तस्य इदं पृथ्वीः ० ) उत्पन्न यह तेज, कानि, प्राण, वायु भाविकी मे परतः हूँ और इसको नीचे गिराता हूँ ॥ २३ ॥

[ ९ ] ( अस्माकं जितं ) हमारा विजय हो ( अस्माकं उद्भिन्नं ) हमारा उत्पन्न हो, ( विद्याः पूतनाः मरातीः ) ॥ तदुभिरावा निरोध किया है ॥ १ ॥

( अग्निः तत् आह ) अग्निने यह कहा है, ( सोमः उ तत् आह ) सोमने यह कहा है । ( पूषा सुकृतस्य लोकः ॥ धातुः ) पूषा मुझे पुण्य लोकमें धारण करे ॥ २ ॥

हम ( स्वः अगन्म ) अग्निकाके ज्योतिषी प्राप्त होते हैं, ( स्वः अगन्म ) हम अपने तेजकी प्राप्त होते हैं । ( सूर्यस्य ज्योतिषा सं अगन्म ) सूर्यको ज्योतिषि हम संयुक्त होते हैं ॥ ३ ॥

( वस्यः भूषाय ) ऐश्वर्यकी भूषिके मित्रे ( वसुमान् भूषासं ) वसुयुक्त होऊँ ( वसुमान् वसुः ) ऐश्वर्य दत्त हो है ( वसु धारिणीय ) ऐश्वर्य प्राप्त करूँ । ( मयि वसु वेदि ) मुझमें वनकी धारणा कर ॥ ४ ॥



## दुःखमोचन और विजयप्राप्ति

### विजयकी प्राप्ति

प्रत्येक मनुष्यको अपने विश्वको लिये मत्त्व करना चाहिये। छोटेसे छोटा बालक भी अपना पराभव सह नहीं सकता, पराभवकी आशका होनेपर बालक भी रोता है, पीड़ता है और पराभवसे दूर भागनेकी चेष्टा करता है। इसी तरह मनुष्यके अन्दर भी पराभवका स्वागत करनेकी दृष्टि नहीं होती। सदा अपनी विजय हो, अपना धन बढ़े, अपनी कीर्ति शिखरमें लैके, यही इच्छा मनुष्य करता है। अतः मनुष्यको यह विजय कैसे प्राप्त हो इसका विचार करना चाहिये। इस विजय सुखको ९ पर्यायशूलोंमें विजयप्राप्तिके लिये आवश्यक तत्वोंका विचार किया है।

### विजयके प्रकार

विजयके बहुत प्रकार हैं। एक आध्यात्मिक क्षेत्रमें विजय है, दूसरी आधिमौलिक क्षेत्रकी विजय है और तीसरी आधिरैविक क्षेत्रके सम्पत्तिकी विजय है। ये मुख्यतः तीन प्रकारकी विजय हैं। तथापि इत प्रत्येक क्षेत्रकी विजयके भी अनेक प्रकार हैं, उन सबका विचार यहाँ नहीं किया जा सकता, तथापि सुखोपसाके लिये उनका योजनता स्वरूप बताया जाता है।

### आध्यात्मिक विजय

आध्यात्मिकक्षेत्रमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, प्राण, बुद्धि, अहंकार, वित्त, धन, आत्मा, प्रकृति और सब प्रकारकी विकृति आदिका सब है। इनको निर्दोष राज्या, इनको अपनी मूल शक्तिले परिपूर्ण करना और इन सबको आत्मोन्नतिमें निर्विघ्नतया लगानेसे आध्यात्मिक क्षेत्रकी विजय होती है। यहाँ क्षेत्रके इन्द्रियकी प्रकृति, जलकी विकृति, जड़में होनेवाले दोष शीत, शीत, उनके गुण आदि सबका विचार आता है। आत्मा समीर, अंधकार, आरोग्यशास्त्र, मानसशास्त्र आदि शास्त्र, आध्यात्मिक विजयकी सिद्धता करनेके लिये ही मनुष्योंके पास धीरे हैं। इसको लूचना देनेके लिये प्रथम पर्याय सूत्रमें कहा है कि—

निर्दाहः तनुदुष्टिः मना-ह्य अहम-दुष्टिः इह तं नातिरुज्जामि ।

‘शरीरकी जलम, शरीरके सब दोष, मनके नाशकभय और अहमाका घात करनेवाले सब विचार, इन सबको मं

दूर करता हूँ।’ ॥ चारोंमें प्रायः आत्माकी पराजय होनेके कारण बताए हैं। विविध रोगोंके कारण अपने शरीरमें दह, पीडा, कष्ट व्यवसा दुःख होते हैं, शरीरमें जब दोषका संचय होता है जब ही कष्ट उत्पन्न होता है, तभी विविध रोग होते हैं। मनके दुरे भावसे मनकी निर्वलता होती है और इन सबसे आत्माका अध पड़न होता है। यदि ठीक प्रकार मनन किया जाय और इन चारोंके क्षेत्रोंकी व्याप्तिका विचार किया जाय, तो यह बात पाठकोंके मनमें ठीक प्रकार जम जायगी, कि मनुष्यके सब अंगोंकी कसेछोको ये चार ही हैं हैं। यदि इनके विषयमें धीमे प्रतिबन्ध किया जाय, तो आध्यात्मिक क्षेत्रमें निजधनपूर्वक विजय प्राप्त होगी। पूर्वोक्त चार धर्मोंके प्रति शब्द जाननेसे ही विजयके साधन ज्ञात हो सकते हैं—

शमः तनुशुद्धिः मनाशुद्धिः आत्मशुद्धिः ।

ये चार धर्म हैं जिनसे पूर्वोक्त चार दोष दूर हो सकते हैं। इन्द्रियबन्धन, इन्द्रियशमन आदिसे शरीरका दह दूर होता है और शरीरमें सर्वत्र शान्ति होती है, तनुशुद्धि शरीरके सब दोष दूर होती है, मनकी चिन्तितसे मनका बल बढ़ जाता है और आत्मशुद्धिसे आत्मोन्नति होती है। इस तरह विचार करनेपर मना होगा कि आध्यात्मोन्नतिके ये चार साधन हैं और इसी लिये पूर्वोक्त चार दोषोंको दूर करनेकी सुझाव प्रथम पर्याय सूत्रमें की है। धीमन्तुपशब्दोंतार्थ इसी उद्देश्यसे कहा है—

ध्यायतो विषयान्बुधः सगस्तेषूपजायते ।  
संगस्तेषांजायते वामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥  
क्रोधाद्भयति यमोहः संमोहात्स्मृतिविध्वंसः  
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशादमनश्चरति ॥ ६३ ॥  
रगद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।  
आत्मवद्वैविधियेयतमा प्रसजमपिगच्छति ॥ ६४ ॥  
प्रसज्जे सर्वेषु खानां हानिरव्यपेक्षयायते ।  
प्रसज्यतेसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

( भ. गी. २ )

‘विषयोंके चिन्तनसे प्राप्तशक्त, आत्मावृत्तसे कामना, कामनासे क्रोध, क्रोधसे मृदता, मृदतासे बुद्धिनाश और बुद्धि-नाशसे मनुष्यका सर्वनाश होता है। परन्तु जिसका मन बर्धन है और जिसकी इन्द्रियाँ रागद्वेषरहित हैं, वह इन्द्रियोंके कार्य करते हुए भी प्रसन्न रहता है, वित्त प्रसन्न रहनेसे सब



बुद्ध दूर होते हैं और उसको बुद्धि भी स्थिर होती है।  
 ॥ श्लोकोंमें आध्यात्मिक दुःखोंके कारण कहे हैं और उनके  
 करनेके उपाय भी कहे हैं। अतः ये श्लोक आत्मविजयके  
 विषयका विचार करनेके समय कहे योग्य हो सकते हैं।  
 अस्तु, ॥ प्रकारके दो दो दोष शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि  
 और आत्माने होते हैं ये क्या करते हैं देखिये—

दृग्जन्, प्रमृष्टजन्, श्रोत्रोक्त, स्मृतः । ( पर्वोप नू. ११२-१३ )

यहाँ दोष होते हैं यहाँ वे ' सोचते हैं, मरोचते हैं, कुचलते  
 हैं, छोड़ते हैं, काटते हैं, चोरेते हैं, गढ़ा करते हैं ' इस तरह  
 अनेक रीतियोंसे नाश करते हैं। काम और क्रोधसे समय अपने  
 संवर देखने पर स्पष्टतया पता लग जायगा, कि ये काम  
 और क्रोध मनुष्यके शरीरमें किस प्रकार तोड़ने, मरोचने,  
 छोड़ने और नाश करनेके कार्य करते हैं। काम तो शरीरका  
 आसक्त्युक्त दो दोष उसे ही नष्ट करता है, क्रोधसे तो श्वेतके  
 भीमविषु ही नष्ट होते हैं; इसी प्रकार तप विचार तोड़ने,  
 मरोचने और नाश करनेवाले होते हैं। इसलिये आध्यात्मिक  
 भूमिकाके इन सब जन्मोंको दूर करना चाहिये। अतः कहा  
 है—

यं ययं द्विष्मः, तं अभि मतिशुजाम । ( यं. ११५ )

श्रोत्रोक्तं तन्मृष्टं मतिशुजामि । ( यं. ११७ )

' जिस रोगवशसे और विविध रोगोंसे हम द्वेष करते  
 हैं, अर्थात् उनको अपने पास रखना नहीं चाहते, उनको हम  
 दूर करते हैं। घातक, भोजक और शरीरमें दोष बढ़ानेवाले  
 सब रोगोंको हम दूर करते हैं। ' यह रोगोंको दूर करना  
 इसलिये है कि अप्यात्मज्ञानके सब दोष दूर हों और प्रसन्नता  
 विराजें। इसी विषयमें और देखिये—

यच्च वः घोरं तत् ( मतिशुजामि ) । ( यं. ११८ )

मतिप्राः आपाः सस्मत् एवः प्रवहन्तु । ( यं. ११९-१० )

श्रोत्रः शिखरा तन्ना सा जगत्प्रसन्न । ( यं. १२३ )

इन्द्रश्च इन्द्रियेण धर्मविशेषः । ( यं. ११९ )

' जो आत्मके अवर भयंकर हानिकारक दोष हो उसको  
 मैं सबसे प्रथम दूर करता हूँ। दोष दूर करनेके लिये सबसे  
 धिक्कित करना योग्य है। कुछ जल हमारे शरीरमें सब  
 दोष और सब पापोंको दूर करे। जल अपने दुग्धगुणोंसे मेरे  
 शरीरको स्वयं करे। इन्द्र नर्पात् आत्माकी शक्तिसे धर्म-  
 वेक धिया जावे। यहाँ जलचिकित्सासे शरीरके सब दोष दूर  
 करनेका उपदेश है; यह अत्यंत महत्त्वका है। शरीरमें जो  
 कोई दोष होने उसको जलसे विविध प्रयोगोंसे दूर करनेका

नाम जलचिकित्सा है। शरीरको शीतजलका स्पर्श मुख देने-  
 वाला जल छपता है, तब समझना चाहिये कि शरीर स्वस्थ  
 है। जब कुछ शीतजल स्पर्श छट्ट देने लगता है, तब जानना  
 चाहिये कि कुछ दोष शरीरमें हैं। ये ॥ दोष जलचिकि-  
 त्सासे दूर करने चाहिये और इन्द्रकी शक्तिके जलसे स्नान  
 करना चाहिये। जिस प्रकार जलके स्नानसे ॥ शरीर  
 शोधता है, उसी प्रकार आत्माकी शक्तिसे सब शरीर संशु-  
 रित होता चाहिये। सब शरीरभर आत्मशक्तिका मुल्ले  
 संसार होता चाहिये। इससे—

मयि क्षमं वर्चः माधत्त । ( यं. ११३ )

' मनुष्यमें आत्मिक और ऐश्वर्यता बढ़ेगी। ' जल ही  
 यह सब कार्य करेगा। जलचिकित्सासे ही दोष बहेगा, दोष  
 दूर होंगे और शरीरको कान्ति भी बढ़ेगी। इस प्रकार शरीर  
 का उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त होगा। यह स्वास्थ्य मनुष्योंको प्राप्त  
 हो इसीलिये—

अपां कुपय मतिशुद्धः ।

दिन्याः मन्त्रयः मतिशुद्धः । ( यं. १११ )

' जलको बुद्धि करनेवाला मेघ अपने स्थानसे नुस्त ठुमा  
 धर्यात् उसके बुद्धि होयगी, दिव्य मणि जो विजलित्ता हूँ वे  
 जो कुली रीतिले प्रकाशित हो रही हैं। ' अर्थात् विषय  
 बुद्धि हुई है। परमेश्वरीय नियमसे जो बुद्धि हो रही है  
 इसका हेतु यह है कि, मनुष्य जलसे स्वास्थ्य प्राप्त करें और  
 अपनी आध्यात्मिक उन्नति सिद्ध करें। यहाँ मारितिक उन्नति  
 का उपदेश देते ॥ मेघके दृष्टान्तसे सब रोगोंको कहा है कि  
 जैसे मेघ जलकी भस्माईतिये दूरतासे आत्मशरीरमें करता  
 है, उसी प्रकार शरीरके मनुष्यको जलकी भस्माईतिये  
 आत्मशरीर करना चाहिये। इतने विचार इस कामके प्रथम  
 धर्म तुल्यमें मुख्यता कहे हैं।

## इन्द्रियशुद्धि

आत्मोन्नतिके लिये इन्द्रियकी पवित्रताकी आवश्यक-  
 कता होती है। पवित्रताके बिना किसीकी उन्नति होना  
 संभव नहीं है। अतः इन्द्रिय पवित्रकरणमें अपनी पवित्र-  
 ताका विषय संश्लेषते कहा है। सबसे पहिले सब मनुष्योंको  
 एक आत्म उन्नत उपदेश दिया है—

दुग्ध-उन्नतयः निः । ( यं. २११ )

' दुग्ध रीतिले पवि अर्थात् दूध आत्मशरीर, दुग्ध स्वरूप  
 दूर हो, हमसे निःशेषतया दुग्ध आत्मदूर दूर हो। ' हमारे

अन्य दुष्टगति करनेवाले भाव न रहे और हमारे समानमें बुराचारी मनुष्य न रहें। इस प्रकार एक व्यक्ति का सुधार हो और उसी नियमसे समाजका भी सुधार हो। व्यक्ति के सुधारका और समाजके सुधारका नियम एक ही है। व्यक्ति के सुधारके लिये दुष्ट गुणोंको दूर करना होता है और समाजके सुधारके लिये दुष्टगुणोंसे युक्त मनुष्योंको दूर करना होता है। दुष्ट मनुष्योंको दूर करनेका अर्थ है समाजसे दुष्ट गुणोंके आशयस्वान दूर करना, एक संबंध उपरिष्ठा नियम दुष्टताको हटाना ही है। इस तरह संबंधाधारण उपरिष्ठा उपदेश करके पश्चात् विशेष स्वीकारण करनेके उद्देश्यसे कुछ इतिवृत्तोंका नामनिर्देश करके अग्रमनुष्यारण मार्ग दर्शाया है—

ऊर्जा मधुमती बाध् । मधुमती बाध् उद्वेगम् ।

( मं. २।१-२ )

‘वाणी मीठी हो और बलशालिनी हो, मनुष्य मीठी और बलयुक्त वाणीसे आपसमें बातचीत करें।’ मनुष्योंके अन्दर जो झगड़े निम्न होते हैं, उसका कारण कष्ट धर्मोंका प्रयोग है। मनुष्यके मनमें जो विष भरा रहता है, यह कष्ट धर्मों द्वारा बाहर आता है और सब स्थानमें बिखरता वायुमंडल उत्पन्न करता है। इसलिये मनुष्य अपनी अना-सुखि करेगा, तो उससे कदापि कष्ट धर्मोंके प्रयोग नहीं किये जायेंगे।

मनुष्य ऐसे धर्मोंका प्रयोग करे कि वे भीड़ें हों, धातुओंमें मिश्रता हो और उत्पन्न हुई मिश्रता सुख हो जाय। केवल धर्मोंकी मरुता ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत धर्मोंमें (ऊर्जा) बल चाहिये। वाताह्वी दृष्टि करनेवाले धर्म उच्चारण चाहिये। नहीं तो कई मनुष्य अपनी ही पुष्पको ‘सुखम्’ करके फुकाते हैं, दूसरेको ‘तू मरेगा’ करके कहते हैं, ‘तू बड़ा हरास है’ ऐसा कहते हैं। ऐसे धर्मोंसे अपनी वाणी तो मलीन होती ही है, परन्तु वे शब्द जो सुनते हैं उनके मनमें भी निर्वलताका वायुमंडल उत्पन्न होता है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि ॥ जलाह्वय बलशाली प्रभावपूर्ण धर्मोंका प्रयोग करें। अपने पुष्पको ‘तू इष्ट है’ ऐसा कहे, ‘तू अमर होगा’ ऐसा बोलें, ‘तू सत्यस्वरूप है’ ‘तू स्वयं आनन्दमय है’ ऐसा कहें। ऐसा बोलनेसे सब सुननेवालोंके मनमें उत्साहका वायुमंडल उत्पन्न होता है। मनुष्योक्ति वाय भी ‘कूदाराज’ रखनेके स्थानमें ‘निर्ममराम’ ऐसे रहें। जिससे प्रायिक समय यन् शब्द उच्चारणसे दूराविचार उत्पन्न हो। प्रायिक पाठक निश्चयपूर्वक ऐसा मूल्य करे कि, अपनी

वाणीसे कदापि मनुष्य विचार न प्रकट हों और सदा उत्साह-मय विचार हो प्रकट हों। इसलिये मनुष्यको क्या करना चाहिये? इस प्रश्नका उत्तर यहाँ केवल दो ही धर्मों द्वारा ‘गो-पा और गो-पीयः’ ये दो धर्म अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। मनुष्योंका सर्व्व सत्यधर्म ॥ धर्मोंमें आत्मा है। ‘गोप’ का अर्थ है, इतिवृत्तोंका रक्षा और ‘गोपीयः’ का अर्थ है इतिवृत्तोंके पालना। एकमे शक्तिवर्धन करनेका उपदेश मिलता है और दूसरेसे इतिवृत्तोंके सत्यका बोध मिलता है। जैसे गोरक्षा करनेवाले गौको उत्तम पात्र आदि धानोंके लिये ॥ हैं और दुष्ट करते हैं और उनको दत्तस्तन, घूमने नहीं देते, इसी तरह मनुष्य अपनी इतिवृत्तोंकी रक्षा बगाने और उनको बचावें भी रखे। मनुष्यकी उपरिष्ठा लिये ॥ प्रकार इति-सत्य और मनोविग्रहकी अत्यंत आवश्यकता है। जो ऐसा सत्य करनेवाले हों वे ही (उपहृत)। पास बुलाने योग्य हैं और जो खोद अपने इतिवृत्तोंके स्वेच्छाचार्य करते हैं, वे सत्पानमें आकरते बुलाने योग्य नहीं हैं। आगे कानोंके विषयमें बड़ा उत्तम उपदेश दिया है—

भद्रधुतौ कर्णौ । सुधुतौ कर्णौ । भद्रं श्लोकं ध्यांसम् । सुधुतिः उपधुतिः च मा मा हासिषाम् ।

( मं. २।४-५ )

‘मेरे कान अच्छे उपदेश सुनें, अच्छे उपदेशोंसे मेरे कान सुने ॥ हों। कल्याण करनेवाली वाणी में सुना कल। उत्तम उपदेश सुनने और दुरते अच्छे शब्द सुननेको इति-मेरी कानों शीघ्र न हो।’ यहाँ कर्णोंकी सत्यरक्षाका साधन दर्शाया है। ईश्वरने मनुष्यको कान इसीलिये ॥ है कि, उनसे मनुष्य सदा उत्तम उपदेश सुने कानों धुरे दाख न सुने। श्रवण में भी कहा है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

( ऋ० १।८।१८ )

‘हम कानोंसे कल्याणकारक उपदेश सुनें और आँखोंसे कल्याणकारक पश्य देखें।’ ये सब उपदेश इसीलिये हैं कि इनसे मनुष्यका सुधार हो, मनुष्य पवित्र बने और समत हो। इस प्रकार कानोंके विषयमें कहनेके पश्चात् नेत्रके विषयमें भी कहा है—

सौपर्णं धातुः अक्षराम् । ( मं. २।५ )

‘बदलके समान मेरी शीघ्र दृष्टि हो’ और ॥ उत्तम कल्याणको अस्तु देखें। इस प्रकार इतिवृत्तोंके विषयमें इस पर्याप्तवृत्तोंमें कहा है। यही—

अपीनां प्रस्तरः अस्ति । देव्याय प्रस्तराय नमः ।

( म. २।६ )

‘तू श्रवियोंका प्रस्तर है। इस दिव्य प्रस्तरके बिन्दु नमस्कार है।’ श्रवियोंकी चट्टान आता है। यही दिव्य चट्टान है। इसके विषयमें प्रत्येकने अपने अपने करणों पुण्य भाव धारण करना चाहिये। इसी आत्माको उपासनासे सब काहित होनेवाला है। यहाँ तक उपदेश इस द्वितीय पर्याप्त-मूलमें कहा है।

### आधिभौतिक विजय

पूर्वोक्त प्रकार मनुष्यकी आध्यात्मिक और वैयक्तिक उपजति होनेके वरणात् उसकी व्यक्त आधिभौतिक विजय स्थापन करनेका यत्न करना चाहिये। इसका विचार इस १६ वें काण्डके तृतीय पर्याप्तमूलमें किया है, यह बोधय उपदेश पाठक धन वेत्त—

अहं रयीणां मूर्धा भूयात् ।

समानानां मूर्धा भूयात्सम् । ( म. ३।१२ )

अहं रयीणां नाभिः भूयात् ।

समानानां नाभिः भूयात्सम् । ( म. ३।१-२ )

‘मैं धनोंका स्वामी और केन्द्र बनूँ। मैं समान धनोंके शीर्षोंमें मुखिया और उनका मध्य केन्द्र बनूँ।’ अपनी योग्यता नेता बनने योग्य होनी चाहिये। प्रत्येक मनुष्य नेता नहीं हो सकता तथापि यदि बहुगुणवत्त बननेका यत्न प्रत्येक मनुष्य करेगा तो उसका अन्त्य सुधार होगा। इस

सेवकी बने। ( धेनूः ) इच्छा अर्थात् अपने वैयक्तिक, सामा-  
यिक और राष्ट्रीय महत्त्वको इच्छा। इसी इच्छासे मनुष्य पुण्यार्थी होता है और विशेष श्रेष्ठ कर्म करता हुआ अपना और समाजका उत्थार करता है। ( मूर्धा ) शिर अर्थात् मस्तिष्क। मनुष्यकी योग्यता उच्च वा नीच होना उसके मस्तिष्ककी उत्तिष्ठ पर निर्भर है अतः मनुष्यको उचित है कि वह अपनी मस्तिष्ककी शक्ति बढ़ावे। ( विधर्मः ) विधाय धर्मोक्ति मुक्त बनना। सामारण मूलकर्मों और धर्मोक्ति मुक्त होनेसे मनुष्य सामारण ही हो सकता है, परन्तु उसकी विशेष योग्यता होनी हो, यदि वह समाजका और राष्ट्रका केन्द्र बननेका इच्छुक हो, तो उसको उचित है कि वह अपने धन-वित्त धर्मोंकी वृद्धि करे। सामान्य मनुष्यमें जो धर्म नहीं होते ऐसे धर्म लक्ष्यवादिसे अपने अन्दर बढ़ाने चाहिये। ( उग्रः शस्त्रः ) ये यत्नवात्र हैं, ये यत्नके सब साधनोंके उपलक्षण हैं। सब प्रकारके यत्न करनेसे और यशस्य यश-रूप जीवन होनेसे ही मनुष्यकी योग्यता बढ़ती है। मनुष्य कतृक्ष्य होना चाहिये। तत्फल बनना मनुष्यका ध्येय है। ( धर्ता ) धारण करनेवाला, सम्राट्ही धारता, राष्ट्रको धारता, धर्मकी धारणा करना मनुष्यका कर्तव्य है। दूसरे श्रवियोंकी अपनी प्रवृत्तिका आधार देना धर्ता होना है। ( धरत्य ) इसका भी धारक ही अर्थ है, इसमें सब लयित है। स्वयं स्थिर रहकर दूसरोंकी बु-स समुद्रसे दूर करनेके लिये अपना आधार देनेका कार्य करना मनुष्यकी योग्य है। मनुष्यको इसी अर्थित प्राप्त करनी चाहिये।

ये बारह शब्द मनुष्यके विशेष कर्तव्य बता रहे हैं। मनुष्य ये कर्तव्य करें। ये कर्तव्य मनुष्यके कदापि दूर न हों। इन कर्तव्योंके विषयमें मनुष्य कदापि विमूढ़ न हों। इन कर्मोंके और इनके योगित होनेवाले कर्तव्योंके जो पुण्य युक्त होते हैं वेही भेद और उच्च होते हैं। यहां कई निर्बल मनुष्य कहेंगे कि हम निर्बल हैं, हम इन कर्मोंको पारण नहीं कर सकते, इनके लिये आत्मिका स्वभाव कंसा है यह बात हमी मूलकके पथ स्पष्ट कहते हैं—

आत्मा वृहस्पतिः मृगशः हृद्य । ( म. ३।५ )

विधर्मणा समुद्रः अस्मि । ( म. ३।६ )

मस्तेषु अमृतः स्वा । ( म. ४।२ )

'आत्मा ज्ञानपुरुष है, मनुष्योंके हृदयोंमें निवास करता है, मनुष्योंके अन्तर मनन करनेवाला है, अपने विशेष धर्मोंसे वह समुद्र जैसा घेरा हुआ गभीर है। परन्तु धर्मोंके शरीरमें यह अमर है और जलम तेजसे युक्त है।' ये अपनी आत्मोंके गुणधर्म हैं वह ज्ञानकर, विचारके और मननसे इन धर्मोंका साक्षात्कार करे। इस ज्ञानसे मनुष्यकी निर्बलता दूर होवेगी और वह पूर्वोक्त गुणोंको अपने मकर यानमें समर्थ होगा। इस तरह आत्मिक बल प्राप्त होनेसे—

असतापं हृद्य । उर्ध्वं गच्छतिः । ( म. ३।६ )

'हृद्य सतप रहित अर्थात् शान्त होता है और मोक्षम द्विर्धर्मोंकी गति यही विस्तृत होती है।' अपनी सब शक्ति बढ़ती है। प्रभावशाली जीवन ही जाता है। आत्माकी शक्ति उसको सब व्यवहारमें दीक्षती है और वह भयकर प्रसवमें भी शान्त और गभीर ही कार्य करता है, कभी अज्ञान नहीं होता। शरीरके नाश होनेपर भी ये अमर हैं वह उसका विद्रोह उसको निन्द करती है और मनुष्य संकल्प जलते करता है। ऐसी अवस्थामें सब वेद प्रत्यक्ष दीक्षित होते हैं—

सूर्यः वायुः भग्निः धमः सरस्वती... पातु । ( म. ४।४ )

'सूर्य, वायु, अग्नि, धम और सरस्वती जसके स्थापित करते हैं।' सूर्य नेत्रस्थानमें, वायु प्राणके स्थानमें, अग्नि यामीके स्थानमें, धम शिस्तस्थानमें, सरस्वती बुद्धिस्थानमें रहकर उसको हर एक प्रकारकी सहायता देते हैं और उसको अपनी विषय शक्तिते पवित्र करते हैं। अग्रमशक्तिसे युक्त पुत्रके इस तरह सब देव सहायक होते हैं। यह विषय इससे पूर्व भी आधुना है और वेदमें यह बारबार कहा गया है। इसलिये जो मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करता है और अपना जीवन

यस्य बनाता है उसको सब देवताओंकी सहायता होती है, वह विद्रोह पाठक मनमें धारण करें। ऐसा मनुष्य निर्बल होकर व्यवहार करता है और इसीलिये वह मनुष्य सबका नेता बनने योग्य होता है। यह कहता है कि—

प्राण मा मा धासीत् । अपातः अवहाय मा परामात् । ( म. ४।३ )

'मेरा प्राण और अपात मुझे छोड़कर न दूर जावे।' यह ऐसा इच्छा करता है कि उसने अपना सब जीवन ईश्वरकी भक्ति और सेवाके लिये समर्पित किया होता है, वह अपने जीवनमें अन्तर्ही सेवा करना चाहता है। अपना प्राण यह ईश्वरके लिये ही समर्पित करना चाहता है। अब कार्यका रत्नग भी नहीं है। यह जानता है कि—

मिश्रावकौ मे आष्ठापानौ । शकरीः जायः स्वति । ( म. ४।४ )

'अपने प्राण और अपात ये अब प्रत्यक्ष मित्र और वर्य देवता हैं और सत्के अन्तरका सब सामर्थ्य मेरा कल्याण करता है।' इस तरह वह देखता है और अनुभव करता है कि अपना सब देह और जीवन देवतामय हुआ है। इस समय वह कुछ कल्पनासे पूर्णतया दूर होता है, उस उसका देवतात्म स्वल्प बनाता है, वह सदा ही धीमे प्रशस्त कार्य करता है, उसको चंचे, कार्य करनेके लिये कोई प्रयास नहीं होता, क्योंकि वह विस्मय बना होता है। इस समय वह अनुभव करता है कि—

आग्नि मे दक्ष । ( म. ४।७ )

'अग्नि सब पारण करता है।' अन्य देव मूलमें अन्याय सामर्थ्य पारण करते हैं। इसकी आत्मा प्रत्यक्ष ईश्वरीय गुणोंसे प्रभावशाली हुई होती है। ऐसे महात्मा धर्म हैं, यही प्रभाव धर्मोंसे वेत हो सक्ता है और यही लोकप्रद करनेमें प्रवृत्त होता है और यही मनुष्य अज्ञानकी सच्चा मार्ग बता सकता है। मनुष्यमें ऐसे सत्पुरुष आते हैं और जनतामें प्रत्यक्ष कार्य करते हैं और यथार्थमें यह सब सन्नेवालोंको अन्तर्विद्विताया मार्ग बताते हैं।

स्वप्न

आगे पक्षम और पछ इन दो पर्यायशक्तियों में स्वप्नका विषय कहा है। इस मूलमें मुख्य स्वप्नके जो कारण मिले हैं वे ये हैं—

प्राणाः -- निर्मलयाः अमृत्याः निर्मलयाः परा-  
भूत्याः देवजामिनीं पुत्रः स्वप्नः । ( म. ५।१-८ )

‘ रोम, दुरवस्था, दारिद्र्य, दुर्गति, वराभय और इष्टिरोप इनके कारण बुद्ध स्वप्न भाते हैं । ये बुद्ध स्वप्न मनो मनु के लक्ष्य हैं । इतिमये बुद्ध स्वप्न होते ही मनुष्यको उचित है कि अपने अन्तर को रोमबोध हो । उनको दूर करनेका पल करें । बुद्ध स्वप्नके जो कारण वहाँ विद्ये हैं उनका भी पोषाभा अधिक विचार यहाँ करना चाहिये । ( आशी ) भयानक रोप जो शरीरमें जानेपर सहता शरीरको छोड़ते नहीं और दूष देते देते अन्तमें प्राण हरण कर लेते हैं । ऐसे रोगोंके शरीरमें होनेपर शरीरवार बुद्ध स्वप्न होते हैं अतः यदि हा रोपोंके बुद्ध स्वप्न होते हैं तो उनको दूर करनेके लिये विविधतया रोगवैद्योंको दूर करना चाहिये । शरीर विद्योप और निरोप करना चाहिये । इन कामोंके लिये इसी काममें पूर्वस्थानमें जलविशिक्षाका उपाय बताया है । ( निर्मति ) अतिका अर्थ है उपरति, सम्मुख, समपता और सामर्थ्य । इसके विपक्ष अर्थ निर्मतिता है । समपति, भय प्राप्त, वीर्यता और निर्मलता भी बुद्ध स्वप्न भाते हैं । इनको दूर करनेके लिये जो आवश्यक उपाय हैं उनको काममें लाना चाहिये ( अभूति ) ऐश्वर्यसे होने होना और ( निर्भूति ) महासकलमें पटना तथा ( पराभूति ) पराभय होना, पराभय, पराधीन और पराधन होना इन कारणोंसे भी बुद्ध स्वप्न भाते हैं । इन कारणोंकी दूर करनेके लिये बहुतसे उपाय हैं, प्रायोंके लिये विभिन्न उपाय होते हैं । अतः उनका अवलम्बन योग्य रीतिसे करना चाहिये । मुख्य उपाय स्वात्मबलसे स्वाधीनता प्राप्त करना है । ( वैद्यज्ञानी ) अपने शरीरमें वैद्य नाम इन्द्रियांका है, उनको शिक्षाया विविध हैं इनकी स्मृतिशक्तिसे भी बुद्ध स्वप्न भाते हैं । इस कारण तपसादि द्वारा अपने इन्द्रियोंको निर्दोष, निरोप और स्वल्प रखना भाव्य आवश्यक है । अर्थात् इस तरह अपने अंदर और अपने दाम्प्यमें जो जो बुद्ध स्वप्नके कारण उत्पन्न हैं, उनको दूर करना मनुष्योंका कर्तव्य है ।

मनुष्यकी परीक्षा स्वप्नमें होती है । मनुष्यको कैसे स्वप्न होते हैं, इसपर हा स्वप्न है या रोमी है, उपायाची या दुराचारी है, सुख विचारवाला है या अशुभ विचारवाला है इसका विवेचन होता है । मनुष्य यदि ‘ मैं हीनपर उपलब्ध कर रहा हूँ, अधिप्राप्तमें अधिपति के भावित्य सुख रहा हूँ, लालुप्योका समापन हो रहा है । ’ ऐसे दूष स्वप्न देते अपना बिलकुल स्वप्न हो न देखे तो समझना चाहिये कि उसका शरीर स्वल्प है । अथवा भूरे स्वप्न अपने अपने तो स्वात्ममें कुछ न कुछ विपाक है, दूषा पालक उससे गुणारका पाल करना चाहिये । अतः कहा है—

यस्मात् दुष्पानयात् अभ्यस्य तत् अपउच्छतु ।

( म ६१२ )

‘ जिस बुद्धस्वप्नमें हृत् भय होता है वह बुद्धस्वप्नका कारण हमसे दूर होवे । ’ यह कारण कितो दूसरे स्थानपर आवे, (यारे पास न रहे) इस प्रकार अपने आपको निर्दोष या छिद्र करनेपर ही वह निर्दोष मनुष्य वह तकती है कि—  
अथ अजैष्य, अथ असनाय, यथ अनानस्य अभूय ।  
( म ६११ )

‘ आज हमने विजय प्राप्त की है, आज जो हमारा प्राप्तय था वह हमने प्राप्त किया है क्योंकि हम विजय हो चुके हैं । ’ विजया होनेसे जो सब प्राप्तय प्राप्त हो सकता और विजय प्राप्त होती है । विजय प्राप्त करनेकी यह श्रुती है । पापों को उन्नति प्राप्त होनेका भाव होता है वह केवल भावपात्र है । उद्यम पक्षी अवनतिके बीज रहते हैं, अतः पाठकोंको यह स्मरण रखना चाहिये कि बेचके आत्माके मनु-सार निष्पाप पराजितपक्षे को उन्नति प्राप्त होती है वही श्रेष्ठ करने चाहिये और यही धिरस्वाची होती ।

आने स्वल्प सुखमें हीनोको दूर करना अपना नाश करने का विषय कहा है । यह सुक्त स्वप्न होनेके कारण उसके अधिक स्पष्टीकरणकी कोई आवश्यकता नहीं है । यह दानु अन्त्यात्मभूमिकाये रोप, दुर्बिचार आदि है, आधिभौतिक भूमिकाये दुर्जन दानु है । दोनों स्थानोंमें जो जो दानु निवास करता हो, उसको हलना चाहिये । तभी विजय प्राप्त हो सकती है ।

## विज्ञय

अप्यस्य दूषतने अपने विजयशक्ति का एक प्रश्न है, यह प्रायिक वैदिकधर्मोंको कष्ट करने योग्य है, यह मम मम वैदिक—

अस्माकं जितं, उद्भिद्य, द्रुत, तेजः, प्रज्ञा, स्या, यज्ञः, पशुध, प्रजा, यैराः ॥ ( म, ८१ )

इस मनुष्य प्रत्येक दानु अप्यस्य बहुवचन्य भावसे दूषत होनेके कारण यहाँ प्रायिक दानुका विषय विचार करते हैं—

( जितं ) यह सब प्रकारके दानुओंपर विजय है । आध्या-मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दानुओंपर विजय प्राप्त करना यह अपनी शक्ति बढ़ानेसे हो हो सकता है । ( उद्भिद्यं ) यह अपने सब प्रकारके दानुदूषत साम्य होने-वाली बात है, अपने दूषतना, नरना प्रतिप्रकाश अपने अंदरको प्रान्ति, अपनी तेजोवृद्धि आदिसे यह विद्व हो

सक्ता है । पहिला विजय शत्रुपर सत्पादन किया जाता है, यत् अपनी आंतरिक मुक्तिपतिपर निर्भर होता है । ( ऋत ) ऋतुका अर्थ है ठोका मार्ग, सरलता, योग्य व्यवहार जिसमें सेटापन नहीं है । प्रायिक व्यवहारमें इस प्रकारकी सरलता रहेगी तो ही पूर्वोक्त विजय साध्य होगा । ( तेजः ) तेज श्रिता, प्रभाव, उपता आदि गुण भी विजयके सहचारी हैं । ( ब्रह्म ) सत्यतान, आत्मसामर्थ्य, विज्ञान, देवतान यद् तो नि सदेह ऋतके साथ ही रहेगा । समुत्के साथ इसका होना संबंध असंभव है । ( स्वः स्वर्ग ) आत्माका प्रकाश, अपना प्रश, अपने पुण्यकर्मसे प्राप्त होनेवाला पुण्यलोक । ( यत् ) वैययुला, सगतिकरण और दातृत्व श्रेष्ठतम कर्म, पहले ही सबकी सिध्ति और उपरति होती है । ( पशवः ) घोड़े, बैल, घोड़े आदि पशु मनुष्यका पशुत्व बढ़ाते हैं । ( प्रजाः ) सत्तरी, पुत्रपुत्री आदि अपना प्रजाजन । ( घोरः ) घोरपुत्र तथा घोरियात् लोग अपना शूरवीर । पाठक विचार करेंगे तो इनकी पता लग सकता है कि ये सब विजयके सहचारी गण हैं ।

इस अष्टम पर्यायसूक्तमें जो आने कथन है वे तो सबकी कुशलनेका प्रोत्साहन देनेवाले अर्थवाक्यके मन्त्र हैं, ऋतः उनके विषयमें विशेष लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । इसके परभाव अन्तिम नवम पर्यायसूक्तमें बार ही बयन है, परन्तु

वे निम्न स्मरण रखने योग्य महत्वपूर्ण हैं—

जित अस्माकं, उद्विज्र अस्माकं,  
विग्वा वरातीः गृह्णा ॥ ( म ११२ )

'हमारी विजय, हमारा उदय और शत्रुकी सब सेवाओं का पूर्ण पराभव करनेका सामर्थ्य हम अपने अन्दर बड़ाते हैं ।' तथा—

पूषा सुकृतस्य लोके मा धात् ॥ ( म ११२ )

'ईश्वर भूमे पुण्यलोकमें पारण करे 'ऐसा मैं सरागारी, कुञ्ज, पूत और पवित्र बनू । तथा—

स्वः अगन्म, सूर्यस्य उद्योतिषा अगन्म ॥ ( म ११३ )

'आत्माका तेज प्राप्त करे, सूर्यकी ज्योतिसे मिले ।' तथा—

धस्योभूयाय वसुमान् भूयासम् । वसुमान् यज्ञः ।  
धसु वशिषीयः ॥ ( म ११४ )

'बहुत धन प्राप्त करना चाहिये, मैं धनपुत्र हो जाऊँ ।  
धर्मीक बनते यज्ञ होता है, इन्द्रजिने यज्ञमें धन करनेके लिये  
बुद्धे धन चाहिये ।'

ये सब चारोंके चारों अत्र इतने उत्तम भावसे परिपूर्ण हैं, इतने सरल हैं और इतने सुबोध हैं कि मानो यही दस सब कामका सार है ।



## अपने अभ्युदयके लिये प्रार्थना

कांड १७, सूक्त १

( अग्नि - ब्रह्मा । देवता - आश्विनः । )

विपासहि सहेमानं सासहानं सहीवासम् । सहेमानं सहेजितं स्वर्जितं गोर्जितं सधनजितम् ।

ईदयं नाम ह्य इन्द्रभायुष्मान्भूयासम् ॥ १ ॥

विपासहि सहेमानं सासहानं सहीवासम् । सहेमानं सहेजितं स्वर्जितं गोर्जितं सधनजितम् ।

ईदयं नाम ह्य इन्द्रं प्रियो देवाना भूयासम् ॥ २ ॥

अर्थ— ( विपासहि ) अत्यन्त धनवं, ( सासहानं ) अत्यन्त बलवान्, ( सासहानं ) निम्न विजयो, ( सहिवासं ) शत्रुको बचानेवाले, ( सहेमानं ) गृहान्तिक, ( सहेजितं ) कर्मसे विविधकर्म करनेवाले, ( स्वः जित ) अपने सामर्थ्यसे जीतनेवाले, ( गो-जित ) भूमि, इन्द्रियों और यौनोंको जीतनेवाले ( सधनजित ) धनको जीतकर प्राप्त करनेवाले, ( ईदयं नाम इन्द्र ) प्रसन्नगीन धनवाले प्रभुको मैं ( ह्ये ) प्रशंसा करता हूँ, जिससे मैं ( आयुष्मान् भूयास ) दीर्घायु होऊँ ॥ १ ॥ ॥ १॥ ( देवता प्रियोः भूयास ) मैं देवोंका प्रिय बनूँ ॥ २ ॥

विपासहिं सर्वमानं सासहानं सर्वपापम् । सर्वमानं सहोचितं स्वर्जितं गोजितं संघनाजितम् ।  
ईदृशं नाम ह्य इन्द्रं प्रियः प्रजानां भूयासम् ॥ ३ ॥

विपासहिं सर्वमानं सासहानं सर्वपापम् । सर्वमानं सहोचितं स्वर्जितं गोजितं संघनाजितम् ।  
ईदृशं नाम ह्य इन्द्रं प्रियः पशूनां भूयासम् ॥ ४ ॥

विपासहिं सर्वमानं सासहानं सर्वपापम् । सर्वमानं सहोचितं स्वर्जितं गोजितं संघनाजितम् ।  
ईदृशं नाम ह्य इन्द्रं प्रियः सभानानां भूयासम् ॥ ५ ॥

उदिष्ठादिहि सूर्यं वर्षसा माभ्युदिहि ।  
द्विपेक्ष सक्षं रश्मिं मा चाहं द्विपृते रंषं तवेद्विभ्यो बहुधा वीर्याणि ।  
रवं नः पूर्णाहि पृष्ठाभिर्विषकूपैः सुधायां मा घेहि परमे व्योमिन् ॥ ६ ॥

उदिष्ठादिहि सूर्यं वर्षसा माभ्युदिहि ।  
यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृषि तवेद्विभ्यो बहुधा वीर्याणि ।  
रवं नः पूर्णाहि पृष्ठाभिर्विषकूपैः सुधायां मा घेहि परमे व्योमिन् ॥ ७ ॥

मा र्था दमस्तलिले अप्सवन्तस्ये पात्रिभं उपतिष्ठन्त्यत्र ।  
द्विषासहिं दिवमासक्षं पृतां स नो मूढ सुमती नं स्याम तवेद्विभ्यो बहुधा वीर्याणि ।  
रवं नः पूर्णाहि पृष्ठाभिर्विषकूपैः सुधायां मा घेहि परमे व्योमिन् ॥ ८ ॥

रवं नः इन्द्र महते सौमेगायद्भवेतिः पतिं पादाकुभिस्तवेद्विभ्यो बहुधा वीर्याणि ।  
रवं नः पूर्णाहि पृष्ठाभिर्विषकूपैः सुधायां मा घेहि परमे व्योमिन् ॥ ९ ॥

अर्थ— ०१०० ( प्रजानां प्रियः ) प्रजानां प्रिय होऊ ॥ ३ ॥ ०१०० ( पशूनां प्रियः ) पशूनां प्रिय होऊ ॥ ४ ॥ ०१०० ( सभानानां प्रियः भूयासं ) सभानां योग्यतस्ते पुरुषोंको भी प्रिय बनू ॥ ५ ॥

हे ( सूर्य ) सूर्य ! ( उदिहि उदिहि ) उदय हो, उदयको प्राप्त हो । ( वर्षसा मा अभ्युदिहि ) अपने तेजसे उचित होकर मूलपर बारों ओरसे प्रकाशित हो । ( द्विपृते रंषं तवेद्विभ्यो ) मूलसे द्वेप करनेवाला मेरे पदमें ही जाय, परंतु ( अहं स्व द्विपृते मा रंषं ) मैं द्वेप करनेवाले दाऊके लक्ष कभी न होऊँ । हे ( विभ्यो ) व्यापक ईश्वर ! ( तय इत् बहुधा वीर्याणि ) तेरे ही शीर्ष मनेक प्रकाशके हे । ( तय म- विष्वकूपैः पृष्ठाभिः पूर्णाहि ) तू हमें मनेककूपवाले पृष्ठाभिः पूर्ण कर । और ( परमे व्योमिन् ) परम आकाशमें ( म- सुमतीं घेहि ) मूल मूलमें स्थापित कर ॥ ६ ॥

( उदिहि ) हे सूर्य ! उदयको प्राप्त हो, उदयको प्राप्त हो और ( वर्षसा ) अपने तेजसे मूल प्रकाशित कर ( यान् स्व पश्यामि यान् च न ) जिन प्राणियोंको मैं देखता हूँ और जिनको नहीं देखता ( तेषु मा सुमतिं कृषि ) उनके विषयमें मूलें उपतिष्ठाना कर । ( तय इत् ०० इत्यदि पूर्ववत् ) ॥ ७ ॥

( सञ्छिन्दे सप्तः सन्तः ये पाशिनः ) जिनके सन्त ओ पाशवाले ( मथ उपतिष्ठन्ति ) यहां आकर उपस्थित होते हैं वे ( त्वा मा दमन् ) तुझे न डराने । ( अशास्तिं दिव्यं पृतां दिवं आकुरुः ) दिव्यको त्यागकर पृथोक पर आकुरु हो और ( सा म- मूढ ) वह तू हमें मूर्खी कर, ( ते सुमतीं स्याम ) हम तेरी सुमतिमें रहें । ( तय इत् ०० ) ॥ ८ ॥

हे इन्द्र ! ( रवं नः महते सौमेगायद् ) तू ॥ सत्यकोषसे लीधायके लिये ( म- अभ्युभिः अपतुभिः परिपाहि ) तू बरनेवाले प्रकाशोंसे सब ओरसे उपतिष्ठ रख । ( तय इत् ०० ) ॥ ९ ॥

त्वं न इन्द्रोतिभिः शिवाभिः शर्वतो भव ।

आरोहस्त्रिदिवं दिवो गृणानः सोमपीतये प्रियधामा स्वस्तये तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि

त्वं नः । पृणीहि पृथुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमिन्

॥ १० ॥

स्वमिन्द्रासि विश्वजित्सर्ववित्पुरुद्वस्तमिन्द्र ।

स्वमिन्द्रेमं सुहवं स्तोममेरयस्व स नो मृद सुमतौ तं स्वाम तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि

त्वं नः । पृणीहि पृथुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमिन्

॥ ११ ॥

अदंघो द्विवि पृथिव्यामुतासि न तं आपुर्महिमानमन्तरिक्षे ।

अदंघेन ब्रह्मणा वायुधानः स त्वं न इन्द्र द्विवि पृथुमं यच्छ तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि

त्वं नः । पृणीहि पृथुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमिन्

॥ १२ ॥

या तं इन्द्र तनूरप्सु वा पृथिव्यां यान्तरमौ या तं इन्द्र परमाने स्वर्विदि ।

ययैन्द्र तन्वाकुन्तरिक्षं व्यापिथ तयो न इन्द्र तन्वाकुं शमं यच्छ तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि

त्वं नः । पृणीहि पृथुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमिन्

॥ १३ ॥

स्वमिन्द्र ब्रह्मणा वर्धयन्तः सन्नं नि वेदुर्नययो नाधमानास्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।

त्वं नः । पृणीहि पृथुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमिन्

॥ १४ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! ( त्वं नः शिवाभिः ऊतिभिः शंसमः भव ) तू कल्याणपूर्ण रक्षणों के साथ हमें उत्तम कल्याण देनेवाला हो । ( त्रिदिवं आरोहन् ) पृथुकोपर आरुह्य होकर ( दिवः गृणानः ) प्रकाशको घेता हुआ ( सोमपीतये स्वस्तये प्रियधामा ) सोमपान और कल्याणके क्रिये प्रिय स्थान हो । ( तव इत् ०१० ) ॥ १० ॥

हे इन्द्र ! तू ( विश्वजित् सर्वजित् ) जयजनेता और सर्वज्ञ है और हे इन्द्र ! तू ( पुरातनः ) बहुत प्रसन्नित है । हे इन्द्र ! ( त्वं इमं सुहवं स्तोमं ऐरयस्व ) तू इस उत्तम श्राव्यवाक्यके स्तोत्रको प्रेरित । ( सः नः० तव इत् ०१० ) ॥ ११ ॥

हे इन्द्र ! तू ( द्विवि दत्त पृथिव्यां अदंघः अस्ति ) पृथुकोर्म और इस पृथुकोपर किन्तोसे दबता नहीं । ( अन्तरिक्षे ते मदमानं न आपुः ) अन्तरिक्षमें तेरी मदमानको कोई नहीं प्राप्त हो सकता । ( अदंघेन ब्रह्मणा वायुधानः सन् ) न बन्नेवाले आकाशे बधता हुआ ( द्विवि नः त्वं शमं यच्छ ) पृथुकोर्म तू हमें शम प्रदान कर । ( तव इत् ०१० ) ॥ १२ ॥

हे इन्द्र ! ( या ते अप्सु तनूः ) जो तेरा शंसं जलमें है, ( या पृथिव्यां या सन्नो अन्तः ) जो पृथुकोपर और जो अग्निमें अन्तर है, हे इन्द्र ! ( या ते पयमाने स्वाः-चिदि ) और जो तेरा अन्न पवित्र करनेवाले प्रकाशपूर्ण पृथुकोर्म है, हे इन्द्र ! ( यया तन्वा अन्तरिक्षं व्यापिथ ) जिस तनूसे अन्तरिक्ष व्यापता है, ( तथा तन्वा नः शमं यच्छ ) उस तनूसे हम शमको सदा प्रदान कर । ( तव इत् ०१० ) ॥ १३ ॥

हे इन्द्र ! ( त्वां ब्रह्मणा वर्धयन्तः ) ॥ १४ ॥ मन्त्रोंसे स्तुति करते हुए ( नाधमानाः ऋषयः सन्नं निवेदुः ) श्राव्यता करनेवाले ऋषियग सत्र मासक वाक्यों बोलते हैं ( तव इत् ०१० ) ॥ १४ ॥



त्वं तृप्तं त्वं पर्येष्यत्सं सहस्रपात्रं विदयं स्वर्विदं तवेद्दिष्णो बहुधा वीर्याणि ।

त्वं नः पूणीहि पृथुमिर्विश्वरूपैः सुधापां मा घेहि परमे व्योमिन्

॥ १५ ॥

त्वं रक्षसे प्रदिश्यतस्त्रस्त्वं शोचिषा नमसो नि भासि ।

त्वमिमा विश्वा भुवनानि त्रिषु स क्रतुस्य पन्थामन्वैषि विदास्तवेद्दिष्णो बहुधा वीर्याणि ।

त्वं नः पूणीहि पृथुमिर्विश्वरूपैः सुधापां मा घेहि परमे व्योमिन्

॥ १६ ॥

पञ्चभिः पराङ् तवस्येकपात्रावन्विष्टयेषि सुदिने नार्धमानस्तवेद्दिष्णो बहुधा वीर्याणि ।

त्वं नः पूणीहि पृथुमिर्विश्वरूपैः सुधापां मा घेहि परमे व्योमिन्

॥ १७ ॥

श्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः ।

तुभ्यं युद्धो वि तायते तुभ्यं जुहति जुहंतस्तवेद्दिष्णो बहुधा वीर्याणि ।

त्वं नः पूणीहि पृथुमिर्विश्वरूपैः सुधापां मा घेहि परमे व्योमिन्

॥ १८ ॥

असति सत्प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम् ।

भूतं तु भक्ष्य आवितुं भर्ष्य भूते प्रतिष्ठितं तवेद्दिष्णो बहुधा वीर्याणि

त्वं नः पूणीहि पृथुमिर्विश्वरूपैः सुधापां मा घेहि परमे व्योमिन्

॥ १९ ॥

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि । स यथा त्वं भ्राजता भ्रजोऽस्येवाहं भ्राजता भ्राज्यासम्

॥ २० ॥

अर्थ — हे भगवन् देव ! ( त्वं तृप्तं-मितं ) तू तृप्तोत्पन्नो ( सहस्रपात्रं विदयं स्वर्पदं उरत् ) सङ्कल-  
धारामिति पुनः कानमव प्रकाशयुक्तं भोक्तो ( पर्येषि ) व्यापता है । ( तव इत् ०१० ) ॥ १५ ॥

हे देव ! ( त्वं रक्षसेः प्रदिशः रक्षसे ) तू चारों दिशाओंकी रक्षा करता है । अपने ( शोचिषा नमसो  
विभासि ) तेजसे आकाशकी प्रकाशित करता है । ( त्वं इन्द्राः भुवनानि अनुस्तिष्ठसे ) तू इन सभ भूवनोंके अनुकूल होकर  
व्यवहृत है और ( विदास्तु क्रतुस्य पन्थो मन्वैषि ) जायता हुआ सत्यके पारंपरिक अनुसरण करता है । ( तव इत् ०१० )  
॥ १६ ॥

( पञ्चभिः पराङ् सपसि ) तू अपनी पाँचों समिकपोंसे दूर भी तपता है और ( एकपात्रावन्विष्ट ) एकसे  
पात्र भी तपता है और ( सुदिने अशसि माधमानः पवि ) उत्तम जिवने अश्वस्तताको दूर हटाता हुआ चमता है ।  
( तव इत् ०१० ) ॥ १७ ॥

हे देव ! ( त्वं महेन्द्रः ) तू इन्द्र है । ( त्वं महेन्द्रः ) तू बड़ा इन्द्र है । ( त्वं लोकः ) तू लोक-प्रकाशपूर्ण है,  
( त्वं प्रजापतिः ) तू प्रजापालक है ( यथाः तुभ्यं चित्तमयते ) यथा तेरे लिये चेतना जाता है और ( जुहति तुभ्यं  
जुहति ) हुन करनेवाले तेरे लिये वातुतिपाँ वेते हैं । ( तव इत् ०१० ) ॥ १८ ॥

( असति सत्प्रतिष्ठितं ) असत्यों अर्थात् प्राकृतिक नियमों सत् अर्थात् आस्था स्थित है, ( सति भूतं प्रति-  
ष्ठितं ) सत्यों अर्थात् आत्मामें जायस दुःखा जन्म स्थिर है, ( भूतं तु भक्ष्य आवितं ) भूत होनेवालेमें आश्रित है, ( भूतं  
भूते प्रतिष्ठितं ) होनेवाला भूतमें प्रतिष्ठित है ( तव इत् ०१० ) ॥ १९ ॥

( शुक्रः असि ) तू तेजस्वी है, ( भ्राजः असि ) तू प्रकाशमान है, ( स त्वं ) यह तू ( यथा भ्राजता भ्राज-  
असि ) जैसा तेजस्वी है ( एव यथा भ्राजता भ्राज्यार्थं ) जैसे ही मैं तेजसे प्रकाशित होऊँ ॥ २० ॥

रुचिरसि रोचोऽसि । सपथा त्वं रुच्या रोचोऽस्येवाहं

पशुमिथ ब्राह्मणवर्चसेनं च रुचिपीय

॥ २१ ॥

उद्यते नम उदायते नम उदिताय नमः । विराजे नमः सुराजे सम्राजे नमः

॥ २२ ॥

अस्तंयते नमोऽस्त्वमेष्टयते नमोऽस्त्वमिताय नमः । विराजे नमः सुराजे नमः सम्राजे नमः ॥ २३ ॥

उदगादुयमादित्यो विश्वेन वर्षसा सह ।

सुपःतान्महा रुचयन्मा चाहं द्विषते रघं तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।

त्वं नः पृणीहि पशुमिथिर्वरूपैः सुधापां मा चेहि परमे ज्योमन्

॥ २४ ॥

आदित्य नावमारुक्षः शतारिंशं स्वस्तये । अहमार्त्यपीपरो रात्रिं सत्रातिं पारय

॥ २५ ॥

सूर्य नावमारुक्षः शतारिंशं स्वस्तये । रात्रिं सात्यपीपरोऽहं सत्रातिं पारय

॥ २६ ॥

प्रजापतेरायुतो ब्रह्मणा धर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्षसा च ।

जरदग्निः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतधरेयम्

॥ २७ ॥

अर्थ— ( रुचिः अस्ति ) तु प्रथमप्रमाण है, ( रोचः अस्ति ) तु वैबीज्यमान है ( सः रघं यथा दृष्ट्या रोचः अस्ति ) यह तु जैसे तेजसे तेजस्वी है ( एष अहं पशुमिः च ब्राह्मणवर्चसेनं च रुचिपीय ) बंसेही मैं पशुओं और ब्राह्मणों के तेजसे प्रकाशित होऊँ ॥ २१ ॥

( उद्यते नमः ) उदित होनेवालेको नमस्कार, ( उदायते नमः ) उदर करनेवालेको किये नमस्कार, ( उदिताय नमः ) उदयको प्राप्त हुएको नमस्कार, ( विराजे नमः ) जिससे प्रकाशवात्की वनस्कार, ( सुराजे नमः ) अपने तेजसे चमकनेवालेको नमस्कार, ( सम्राजे नमः ) उत्तम प्रकाशयुक्तको नमस्कार ॥ २२ ॥

( अस्तंयते नमः ) अस्त होनेवालेको नमस्कार, ( अस्तं दृष्टये नमः ) अस्तको जानेवालेको नमस्कार, ( अस्तमिताय नमः ) अस्त हुएको नमस्कार, ( विराजं, सम्राजे, स्वराजे नमः ) विश्व तेजस्वी, उत्तम प्रकाशमान और तेजसे प्रकाशनेवालेको नमस्कार हो ॥ २३ ॥

( अयं आदित्यः विश्वेन तपसा उदगात् ) यह सूर्य सगुण तेजके साथ उदित है । ( गहं सपत्नान् रुचयन् ) मेरे लिये मेरे शत्रुओंको बसा करता है, ( अहं च द्विषते मा रघं ) परन्तु मैं कभी बधनें न होऊँ । ( तद्य इत् विश्वो बहुधा वीर्याणि ) हे ब्राह्मण तेव । तेरे ही वे सब पराक्रम हैं । ( त्वं नः विश्वकर्माः पशुमिः पृणीहि ) तु हम सबको खनल करनेवाले पशुमंसे परित्रुणं कर । और ( परमे ज्योमन् सुधापां मा चेहि ) परम आलासमें विश्रामान कश्यपों मुझे पारय कर ॥ २४ ॥

हे आदित्य । ( स्वस्तये शतारिंशं नावं आरुक्षः ) हमारे कल्याणके लिये सैकड़ों भारोंवाली नौकापर आरुक्ष हो । ( मा अहः मति मपीधरः ) धूम तेजसे समस्त पार कर और ( रात्रिं सत्रा अपिपारय ) रात्रिके समय भी साथ रहकर पार पड़वा ॥ २५ ॥

हे सूर्य । तु हमारे ( स्वस्तये ) कल्याणके लिये नौकापर चढ़ और हमें त्वं और रात्रिके समय पार कर ॥ २६ ॥

( अहं प्रजापतेः ब्रह्मणा धर्मणा आकृतः ) मैं प्रजापतिके आनन्द कवचसे आवृत होकर ( कश्यपस्य ज्योतिषा वर्षसा च ) और कश्यपोंके तेज और बलसे युक्त होकर ( जरदग्निः कृतवीर्यः ) वृद्धावस्थातक वीर्यवान् हुआ ( विहायाः सहस्रायुः ) विविध कर्मोंसे युक्त सहस्रायु-पूर्ण-होकर ( सुकृतः धरेयम् ) धूम कर्मोंको करता रहूँ ॥ २७ ॥

परीवृत्तो ब्रह्मणा वर्मणाह कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च ।

मा मा प्रापन्ति त्रै दैव्या मा मा मानुषीरवसृष्टा ब्रधाय

॥ २८ ॥

ऋतेन गुप्त ऋतुमिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो मन्वेन चहम् ।

मा मा प्रापन्त्यामा मोत मृत्पुस्तन्दैवेषुह सलिलेन वाचा

॥ २९ ॥

अभिर्मा गोप्ता परि पातु विश्वं उद्यन्त्सर्षी नुदता मृत्पुषाश्वान् ।

व्युच्छन्तीरुपसाः पर्वता ध्रुवा सहस्र प्राणा मर्या यत्ननाम्

॥ ३० ॥

अर्थ— ( ब्रह्मणा वर्मणा परवृत्त ) शतशरी कवचसे मन्वे तरह इके हुए ( या देवी मानुषीः इत्यथ ब्रधाय अयमुद्य ) जो दिव्य और मानवी बाण बधके सिधे भक्ष क्य हों वे ( कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च ) तबबलाक देवके तन्त्रसे और बलासे युक्त हुए हुए ( मा मा प्रापन् ) मृष न प्राप्त हों उनके मेरा धन न होवे ॥ २८ ॥

( ऋतेन गुप्त ) तपके द्वारा रक्षित, सर्वे ऋतुमि च ) उन ऋतुओं द्वारा रक्षित, ( भूते । च मन्वेन गुप्त अह ) भूत और भविष्य द्वारा सुरक्षित हुआ न यहाँ विचक । ( पाप्मा मा, उत मृत्पु मा मा प्रापन् ) वाय भयवा मृत्यु मृत न प्राप्त हो । ( अह वाच सलिलन मन्तृद्य ) य सपत्नी यशोकी-अवन गार्वकी रविज जोवनके अंदर बाराण करता ह । बागीकी पक्षिपता रविज जोवनसे करता ह ॥ २९ ॥

( गोप्ता अग्नि विश्वताः मा परिपातु ) रक्षक अग्नि सब ओरसे मेरे रक्षा करे । ( उद्यन्त्सर्षीः मृत्युपाशान् नुदता ) उद्य होनवाला मृत्यु मृत्युपाशोंको दूर करे । ( व्युच्छन्ताः उपसा ) प्रकाशयुक्त बशाएँ और ( ध्रुवा पर्वता ) स्थिरपर्वत ( सहस्र प्राणा मयि आ यत्नना ) सहस्रों बलवाले प्राण मेरे अंदर कल्पय रख ॥ ३० ॥



## अपने अभ्युदयके लिये प्रार्थना

रहिते पांच मन्त्र बताते हैं कि विजयकट्ट पुष्पको अपने आग्रह करीति पुष्प प्राप्त करने चाहिये और ब्रह्म चाहिये । उन्नति चाहनवाले मनुष्य अपनी इच्छा इस प्रकार रखें—

### लोकप्रिय चरिता

( अह ) देवाना, प्रजाना, समानावा पशूना मिय भूपास आयुष्मान् भूयासम् ॥ ( म० १-५ )

' म देवोंका प्रजाजनोंका, समान योग्यतावाले सोषोंका और पशुओंका प्रिय होऊँ और दीर्घायु बनूँ । ' सबसे मुख्य बात दीर्घायु बननकी है, क्योंकि आधु जातोध्य और नखसे युक्त होने पर ही भव कुछ धम कम होना सभव है । जो उन्नतिशील मनुष्योंको उचित है कि वे धर्मानुसार आचरण करके अपनी आय दीर्घ करें, नीरीश रहनका यत्न करें और अपने अन्दर बल तिघर रखें ।

इतना होनेके पश्चात् देव प्रजा समानयोग और पशु

इनके प्रिय होनेकर यहकांक्षा वाचन करनी चाहिये और इसकी सिद्धिके लिये मनुष्यको प्रयत्न करना चाहिये ।

देव' का अर्थ सत्ता देवता है सत्ता ही । भूदेव, अन्नदेव, मनदेव और कर्मदेव ये चार प्रकारके मानुष्यके भय प्रुष्य भी देव कहलाते हैं । इनके मनन आ मनुष्यके विषय प्रय रहै, य भय तोष इस पुरयके विषय कहें कि यह कलाना मनुष्य उत्तम है उताका प्रय होना चाहिये । प्रजा जन इस मनुष्यपर प्रय करें प्रजाजनोंका यह प्रमथान बन, सब जनता इसके उपर प्रीति करे अर्थात् यह लोकप्रिय बन लोकप्रिय बन । समान लोगोंने यह प्रिय हो अर्थात् समानोंका प्रय विनाश शक्तीवर होता है योनोंका प्रम समय जोर पर होता है समानोंका प्रमभाजन होनेके लिये उनसे विनाश उच्छेद वृष होन चाहिये । इन पुर्णोंका संगठन पद मनुष्य करे और समानोंका प्रमभाजन करे । पशुओंका भी प्रेम संघावन करे । जब पद मनुष्य पशुओंका वासन करेगा

और उनपर प्रेम करेगा, तब वह स्वयं इसपर प्रेम करने लगे। यहाँ इसको भूतस्वयमें विशेषता होगी चाहिये। इस विवेचन से पाठक जान सकते हैं कि, देव, प्रजा, समानलोच और पशुओंका प्रिय बननेका आशय क्या है, इस विषयमें निश्चित यह है कि मनुष्य जिनका प्रेम संपादन करना चाहता है, उनपर स्वयं प्रेम करे। इसके प्रेमको देखकर ॥ सत्येह मे भो इसपर प्रेम करो लग जायेंगे।

### बौरके गुण

इस वृक्षके प्रथम मन्त्रमें दस शब्दों द्वारा बौरके गुण विवेकित हैं। चरित्रितोत्त मनुष्योंको ये गुण अपने व्यवहार लाने चाहिये और बढाने चाहिये।

( १ ) गो-जित् = ' गो ' शब्दका अर्थ ' इष्टि और भूमि ' है। ये अर्थ लेकर यहाँ विचार करना चाहिये, पहिला अर्थ है ( गो-जित् ) इष्टियोंको जोतनेवाला, अथवा इष्टियोंका संपन करनेवाला, मणेरिचह करनेवाला, अथवा धामसंपन करनेवाला। सत्य उदात्तिका प्रारंभ ' धाम-पित्त ' से होता है। आत्मविजय सब अर्थ विजयोंसे मिलित है, तथापि जो मनुष्य आत्मविजयका प्रयत्न करता है और सिद्ध बनता है, वह अर्थ विजय सहजहीसे प्राप्त कर सकता है। भूमिका विजय इस शब्दका दूसरा अर्थ है। वीरतासे अपनी मातृभूमिकी विजयी बना यह इसका भाव है। मुख्यतया यहाँ आत्मविजय मुख्य है, क्योंकि सभी विजय आत्मविजय से प्रारंभ होती है।

( २ ) स्वा-जित् = ( स्व-जित् ) आत्मप्रकाशको प्राप्त करना, अपने तेजको जीतना, आत्मसमलकी प्राप्त करना, अपने आत्म-विभक्त तेलकी प्राप्त करनेका प्रयत्न करना, यह भी एक बड़ी नारी बोरता है।

( ३ ) रांधना-जित् = उत्तम वनोंको जीतकर प्राप्त करना, यह भी एक बड़ी नारी बोरता है। जिसके पासमें होनेसे मनुष्य अपने आपको धन कह सकता है, उसको धन कहा जाता है। अन्न-घन शब्दसे केवल रुपये धन समझना घुड़ भ्रम है। पौने भी धन है, राज्य-क्रियास्वराज्य भी धन है, बल भी धन है, विद्या भी धन है, प्रतिष्ठा भी धन है और सहाचार भी धन है। इस रीतिसे अनेक धन हैं। इनकी प्राप्ति करना मनुष्यका आत्मव्यक्त कर्तव्य है।

( ४ ) सहमान = नास्तिक बल, तेज और जीवनसे युक्त और

( ५ ) सहमान = शारीरिक बल और शक्तियुक्त युक्त होना।

ये दोनों शब्द एक ही मन्त्रमें प्रयुक्त हैं, इसलिये ये निग्रास्यक शब्द हैं। ' सहस् ' शब्दका अर्थ ' बल ' है और इसके अर्थ ' शक्ति, विजय, तेज और जीवन ' हैं। इनमें से कुछ अर्थ एकसे और अन्य दूसरेके मानना यहाँ योग्य है। इस प्रकार अर्थ करनेसे दोनों शब्द पुनर्वाचित होयते रहित और अन्वयक प्रतीत होते हैं। अर्थात् ये दोनों बल मनुष्यको प्राप्त करने चाहिये। ॥ अन्तमें उक्तका इतनी भी अन्तर्भूत होता है।

( ६ ) सहो-जित् = अपने बलसे शत्रुको जीतनेवाला। मनुष्य अपने अन्न तथा राज्य अपने अन्नर ऐसा बल प्राप्त करे कि जिससे शत्रुका विजय सहजहीमें हो सके।

( ७ ) सहीमान्-शत्रुका हमका कितने भी बेगसे हो उससे न उरता हुआ, उसकी सहन करनेवाला। शत्रुके आक्रमण होनेपर भी अपने स्वयंसे पीछे न हटता हुआ विजयके साथ अपने स्थानमें स्थिर रहनेवाला। शत्रुके आक्रमणका प्रतिस्पर्ध करने शत्रुको परास्त करनेवाला।

( ८ ) खासदान = शत्रुके आक्रमण शरदार होनेपर भी जो अपना स्थान छोड़ता नहीं और विजयके साथ अपने स्वयंमें स्थिर रहता है और अपने स्थानसे ही शत्रुको परास्त करता है और उसको बापस लौटा देता है।

( ९ ) विपासहि = जिसके आक्रमण होने पर शत्रुको परास्त होकर भागना हो पड़ता है अर्थात् जिसका आक्रमण शत्रुके लिये अक्षय्य होता है।

( १० ) ईक्षः नम इन्द्रः = प्रसन्नवीर, यक्षस्वी, ( इन्द्रः ) शत्रुओंका पूर्ण नाश करनेवाला और।

### उपास्यके गुण उपासकमें

ये दस शब्द यहाँ इन्द्र देवताके शक्ति हैं। यह देवता मनुष्योंका उपास्य है। उपास्य देवताके गुण उपासकोंको अपने अन्नर धारण करने चाहिये, यह उपासनाका नियम है। इत नियमके अनुसार उपासना करनेवाले अपने अन्नर से चोरताके गुण बढ़ावें और अपनी उन्नतिके मार्ग पर चलें और सब प्रकारका आश्रय प्राप्त करें। पूर्ववर्ति गुणोंकी प्राप्तिसे मनुष्यको अपना राज्यकी उन्नति निश्चय होगी, उपासनाके धर्मोंके केवल रटनेवाले ही मनुष्यकी उन्नति नहीं होगी, अपितु उद्यम-वर्जित उपास्यके गुणोंकी धारणासे ही मनुष्यकी उन्नति होगी सम्भव है। जो मनुष्य अपना मनुष्यता का साथ इस प्रकारकी दीव्यशक्ति और सामूहिक उपासना करता है वही अपना सब प्रकारका आश्रय सिद्ध करता है। इन्द्रीके नियमों बड़ा है कि—

## अभ्युदय

उदिहि, उदिहि, चर्चसा अभ्युदेहि ! ( म २ )

' उदयको प्राप्त हो, अभ्युदय प्राप्त करो, तेजके साथ साथ प्रकार अभ्युदय प्राप्त करो । ' ये मंत्र पद्यवि उपास्य देव सूर्यके संधर्षमें कहे हैं तथावि उपास्यके मूल उपासकको करने होते हैं, इस नियमके अनुसार प्रायः बहुतसे मंत्र उपासकको आदेश देनेवाले होते हैं । इसी तरह ये मंत्र भी उपासकको अभ्युदयका संदेश दे रहे हैं । अभ्युदय किस धाम में करता चाहिये, इसके सारांशमें दो सूत्र हैं—

द्विपक्ष मर्छं रपयतु । अहं द्विपक्षे मा रपम् । ( म ६ )

' तमू मेरे वशमें आजाये पर मैं किसी क्षणके वशमें न होऊँ । ' इस अनेक प्रकारके हैं और रणश्रेष्ठ भी विविध हैं । उन रणश्रेष्ठोंमें यही एक नियम है कि स्वयं क्षत्रका पराजय करना और शत्रुसे कभी पराभूत न होना । विजय, धन्य और अभ्युदयकी यह सुभी है । जो लोग और जो राष्ट्र इस प्रकार अपनी तैयारी करेगा वही विजयको प्राप्त होगा ।

## पराक्रम

सय यदुधा धीर्पाणि । ( म ६ )

' बिना बहुत पराक्रम होने चाहिये । ' तम विजयकी सभा-यता है । बिलु देव-व्यापक ईश्वर-को सर्वत्र विजय इसलिये है कि उसके अगल पराक्रम होते हैं । अनेक पराक्रम न करने पर विजय प्राप्त होना असंभव है । विजयके लिये अनेक रण श्रेष्ठोंमें उत्तरमा पड़ता है और वहाँ से पराक्रम काले पड़ते हैं । इसलिये—

सुमतिं क्षधि । सुधाया घेहि । ( म ९-१० )

' अपने मंदर सुमति धारण कर, उत्तम धारणा में अपने आसको और सबको स्थापित कर । ' सुमतिके बिना अस्वा-स्थोत्प्रेरको विजय प्राप्त नहीं हो सकती और ( सु-धा ) उत्तम धारणाके बिना समाप्तको या सफलके विजय नहीं हो सकती । यह नियम सदा ध्यानमें रखना चाहिये । इस विज्ञानके अनेक दिन प्रयत्न होना चाहिये, यह सूचित करनेके लिये कहा है कि—

## रडा सौभाग्य

तं महते सौभाग्यं अद्ध्येमिः अस्तुभिः परिपाहि ।

( यं ९ )

' तू अपना सौभाग्य पशनेके लिये न पछता हुआ और किसीके दयापत्रे न दबता हुआ अतिप्रतिष्ठित सुरक्षित रहनेका

प्रयत्न कर ' यह आदेश क्या असाहचर्यक है । चाहे कितना ही प्रबल शक्तिशाली भी उदामेका मान करे, परंतु स्वयं उसके बन्धनसे न बने ऐसा प्रयत्न करना चाहिये । पाशवी शक्तिते न उदामेका निश्चय करना ही अत्यंत महावकी बात है । वास्तविकी शक्ति इतनी प्रबल है कि सब जगत्को दक्षित के विरोध करने पर भी वह सब बही सकता, परंतु मनका निश्चय होना चाहिये । ' महासौभाग्य ' जो ऊपरके मंत्रमें कहा है वह सभी इसको प्राप्त होता है । अधिक असाह-यदानेके लिये और कहा है कि—

## न दवं जाना

पृथिव्या अदग्धः अस्ति । ते महिमामं न आपुः ।

( यं १२ )

' पृथ्वीपर तु मान्य । न उदामेकाका महाशक्तिमान् हैं, तेरी महिमा अन्य भौतिक सब पदार्थोंको प्राप्त नहीं हो सकती । ' जब पदार्थ चाहे कितने भी सामर्थ्यवान् हों, परंतु उसके शक्ति व्यापकके समर्थकी पराधरी कर नहीं सकती । अपने व्यापककी यह प्रबल शक्ति जाननेके लिये ही सब धर्मानुष्ठान हैं । अपने परम पिताकी प्रबल शक्तिका वर्णन इसी कारण उपासनाके लिये उपासकोंके समुच्च वेदमंत्रों द्वारा रखा जाता है कि अपने धार परमपिताके धीर्यका अनुभव करें और उनके सुधीका धारण अपने धारण करनेका प्रयत्न करें । यह ईश्वरोंको धारणा किस प्रकार हो सकती है वह भी आगे कहा है —

अद्ध्येत अद्ध्येत यानुधानः । ( मं १२ )

' न सब जानेवाले जानते आगे पड़ता हुआ ' ( यदुधा धीर्पाणि ) यदुधा पराक्रम कर । अनुद्ध्यको उत्तम शानसे होनी है, यह बात यहाँ स्पष्ट कही है । यहाँ मानका महत्व वर्णन किया है । ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात्—

## सत्यका मार्ग

विज्ञान् अस्तस्य पथ्या अनु यवि । ( मं १६ )

' विज्ञान होकर सत्यके मार्गके अनुकूल होकर जाता है । ' सत्यका व्यापकके साथ पालन करना चाहिये । सत्य हो सर्वप्रथम मार्गके और सब मार्गोंको दूर करनेवाला है । सत्यके धाममें हो सब प्रकारके उन्नति होती है । इसी तरह—

अशस्ति वाधमानः सुदिने परि । ( यं १७ )

' अशस्ति विरहीय बातको दूर करनेसे तू उत्तम दिनके

प्रकाशपूर्ण जोधनमें स्तब्ध करनेवाला होगा । ' जिस प्रकार मनुष्यको सत्यका पालन करना अभीष्ट है, उसी प्रकार अप्रशस्त निम्ननीच दुष्ट व्यवहारको सर्वथा दूर करना भी आवश्यक है । अन्यथा उच्च अवस्था मनुष्यको कदापि प्राप्त नहीं हो सकती । उत्तम गुणोंको अपने अन्दर बढ़ाना और हीन गुणोंको अपनेसे दूर करना यही अभ्युदयका अनुष्ठान है । मनुष्य अपने अभ्युदयका मार्ग आक्रमण कर रहा है या नहीं इसकी परीक्षा भी उसके मूल भविष्यका व्यवहार देकर हो सकती है । इसलिये कहा है कि—

### आत्मा और संसार

असति सत् प्रतिष्ठितम् । सति भूतं प्रतिष्ठितम् ।  
भूतं भव्ये भव्यं भूते च प्रतिष्ठितम् । ( अ० १९ )

' असत्में सत् और सत्में भूत छहरा हुआ है ' यह पहिला कथन है । यह संसार काजवान् होनेसे असत् है, और आत्मा त्रिकासनावस्थित होनेसे सत् है । ये दोनों परस्पर संगत होनेसे कहा जाता है कि एक दूसरेमें छहरा हुआ है । यही धियव दूसरे शब्दोंमें ऐसा कहा जा सकता है— ' प्रतीकमें आत्मा और आत्मान् शरीर स्थित है । ' इसीवर्णनमें भी इसी भावसे निम्नलिखित श्रवण आया है—

यस्तु सर्वाणि भूताभ्यात्मन्येवानुपश्यति ।  
सर्वभूतेषु चारमानं ततो न विजुगुप्सते ॥  
( वा. यजु. ४०।६ )

यस्तु सर्वाणि भूताभ्यात्मन्येवानुपश्यति ।  
सर्वभूतेषु चारमानं ततो न विविक्षिंसति ॥  
( ईश. उ. ६; कथक. यजु. ४०।६ )

तथा भागवतमें—  
आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्मत्तमवस्थितम् ।  
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्पतिं चारमानि ॥  
( श्री. भाग. १३।२।४६ )

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भूतगणस्यैवमात्मनः ।  
भूतानि भगवत्प्राप्तमप्येव भागवतोत्तमः ॥  
( श्री. भाग. ११।२।४५ )

■ सब भवानों यही कहा है कि ' वाग्मा- ( सत् ) सब भूतोंमें ( असत्में ) है और सब भूत ( असत् ) आत्मानमें हैं । यह यो जानता है और इसका यो अनुभव करता है वह बड़ा भक्त कहलाता है, वह श्रेष्ठ पुण्य होता है, यही शोकमोहो परे होकर परमात्मिकी प्राप्त होता है ।

इसमें पहिली द्रोक्षा सर्वत्र परमेश्वरको उपस्थितिका अनुभव आता है, ऐसा अनुभव हो तो समझना चाहिये कि उत्पत्ति हो रही है, और यदि केवल शब्दोंमें ही ' परमेश्वर सर्वव्यापक ' होनेका शब्दिक ज्ञान हुआ है, तो समझना चाहिये कि सभी भवन धन निर्विघ्नात्मक अनुष्ठान होना चाहिये है ।

ऊपरके श्रवणों द्वारा परीक्षा यह कही है कि ( भूतं भव्ये, भव्ये भूतं आहितं ) भूत भविष्यमें और भविष्य भूतमें है । इसका अनुभव देखनेके लिये मनुष्य अपना विचार प्रबल करे । मनुष्यका वर्तमान और भविष्य उसके भूतकालके कर्ममें होता है और उसके भूतकालके कर्मके साथ उसका भविष्यकाल जसका हुआ होता है । उदाहरणके लिये देखिये— यदि एक मनुष्य प्रथम आयुमें उसका प्रह्लादवंश वालन पूर्वक पर्वानुष्ठानसे अपना आयुष्य व्यतीत करता है, तो समझना चाहिये कि उसका जीवन और वार्षिक्य सुखसे व्यतीत होंगे, क्योंकि उसका भूतकाल भविष्यसे संबंधित है । इसी प्रकार राज्यमें भी यही बात देखिये— जिस राज्यके भूत कालके लोगोंने उसका पुनर्वास किया हो, उस राज्यका वर्तमान और भविष्यकाल भी आनंदमें व्यतीत होगा और जिस राज्यके लोगोंने भूतकालमें पराजय प्राप्त किया हो, उसका भविष्यकाल कष्टोंमें जायगा, क्योंकि ( भूतं भव्ये, भव्यं भूते आहितं ) भूत भविष्यमें कलता है और भविष्यका उदय भूतमें होता है । ■ देवका उपदेश जैसा व्यक्तित्वमें जाता हो राज्यमें प्रयत्न होय सकता है । इस सत्यका अनुभव करता हुआ, तथा अपने भूत भविष्य वर्तमानका विचार करता हुआ, मनुष्य अपने भविष्यकालमें कुछ प्राप्त होनेके बीज सत्त्वके कालमें अपने ही प्रयत्नसे न बो देवे । परंतु उसको चाहिये कि वह ज्ञान तमय ऐसे भूत कर्म करे कि जिससे धूम फल उसको भविष्य कालमें प्राप्त हों । साजकी हमारी स्थिति हमें अपने ही भूतकालके कर्मोंसे प्राप्त हुई है और ज्ञान तमय हम हो अपना भविष्यकाल बना रहे हैं । इसी उद्देशसे वेदमें कहा है—

### भूत भविष्य वर्तमान

पुरुष एवेदं सर्वं यज्ज्ञतं यच्च भाव्यम् ।  
उतामृतत्वस्येशतः ॥

( अ. १०।१०।२, वा. यजु. १०।२ )

पुरुष एवेदं सर्वं यज्ज्ञतं यच्च भाव्यम् ।  
उतामृतत्वस्येशतः ॥ ( अथर्व. ११।१।४ )

‘वर्तमानकालमें जो पुण्य है वही उसके भूत और भविष्यका रूप है और वह अमृतत्वका स्वरूपी है अर्थात् किसी पुण्यका वर्तमानकाल उसके भविष्यका बीज और भूतका परिणाम दिखाता है । मनुष्यको तात्काल अथवा तत्काल पता लगा सकता है कि उसने अपना वात्सल्य कंसा अर्थात् किया या और उतीते पता चलेता है ॥ उसका भविष्य होता होगा । राज्य पुरुषके विषयमें भी यही व्यवस्था है, राष्ट्रीय वर्तमानकालकी परिस्थितिमें उसके भूतकालीन पुण्य-दायं या पुण्यार्थ्यहोनाके परिमाण देखते हैं, और उसी वर्तमानकालमें वह जो करता है उस अपने पुण्यमें से, हो वह अपने भविष्यकी भविष्यताके बीज जो देता है क्योंकि प्रत्येक पुण्य भूतकालका परिणाम और भविष्यकालका बीज पारय करता है । इस विचारसे भी मनुष्य अपनी एतद्वा दृष्टि कर सकता है ।

### आरम्भवेज

अहं भ्राजता भ्राज्यासम् । ( मं. २० )

‘मैं अपने तेजसे तेजस्वी बनूँ ।’ इससेके तेजसे तेजस्वी बननेमें शराधीनता है । प्रत्येककी अपने तेजसे तेजस्वी बनना चाहिये । प्रत्येककी अपने ज्ञानमेंसे पता होना चाहिये, अपने ज्ञानसे प्रत्येकको विवेक करना चाहिये, प्रत्येकको अपने मनका भोग सैन्य योग्य है, इसी प्रकार अगम्य विषयोंके संबंधमें ज्ञानना चाहिये । जिसको यज्ञ इससेके कलसे होती हो, जो स्वयं अपने ज्ञानसे विचार नहीं कर सकता, जिसके पास अपने शोधन करनेके आवश्यक पदार्थ नहीं होते हैं, उसको सोचनीय अवस्था होती है । अतः अपने प्रकाशसे प्रकाशनेका उपदेश यहाँ इस मंत्र द्वारा दिया है । इसी प्रकार भीर भी कहा है—

अहं ब्रह्मवर्चसेन दक्षय रोषः ( भूयः ) खिचिषीय ।

( मं. २१ )

‘मैं अपने ज्ञानके प्रभावसे प्रकाशित और अपने तेजसे तेजस्वी होकर प्रकाशित होऊँ ।’ इस मंत्रमें भी वही आज कुहराया है और ज्ञानकी आवश्यकता जगत्के सिद्ध अव्यक्त है, यह बात पुनः स्पष्ट की है ।

आगे उदयको प्राप्त होनेवाले, प्रकाशित होनेवालोंको नमस्कार करनेकी कहा है और जो ज्ञान प्रकार प्रकाशित होकर अपना जीवनफल समाप्त करके अस्तको चले हैं, उनको भी नमस्कार करनेकी कहा है । यहाँ सूर्यको सम्मुख रखनेकी कहा है । मनुष्यका जीवन सूर्य है, सूर्यके सामान्य

मनुष्य अपना अन्त्युत्थ प्राप्त करे, सूर्यके समान इस जगत्में प्रकाशित होऊँ और प्रदीप्त रहूँ । भ्राजता या सजकी प्रकाशका अर्थ बतलाता हुआ अन्तमें कृतकृत्य होकर अस्तको प्राप्त होवे । इस प्रकार अस्त होना भी आदर्शक होता है । इस तरह सब मनुष्य सूर्यको अपना आदर्श मानें । और उससे यह बोध प्राप्त करें । इसके अन्तर एक महत्वपूर्ण मंत्रभाग है वह प्रत्येक मनुष्यको दिव्य स्मरणमें पारय करना योग्य है, यह अब देखिये—

### अपना यज्ञ

यदं ब्रह्मणा यमणा ज्योतिषा वर्चसा च भातुतः

ऊतर्थाः विहायः जरदृष्टिः सहस्रायुः

सुकृतः चरेयम् ॥

( मं. २७ )

यदं ब्रह्मणा यमणा ज्योतिषा यदैसा च परिपूर्यतः ।

फलेन गुप्तः... भूतेन भग्येन च गुप्त ( चरेयम् ) ॥

( मं. २८-२९ )

पापसा मा मा प्राप्य, मृत्युः मा मा प्राप्य ।

अहं चाचः सलिले अमर्षधे । ( मं. २९ )

‘मैं ज्ञान, आत्मरक्षाके सामर्थ्य, तेज और बलसे पूरा होकर पराक्रम करता हुआ, विविध पुण्यपार्यका पावन करता हुआ, बोधें भाग प्राप्त करके, सदाचारसे व्यवहार करूँ । मैं ज्ञान, आत्मरक्षाके सामर्थ्य, तेज और बलसे युक्त होकर, सत्यसे सदा सुरक्षित होता हुआ, भूत भविष्य वर्तमानकालमें होनेवाले कर्मोंसे सुरक्षित होता हुआ, सदाचारसे व्यवहार करूँ । साय मेरे पास न आवे, शशी मेरे समीप न आवे, मृत्युका भय मुझे न प्राप्त हो, मैं अपनी वाणीको दृढ़ नीयनसे युक्त करता हूँ ।’

इसमें प्रत्येक मनुष्य इतना स्पष्ट, इतना तेजस्वी, इतना बोधप्रद और इतना चार्मवर्जक है कि उसका अधिक रूपधी-करण करनेसे यहाँ आवश्यकता प्रतीत ही नहीं होती । इसी विचारोंकी स्थिरतासे मनुष्य विजयी होगा और दम्युद प्राप्त करेगा और अन्तर्धे पाप भी होगा । इसके प्रत्येक मंत्रमें कुछ छान भरपूर भरा है । केवल बाह्य अर्थके प्राप्त करनेसे ही पात्रकोंको यह नहीं समझना चाहिये कि हमने मंत्रका आचार समाप्त किया है, मंत्रका आचार तो आगे पीछेके कर्मोंके साथ और विधानोंके साथ संगति देखकर मनन करनेसे ही ध्यानमें आकरता है ।

## पराक्रमसे विजय

कांड ८, सूक्त ८

( अर्थ: — मन्वह्विरा: । देवता — इन्द्र; कनस्पति: , परसेनाहनन च )

इन्द्रो मन्धतु मन्धिता शक्रः शूरः पुरंदुरः । यथा हनां सेनां अभिघ्नायां सहस्रशः ॥ १ ॥

पुतिरज्जुर्लपध्मानी पूति सेनां कुषोत्स्नम् । धूममग्निं परादृष्ट्यामित्रां दुस्त्वा दधता भयम् ॥ २ ॥

अमूनमस्थ निः शृणीहि साद्रामूनस्यदिराजिरम् ।

ताजदृष्टं इव भज्यन्तां हन्त्वेनान्वधको वधैः ॥ ३ ॥

पृष्ठपान्मन्पृष्ठपाङ्कः कृणोतु हन्त्वेनान्वधको वधैः ।

क्षिप्रं धूर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संविवाः ॥ ४ ॥

अन्तरिक्षं जालंमासीज्जालदुष्टां दिशो महीः ।

सेनामिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥ ५ ॥

अर्थ— ( पुरंदुरः शूरः शक्रः मन्धिता इन्द्रः ) शत्रुके भगनोंको तोड़नेवाला शूर समर्थ शत्रुसंघना भाग्यकर्ता इन्द्र ( मन्धतु ) शत्रुसेनाका मथन करे । ( यथा ) जिसको क्षमतिसे ( अभिघ्नायां सहस्रशः सेनाः ) शत्रुओंके हजारों सेनासैनिकों ( हनां ) हम मारे ॥ १ ॥

( अपध्मानी पूति-रज्जुः ) तुलगाई हुई कुंठकृत स्त्री ( अमू सेनां पूति कृणोतु ) इस सेनाको कुंठकृत करे । ( धूमं अग्निं परादृष्ट्य ) धूम और अग्निको दूरसे देखकर ( अभिघ्नाः दुस्त्वा भयं आदधतां ) शत्रु दुरजोंके भय धारण करें ॥ २ ॥

हे ( अमून-स्थ ) पीछे पर चढ़े वीर ! ( अमून निः शृणीहि ) इनको काट । हे ( जालि-र ) धूमको काने-वाले वीर ! ( अमून अजिरं ज्ञात् ) इनकी क्षीप्र ज्ञा । ( ताजदृष्ट इव ) क्षीप्र भजन करनेवालेके समान ( भज्यन्तां ) भजन किये काम और वधः वधैः एतान् इन्तु ) वध करनेवाला शस्त्रोंसे इनकी मारे ॥ ३ ॥

( पृष्ठ-पाङ्कः ) कठोर आह्वान करनेवाला घोर ( अमून पृष्ठपान् कृणोतु ) इसको कठोर बनावे । ( वधको वधैः एतान् इन्तु ) वधकर्ता शस्त्रोंसे इनका वध करे । ( बृहज्-जालेन संविवाः ) बड़े जालसे वधे हुए शत्रु ( शरा इव क्षिप्र भज्यन्तां ) शरसंकेतेके समान क्षीप्र दृष्ट जिये ॥ ४ ॥

( अन्तरिक्षं जालं आसीत् ) अन्तरिक्ष जाल है और ( महीः दिशाः जालदुष्टाः ) बिलतुत दिशाएं जालके वन्धे हैं । ( सेना दस्यूनां सेना अभिघ्नाय ) उससे शत्रुको सेनाको पकड़ कर ( शक्रः अप अवपत् ) दूर और भागाता है ॥ ५ ॥

भाषार्थ— धूरवीर शत्रुओंके किसीको छोड़े और शत्रुसैन्यको मथ आये । हम भी सहजों शत्रुवीरोंको मारे ॥ १ ॥ शत्रुसेना पर हमला करनेकेलिए तुलगाई हुई बाणरकी बत्ती कुंठसैन्यमें धड़काता धूनां उत्पन्न करे । जिस धूनेको और पवालाको देखकर शत्रु भयभीत होयें ॥ २ ॥

घुटसवार शत्रुको मारे । हमारे वीर शत्रुको साजाने, अर्थात् उनका नाश करें । हमारे वीर अपने शस्त्रोंसे शत्रुका नाश करें ॥ ३ ॥

हमारा सेनापति अपने भाग्यसे हमारे सैनिकोंको घोरतः देख कर कठोर बनावे । हमारे वीर शत्रुसेनाका नाश करें । बड़े जालके जालर शत्रुसैनिकोंको पकड़कर नाश करें ॥ ४ ॥

यह अन्तरिक्ष बड़ा जाल है, इसके वन्ध से बड़ी विघ्नाएं हैं । इस जालसे शत्रुको पकड़कर दूर वीर उनका नाश करें ॥ ५ ॥



बृहद्दि जालं बृहत्तः शक्रस्य वाजिनीवतः ।

तेन शर्वान् शत्रून् समिग्युज्ज यथा न मुच्यते कतमश्नैषाम्

॥ ६ ॥

बृहत्ते जालं बृहत् इन्द्र शूर सहस्रार्थस्य शतवर्षस्य ।

तेन शवं सहस्रमपुतं न्यर्जुदं जघान् अक्रो दस्यूनामभिघाय सेनया

॥ ७ ॥

अयं लोको जालं मासीच्छक्रस्य महतो महान् ।

तेनाहमिन्द्रजालेनापूंस्वर्मसामि दंघामि सर्वान्

॥ ८ ॥

सेदिह्या न्यर्जिहिरातिश्रानपवाचना । धर्मस्तुन्द्रीय मोहंश्च सैरमूनामि दंघामि सर्वान्

॥ ९ ॥

पुरुषवेऽमुष्य येष्ठाभि मृत्युशशेरमी सिताः ।

मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एतान्ग्रथि नयामि बृहदा

॥ १० ॥

अर्थ— ( वाजिनीवत बृहत्तः शक्रस्य ) तेनाके साथ रहनेवाले बृहत्त इन्द्रका ( बृहद् दि जालं ) बरा जाल है । ( तेन शर्वान् शत्रून् समिग्युज्ज ) उसके सब शत्रुवाले सब ओरसे नू आपीन कर, ( यथा न मुच्यते ) जिससे हतमेंसे एक भी न छूट सके ॥ ६ ॥

हे । ( शूर इन्द्र ) शूर इन्द्र । ( सहस्रार्थस्य शतवर्षस्य बृहत्तः ते ) तद्दर्शनं मनुष्योंके द्वारा पूजित और सेनाके सामर्थ्यवाले तथा महान् दुज इन्द्रका ( जालं बृहत् ) जाल बराभर है । ( तेन मभिघाय ) ॥ ७ ॥ जालमें घेरकर तथा ( सेनया ) अपनी सेनाके द्वारा ( शक्रः ) इन्द्र ( दस्यूनां शतं सहस्रं मृत्युं शशेर्यं अभिघाय जघान् ) शत्रुओंके सेनाओं हजारों लाखों और करोड़ों छवियोंको मारता है ॥ ७ ॥

( महत्तः शक्रस्य ) महान् इन्द्रका ( अयं महान् लोको ) यह बृहत् लोक ( जालं मासीत् ) जाल था । ( तेन इन्द्रजालेन ) उस इन्द्रके जालने ( अमूनं सर्वान् तमसा मह मभिदंघामि ) इन सब शत्रुवालोंकी मन्थेरेले में घेरता हूँ ॥ ८ ॥

( उग्रर सेदिः ) बड़ी बकाबट, ( न्युज्जिः ) निर्बलता, ( मनपवाचना आतिः च ) मरुपवीच बण्ड, ( धर्मा ) कण्ड, परिभ्रम, ( तन्त्रीय मोहः च ) आत्मस्य और मोह ( तेऽमूनं सर्वान् अभिदंघामि ) उनके इन सब शत्रुओंकी में घेरता हूँ ॥ ९ ॥

( अमूनं मृत्युये प्रयच्छामि ) इन शत्रुओंको मैं मृत्युके लिये बाँध देता हूँ ( मृत्युपादौः धर्मी सिताः ) मृत्युके पादोंसे ये बाँधे गये हैं । ( मृत्योः ये अघ-लाः दूताः ) मृत्युके जो वाग्ये मारनेवाले दूत हैं ( तेभ्यः एतान् पदंघ्या प्रति नयामि ) उनके पास इनकी बाँध कर ले जाता हूँ ॥ १० ॥

भावार्थ— तेनाके साथ बृहत्त करनेवाले इन्द्रके पास बरा जाल है । उसके शत्रुतन्त्र बाँधा जाता है और कोई सब नहीं सकता ॥ ६ ॥

अनेक पराक्रम करनेवाले पुत्रनीय इन्द्रदेवका बरा जाल है उस जालमें शत्रुनिक बंधे जाते हैं और उनके हजारों और लाखों मारे जाते हैं ॥ ७ ॥

बड़े इन्द्रका यह बिलस लोक हो बरा जाल है । इस इन्द्रजालमें सब शत्रु अन्धकारसे बाँधे जाते हैं ॥ ८ ॥

पकाबट, निर्बलता, कण्ड, परिभ्रम, आत्मस्य, अग्रान इत्यादिसे शत्रुओंको घेरते हैं ॥ ९ ॥

उन शत्रुओंको मृत्युके पास भेजता हूँ । मृत्युपादोंसे ये बाँधे गये हैं । मृत्युके ये मरक दूत हैं उनके पास शत्रुओंको ले जाता हूँ ॥ १० ॥

नयतामृत्युदता यमदता अपोम्भत । परासहस्रा हन्यन्तां तूष्णेदेवेनान्मृत्युं भवस्य ॥ ११ ॥  
 साध्या एकं जालदुण्डमुद्यत्य यन्त्वोजसा । रुद्रा एकं वसंव एकमादित्यैरेक उद्यतः ॥ १२ ॥  
 विश्वे देवा उपरिष्टादुज्जन्तां यन्त्वोजसा । मध्येन जन्तां यन्तु मेनामर्क्षिरसो महीम् ॥ १३ ॥  
 वनस्पतीन्वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुषः । द्विवाचतृष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १४ ॥  
 गन्धर्वाप्सरसः सर्पान्देवान्पुष्पजनान्पितॄन् । दृष्टान्दृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १५ ॥  
 इम उता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे । अनुष्वां हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥ १६ ॥  
 धर्मः समिद्धो अग्निनाथे होमः सहस्रहः । सुवश्च पृश्निवाहुश्च शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १७ ॥

अर्थ— हे (मृत्युदताः) मृत्युके दूतों ! (अमृत मय) इनको ले जालो ( हे (यमदताः) यमके दूतों ! (अपोम्भत) इनको समाप्त करो । (परा-सहस्राः हन्यन्तां) हजारोंके अधिक नारे जाँय । (यनान् भवस्य मर्त्यं तूष्णेदु) इनका ईश्वरके मतानुसार नाश करो ॥ ११ ॥

(साध्याः एकं जालदुण्डं उद्यत्य) साध्या देव एक जालके दण्डको उठाकर (ओजसा यन्ति) बलके हाथ जाले हैं । (रुद्राः एकं) रुद्रदेव एकको, (यसवः एकं) यमुदेव एकको पकड़ते हैं और (आदित्योः एकः उद्यतः) आदित्य देव एकको उद्यते हैं ॥ १२ ॥

(विश्वे देवाः उपरिष्टात् उज्जन्ताः) विश्वे देव ऊपर ही ऊपरके दुष्टोंको उद्यते हुए (ओजसा यन्ति) बलके बलके हैं (अग्निरसः मध्येन महीं सेनां हन्तः) आगिरस बीचमें बची सेनाका नाश करके (यन्तु) जायें ॥ १३ ॥

(वनस्पतीन् वानस्पत्यान्) वनस्पति और जलसे बने पदार्थ, (ओषधीः उत वीरुषः) औषधियाँ और सताएँ, (चतुष्पाद् द्विपाद्) चार पाँववाले और दो पाँववाले इन सबको (हृष्यामि) मैं प्रेरित करता हूँ, (यथा ममूं सेनां हनन्) जिससे इस सेनाका नाश करते हैं ॥ १४ ॥

(गन्धर्वाप्सरसः सर्पाश्च) गन्धर्व, अप्सरा, सर्प (देवान् पुष्पजनान् पितॄन्) देव, पुष्पजन और पितर हुए (दृष्टान् दृष्टान् इष्यामि) देखे और न देखे हुओंको मैं प्रेरित करता हूँ (यथा ममूं सेनां हनन्) जिससे इस सेनाका नाश करते हैं ॥ १५ ॥

(इमे मृत्युपाशाः उताः) ये मृत्युके पाश रहते हैं ॥ हे (यान् आक्रम्य न मुच्यसे) जितकर आक्रमण करके तु नहीं छोड़ा । (अनुष्वाः सेनायाः) इस सेनाके (इदं कूटं) इस केन्द्रको (सहस्रशः हन्तु) सहस्र प्रकारसे हनन करे ॥ १६ ॥

(अयं धर्मः होमः) यह प्रबोध होय (अग्निना सहस्रहः समिद्धः) अग्नि द्वारा सहस्रों प्रकारसे प्रज्वलित हुआ है । (अयः पृश्निवाहुश्च शर्वः) अय और विश्विज बाहुवाला धर्म ये तुम दोनों (अमूं सेनां हतम्) इस सेनाको भाँरो ॥ १७ ॥

भावार्थ— मृत्युके दूत हमारे अनुजोंको पकड़ें, यमदूत उनकी समाप्ति करें । इस प्रकार हजारों दण्ड नारे जाँय ॥ ११ ॥ साध्या, रुद्र, यमु और आदित्य ये इस जालके चारों छोरोंको पकड़कर देखेसे बंधते हैं ॥ १२ ॥ विश्वदेव ऊपरसे हमला करते हैं और अग्निरस अनुसेनाके मध्यभागमें हथका करते हैं ॥ १३ ॥ वनस्पति, वनस्पतिसे बने पदार्थ, औषधि, लता, द्विपाद और चतुष्पाद आदि सब मेरे सहायक हों और इनकी सहायतासे मैं शत्रुका नाश करूँ ॥ १४ ॥

गन्धर्व, अप्सराएँ, सर्प, देव, पुष्पजन, पितर, परिचित और अपरिचित मेरी सहायता करें, जिनकी सहायतासे मैं शत्रुका नाश करूँ ॥ १५ ॥

ये मृत्युपाश कैलाशे हुए हैं, इनमेंसे कोई नहीं छूटेगा, अनुसेनाके उस केन्द्रका सब प्रकारसे मैं नाश करूँ ॥ १६ ॥ यह धर्म अग्निसे प्रबोध हुआ है । इस धर्मके द्वारा शत्रुसेनाका नाश होने ॥ १७ ॥

मृत्योराप्ता पयन्तां क्षुब्धं सेदि वधं भयम् । इन्द्राधुनास्त्राभ्यां श्वे सेनायुग्मं हतम् ॥ १८ ॥  
पराजिताः प्र प्रसतामिषा नुचा धावतु ब्रह्मणा । बृहस्पतिपुत्रानां भागीषां मोचि कथन ॥ १९ ॥  
अथ पयन्तामेपायुधानि मा शक्यन्ति धामिपुम् ।

अथैषां वृद्ध बिभ्यन्तामिपको प्रन्तु मर्मणि ॥ २० ॥

सं क्रौञ्चतामेनाद्यावापृथिवी समन्तरिक्षं सह देवातामिः ।

मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिषो बिभ्यन्ता उर्यं यन्तु मृत्युम् ॥ २१ ॥

दिश्वत्सोऽद्यतयो देवरथस्य पुरोडास्याः शुक्रा अन्तरिक्षमुद्रिः ।

द्यावापृथिवी पक्ष्सी श्रुतवोऽभीश्वोऽन्तर्द्वेषाः किंकरा वाक्पारिरथम् ॥ २२ ॥

संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराट्तेजासी रथमुत्तम् ।

इन्द्रः सव्यष्टाशुन्द्रमाः सारथिः ॥ २३ ॥

अर्थ— ( मृत्योः ) भाग्यं भुङ्गे सेदि वधं भयं ) मृत्युके कष्ट, भय, संभव, वध और भयको ( आपयन्तां ) प्राप्त होओ । हे वध ! तुम ( इन्द्रः यः ) और इन्द्र सेना ( यम् सेनां हतं ) इस सेनाको मारो ॥ १८ ॥

हे ( समिषाः ) शत्रुको ! तुम ( पराजिताः प्र प्रसता ) पराजित होकर चल होओ । ( ब्रह्मणा नुचाः धावत ) सामने प्रेरित होकर भाग जाओ । ( बृहस्पति-पुत्रानां भागीषां ) कालीके द्वारा प्रेरित हुए इनमेंसे ( कथन मा मोचि ) कोई भी न बचे ॥ १९ ॥

( एषां आयुधानि भयपय-तां ) इनके वस्त्रास्त्र निर पाव्यं ( प्रतिष्ठां शत्रुं मा दायन् ) प्रतिपक्षसे भागे हुए बाणको दे न सह सके । ( अथ एषां वृद्ध बिभ्यन्तां ) अब इनको बहुत डरा करे । इनके ( मर्मणि हृदयः ) प्रान्तु ) मर्मों काय मर्मे ॥ २० ॥

( द्यावापृथिवी पयान् संक्रोतामतां ) धुलोक और पृथिवी इनकी निरा करें । ( अन्तरिक्षं देवतामिः सह सं ) अन्तरिक्ष देखेंके साथ इनकी निरा करें । ( ज्ञातारं मा ) शत्रुको देव प्राप्त करें ( मा प्रतिष्ठां विदन्त ) प्रतिष्ठाको भी वे प्राप्त न करें । ( मिषा विभ्यन्ताः मृत्युं उपयन्तु ) परस्पर बिभ्यन्त करते हुए ये सब मृत्युको प्राप्त हों ॥ २१ ॥

( द्यतस्यः दिशः ) चार दिशाएँ ( देवरथस्य अभ्यतयः ) देवरथको घेरिवाँ हैं ( पुरोडास्याः दायाः ) पुरोडास कर हैं । ( श्वस्योऽद्रिः ) अन्तरिक्ष ऊपरका भाग है । ( द्यावापृथिवी पक्ष्सी ) धुलोक और पृथिवी वे दोनों पक्ष हैं । ( श्रुतवः नभाश्वः ) शत्रु रक्षित हैं । ( अन्तर्द्वेषाः किंकराः ) ओषके प्रेरित रथरक्षक हैं और ( वाक् परिदध्यं ) वाणी रथका अन्य भाग है ॥ २२ ॥

( संवत्सराः रथः ) वर्ष रथ है, ( परिवत्सराः रथोपस्थाः ) परिवत्सरा रथमें बैठनेका स्थान है, ( विराट् ईषा ) विराट् जीउनेका स्थान है, ( जगिः रथमुत्तं ) अग्नि रथका मुख है । ( इन्द्रः सव्यष्टाः ) इन्द्र बाई और बंने-वाला है और ( शुन्द्रमाः सारथिः ) रथ सारथी है ॥ २३ ॥

भाषार्थ— मृत्युके कष्ट, भय, संभव, वध और भय शत्रुको प्राप्त होने और इस प्रकार भयभीत होकर मृत्यु काय होवे ॥ १८ ॥

शत्रु पराजित हों, वे भाग भाग्य । समने जानी चोर द्वारा प्रेरित हुए शत्रु किसी प्रकार भी न बचें ॥ १९ ॥

शत्रुके शस्त्र निर जाय, वे हमारे वस्त्रास्त्रोंको न सह सके, वे डर जाय और इनके मर्में डर जाय ॥ २० ॥

सब लोक इन शत्रुओंकी निरा करें, हमारे शत्रुको किसी क्षत्रीको सह्यस्त न प्राप्त हो, वे किसी स्थानपर न ठहर सके । वे आपसमें एक दूसरेसे टकराते हुए मर जाय ॥ २१ ॥

देवरथकी घेरिवाँ चारों दिशाएँ हैं, उस रथके विविध भाग पुरोडास, ऊपरका भाग अन्तरिक्ष और दोनों शत्रु धुलोक, पृथिवी हैं । छः शत्रु घेरिवाँके समान हैं, ओषके स्थान-बंनेका नौकर हैं और वाणी ही मध्यस्थान है ॥ २२ ॥

संवत्सर, परिवत्सरा, विराट्, अग्नि ये चतस्रः रथ, बैठनेका स्थान, रथ और रथमुख है, इन्द्र इस रथमें बाई और बंनेवाला है और शुन्द्रमा सारथ्य करता है ॥ २३ ॥

इतो जयितो वि जय सं जय जय स्वाहा । इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः ।  
नीळलोहितेनमृन्मयवतनोमि

॥ २४ ॥

अर्थ — ( इतः जय ) यहासे जय प्राप्त कर ( इतः विजय ) यहासे विजय हो । ( संजय जय ) अच्छी प्रकार जय प्राप्त कर ( स्व-स्वाहा ) आत्मसमर्पण कर ( इमे जयन्तु ) वे हमारे घोर जय प्राप्त करें । ( अमी परानयन्तां ) ये शत्रु-सैनिक पराभवको प्राप्त हों । ( पश्यः स्वाहा ) इनके लिये श्रुतवचन ( अभीभ्यः दुराहा ) ॥ दृष्टकी लिये दुरा वचन । ( नीळलोहितेन अमृन्मभि भवतनोमि ) नीळ और लोहित-रक्तसे इन शत्रुओंको सब प्रकारसे गिराता हूं ॥ २४ ॥

भाषार्थ— इस प्रकार जय प्राप्त कर, विजय स्थापन कर । आत्मसमर्पणसे ही जय मिलता है । वे हमारे घोर जय प्राप्त करें । शत्रु पराजय हो । अपने लोचोंको शत्रु आलोचन । शत्रुको घात ॥ शत्रुओंकी गिरावट हो ॥ २४ ॥



## पराक्रमसे विजय

### युद्धकी नीति

युद्धनीतिका वर्णन करनेवाले युक्त वेदमें अनेक हैं, परंतु इस सूक्तमें 'जाळ-युद्ध' का वर्णन है, यह इस सूक्तकी विशेषता है । जाळमें शत्रुसैन्यको पकड़कर उनका उचित क्षत्त्राग्नेति ॥ करनेका नाम जाळयुद्ध है । प्रायः मछलियां पकड़नेवाले घीवरलेख सूखके जाळ बनाते हैं और उसमें मछलियां पकड़ते हैं । वे सूखके जाळ युद्धमें उपयोगी नहीं होते, क्योंकि शाहूके सैनिक यदि इस सूखके जाळमें पकड़े गये, तो वे अपने तीक्ष्ण दांतोंसे जाळ काटकर बाहर भाग सकते हैं । अतः यहाका युद्धका जाळ ऐसा होना चाहिये कि, जो सहजहीमें काटा न जा सके ।

जाळकाले युद्धोंमें तारोंके जाळ, अथवा कटवित तारोंके जाळ बतते हैं । बहुत समय है कि मिस्र इन्द्रजाळका वर्णन इस सूक्तमें किया है, वह इसी प्रकारके सोहेके कंडकित अथवा अन्य तारोंका ही जाळ हो । इन्द्रके शत्रु राक्षस हैं, वे बलाघ्न और दाताशक्तप होते हैं, वे लक्षके जासके बांधे जासके और सहजहीमें मारे जा सकेंगे यह संभव नहीं है । इस सूक्तमें इन्द्रने इस जाळके द्वारा हजारों और लाखों शत्रुओंको बांधा और मारा ऐसा वर्णन है, अतः यह जाळ नि सन्नेह सोहेका होना चाहिये । इसका वर्णन ॥ प्रकार है—

युद्धजालेन संदिताः क्षिप्रं भज्यन्ताम् । ( नं. ४ )

शक्रस्य भन्तरिक्षं जाळं भासीत् ।

महोदधिशः जाळदण्डाः ।

तेन नमिधाय दस्यूनां सेनां नपावत् । ( नं. ५ )

पाजिनीवतः शक्रस्य वृहत् जाळम् ।

तेन सर्वान् शत्रून् मृष्य,

यथा एषां कलमधम म सुकपासि ॥ ( नं. ६ )

हे शक्र इन्द्र ! शत्रुघोरस्य ते युद्धम् जाळम् ।

तेन दस्यूनां संहर्षं अयुतं जघान ॥ ( नं. ७ )

‘ इन्द्र स्वयं बड़ा मुर है, उसके पास संग्रं भी बहुत है ।

यह स्वयं सेकड़ों प्रकारके पराक्रम करता है । उसका बड़ा-मारी जाळ है । याने उसका जाळ इस अन्तरिक्ष में विस्तृत है । चारों दिशाओंमें उसके जाळके लंब सड़े किये होते हैं । ॥ विस्तृत जाळमें शत्रुको सेना पकड़ी जाती है और एकबार सेना इस जाळमें पकड़ी गयी, तो उनमेंसे एक भी नहीं बच सकता । इस रीतिसे इन्द्र दण्डके जाळयुद्ध द्वारा इन्द्र हजारों और लाखों शत्रुओंका संहार करता है ।’ इन मंत्रभाषोंमें यह वर्णन बड़ा मनोरम है और जाळयुद्धका यद्दृष्ट भी इससे प्रकट होता है, एकबार शत्रु जाळ में बांधे गये, तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी हतबल भी बर हो जाती है । इस प्रकार जाळसे बांधे गये शत्रुओंका बच करना बड़ा सहज कार्य होता है क्योंकि इन्द्र एक बार शत्रुको जाळमें पकड़कर परचात् अपने सैनिकोंसे ही उनका बच करता है, ऐसा इसी सूक्तमें कहा है —

शक्रं सेनया तेन ( जाळेन यद् ) दस्यूनां संहर्षं जघान । ( नं. ७ )

‘ इन्द्र अपनी सेनाद्वारा उस जाळसे बांधे गये शत्रुओं हजारों सैनिकोंको मारता है ।’ इस वर्णनसे स्पष्ट हो जाता

हे कि जालमें बंधे शत्रुसैन्यका बंध करना सहज बात है।  
यह बड़ा जाल पृथ्वीपर फैलवा जाता है इस विषयमें विभिन्न-  
सिद्धित मन्त्र देखिये—

अयं महान् लोकः शत्रुस्य जालं भासते ।  
तेन इन्द्रजालेन सर्वान् जालसा अभिदधामि ॥

( म ८ )

साध्याः रुद्राः यस्यचः जालदृष्ट  
उपस्य भोजसा यन्ति ।

आदित्यः एकः ( दृष्ट ) उपतः ॥ ( मं. १२ )  
विश्वेदेवाः भोजसा उपरिष्टान् यन्तु ।  
अगिरसः मघेन सेनां हन्ताः यन्तु ॥ ( मं. १३ )

‘ इस पृथ्वी भर इन्द्रका जाल फैला हुआ है। इस इन्द्रके  
जालके साथ शत्रुओंको बंधेरेसे घेरते हैं। साध्य, रुद्र, बभ्रु  
और आदित्य ये सब देव जालका एक एक स्तम्भ पकड़ कर  
बैठते ही होते हैं। विश्वेदेव और अगिरस जो शत्रुसेनाके बीच-  
में और ऊपरसे हमला करते हैं।’ इतना विस्तार इस  
जालका होता है। इस जालके सब पृथ्वीभर अन्तरिक्ष  
भर जाता है, यद्यपि शत्रुका सब सैन्य चारों ओरसे इस  
जालके द्वारा घेरा जाता है। इन बलोंसे ऐसा प्रतीत होता  
है कि जिस प्रकार शत्रुका सैन्य घूमता है, वही रीतिसे यह  
जाल भी घूमता जाता है। इसीलिसे जालके जगह पकड़कर  
बभ्रु, रुद्र, आदित्य और साध्य बैठते भ्रमण करते हैं। विश्व-  
देव अपने संपत्ते ऊपरके आगसे हमला करते हैं और आदि-  
त्यकी सेना बीचमें हमला करती है। इस प्रकार शत्रुसैन्य-  
को युद्धमें दबकर बभ्रु, रुद्र और आदित्य जालदृष्टोंको पकड़  
कर बौद्ध दौड़ कर शत्रुके इर्दगिर्द जालकी हथोंके आधार-  
पर ऐसे बैठते जाल रखते हैं, कि शत्रु न जाने हुए स्वयं ही  
जालमें साकर फँस जाय। यह युद्धकीजालकी बात है और  
जो युद्धविद्या जानते हैं उनके ही ग्रन्थमें यह बात भासकती  
है। यही मन्त्रों द्वारा ज्ञातविषय प्रकट हुआ है। यही ग्रन्थ,  
बभ्रु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और अगिरस ये सेनाविभागों  
और सेनाध्यक्षोंके नाम हैं। इनके विशेष कार्य युद्धभूमिमें  
होते हैं, अतः ये अलग अलग नाम इनके होते हैं। इन सब-  
का मुख्य इन्द्र है, इसका कार्य ( इन्द्रजाल ) शत्रुका विदारण  
करना है। इसका कार्य प्रथम मानने इस प्रकार कहा है—

मन्थिता शूरः शक्रः पुरन्दर इन्द्रः मन्थतु ।

( म. १ )

‘ शत्रुसैन्यका मन्थन करनेवाला इन्द्र धूर और मन्थन

होकर ( धूर-दूर ) शत्रुके किलोंका भेदन करे।’ इसमें  
प्रायिक इन्द्र इन्द्रका कार्य बता रहा है। शत्रुके किलोंको  
तोड़नेका कार्य इन्द्र करता है। इसीसे शत्रुसैन्यको बाहर  
निकासकर, उनको अपने जालोंसे बांधकर मारता है। इस  
प्रकार यह जालयुद्धकी नीति है।

इस रीतिसे जालयुद्धके सामान यदि पास हों तो शत्रुपर  
विजय प्राप्त करनेका विश्वास अपने सैनिकोंमें मिला है और  
वे हलते हैं—

अग्निबाणां सहस्रश सेनाः हनाम । ( मं. १ )  
यवका वधे प्लान् इन्तु । ( मं. ३, ४ )  
अमून मि. मृगबहिः। अमून भोजरं प्लाव । ( मं. १ )  
मृत्यवे अमून प्रयच्छामि ।  
जमी मृगुपाशैः सिताः ।  
मृत्योः ये भयंता दूताः तेभ्य  
प्लान् यद्व्या प्रतिनयामि ॥ ( मं. १० )  
मृत्युदूता अमून नयत । यमवृता मयान्मता ।  
पर. सहस्र हन्यन्ताम् ॥ ( मं. ११ )  
यथा अमु सेनां हनन् । ( मं. १४, १५ )  
उताः मृत्युपाशाः यान् भाफन्त्य न मुच्यस ।  
अमुप्याः सेनायाः इदं हृदं सहस्रशः हन्तु ।  
( मं. १६ )

‘ शत्रुके हजारों सैनिकोंको हम मारेंगे। वधके साथनोते  
इसको मारें। इस शत्रुसैनिकोंको निजोद मारें। इनको  
मृत्युको सेवा देता हूँ। ये मृत्युके पापसे पावें हैं। इन  
शत्रुओंको बांधकर वे मृत्युके दूतोंके हाथसे करता हूँ। यम-  
दूत इनको ले पले, यमदूत इनको खींचें हैं और हजारोंका  
बध किया जावे। इस शत्रुसैन्यका नाश किया जावे। वे  
मृत्युके पास फँसवें हैं, इनसे नहीं छड़ोगे, इस शत्रुसैन्यके  
इस केन्द्रको प्राप्त करके उनके हजारों सैनिक मारे जायें।’

इस प्रकारकी भाषा तभी सोचो जा सकती है कि जब  
शत्रुको पकड़कर जगह बंध करना निश्चितता हो। जालमें  
पकड़े शत्रुका बंध करना निश्चित और सहज होता है। इसी  
लिसे जालयुद्धकी और इस प्रकारके विषयवाचक वाच्य बात  
सकते हैं। इसी प्रकारके वाच्य और शेष—

पराजिताः अग्निना प्र प्रसन्ताः,

अपया नुत्ताः धारत ।

युद्धस्यतिमशुचानां अग्निना कथन मा मोचि ॥

( मं. १९ )

‘ पराजित हुए दण्ड प्राप्तको प्राप्त हों, अग्राये दण्ड लेनीके भाग जावे, भवाये गये दण्ड शत्रुओंके भी कोई न बचे ।’ ये शब्द दण्डपराजयका निश्चय बता रहे हैं । आत्मपुष्टका का महाव है कि एक बार उसमें फसे हुए शत्रुका बचना व्यर्थभव है । जासमें फसे शत्रुकी ध्वस्तता कंती बनती है देखिये—

एषां आयुधानि जयपयन्ताम् ।

इयं प्रतिष्ठा मा शक्य ।

एषां बहु विभ्यतां इषयः अर्भेभिः झन्तु । ( मं. २० )

‘ इस शत्रुओंके आयुध विर जाय । हमारे प्रहरीको तह न सकें । इन बहुत धनराये शत्रुओंके यर्षों हमारे शस्त्र आघात करें ।’ तथा और देखिये—

वाताहं प्रतिष्ठां मा विदन्त ।

भिद्ये विप्रानाः मृत्युं उपयन्तु । ( मं. २१ )

‘ शत्रु भयभीत होकर भी आधायको न प्राप्त हों, उनको कोई उत्तम सत्ताह देनेवाला न मिले । ये आपसमें एक दूसरे को मारते हुए मृत्युको प्राप्त हों ।’ यह अवस्था शत्रुको तब होगी जबकी अपने निश्चित विजयकी संभावना हो ।

इन्द्रः दार्यः स अक्षुजालाभ्यां अमू सेनां हतम् ।

( मं. १८ )

‘ इन्द्र और दार्य अथु और जालोंके द्वारा इस सेनाको मारे ।’ इस मंत्रमें जालपुष्टकी प्रकृति बताई है । पूर्ण दण्ड सेनाको मारना केवल जालपुष्टसे ही संभव है । जासमें एकत्र गये शत्रुसेनापर कितनी भयानक आपत्ति आती है इसकी कल्पना करते मयभावसे ही सकती है—

मृत्योः आर्यं क्षुधं सेदिं यद्यं भये आपयन्ताम् ।

( मं. १८ )

जासमें एकत्र गये शत्रुओंपर ‘ मृत्युके समान कष्ट, भय, बंधन, घप और भय ’ आ पड़ते हैं । शत्रुका कोई भी कल्प्य इनसे बच नहीं सकता । शत्रुसेनापर ऐसी भयानक आपत्ति आती है इसलिये यह जालपुष्ट शत्रुको बहुत बर उत्पन्न करनेवाला होता है । इसी मंत्रके साथ निम्नलिखित पंच देखिये—

सेदिः उमा सृदिः अर्तिः

भनपयाचना अमः तन्दी मोहः

च तेः गमून् सवर्न् अमिदधामि । ( मं. १ )

‘ बंधन, उप विपत्ति, न कहने योग्य कष्ट, भय, आत्मघय, पीड़ा इनसे ये सब हमारे शत्रु जर्जर हो जाय ।’ इसकी सिद्धि होवेके लिये मृत्युमें आत्मप्रयोग निःसन्देह उपकारक है । जासमें दबा और क्लिप्ता भी बलवान् हो तो भी यह कुछ भी

प्रतिकार करनेमें असमर्थ होजाता है । इसलिये मुक्तिसे शत्रुको जासमें बांध देनेसे उनका पूर्णतया नाश हो जाता है । इस मृत्युमें और शत्रुधाराका प्रयोग वर्णन किया है वह जो बड़ा घोर प्रयोग है देखिये—

दुर्गंधपुक्त धुवां

यूतिरज्जुः उपगमानी अमू सेनां पूर्ति कृषोतु ।

( मं. २ )

‘ दुर्गंधपुक्त-रस्सी जलाकर इस सेनामें सर्वत्र दुर्गंधको फैला देवे ।’ कुछ विशेष राजामात्रिक पराधीन यह रस्सी मिलीयी रहती है । इस रस्सीको जलाकर जाको शत्रुसेनामें फैलानेसे शत्रुसेनामें ऐसी दुर्गंध फैलती है कि उससे प्रलभ हुए शत्रुके संनिक झूठ करनेमें अशक्य हो जाते हैं । इससे शत्रुसेना भय प्राप्त होता है देखिये—

धूमर्मात्र पराहृदय अमिषा हस्तस्पर्शधतां भयं ।

( मं. २ )

‘ पूर्वोक्त धूमधय अग्नि दूरसे देखकर शत्रुके सब लोग हृदयोंमें भय धारण करते हैं ।’ इतना यह दुर्गंधात्मा महा-सर्वकर है । एकबार यह ( यूतिरज्जु ) दुर्गंधकी रस्सीका जलना प्रारंभ होकर दुर्गंध फैलाने लगा तो सब सैनिक किसी भी कार्यके लिये बड़े निकम्मे हो जाते हैं और मानने लगते हैं कि अब अपने नाशका समय आ पड़ा है । यदि बाल प्रयोग और यह दुर्गंध प्रयोग इन दोनोंके प्रयोग किये जाय, तो शत्रुका शीघ्र नाश करना विलक्षण भावनीय ही सकता है । इस प्रकार इन दोनोंके प्रयोग करनेसे अपनी विजय होती है अतः कहा है—

विजय

इतो जय विजय संतय जय स्वाहा ।

इमे जयन्तु परानी जयन्तां स्वाहैभ्यो वुटाहामीभ्यः ।

( मं. २४ )

‘ इस पूर्वोक्त मुक्तिसे जय और विजय प्राप्त करो, यह तुम्हारी उत्तम अवस्था है । ये तुम्हारे सैनिक विजयी हों, तुम्हारे शत्रु पराजित हों । तुम्हारा उत्तम कल्याण हो, तुम्हारे शत्रु-ओंका अकल्याण हो ।’ इस प्रकार अन्तर्गत्त इस जालपुष्ट करनेवालोंके गुण आगेदर्शित किया है ।

इस प्रकार वेदमें उपदेश किये जासपुष्टका वर्णन है ।

वेदकी सुश्रुतीति ज्ञेयं ।

‘ इन्द्र जाल ’ दण्ड माध्यामिक बन्धनका भी भाव बताता है । इस दृष्टिसे इन्द्र जालका विचार कोई करे । यह विषय अभ्येययोग्य है ।

## विजयकी मन्त्रार्चना

कांड ७, सूक्त ११८

( ऋषिः — अथर्ववेदिकः । देवता — चन्द्रमा, वरुण, देवाः । )

मर्माणि ते वर्यणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनातु वस्ताम् ।

उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तु त्वातु देवा मन्दन्तु

॥ १ ॥

अर्थ— ( ते मर्माणि वर्यणा छादयामि ) तेरे मर्मस्थानोंको कवचसे सं ढकता हूँ । ( सोमः राजा त्वा अमृतेन सन्नुपस्ता ) सोम राजा तुझे अमृतसे आच्छादित करे । ( वरुणः ते उरोः वरीयः कृणातु ) वरुण तेरे लिये बड़ेसे बड़ा क्पात देवे । ( जयन्तु त्वा देवाः अनुमन्दन्तु ) विजय पानेवाले तुझे देखकर सब त्त आनन्द करें ॥ १ ॥

पुत्रके लिये बाहर जानेके समय और लोग अपने शरीर पर कवच धारण करें । इस प्रकार तैयार होकर बीर आनन्दसे शत्रुपर हमला करनेके लिये चले और विजय प्राप्त करें । मनमें विजय रखें की, साधनमें रहकर लड़नेवाले बीरका सब देव सहाय्य करते हैं और उसके विजयसे आनन्दित भी होते हैं । भित्री विजयके स्वरूप देखीकी आनन्द हो ऐसे ही बीर अपनेमें बहाले चाहिये ।

## विजय सूक्त

कांड १, सूक्त २

( ऋषिः — अथर्व । देवता — अश्विनः, पूषिनी, इन्द्रः, अश्विनारण्यः । )

विद्या हरिर्ष पितरं पर्जन्यं मूर्ध्निघायसम् । विमो अस्म मातरं पूषिनीं भूरिर्षसम् ॥ १ ॥

अथाकिं परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि । वीदुर्वरीयोऽरातीत्य देवांस्या कृधि ॥ २ ॥

अर्थ— ( शरस्प पितरं ) परमा, आनका पिता ( भूरि-वर्षसं पर्जन्यं ) बहुत प्रकारसे पावन दीव्य करनेवाला पर्जन्य है यह ( विद्या ) हम जानते हैं । तथा ( अस्म ) इसकी माता ( भूरि-वर्षसं ) बहुत प्रकारकी कुशलताके लिये पुत्र पूषिनी है, यह हमें ( सुविद्या ) वरुण प्रकारसे पता है ॥ १ ॥

हे ( अथाकिं ) माता । ( तन्वं ) हम सब पुत्रोंकी ( परि नय ) परिपालन कर अर्थात् हमारे ( तन्वं ) शरीरको ( अश्मानं ) पावर अंता सुबुद्ध ( कृधि ) कर ( वीदुः ) बतलाय करकर ( अ-राती ) मराने भावोंको तथा ( देवांस्या ) देवोंकी अर्थात् सब शत्रुओंकी ( वरीयः ) पूर्ण रीतिसे ( अप कृधि ) नष्ट कर ॥ २ ॥

भावार्थ— धारण-पोषण उत्तम प्रकारसे करनेवाला पिता पर्जन्य है, कुशलतासे अनेक कर्म करनेवाली माता पूषिनी है, इन दोनोंसे धर-सरकटा-दुग्ध उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

माता पुत्रके शरीरपर ऐसा परिपालन करती कि जिससे वह अश्वत्थ बनकर शत्रुओंको पूर्ण रीतिसे दूर करनेमें समर्थ हो सके ॥ २ ॥

वृक्षं यद्वायः परिपस्वजाना अनुस्फुरं श्रमचैन्नुगुहम् । श्रमेस्मधावय विद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥  
यथा घां च पृथिवी चान्तस्तिष्ठति तेजन्म । एवा रोमं चास्त्रां चान्तस्तिष्ठतु सुञ्ज इत् ॥ ४ ॥

अर्थ— (यत्) जिस प्रकार ( वृक्षं ) वृक्षके साथ ( परिपस्वजानाः ) लिपटी हुई या बंधी हुई ( गायः ) गोएँ अपने ( जंभुं शरं ) तेजस्वी पुत्र शरको ( अनुस्फुरं ) फुटके साथ ( अर्चन्ति ) चाहती हैं, उसी प्रकार हे इन्द्र ! ( अस्त्रात् ) हमसे ( विद्युं शरं ) तेजपुत्र बाणको ( यावय ) दूर भेज ॥ ३ ॥

जिस प्रकार ( घां ) कुलोक और पृथ्वीके ( अन्तः ) बीचमें ( तेजन्म ) तेज ( तिष्ठति ) होता है, ( यव ) इसी प्रकार वह ( सुञ्जः ) वृक्ष ( रोमं च आस्त्रां च ) रोम और आस्त्रके ( अन्तः ) बीचमें ( इत् तिष्ठतु ) निश्चयसे रहे ॥ ४ ॥

भाष्यार्थ— जिस प्रकार वृक्षके साथ बंधी हुई रोमों अपने बंधनों के गैरसे प्राप्त करना चाहती हैं, उसी प्रकार हे ईश्वर ! तेज शर हमसे जाने दो ॥ ३ ॥

जिस प्रकार कुलोक और पृथ्वीके बीचमें प्रकाश होता है, उसी प्रकार रोम और आस्त्र-पाव-के बीचमें शर रहने ॥ ४ ॥

## विजय सूक्त

प्रथम काण्डके प्रथम सूक्तमें ' मेधाजनन ' सर्पात् बुद्धि-का संवर्धन करनेके मूलभूत नियम बताये हैं। मूत्र, शिष्य तथा विद्यालय आदिका प्रबंध किस रीतिसे करना चाहिये, गुण किस प्रकार बढ़ाने, शिष्य किस संस्थे पर और दोनों मिलकर राष्ट्रको उन्नति किस रीतिसे करें इसका विचार किया गया है।

इसके पश्चात् विद्याकी पढ़ाई शुरू होती है, जिसमें अष्टाश्रित एषका सूक्त ' विद्या शरस्य पितरं ' प्रथम है। अथर्व-वेदमें यह द्वितीय सूक्त है। तृतीय सूक्त भी इसी वाक्यसे प्रारंभ होता है। इन दोनों सूक्तोंका विचार अब करेंगे—

यह भावार्थ भी पूर्ण नहीं क्योंकि इन मंत्रोंके हर एक शब्दों पीछेका संबंध देवताओं को यात्रा व्यक्त होता है। यह जानकर ही मंत्रोंका अच्छा भावार्थ जानना चाहिये। यह भाव देवताओंके लिये भागोंका स्पष्टीकरण देखिये—

### ( १ ) वैयक्तिक विजय

इस सूक्तमें पहिले वैयक्तिक विजय प्राप्त करनेके उपदेश दिव्य प्रकार बताये हैं—

- १ उत्तम मातापितृसे जन्म प्राप्त हो, ( मं. १ )
- २ शरीर बलवान् बनाया जाये, ( मं. २ )
- ३ रोमादि शत्रुओंको दूर रखा जाये, ( मं. ३ )
- ४ शरीरमें फुर्ती लाई जाये, ( मं. ४ )
- ५ अगलमें अपना तेज फैलानेका यत्न किया जाये, ( मं. ५ )
- ६ शोधनोंसे रोगोंको दूर किया जाये। ( मं. ६ )

पाठक विचारको बुझिये। इन मंत्रोंका विचार करेंगे तो उनको उक्त छ भाव वैयक्तिक उन्नतिके साधन पूर्वात्त धारों मंत्रोंके अन्तर गुणरूपसे दिखाई देंगे। इनका विशेष विचार होनेके लिये यहाँ मंत्रोंके सामर्थ्य और स्पष्टीकरण दिये जाते हैं—

### ( २ ) पिताके गुण-धर्म-कर्म

पूर्वोक्त मंत्रोंमें पिताके गुणधर्म बतातेवाले ये शब्द आये हैं— " पिता, पञ्चैव, भूरेधायम्, पृक्ष, धीः " इनके



अर्पिका शीघ्र होनेसे पिताके गुण-धर्म-कर्माका शोध हो सकता है। इसलिये इनका आश्रय देखिये—

- १ पिता- ( माता ) रक्षक, संभालनेवाला ।
- २ पर्जन्यः- ( पूर्ति+जन्यः ) पूर्ति करनेवाला, पूर्णता करनेवाला । मृतताकी दूर करनेवाला ।
- ३ भूरिधायस्- ( भूरि ) बहुत प्रकाशते ( धायस् ) धारण पोषण करनेवाला, शांता, उदारचरित ।
- ४ वृक्षः- आभार, स्वयं धूप सहकर दुष्टरोगी छाना देनेवाला ।
- ५ धौः- प्रकाश देनेवाला, अवधारणा नाश करनेवाला ।

बुध्दता: ये पांच शब्द हैं जो उक्त भर्तृमें पिताके गुणधर्म कर्माका प्रकाश कर रहे हैं । इनका आशय यह है- ' पिता ऐसा हो जो अपने पुत्राधिकारों का उत्तम शाल्य करे उनके भदर जो जो मृतताएं हों उनकी पूर्णता करे अर्थात् अपनी सतानकी पूर्ण उन्नति गुणोंसे युक्त बनानेमें अपनी पराकल्य करे, उनका हार प्रकाशते पोषण करे और उनके हृदयपुष्ट तथा बलिष्ठ बनावे, वह स्वयं कष्ट सहन करके भी अपनी संज्ञानकी उन्नति करे, तथा अपने पुत्रों और लड़कियोंकी शांति केकर उनकी उत्तम नागरिक बनावे । '

### ( ३ ) माताके गुण-धर्म-कर्म

" माता, पृथिवी, भूरिवर्षस्, ज्याका, गो " ये पांच शब्द पुत्रोक्त भर्तृमें माताके गुण-धर्म-कर्माकी प्रकाश कर रहे हैं । इनका अर्थ देखिये—

- १ माता- बालकोंका हित करनेवाली ।
- २ पृथिवी- ललाटील, सहृदयल, पुत्रोंकी उन्नतिके लिये आवश्यक कष्ट सहन करनेवाली ।
- ३ भूरिवर्षस्- ( भूरि ) बहुत ( वर्षस् ) गुणवत्तासे कर्म करनेमें समर्थ, कर्ममें अत्यन्त कुशल, सदा कर्म करनेमें वश, परिवारकी उन्नतिके लिये उत्तम कर्म करनेवाली ।
- ४ ज्या, ज्याका- ( उदा-जया ) जगका साधन करनेवाली, माता, पृथिवी, रक्षी, बलशालिनी ।
- ५ गो- प्रगतिशील, दुग्धादि द्वारा पुत्रोंको पुष्टि करनेवाली । किरण, स्वर्ण, रत्न, चाबी, सरस्वती, माता, जल, नेत्र, आकाश, सूर्य आदिके गुणगुणोंसे युक्त ।

माताके गुणधर्म इन शब्दों द्वारा व्यक्त हो रहे हैं । अर्थात्- ' बालबच्चोंका हित करनेवाली, ललाटील, पुत्रोंकी उन्नतिके

लिये करनेयोग्य कर्मोंमें सदा बल रहनेवाली, बहुत ही कुशल-धामे अपने कुटुम्बकी उन्नति करनेमें समर्थ, बलशालिनी, गोके समान दुग्धादि द्वारा बालकोंको पुष्टि करनेवाली, किरणोंके समान प्रकाश करनेवाली, स्वर्णके समान सुखदा-विनी, रत्नके समान घरकी शोभा बढ़ानेवाली, गुम भाग्य करनेमें चतुर, विपुली, जलके समान ताति बढ़ानेवाली, नेत्रके समान मार्ग दर्शनेवाली, आकाशके समान सबको आश्रय देनेवाली, सूर्यके समान अज्ञानांधकार दूर करनेवाली माता होगी आदि । '

पिताके गुण-धर्म-कर्म पहिले बताये और यहाँ माताके गुण-धर्म बताये हैं । ये आर्य माता पिता हैं, इनसे जो पुत्र पैदा होगा और पाला तथा बड़ाया जायगा, वह भी लक्ष्मी और पुत्र ही होगा तथा पुत्री भी उसी प्रकार बौरा बनेगी इसमें क्या संदेह है ?

### ( ४ ) पुत्रके गुण-धर्म-कर्म

पुत्रोक्त भर्तृमें पुत्रके गुण-धर्म-कर्म बतायेवाले ये शब्द हैं- " शत्रु, भक्ष्या-लुप्तुः, धीदुः, शत्रुः, शत्रुः, विदुः, तेजसः, सुखः " इनके अर्थ ये हैं—

- १ शत्रुः- ( भृष्टाति ) जो शत्रुका नाश कर सकता है ।
- २ भक्ष्या-लुप्तुः- भक्ष्यके समान सुदृढ़ शरीरवाला ।
- ३ धीदुः- बलिष्ठ, दूर ।
- ४ शत्रुः- बुद्धिमान्, कुशल, कारीगर, तेजस्वी ।
- ५ शत्रुः- शत्रुका नाश करनेवाला ।
- ६ विदुः- तेजस्वी ।
- ७ तेजसः- प्रसन्नमान् ।
- ८ सुखः- ( सुकृति माञ्जयति ) शुद्धता और पवित्रता करनेवाला ।

पुत्र ऐसा हो कि जो ' शत्रुका नाश करनेमें समर्थ हो, सुदृढ़ अकण्ठ हो, दूर, बुद्धिमान्, कुशल, कारीगर, तेजस्वी, कष्टस्वी और पवित्र आचारवाला हो । ' माता पिताको प्रीति है कि ये ऐसा बाल करे कि पुत्रमें ये गुण-धर्म और कर्म हैं और इन गुणोंके द्वारा कुलका पद्म पड़े ।

यह बात स्पष्ट ही है कि पुत्रोक्त गुण-धर्म कर्मोंसे युक्त पालिका होगी तो उनके पुत्रों और पृथिवीमें ये गुण-धर्म व्यक्त होंगे ।

या राष्ट्रके विजयकी बुनियाद इस प्रकार कुटुंबकी सुव्यवस्था-पर तथा भुज्जा निर्माणपर ही अवलंबित है। जो जेब राष्ट्रकी उन्नति चाहते हैं, वे अपनी उन्नतिकी बुनियाद इस प्रकार कुटुंबमें रखें। जायें कुटुंब-व्यवस्था ही सब विजयका मुख्य साधन है।

### ( ७ ) पूर्वापर-सम्बन्ध

वहिले सूक्तमें विद्या वधानेका उपदेश दिया है। इस द्वितीय सूक्तमें पढाईका आरम्भ हो रहा है। विद्याका आरम्भ बिलकुल साधारण बातों से ही किया गया है। पातकी उत्पत्ति-का विषय हरगुण स्वामने के मन्त्र ज्ञानमें हैं। ' मेघसे पानी गिरता है और पृथ्वीसे घास उगता है इसलिये घासका पिला मेघ और माता भूमि है। ' इसका ही विषय इस सूक्तके आरम्भमें बताया है। इतनी साधारण बातोंका उपदेश करते हुए ' पिता-माता-पुत्र ' सभी कुटुंबकी उन्नतिकी विद्या किताई बगैरे देवने बताया है यह पाठक यहां देख चुके हैं। घासके अहर भुज्ज या सर एक जातीकी घास है। यह सर-काँडा स्वयं शक्का बंध करनेमें समर्थ नहीं होता। क्योंकि कीलत रहता है। परंतु जब उसको कठिन तोड़ेका उपयोग किया जाता है और पीछे पर लगाये जाते हैं, तब वही कोमल सरकाँडा अनुपमर चढकर डोरीकी गति प्राप्त करके अनुकूल मान करनेमें समर्थ होता है। इसी प्रकार कोमल बालक गुह-पुत्रकी कठिन व्यवस्था करता हुआ बालकमें वासनकपी कठिन बढते मुक्त होकर उन्नतिकी दिग्दर्शिकात्मके अवगती गतिकी एक सार्वभौम उन्नत हुमा मने, कुटुंबके, जातिके तथा राष्ट्रके शत्रुओंको भया देनेमें समर्थ होता है।

वहिले सूक्तके तृतीय मन्त्रमें अनुपमकी उपमा देकर बताया है कि ' पुत्र-शिक्षककी अनुपमकी दो कोटियां विद्याकपी डोरीसे तनी हैं। ' प्रथम सूक्तमें यह अलंकार भिन्न उपदेश दे रहा है और इस प्रकारका अनुपमक दृष्टांत भिन्न उपदेश दे रहा है। दृष्टांतमें एकेशी बातको ही देखा होता है, इसलिये एक ही दृष्टांतसे भिन्न उपदेश देना कोई योग नहीं है। प्रथम सूक्तके दृष्टांतमें भी डोरीका स्थान पिता माता भर्तृ सरस्वती देवीको दिया है उसमें मान्यताका सादृश्य है।

अपत्यमें वल्लके साथ मदी हुई गाय भी अपने बाइकेका स्मरण करती रहती है, गायका बड़के के स्मरणका प्रेम समझे बड़िया प्रेम है। प्रजापति प्रेम अपने बाइकेके विषयमें माताके हृदयमें होता चाहिये। अतः बाइक की तैयारी हो, अति यशस्वी हो, यही भावना माता मनमें धारण करे

और इस भावनाके साथ यदि माता अपने बालकको पूर्ण विश्वासवैरी, तो उसका गुण वृद्धि में निरतिह उतरेगा। इस विषयमें तृतीय मन्त्र मनन करनेके योग्य है।

### ( ८ ) कुटुम्बका आदर्श

सुपुत्र भवनें वास्तव कुटुम्बका नमूना समुच्च रहा है। सुलोक पिता, भूमि माता और इनके बीचका तेजस्वी मोलका इनका पुत्र है। अपने घरमें भी यही भावना होवे। भाकाज और पृथ्वीमें बेजा सूर्य होता है, उसी प्रकार पिता और माताके अभावमें अलोक चमकता रहे। कितना उच्च आदर्श है। हर-एक गृहस्थी इसका स्मरण रखें।

### ( ९ ) औषधिप्रयोग

मुग्ध भात अपने रक्त वाहिके अनेक रोगों और अनेक आघातों से दूर करता है, क्योंकि मुग्ध कोयक, शुद्धता तथा निर्मलता करनेवाला है। इसलिये स्पष्ट है कि यदि शोषकता और पवित्रताका गुण अपने अहर अहर अन्न में साथ तो रोगादि दूर रहा करते हैं। हरएकके लिये यह सूचना अपनाने योग्य है।

मुग्ध या घर औषधिका प्रयोग करके आनेके रोग तथा सूक्ष्माघात आदि रोग दूर होते हैं। इस विषयका सूक्ष्म उपदेश इस सूक्तके अन्तमें है। ईश लोग इसका विचार लें।

### ( १० ) राष्ट्रकी विज्ञाप

व्यक्ति, कुटुंब, जाति, देश तथा राष्ट्रके विषयपूर्ण अन्त-इत्के विषयोंमें समांतर है। पाठक इस बातकी मजबूती प्रकार जानें ही हैं। व्यक्तिका कार्यसेन छोडा और राष्ट्रका विस्तृत है, छोटेपन और विस्तृतपन की बातको छोड़नेसे दोनों स्थावोंमें नियमोंकी एकत्वताका अनुभव या सकता है।

कुटुम्बका ही विस्तृत रूप राष्ट्र है, ऐसा मान ले और पूर्ण स्थानमें एक घर या एक परिवारके विषयमें जो उपदेश बताया है, वही विस्तृत रूपसे राष्ट्रमें देखेंगे तो पाठकोंकी राष्ट्रीय उन्नतिकी विषयपूर्वक रोतिते ही सात हो जायगा।

घरमें पिता शासक है, राष्ट्रमें राजा शासक है, घरमें माता प्रबन्धक है, राष्ट्रमें प्रजापति वृत्तों हुई राष्ट्रतमा प्रबन्धक है। घरमें पुत्र और पत्नीका जाता है और राष्ट्रमें बालकपुत्रोंमें औरता बढाई जाती है। इसलिये ग्राम्य देशकर पाठक जान सकते हैं कि यह सूक्त राष्ट्रीय विजयका उपदेश किताई बगैरे देता है। पूर्वोक्त स्थानमें वर्णन किये हुए पिता, माता और पुत्रके पुण्य-धर्म-कर्म पहा राष्ट्रीय सेवामें सति-विस्तारसे देखनेसे इस क्षेत्रकी बात पाठकोंकी अतिस्पष्ट हो

जायगी। इस भावको ध्यानमें धारण करनेसे इस सूक्तका राष्ट्रीय भाव निष्कलितप्रकार होगा—

‘ प्रजाका उत्तम धारण पोषण और पूर्णता करनेवाला राजा ही शूरका सच्चा पिता और उसको माता बहुत कामोंकी प्रेरणा करनेवाली मातृभूमि ही है ॥ १ ॥ हे मनुजभूमि ! तू सबके शरीर मति मृदु है, जिससे हम सब उत्तम मनुजों

जनकर अपने मनुजोंको बना दे ॥ २ ॥ जिस प्रकार तू अपने बछड़ेका हित बना चाहती है, उसी प्रकार हे ईश्वर ! मातृभूमिके प्रेमसे मड़े हुए वीर आये बढें ॥ ३ ॥ जिस प्रकार अश्वपति और भूमिके घोषमें तेजोगोचर होते हैं, उसी प्रकार राजा और प्रजाके सम्पर्कमें वीर घमकते रहें तथा वे पवित्रता करते हुए योगादि भयसे दूर हों ॥ ४ ॥

## विजय-काण्ड

### कांड २, सूक्त २७

( ऋषिः - कविप्रभः । देवता - १-५, वनस्पति, ६ वरुण, ७ इन्द्रः । )

|  |       |
|--|-------|
| नेच्छतुः प्राशं जयाति सहमानाभिपूरीति । प्राशं प्रतिप्राशो जगत्साम्कुण्वोषधे      | ॥ १ ॥ |
| सुपर्णस्त्वान्निबिन्दत्सूकरस्त्वोखनसुता । प्राशं प्रतिप्राशो जगत्साम्कुण्वोषधे   | ॥ २ ॥ |
| इन्द्रो ह चके त्वा पादाभिरुग्म्य स्तरीतवे । प्राशं प्रतिप्राशो जगत्साम्कुण्वोषधे | ॥ ३ ॥ |
| पादामिन्द्रो व्याभारुग्म्य स्तरीतवे । प्राशं प्रतिप्राशो जगत्साम्कुण्वोषधे       | ॥ ४ ॥ |
| तपाहं शत्रून्तसाधु इन्द्रः सालावुकाँ ईव । प्राशं प्रतिप्राशो जगत्साम्कुण्वोषधे   | ॥ ५ ॥ |

मर्थ— ( शत्रुः प्राशं च इत् जयाति ) प्रतिपक्षी मेरे प्रत्यक्ष विरुद्धसे विजय प्राप्त नहीं कर सकता । क्यों कि तू ( सहमाना अभिभूतः अस्ति ) जयप्राप्ति और प्रभावप्राप्ति है । ( प्राशं प्रतिप्राशः अहि ) प्रत्येक प्रत्यक्ष प्रतिपक्षीको जीत । ( ओषधे । भरसान् कुणु ) हे औषधे ! तू प्रतिपक्षियोंको नीरस कर ॥ १ ॥

( सुपर्णः व्याभारुग्म्य ) गवयोंसे तुझे प्राप्त विजय है और ( सूकरः त्वा तसा अखनत् ) कुसरने तुझे नाकसे छोटा है ॥ २ ॥

( इन्द्रः पादभिरुग्म्य स्तरीतवे त्वा पाहो ह चके ) इन्द्रमें अतुरोंसे अपनी रक्षा करनेके लिये तुने मातृवर धारण किया था ॥ ३ ॥

( अतुरेभ्यः स्तरीतवे ) अतुरोंसे बचाव करनेके लिये ( इन्द्रः पादो व्याभारुग्म्य ) इन्द्रने इस पादा वनस्पति को खाया था । ॥ ४ ॥

( अहं तपा शत्रून् तसाधु ) मैं उस वनस्पतिसे शत्रुओंको परास्त करता हूँ ( इन्द्रः सालावुकाँ ॥५॥ ) जैसे इन्द्र भेड़ आदिघोंघोंको दूर करता है ॥ ५ ॥

माथार्थ— मेरे प्रत्यक्ष प्रतिपक्षीको पराजय हो । क्यों कि मेरो यह शक्ति जयप्राप्ति और प्रभावप्राप्ति है । इसी लिये प्रत्येक प्रत्यक्ष प्रतिपक्षीका पराभव हो । औषधि भी प्रतिपक्षियोंको क्षुब्ध बनावे ॥ १ ॥

इस वनस्पतिको गवयपक्षी प्राप्त करता है और सुखर खोदता है ॥ २ ॥

इन्द्रने यह औषधि अतुरोंके पराभव करनेके लिये अपने शरीरपर धारण की थी ॥ ३ ॥

तथा उसीने इसका सेवन भी किया था ॥ ४ ॥

उसीसे शत्रुओंको भया डेता हूँ ॥ ५ ॥

रुद्र जलापमेव नृत्तशिक्षणं कर्मकृत् । प्राशं प्रतिप्राशो जह्यसन्कृष्योपधे ॥ ६ ॥  
तस्य प्राशं त्वं जहि ये न इन्द्राभिदासति । आधि नो ब्रुहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥ ७ ॥

अर्थ—हे ( जलाप-भेषज ) वस्त्रे विक्रिता करनेवाले ( नैल-शिक्षण ) नैल शिखावाले ( कर्मकृत् रुद्र ) पुण्यायी तू । ( प्राशं प्रतिप्राशः ) प्रत्येक प्रदानके प्रति प्रतिप्राशको ( जहि ) जीव मे । ( औपधे जरसात् कृषु ) हे औपधे ! तू प्रतिप्राशको मूक कर ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! ( यः नः अधिवासति ) जो हमें रास बनाने काहता है ( तस्य प्राशं त्वं जहि ) उसके दानको तू जीत ( शक्तिभिः नः अधिब्रुहि ) शक्तियोंके साथ हमें कह और ( प्राशि मां उत्तरं कृधि ) प्रश्नप्रतिप्रश्नमें मुझे अधिक उत्तर कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—हे जल विक्रितक नील शिखावाले उत्तम पुण्यायी रुद्रदेव । प्रति प्रकृति प्रतिप्राशको परास्त कर और हे औपधे ! तू प्रतिप्राशको मूक बना दे ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! जो हमें रास बनानेको चेष्टा करता है उसको प्रतिप्रश्न में जीत, प्रतिप्रश्नमें मेरी शिखा कर और शक्तियोंके साथ हमें कथन कर ॥ ७ ॥

## विजय-प्राप्ति

### विजयके क्षेत्र

एक विजय वाय-विवाहमें होता है, दूसरा युद्धमें होता है । इन दोनों विजयोंकी प्राप्ति करनेके लिये विभिन्न क्षतियोंकी आवश्यकता रहती है ।

### वादी और प्रतिवादी

प्रश्न करनेवाला ' प्राप्ता ' अर्थात् वादी होता है और उसके प्रतिपक्षीको ' प्रतिप्राश् ' कहते हैं । ' वादी और प्रतिवादी ' इन दो शब्दोंके सम्मेलन ही से ' प्राश और प्रतिप्राश ' शब्द है । पहला मंत्र तथा आगे भी कई मंत्रोंमें कहा है कि प्रत्यक्षा यों समझिये कि उत्तरदाता भी अपने पक्षका सारा इतना रखे और इस प्रकार कुशलतासे मध्य करे कि एक दो पा पीड़िते प्रश्नोंसे ही प्रतिपक्षीका मुख पीका पड़जाय । कई बहुत लोग ऐसे होते हैं कि वे ज्ञातिसे एक दो प्रश्न ऐसे करते पूछते हैं कि मैं प्रश्नोंकी उत्तर देते देते प्रतिपक्षी स्वयं परास्त हो जाते हैं । अथवा विषयका सारा इतना प्राप्त करना और प्रश्न पूछनेका औचित्य अपनेमें देना बढाना चाहिये कि जिससे सज्जनोंमें वाय विवाहमें विजय प्राप्त हो सके । इस सूक्तके मंत्र भाग्यमें ऐसी तैयारी करनेकी सूचना कई बार दी है । वाय-विवाहमें विजय प्राप्त करनेका आत्मविश्वास अपने अंदर हो और किसी प्रत्यक्षता संदेह न हो । यह वाय विवाहकी विजयके विषयमें हुवा ।

### युद्धमें विजय

सब दूसरी विजय युद्धमें अनुभवीर प्राप्त करनेकी है इसमें भी अपनी आवश्यक पूर्व तैयारी करनी योग्य ही है ।

जित तैयारीसे अपने विषयका निरूपण हो सके और कदापि संदेह न रहे ।

ऐसी युद्धोंमें पूर्व तैयारी अर्थात् जाग्रदृक्ताह और जितनी पूर्व तैयारी अधिक होगी उतनी ही विजयकी संभावना अधिक होगी ।

### पाठा औपधि

इस ११११ वक्ता विजयके लिये एक औपधि प्रयोग किया है । इस औपधिका नाम ' पाठर वा पाठा ' ( म. ४ ) है इस औपधिके मूल ये हैं—

तिक्ता युद्धरूपा वातविक्रज्वरम ।

मससंभावकरो पिच्छवाहासीसारशूलमी च ।

राज नि० द. ६

अथवा मुसवाचिका । कककण्डकजावहा । भाष्य० ।

' यह पाठा वा पाठा वनस्पति तिक्त, गूदा, उष्ण है, वात, पित्त, ज्वरलाजक, दूध दुग्धको पीड़नेवाली, पित्त, दाह, मति-सारका नाश करनेवाली है । यह औपधिकाणी, मुखमें गालोंके दोष वा करनेवाली, तथा कण्ठकी पीडाको हटाने-वाली है । ' भाष्यमें इस पाठा वनस्पतिको ' ककपादा, जाकनाली, निमुला ' कहते हैं ।

वाय-विवाहके समय यह वस्त्रो मुखमें धरनेसे वा कण्ठपर बांधनेसे शोथनेके समय कष्ट उत्पन्न रहता है और वस्तुत्वसे होनेवाले कष्ट नहीं होते । यह वात, भावप्रकटादि रूपायोंमें भी कृती है । कण्ठमें कष्ट होने पर अन्य प्रकार शब्द रूद्ध न होने अर्थात् जो कष्ट होते हैं वे इससे प्रयोगसे नहीं होते । इसलिये इस औपधिले वायविवाहमें विजय प्राप्त होनेका

वर्षन इस युवतमें किया है : इसके अतिरिक्त यह और उल्लेख होनेसे पक्कापट भी नहीं होती । इससे भी विजय होनेमें सहायता होती है ।

युद्धमें भी ॥१॥ वनस्पति इसलिये उपयोगी है कि इससे दूटे हुए अक्षय्य लोभे जाते हैं, घास छोड़ भर जाते हैं । महाभारतमें भी देखते हैं कि यज्ञिके और युद्धसमाप्तिके मंतर कुछ वनस्पति सेवन करते थे तथा शरीरपर छेदन भी करते थे । जिससे राजा ज्योति होते हो और पुनः युद्ध करनेके लिये सिद्ध होजाते थे । नहीं तो एहिले दिवके युद्धमें घायल हुए और दूसरे दिन फिर किस प्रकार युद्ध कर सकते थे, इस संकाशा उत्तर इस वेद मंत्रमें व्यक्त है । महाभारतमें कहीं औषधिका नाम नहीं दिया, केवल औषधि जलो मूत्रो सेवन की जाती थी इतना ही लिखा है : इस सूत्रमें 'पाटा' नाम दिया है । शायी वेष इसका अन्वेषण करें । कि यह वनस्पति कोमली है और उसका उपयोग कैसा किया जाता था ।

यह औषधि अपने पास रखना, याहुकर या घनेमें छिद्रकाल, मूत्रमें धारण करना मयका वेदमें सेवन करना उक्त रीतिसे लाभकारी है, वैशिष्ट्य—

१ इन्द्रं यादौ चरे । ( म. ३ )

२ इन्द्रा पाटां व्याश्नात् । ( म. ४ )

इस मंत्रभागोंमें शरीरपर धारण करने और सेवन करनेकी बात लिखी है । यदि तानी वेष इस वनस्पतिकी योग्य होकर कर्त्ते और सेवनविधिका निश्चय करेंगे तो बड़े उपकार हो सकते हैं । भारतीय युद्धके समय और लोग इसका उपयोग करते थे और लाभ उठाते थे । दशरथि रक्त पूरित हुए और तथा बोधे सार्यकात इसके सेवन करनेसे पुनः दूसरे दिन युद्ध करनेमें समर्थ हो जाते थे । यदि ॥१॥ केवल शक्तिव्यपना न होय और यदि इस मंत्रमें भी यही बात हम देखते हैं तो इसका भविष्य होता योग्य है ।

### शक्तिके साथ वदत्त्व

सप्तम मंत्रमें एक बात प्रियेय महत्त्वकी गयी है वैशिष्ट्य—  
शक्तिभिः अधिग्रही । ( म. ७ )

'अनेक शक्तिधर्मोंके अपने साथ रखकर ही जो जीतना हो तो जीत दो ।' अपने पास शक्तिधर्मों न रखते हुए जीतना और बड़ा वस्तुत्व करना कुछ प्रयोजन नहीं रखता, उस शक्तिहीन वस्तुत्वसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिये अपने पास और अपने पीछे कार्यकारिणों शक्ति धर्मों को, इसका विचार करके ही जो कुछ वस्तुत्व करना हो तो

यह उस शक्तिके प्रभावसे हो करना योग्य है । अपने शक्तिसे अत्यधिक किया हुआ वस्तुत्व न शत्रुपर प्रभाव उत्पन्न कर सकता है और नहीं अपना बल बर्बाद सकता है । इसलिये वेदकी यह महत्त्वपूर्ण सूचना पाठक अवश्य स्मरण रखें । तब—

यः नः अभिदासति तं जहि । ( म. ७ )

'जो हमें दास बनाना चाहता है उसे जीत लो ।' यह उपदेश भी पूर्वोक्त आदेशके अनुसंधानसे कार्यमें लाया जाय तो बड़ा लाभकारी हो सकता है । अपना बल बढ़ाना, उत्तम ही जीतना कि प्रियता करके दिखाया जा सकता है, इतना होनेके वस्तुत्व अपनेको दास बनानेवालेका पराभव करना । यह अपने शक्ति बढ़ाकर अपने कार्यक्षेत्रका विस्तार करनेका योग्य मार्ग है ।

### अभिदासना निषेध

वेदमें हम देखते हैं कि अभिदासनाका पूर्ण और तीव्र निषेध स्थान स्मरणपर किया है । यहाँ तब यह निषेध है कि 'अभिदास' का अर्थ 'मिनाश' ही माना है । पूर्ण नाश होना और दास बनना यह वैदिकी दृष्टिसे एक ही बात है । किसी भी अवस्थामें वेद दास-गुलाम-बनना पसंद नहीं करता ।

### जलशक्तिके

वेद मंत्रमें जलशक्तिके, नीलमिश्रावाते, पुष्पापी छका वर्णन है । 'जलाप-मेपज' धार जलशक्तिकेका भाव बता रहा है । जलाप का अर्थ जल हो है । नील जलशक्तिकेका अर्थ नील जलवाले है, यह तब जल आरोग्यपूर्ण मनुष्यका बोध करता है । युद्धकी गिराव शक्ति होती है । तबकी ही जीती या हारी होती है । 'कर्म-कृत्' सध पुष्पापीका वाचक है : अपने चिकित्सा कर्ममें कुशल । 'रज' छन्दका अर्थ हो ( रज+द्र ) दानेवाले रोपोंकी हठानेवाला है । वेधन शब्द उत्तम चिकित्सकका भाव बताती है । यह चिकित्सकका नाम यहाँ इसलिये दिया है ॥ यहाँ युद्धमें शक्तितां भरोहोको आरोग्य प्राप्त करानेका संघर्ष है । तथा पाठा औषधिका प्रयोग भी करना है । इसलिये शक्ति वेधने आवश्यकता है ।

यह युवत जिस विषयका प्रतिपादन कर रहा है वह प्रत्यक्ष अनुभवका विषय है, इसलिये शायी मंत्रोंकी ही इसकी प्रायश्चित्त करनेका दाव करना चाहिये, अन्यथा यह विद्या केवल धर्मोंमें ही रहेगी ।

## विजय-प्राप्ति

कांड ५, सूक्त ३

( आशि - बृहद्दिशोऽधर्वा । देवता - अग्निः, विष्णवेदेवम् । )

ममोप्ते वचो विह्वेष्वस्तु वयं त्वेन्यानास्तन्वुं पुषेम ।

ममं नमन्तां प्रदिशधर्वास्तवयाभ्यक्षेण पृतना जयेम

॥ १ ॥

अग्नें मुन्युं प्रतिनदुन्योषां स्वं नो गोपाः परि पाहि विश्वता ।

अपांश्चो यन्तु निवता दुरस्ववोऽमेषां चित्तं प्रयुधां वि नैश्व

॥ २ ॥

मम देवा विह्वे संस्तु सर्वं इन्द्रवन्तो मुकतो विष्णुरग्निः ।

ममान्वरिधमुकलोकमस्तु ममं घातः पवतां कामापास्वै

॥ ३ ॥

ममं यजन्तां मम यानीष्टाकृतिः सत्या मनसो मे अस्तु ।

यनो मा नि गां कतमश्नाहं विश्वे देवा अभि रश्नुत मेह

॥ ४ ॥

अर्थ— हे अग्नि ! ( विह्वेषु मम घर्वा अस्तु ) सब दृष्टव्य मेरा तेज प्रकाशित होवे । ( वयं स्वा इन्ध्यानाः तन्वुं पुषेम ) हम तुझे प्रदीप्त करते हैं अपने गरीरको पुष्ट बनावे । ( चतस्रः प्रदिशः ममं नमन्तां ) चारों दिशाएँ मेरे सम्मुख नवें । ( त्वया अभ्यक्षेण पृतनाः जयेम ) तुझ अप्पलके साथ रहकर हम संशान्तीने विजय प्राप्त करें ॥ १ ॥

हे अग्ने ! ( येषां मनुं प्रतिनदुन्यं ) तन्वुंको श्रेयको दूर करता हुआ ( स्वं नो गोपाः सन् ) तू रक्षक होकर ( मा विश्वतः परिपाहि ) हमारा सब ओरसे पावन कर । ( दुरस्ववः पवतां मिश्रताः यन्तु ) दुकतापी दूर हटाने योग्य नीच लोग दूर चले जावे । ( यथां प्रयुधां चित्तं अमा विनैश्व ) वे दुष्ट प्रबुद्ध हुए तो भी उनका बिल साप हो साप नष्ट हो जावे ॥ २ ॥

( सर्वे देवाः इन्द्रवन्तः मुकतः विष्णुः अग्निः ) सब देव अर्थात् इन्द्रके साथ सब विष्णु और अग्नि ( विह्वे मम संस्तु ) पुष्टमे मेरे पसर्वें हों । ( ममान्वरिधं ऊकलोकं अस्तु ) मेरा अन्तरिक्ष विस्माल क्यागवाला होवे । ( घातः पवतां अमेषै कामापा प्रयतां ) वायु मेरे इस कार्यके लिये बहुत रहे ॥ ३ ॥

( मम यानि इष्टा ममं यजन्तां ) मेरे जो अभीष्ट हैं वे मुझे प्राप्त हों । ( मे मनसः आकृतिः सत्या अस्तु ) मेरे मनका सङ्कल्प सत्य होवे । ( अहं कतमश्नान् यनः मा नि गां ) मे कितने भी प्रकारके पावको न कर । ( विश्वे देवाः इह मा अभिरश्नुत ) सब देव यहाँ मेरी रक्षा करें ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे ईश्वर ! सब प्रकारकी स्वर्वाभिले मेरा तेज प्रकाशित होवे । तुझे अपने अंदर प्रकाशित करते हम अपने गरीरको पुष्ट और बलवान् करें । मेरे सम्मुख सब दिशा उपदिशार्थों रहनेवाले लोग बच हों । तेरी अप्पलतामें हम सब प्रकारकी स्वर्वाभिलें विजयी हों ॥ १ ॥

हे देव ! शत्रुओंका श्रेय दूर करके तू हमारी सब प्रकारसे रक्षा कर । दुष्ट केनेवाले नीच लोग हमसे दूर हो जायें । यदि वे सानु मुदिमान् हों तो उनकी दुष्ट बुद्धि भी साप साध ही नष्ट हो जावे ॥ २ ॥

सब देवोंकी सहायता हमें स्वर्गके लक्ष्य प्राप्त हो । इन्द्र, विष्णु, अग्नि, वायु तथा अन्यत्र देव हमें सहायक हों । मेरा अन्तःकरण बहुत विस्माल हो, तथा वायु आदि देव हमारी भावप्रकृताके अनुकूल चलें ॥ ३ ॥

मेरी सब कामनाएँ पूर्णतया सिद्ध हों । मेरे मनके सङ्कल्प सत्य हों । मुझसे कोई पापकर्म न हो और मेरी रक्षा सब देव करें ॥ ४ ॥

मयि देवा द्रविणमा यजन्तां मय्याशीरस्तु मयि देवहूतिः ।

देवा होतारः सनिपथ एतदर्दिष्टाः स्याम तुन्वा सुवीराः

॥ ५ ॥

दैवीः पृथ्वीरु नः कुषोत विश्वे देवास इह मादयन्म ।

मा नो विददभिमा यो अशस्तिर्मा नो विददृजिना द्वेष्या या

॥ ६ ॥

तिस्रो देवीर्महि नः शर्म यच्छत प्रजायै नस्तन्वेऽ यच्च पुष्टम् ।

मा हांस्महि प्रजया मा तन्भिर्मा रधाम द्विपते सोम राजन्

॥ ७ ॥

उरुष्यचा नो महिषः शर्म यच्छस्मिन्धर्वे पुरुहुतः पुंरुक्षु ।

स नः प्रजायै हर्षश्च मुदेन्द् मा नो रीरिपो मा परा दाः

॥ ८ ॥

घाता विघाता हर्षनस्य यस्पतिर्वेवः संनिताभिमातिपाहः ।

अद्रित्वा रुद्रा अश्विनोभा देवाः पान्तु यजमानं निर्ऋतास्तु

॥ ९ ॥

अर्थ— ( देवाः मयि द्रविणं आयजन्तां ) देव मेरे लिये बन देंगे । ( मयि आशीः, मयि देवहूतिः अस्तु ) मुझमें आशीर्वाद और मुझमें देवताओंको पुकारनेको शक्ति रहे । ( देवा होतारः नः यत् सनिपन् ) दिव्य होतागण हमें पड़ें ॥ ५ ॥ हन ( तन्या अरिष्टाः सुवीराः स्याम ) अपने अरोरों को नोरोय और उत्तम और बनें ॥ ५ ॥

( दैवीः पृथ्वीः ) हे दिव्य छः बड़ी दिशाओं । ( नः उरु कुषोत ) हमारे लिये विशाल स्थान बनाओ । हे ( विश्वे देवास ) सब देवो । ( इह मादयन्म ) यहां हमें आर्पित करो । ( अभिमाः नः मा विदत् ) विस्तेजता हमें न प्राप्त हो । ( अशस्तिः मा नः ) अशक्ति हमारे पास न आवे, ( या द्वेष्या वृजिना नः मा विदत् ) जो ईर्ष्य करने योग्य पाप हैं वे हमारे पास न आवें ॥ ६ ॥

हे ( तिस्रः देवीः ) तीन देवियों ! तुम ( नः महि शर्म यच्छत ) हमें बड़ा सुख प्रदान करो । ( यत् च पुष्टं नः तप्ये प्रजायै ) जो कुछ योग्य परार्थ हैं वे हमारे अरोरोंके लिये और प्रजाके लिये दो । ( प्रजया मा हांस्महि ) हम तंतविले हीन न हों और ( मा तन्भिः ) अरोर भी हय न हों । हे ( राजन् सोम ) राजा सोम ! ( द्विपते मा रधाम ) शत्रुके कारण हम पीड़ित न हों ॥ ७ ॥

( उरुष्यचा पुरुहुतः महिषः अश्विन हवे नः पुरुक्षु शर्म यच्छतु ) विशाल शक्तिमान्ता प्रवर्तित देव हन यत्नमें हमें बहुत अन्नपुत्र सुख देंगे । हे ( हर्षश्च इन्द्र ) रसहरणशोक क्षिणवाले देव ! ( नः प्रजायै मूज ) हमारी प्रजाके लिये मूज दे ( नः मा रीरिपो ) हमारा नाश न कर । ( मा परा दाः ) हमें मत व्याप ॥ ८ ॥

( घाता विघाता ) फारक और निर्माण करनेवाला, ( यः भुवनस्य शक्तिः अभिमातिपाहः सचिता देवः ) जो भुवनका पातक सम्प्रातक परमेशी अन्नको जीतनेवाला देव है, ( आद्रित्वा रुद्राः ) आक्रिय और पड़, तथा ( उमा अश्विना ) दोनों अश्विनोहृमार से सब देव ( निर्ऋतास्तु यजमानं पान्तु ) विनाशसे यजमानको बचावें ॥ ९ ॥

भाषार्थ— सब देव मुझे धन्य मानें, जगका आशीर्वाद मेरे ऊपर हो, देवोंकी उपासना करनेकी शक्ति मेरे मर्मे स्थिर हो । यह निष्ठा देवोंकी कृपासे हमें प्राप्त हो ॥ ५ ॥ अपने अरोरोंसे नोरोय और स्वस्थ होते हुए उत्तम और बनें ॥ ५ ॥

दिव्य दिशाये हमारे लिये विस्तृत स्थान देंगे । सब देव हमें आतमित करें । विस्तेजता, अशक्ति तथा धृति पातक हमसे दूर हों ॥ ६ ॥

तीन देवियां हमें बड़ा सुख ॥ ७ ॥ हमारा अरोर और हमारी प्रजा पुष्टिको प्राप्त हो । हमारी प्रजा और अरोर नष्ट न हों और शत्रुतासे हम पीड़ित न हों ॥ ७ ॥

विशाल शक्तिमान्ता ईश्वर हमें उत्तम सुख देंगे । हमारी प्रजा सुखी हो, कभी हमारा नाश न हो और हम कभी विमग्न न हों ॥ ८ ॥

ईश्वर तथा शक्ति शान्ति सब धन्य देव हमें पापसे बचावें ॥ ९ ॥

ये नः सपत्न्या अप ते मवन्तिवन्द्रामिभ्यामव बाधामह एनान् ।

आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेचारंषधिराज्यमक्रु

॥ १० ॥

अर्वाश्चमिन्द्रममुतो इवामहे यो गोत्रिद्वन्द्विदंश्चजिवः ।

इमं नो यत्नं विद्वेदे शृणोत्वस्माकमधूर्दयश्च पेदी

॥ ११ ॥

अर्थ— ( ये नः सपत्न्याः ते अप भवन्तु ) जो हमारे बरी हैं वे दूर हो जायें, ( इन्द्रामिभ्यां एनान् अप बाधामहे ) इन्द्र और अग्नि की सहायतासे इनको हम रोकते हैं । ( आदित्याः रुद्राः उपरिस्पृशः ) आदित्य, रुद्र और ऊपरके स्वर्गको स्पृश करनेवाले सब देव ( नः उग्रं चेचारं अधिराजं अक्रुत ) हमारे लिये उग्र चेतना देनेवाले रुद्र अधिराजको बरते हैं ॥ १० ॥

( यः गोत्रिद्वं घनजित् यः मध्वजित् ) ओ यो, घन और घोषोंको जीतनेवाला है उस ( अर्वाश्च इन्द्रं अमुतः वचामहे ) पातवाले इन्द्रको हमारी स्तुति करते हैं । वह ( नः विद्वेदे इमं यत्नं शृणोतु ) जितने स्पर्धामें लिये गये हमारे इस प्रयत्नको सुने । हे ( ह्यर्थं ) रत इन्द्रजीक किरणवाले देव ! ( अस्माकं मेदी अभूः ) तू हमारा लैही हो ॥ ११ ॥

भावार्थ— जो हमारे बरी हैं वे हमसे दूर हों, इसलिये सन्मूर्खोंको हम रोकते हैं । तथा अधिराज आदि सब देव हमारे लिये उग्रम तैजस्वी और बुद्धियान् राजा हैं ॥ १० ॥

जो गी, घोड़े, ज.वि विजिव धर्मोंकी देनेवाला है, उस प्रभुकी हम अपने अन्तःकरणसे स्तुति करते हैं । हे प्रभो ! वह हमारी प्रार्थना धुनकर हरएक स्पर्धामें हमारी सहायता कर और हमारा लैही बन ॥ ११ ॥



## विजय-प्राप्ति

### अपने विजयकी प्रार्थना

इस सुक्तमें अपने विजयके लिये ईश्वरकी अतिशय प्राप्त करनेकी इच्छा प्रकट की है । मनुष्य प्रायः हरएक लक्ष्य किसी न किसी स्पर्धामें लगा रहता है । वह जीवन ही एक प्रकारकी स्पर्धा है । इस स्पर्धामें विजय प्राप्त करनेकी इच्छा हरएक मनुष्यमें रहती है, परंतु उस विजयको प्राप्त करनेके लिये किस प्रकारके विचार मनमें धारण करने चाहिये, बुद्धिमें मौनसे संकल्प स्थिर करने चाहिये और शरीरसे शौचसे कलने चाहिये, इसका विचार मनुष्य नहीं करता बल, बुद्धि, चित्त आदि अन्तःशक्तिबोधों तथा शारीरिक मांस भक्षिद्वयोंके उत्तम सहकार्य और उत्तम प्रभावसे ही मनुष्यकी विजय हो सकती है । इससे स्पष्ट होता है विजय प्राप्त होना संभव न होना अपनी दक्षिणपर ही निर्भर है । बुद्धि, धन और बलमें जो विचार जाग्रत होते हैं उनके ही परिणाम सब भयवा पराजय है । अर्थात् मनमें विजयी विचारोंके होनेसे विजय और हीन विचारोंके होनेसे पराजय होती ।

इसका संबंध ऐसा है कि, मनके सुभाषण विचारोंके अनुसार शरीरसे सुभाषण कार्य होते हैं और उनका अन्तिम परिणाम करनेवालेय निपत्तानुसार विजय भयवा पराजयमें मिलता है । इसलिये विजयी विचार मनमें सदा धारण करने चाहिये, जिससे विजय प्राप्तिकी संभावना हो । इस सुक्तमें विजयी विचार दिये हैं, जिनकी मनमें धारण करनेसे मनुष्यकी निःसन्देह विजय होगी, ये विचार इस प्रकार हैं ।

### विजयी विचार

विजयी विचार मनमें धारण करने चाहिये, हीन और लुब्ध विचार उन्नाहि घामें जाने नहों देने चाहिये । इस सुक्तमें प्रारम्भसे अन्ततक विजयी विचार कहे हैं । इसलिये इस सुक्तके मनमें मनमें विजयी विचार स्थिर रह सकने हैं और मनुष्यकी विजय निःसन्देह हो सकती है । ये विजयी विचार अब देखिये—

१ विद्वेदेषु मम पदः अस्तु । ( मं. १ )

२ वृत्तनाः जयेम । ( मं. १ )



‘युद्धोंमें मेरा तेज प्रकाशित होने और हम युद्धोंमें शत्रुओंकी सेनाओंको पराजित करें।’ यह मनस विषय होता चाहिये। मनमें ऐसे विचार रखने चाहिये कि मैं शत्रुका पराभव अवश्य ही करूँगा और विजय संपादन करूँगा।

३ एतान् अयं वाधामहे । ( मं. १ )

‘इन शत्रुओंका हम पूर्ण प्रतिबंध करेंगे।’ अर्थात् किसी भी मार्गसे शत्रुको जानेसे रोकेंगे और आये बधने नहीं देंगे। इस मंत्र भागसे अपनी युद्धविषयक तैयारी कंठो रहनी चाहिये, इस विषयकी सूचना मिल सकती है। हुरएक मार्गसे आनेवाले शत्रुओंको रोक रखनेके लिये अपनी विशेष ही तैयारी चाहिये। मनुष्यको अपने शत्रुओंको इस प्रकार रोक रखनेके लिये जितनी तैयारी रखनी चाहिये उतनी तैयारी हुरएक मनुष्य रखे और शत्रुसे अपना बचाव करे। जिसकी इतनी तैयारी रहेगी वही युद्धोंमें विजय प्राप्त कर सकेगा। इस विजयके विषयमें व्यक्ति के लिये क्या और राज्य के लिये क्या दोनोंके कार्यसेमोंके छोटे और बड़ेके अनुसार शत्रुको रोक रखनेकी तैयारी विशेष ही दीजिते करनी आवश्यक है। इस प्रकारकी पूर्ण तैयारीसे विजय प्राप्त होनेपर ही कह सकता है कि—

४ चतस्रः प्रविशः सखं नमन्ताम् । ( मं. १ )

‘चारों दिशाओंमें रहनेवाले लोग मेरे सामने नम्र होकर रहें।’ अर्थात् हमारे ऊपर हमसा करनेकी शक्ति और इच्छा उनमें अवस्थित न रहे। इस प्रकार—

५ मम अन्तरिक्ष उक्तोर्लोकं अस्तु । ( मं. ३ )

‘मेरा अन्तरिक्ष विस्तृत स्थानबद्ध होवे।’ हुरएक मनुष्यके लिये अपना अपना अन्तरिक्ष छोटा या बड़ा उसकी कर्तृत्व शक्तिके अनुसार रहता है। जो प्रसन्न पुरुषावाँ होता है उनके लिये संपूर्ण जगत्के समान विशाल अन्तरिक्ष होता है और आत्मो तथा आत्मपातकी लोगोंके लिये घट्ट हो छोटा अन्तरिक्ष होता है। अपने अधिकारके ऊपर चित्ता अन्तरिक्ष है और अपना शासन कितने अन्तरिक्षपर है, इसको देखकर मनुष्य अपनी योग्यताका निश्चय कर सकता है। मानो, यह एक अपनी परीक्षाको उत्तम कसौटी हो है। पाठक आपकी भावनाओंकी परस्पर संगति देखने, जो आपको विजय प्राप्त करनेके विषयमें बहुत बोध प्राप्त हो सकता है। इस विजयके लिये अपने शत्रुको दूर करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है, इस विषयके लिये निर्मासित कादेश देखिये—

## शत्रुको दूर करना

शत्रुको दूर करना, उसकी छायामें स्वयं न जाना, शत्रु दूर कर रखना और उसकी जड़ने न देना, यह विचार लिये मनुष्यको धैर्य आवश्यक है, इस विषयमें मैं मंत्रमें देखिये—

६ सपाना अप भवन्तु । ( मं. १० )

७ दुरस्यावः निपताः अपाजः यन्तु । ( मं. १ )

‘वैरी दूर हों, तथा दुष्ट जीव नीच पतिते मोक्षो भक्त पावें।’ अर्थात् वे अपना तिर ऊपर न करें। तथा भक्त देखिये—

८ अभिभाः अशक्तिः द्वेष्या घृजिना मा नो विदुः । ( मं. ६ )

‘निवेसता, मर्जीति और द्वेष करने योग्य दुष्टिता हमारे पास न आवे।’ अर्थात् वे आन्तरिक शत्रु दूर रहें इनमेंसे कोई भी शत्रु अपना तिर ऊपर न कर सके। ईश्वरभावाँके व्यक्तिके अन्तर्गत और राज्य तथा समाज अन्तर्गत और राष्ट्रके सब शत्रुओंकी हानि करनेको सूत्र मिलती है। अपना विजय प्राप्त करनेवाले मनुष्यको जब है कि वह हानि सब शत्रुओंकी अपने प्रयाससे दूर करे और अपने अशुभकर भाव दूर करे।

## कामनाकी पूर्ति

अपनी विजय करना और शत्रुको दूर करना यह सब अपनी कामनाकी पूर्तिके लिये ही है। मनुष्यके अन्तःकरण कुछ विशेष कामना होती है, उसकी पूर्ततामें ही जीवन सार्थकता है ऐसा प्रसन्न होता है; अन्यथा वह अपने जीवनके निरर्थक समझता है। इस विषयमें मनुष्यकी इच्छाएं कि प्रकार होती हैं यह देखिये—

९ मखं अस्मै कामाय पातः पयताम् । ( मं. ३ )

१० यानि मम इष्टानि मखं यजन्ताम् । ( मं. ४ )

११ मे मनसः आकृतिः सरया अस्तु । ( मं. ४ )

१२ वेद्य मयि द्रविणं, आशीः,

वेद्यकृतिः च भः यजन्ताम् । ( मं. ५ )

१३ विद्यो वेद्योः नः महि शर्म यच्छत । ( मं. ७ )

१४ नः प्रजये मृदः । ( मं. ८ )

‘मेरी इस कामनाके अनुकूल शान्ति अवस्था प्राप्त पते। जो मेरे इष्ट मनोरथ हों, वे पारिपूर्ण हों। मेरे मनके लाल सफल हों। सब वेद मुझे दान, आशीर्वाद और वैद-

मिलते हैं। तीन देवियाँ अर्थात् मातृभूमि, मातृमाया और मातृसम्पत्ता मुझे बड़ा सुख मिलें। ईश्वर हमारी सब प्रजाओं को सुखी करे।' इस प्रकारकी कामनाएं प्रत्येक हृदयक मनुष्य-के अंदर मूनाधिक प्रभावसे रहती हैं। मनुष्यका सुख और दुःख इन कामनाओंकी मूनाधिक प्रतिफल अवलम्बित है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह अपनी कामनाएं धूम ही रखे और उनमें कोई अशुभ बाधना न रहे, ऐसी मनकी उच्च अवस्था बना दे। उचितिके लिये इसकी बड़ी चारों आवश्यकता है। इस प्रकार भावनाकी सुदृढताके लिये ईश उपासना करना आवश्यक है, इस हेतुसे कहा है—

### ईश्वर उपासना

१५ इन्द्र हवामहे । ( म ११ )

'प्रभुकी प्रार्थना और उपासना हम करते हैं। ईश्वर सब ओष्ठ गुणोंसे सज्जित है, इसलिये उसके गुणोंका मदन करनेसे मनुष्यके मनकी भावना बृद्ध होती है, कामना निर्दोष होती है और सकल वृद्ध होते हैं। यही बात निम्नलिखित मन्त्रभाष्यमें कही है—

### निष्ठाप उपासना

१६ मद् कतमश्चन एनं मा नि नाम् । ( म ४ )

'मैं किसको प्रणमन करता हूँ या बड़ा पाप न करके अवस्था पावके पास भी नहीं जाऊँ।' लक्षमें कहा है कि 'पापके पास नहीं जाऊँ' यह बड़ा भारी उच्च विचार है। जो मनुष्य ऐसा विचार करेगा वही उचितिके पथपर चल सकता है। स्वयं पाप करना और बात है और पापके पास जाना भिन्न बात है। स्वयं पाप करनेकी अवस्था पापके पास जाना रहती है। मनुष्य प्रत्येक पापकर्मका वर्जन करता है, परन्तु दूसरेका विना पापकर्म देखता है, तबतक स्वयं प्रवृत्त होता है। यह पापकी परंपरा है, अतः मनुष्य को उचित है कि पापकर्मकी ओर ही मनुष्य न जावे। इस प्रकार निष्ठाप होकर मनुष्य ईश्वरकी प्रार्थना करे कि—

### ईश प्रार्थना

१७ इमं पक्षं निह्वे शृणोतु । ( म ११ )

'इस उपासना का स्तुति प्रार्थनाप्रत्येकको ईश्वर सुने।' अर्थात् जो प्रार्थना मैं कर रहा हूँ उसको परमेश्वर सुने। यही पाठक स्मरण रखे कि परमेश्वर उसकी ही प्रार्थना सुनता है जो पूर्वोक्त प्रकार निष्ठाप होकर श्रद्धापूर्वी रहते हुए उचितिके मार्गसे जाना चाहता है। इस प्रकारके मनुष्यको

देवताओंकी सहायता अवश्य मिलती है, इसीका भविष्यकार है कि ये देवताओंकी सहायता चाहे, इस समय इन उपासकोंका विचारित किस प्रकारका होता है यह बात निम्नलिखित मन्त्रभाष्यमें देखिये। हृदयक मनुष्य यद्यपि यज्ञका चापी बननेके लिये देवताओंकी सहायता चाहता और प्रार्थना करता है, तथापि पूर्वोक्त प्रकार बुरा और वज्र बनने हुए मनुष्यको ही इस सहायता मिलती है।

### देवीकी सहायता

प्रथम मनुष्य तत्काल समयमें देवताओंकी सहायता चाहता हो है। यदि पूर्वोक्त प्रकार आत्मशुद्धि करके देवताओंकी सहायता मनुष्य चाहेगा, तो नि सन्देह उसको वह सहायता मिल सकेगी। इस विषयमें इस तत्कालके कथन देखने योग्य हैं—

१८ निह्वे सर्वे देवा मम सन्तु । ( म १ )

१९ इह विभ्येदेवाः मा ममिरुदन्तु । ( म ४ )

२० विभ्येदेवासः इह मादयध्वम् । ( म १ )

२१ धाता विधाता भुवनस्य यस्यतिः मय्ये च देवाः निर्मेयात् पन्तु । ( म ७ )

२२ मस्मिन् ह्ये पुनरुतः प्रहियः

पुनरुतः शर्म यच्छतु । ( म ८ )

२३ नसाक मेरी नभू । ( म ११ )

२४ देवीः पद उर्वीः नः उरु कुणोत । ( म ६ )

२५ एतेषां मय्युं प्रतिनुदन् न विभ्यतः परिपाहि ।

( म २ )

'युद्धके प्रलयमें सब देव मेरे हों। तबसे देव मेरी रक्षा करें। सब देव यही देना आकाश पड़ावे। धाता, विधाता, भुवनस्यति और अन्य देव तुमसे हमारी रक्षा करें। इस युद्धके समय बहुत प्रसन्नित समस्त शत्रु बहुत भोगपुष्टि सुख हमें दें। शत्रु हमारा दहक हो। विभ्ये च विताप हमारे लिये बड़ा विरुद्ध कार्यसेन बनावे। शत्रुओंको कोप बुर करके हमारे सब प्रकारसे रक्षा करें।'

शत्रुओंको दूर करनेके विषयमें यही इच्छाओं मनुष्यके मनमें रहती है। विभव प्राप्ति करनेके लिये मनुष्यको भी अपने मनमें यही इच्छाएं प्राप्ति करने चाहिये। पूर्वोक्त मन्त्रभाष्यमें अन्तिम वाक्यमें 'मनुष्यको कोप दूर करनेकी प्रार्थना' है। यह प्रार्थना विभ्ये मनुष्यकी है। 'मनुष्यको कोप दूर करके उदकी सुदृढता कर' यह भाष्य इस प्रार्थना में है। शत्रुके ज्ञान करनेकी प्रेरणा शत्रुके कोषादि युद्धसाधन दूर कर उसे बला आश्रयो बनाया धन्य है। इस युद्धिये यह उपदेश मनन करने योग्य है।

## राजप्रबंध

अपने राजप्रबंधकी उत्तमतासे विजय प्राप्त होनी है और राज्यशासनकी अक्षय्यतासे शान्ति होनी है, इसलिये शासक राजाके गुणधर्म कैसे होने चाहिये इस विषयमें ब्रह्म पन्थका एक वाक्य धनपूर्वक देखने योग्य है—

२६ देवा चेत्तारं उग्रं अधिराजं गजत । ( म १० )

'सब देव सेतना देनेवाले शूर और राजाको हमारे लिये यहाँ' अर्थात् हमारा राजा ऐसा हो, कि यह प्रजापति सेतना और नवजीवन सम्भारित करे और स्वयं शूर और, प्रतापी और तेजस्वी हो। राष्ट्रमें तेजस्विताका स्फुरण उत्पन्न करनेवाला राजा हो, प्रजाका सेज बन करनेवाला राजा बनावि राक्षसीवर न आवे। विजय प्राप्त करनेके मार्गपर चलनेवालोंको इस उपदेशका महत्त्व समझनीसे ध्यानमें आ सकता है।

## शारीरिक बल

विजय प्राप्तिके लिये शारीरिक बलमहाना और मानसिक तथा बौद्धिक शक्तिका विकास करना आवश्यक है।

इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्रज्ञान देखिये—

२७ तन्वं पुषेम् । ( म १ )

२८ तन्वा अरिष्टा सुवीरा इयाम् । ( म, ५ )

२९ नः सन्धे प्रजायै पुष्टम् । ( म, ७ )

३० तन्मीमः प्रजया मा दासिपम् । ( म, ७ )

३१ नः मा रीरिपः । ( म ८ )

'अपने शरीरका बल बढ़ायें और उनको पुष्ट करें। शरीरसे दुर्बल न होते हुए हम उत्तमवीर बनें। हमारे शरीर और समान पुष्ट हों। हमारे शरीर और सन्तान होने और योग्य हों। हम दुर्बल न हों।' इस प्रकार शारीरिक बल और पुष्टि बढ़ानेकी सूचना देनेवाले मन्त्रभाग द्वारा सूचित हैं। इस सब मन्त्रभागोंका क्रमपूर्वक मनन करनेसे ध्यानमें यह था उकता है कि इस सूक्तमें विजय प्राप्तिके साधन किस प्रकार कहे हैं। अर्थात्, समान और राष्ट्रके विजयके सामन-का इस सूक्तमें किया हुआ उपदेश यदि मनमें धारण किया जाय और इन उपदेशोंके अनुकूल आचरण किया जाय तो विजयका मार्ग सराके लिये खुला और भयरहित हो सकता है।

## निष्कामी लीला पराक्रम

कांड १, सूक्त २७

( मन्त्रिः - अध्वर्युः । देवता - इन्द्राय । )

अम्। पारे वृद्धाक्षिप्रा निर्जरायवः ।

वासो जुश्वनिर्ममरुपावृषिं व्ययामस्यवायोः परिपन्थिनः ॥ १ ॥

विपूष्येतु कुन्तती पिनाकमिव विभ्रंती । विष्वक्पुनर्भुज मनोऽस्तपृद्धा अथायवः ॥ २ ॥

अर्थ—( अम्। पारे ) वह पारमें ( निर्जरायवः ) शिल्लीसे निकली ॥ ( वि- उताः ) तीन पुत्रा साथ अध्वर्यु इन्द्राय ( वृद्धाक्षः ) धर्मविषयोंके समान तेजस्वी है । ( वासो ) ऊरवी ( जरापुमि- ) कुन्तियेति ( पयं ) हय ( अथा- योः परिपन्थिनः ) पारो दुष्टपशुको ( अध्वर्यो ) दोनों पक्षों ( अपि व्ययामस्य ) उक्त करते हैं ॥ १ ॥

( पिनाक इय पिभ्रंती ) प्रमुख कारण करनेवाली और शत्रुको ( कुन्तती ) काटनेवाली शरीरेवा ( विपूषी पशु ) बारी धोरेसे भगने नई । जिससे ( पुनर्भुजाः ) फिर इन्द्रको भी हुई प्रभुसेनाका ( मनः विपृद्ध ) मन इतर उतर हो जाले और उतले ( अथायवः ) पत्नी पशु ( असन्तुष्टाः ) निर्बल हो जाले ॥ २ ॥

भाषार्थ— देवुसीसे बाहर आयो हुई सर्पियोंके समान चपल तेजस्वी तीन पुत्रों साथ दिव्यगर्भों विभक्त होकर युद्धके लिये सिद्ध है, उनको हृत्पक्षोंसे हम सब पापी दुष्टोंकी आँखें बंद कर देते हैं ॥ १ ॥

यद्यपि धारण करनेवाली और शत्रुको काटनेवाली शरीरोंकी सेना पारों विजयार्थों भगने नई, जिससे शत्रुसेनाका मन तितर तितर हो जावे और सब पापी पशु निर्बल हो जायें ॥ २ ॥

न बहवः समशकुनार्मका अभि दाधृषुः । वेणोऽद्रा इनाभितोऽसमृद्धा अघाधवः ॥ ३ ॥  
प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वदंतं पृणतो मुहान् । इन्द्राण्येति प्रथमाजीनार्धपिता पुरः ॥ ४ ॥

अर्थ— ( यद्वाः न समशकुनः ) बहुत शत्रु भी उनके सामने डर नहीं सकते । फिर ( अर्धकाः ) जो धातक हों वे ( न अभि दाधृषुः ) धैर्य ही नहीं कर सकते ( वेणोः अद्राः इय ) बाघके भंडुरोके समान ( अभितः ) सब मोरके ( अघाधवः ) पाणोलोक ! असमृद्धाः ) निर्धन होंगे ॥ ३ ॥

हे ( पादौ ) दोनों पाँवों ! ( प्रेतं ) मर्ते बड़े, ( प्र स्फुरतं ) फूँटें करो, ( पृणतोः मुहान् वदंतं ) सजीव देहवाले परोके प्रति हमें प्रवृत्त । ( अजीता ) बिना जीते, ( अमुषिता ) बिना लड़े हुई और ( प्रथमा ) मुखिया बनी ॥ ( इन्द्राणी ) महारानी ( पुरः पतु ) सबके आगे बढ़े ॥ ४ ॥

भाषार्थ— ऐसी मूर मोराने सेनाके सम्मुख बहुत शत्रु भी डर नहीं सकते फिर कमजोर धातक कैसे हार सकते ? बाघके समान और समस्त भंडुरके समान चारों ओरसे पानी शत्रु पक्षसे होकर नष्टकी प्राप्त हों ॥ ३ ॥

विजयी अथवाजित और न लड़ी गई और सभी महारानी मुखिया बनकर आगे बढ़े, इतर लोग उनके पीछे चले, हरएक वीरके पाँव आगे बढ़े, शरीरमें फूँटें बढ़े और सब लोग संतोष ब्रह्मदेवातेके परितक प्रवृत्त जाय ॥ ४ ॥

## विजयी स्त्रीका पराक्रम

### इन्द्राणी

‘ इन्द्र ’ शब्द राजाका वाचक है अंता वरेन्द्र ( मनुष्यों-का राजा ), मृगेश ( मृगोंका राजा ), सकेन्द्र ( पक्षियोंका राजा ) इत्यादि । केवल इन्द्र शब्द भी राजाका ही वाचक है, और ‘ इन्द्राणी ’ शब्द इन्द्रकी रानी, राजाकी रानी, महारानी, राणी ’ का वाचक है । यह इन्द्राणी सेनाकी प्रेरक देवी है यह बाण संतरीय संहितामें कही है—

इन्द्राणी वै सेनायै वेषता । ( त. व. २।३।८।१ )

‘ इन्द्राणी सैन्यकी वेषता है । ’ क्योंकि इसकी प्रेरकाने सैनिक अपना पराक्रम दिखाते और विजय प्राप्त करते हैं ।

### वीर स्त्री

‘ इन्द्राणी स्यात् रानी सेनाकी मुखिया बनकर सेनाको प्रोत्साहन देती ॥ आगे चले, हरएकके पास आगे बढ़े, हरएकका मन उत्साहसे युक्त रहे, संतोष ब्रह्मदेवाते तत्त्वज्ञानके चरीमें ही लोग जाय । ’ परंतु भी लोग सतोषको कद करने वाले, उत्साहका नाथ करनेवाले, और पनकी अघातका पात करनेवाले हों उनके पास कोई न जाये, क्योंकि ऐसे लोग अपने हीन भावसे मनुष्योंको निश्छादित ही करते हैं । यह भीसे संयत्ता भाव विचार करने योग्य है ।

जिस राज्यमें विजया भी वेसी मूर और दस होंगी, मूर राज्य सदा विजयी ही होगा इसमें क्या संदेह ? जिस देशमें विजया सेनाकी चला सकेगी, उस देशके पुत्र कितने मूरमोर कैसे वीर होंगे । क्या वेसी वीर विजयोंकी कोई हीन धनदाता आसानी पसकर सकता है और ऐसी मूर विजयोंकी किसी स्थानवर कोई बेइच्छता कर सकता है । इसलिये आत्मसमान रहनेको इच्छा करनेवालोंको उचित है, कि वे स्वयं सर्व जगत् और अपनी विजयोंको भी ऐसी किता हैं कि वेभी मूर-वीर बनकर अपने संवादकी रक्षा कर सके ।

‘ हमने ग्रहण धारण करती हुई, शत्रुको काटती हुई आगे बढ़े, जिसका वेध देखकर शत्रुका मन उत्साहद्विष्ट होवे और शत्रु निर्वन् अर्थात् परास्त हो जावे । ’ यह द्वितीय मंत्रका भाव भी अनुभूतिपूर्वकसे साध देखने योग्य है । क्योंकि यह मंत्र जो वीर शत्रुका पराक्रम ही बता रहा है । ॥ तेनाक वर्णन करता हुआ भी वीर शत्रुका वर्णन करता है । ( मं. २ )

वीरस्त्रियोंको जयका केबुलने निकली ॥ सर्वजनोंसे इस सुखमें ही है । स्वभावतः स्त्रियाँ बड़ी प्रेक्षणी ही हैं और जति कुतर्कित शत्रुवर हथका करते हैं । परंतु जिस समय यह केबुलके बहुर आती है उस समय नितितनकी और नति-कपल रहती हैं क्योंकि इस समय यह नक्षत्रोपगते युक्त होती

है। बीर स्त्री ऐसी हो जाती है। स्त्री स्वभावतः पचत होती है, परन्तु जिस समय कामेच्छा राष्ट्रीय आर्षचिते प्रेरित होकर, आत्मसमानकी रक्षाके लिये कोई बीर स्त्री अपने अतृणहृत्पुत्रों के लोकोत्तरे बहिर आती है, उस समय उसकी तेजस्वित्वाका वर्णन क्या करना है? वह उस समय सधनुष सर्पिणीकी भाँति चमकती हुई, बिजलीके समान तेजस्विनी बनकर बोरसेनागर्जनोंको प्रेरित करती है। उस समयका उदाहाह बीर पुरुष हो कल्पनामें जान सकते हैं। 'उसके तेजसे शत्रुकी आँखें हो अंधी बन जाती हैं' और उसके सब शत्रु नि सन्न हो जाते हैं। ( अ. १ )

सहा ऐसी बीरारंगनाएँ सचमें हैं उन लोगोंके सामने बड़े बड़े शत्रु भी डहक नहीं सकते, फिर अल्पशक्तिवाले कमजोर मनुष्योंकी बात ही क्या है? हासके अक्षुर्बलके समान उनकी शत्रु नष्टभय हो हो जाते हैं। ( अ. १ )

### शत्रुबाधक शब्द

इस वृत्तमें शत्रुबाधक कुछ शब्द हैं उनका विचार यहां करना आवश्यक है—

१ अघायुः = आयु भर पाप कर्म करनेवाला।

२ परिपुत्रियमः = बटमार, बुरे भावसे चलनेवाला।

पापोभोग्य मे हं भीर इन्के बुरे आचरणके कारण ही मे शत्रुत्व करने योग्य हूँ। 'असमृद्धः अघाययः' यह शब्द प्रयोग इस वृत्तमें बीरार भाषा है। 'पापी समृद्धिसे रहित होते हैं।' यह इसका भाव है। पापसे कभी वृद्धि नहीं होगी। पापसे मनुष्य गिरता ही जाता है। यह भाव इसमें देखने योग्य है। जो मनुष्य पाप कर्म द्वारा बनाइय बनना चाहते

हैं उनको यह सन्तान देखना योग्य है। यह मम उपवेश दे रहा है कि 'पापी कभी उन्नत नहीं होगा,' यदि किसी अवस्थासे वह घनवान् हो नो जाए तो वह उसका पुत्र उसके नाशका हो हेतु बनवा। तात्पर्य, परिणामकी दृष्टिसे यह स्पष्ट हो सगहना चाहिये कि पापी लोग भयस्य ही नाशसे प्राप्त होंगे।

### तीन गुणा सप्त

वेलाके तीन गुणा सप्त विभाग हैं। रथयोधी, राजयोधी, अश्वयोधी, पदाती, युगयोधी, जतयोधी तथा कूटयोधी ये सप्त प्रकारके सैनिक होते हैं। प्रत्येकमें अधिकारी, प्रायश्च मुद्रकारी और सहायक तीन गुणा सप्त सैनिक होते हैं।

### निर्जरायु

'जरायु शब्द शिखरी, जलोका वाचक है, परन्तु यहां श्लेषावसे प्रयुक्त है। यहा इसका अर्थ ( जरा + आयु ) बुद्धावस्था जयना योग्यता लिखा पकावट, तथा आयु ( निर्जरा + आयु ) को योग्यता, पकावट, बुद्धावस्था अथवा आयुको पर्याप्त न करने लगेते हैं, जो अपनी अवस्था को तथा युध्दयुध की पर्याप्त न करते हुए अपने यशसे लिये ही लड़ते रहते हैं उनको 'निर्जरायु' अर्थात् 'जरा और आयुके विचारसे पुरत' कहते हैं। जीवितकी भाषा छोड़कर सत्यनेवाले सैनिक।

इस वृत्तके मम दोष स्त्री विषयक तथा वेला। विषयक अर्थ बताते हैं, इसलिये मम विनीय मनुष्यके साथ रहने योग्य है। तथा इसमें कई शब्द स्वेय अर्थके अज्ञानसे भी हैं अज्ञात। उपर बताया है।

## कर्म और विजय

### कांड ७, सूक्त ५०

( अथि. - अगिरा. । देवता - इन्द्र. । )

यथा वृषमग्निर्विधाडा इन्धप्रति । एवाहमय किंतवान् सैर्विध्यासमप्रति

॥ १ ॥

अर्थ— ( यथा अग्निः ) जिस प्रकार विष्णु ( वृक्ष विधाडा अर्थात् इन्द्रि ) वृक्षका संचरा पूर्ण रीतिसे नाश करती है, ( एव मह अग्निः किंतवान् ) वैसे मे आज पापोंके साथ शत्रुओंको ( अग्नि विध्यास ) पूर्ण रीतिसे नाशका ॥ १ ॥

भाषाये— जिस प्रकार विजयते पूर्णका नाश होता है, उस प्रकार मे पापोंके सहित शत्रुओंका नाश करता हूँ ॥ १ ॥

पुराणमहुराणां विद्यामर्जुनीयाम् । समैतुं विद्यतो भगोऽन्तर्हस्तं कर्तुं मयं ॥ २ ॥

ॐ अग्निं स्वावसं नमोभिर्हि प्रसक्तो वि चंपत्कृतं नः ।

रथैरिव प्र मेरे बाजयन्निः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृष्याम् ॥ ३ ॥

युयं जयेम त्वया युजा वृत्तस्माकमेशमुदेवा सर्वभरे ।

अस्मभ्येमिन्द्र वरीयः सुगं कुंघि श द्यन्तृणां मघवन्तृष्यां रुव ॥ ४ ॥

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम् । अग्निं वृक्षो यथा नम्यदेवा मंग्रामि ते कृतम् ॥ ५ ॥

तुव प्रहामविंदीया जयति कृतमिव श्रुती वि चिंनोति काले ।

यो देवकायो न धर्मं रुणद्धि समित्तं शयः संशति स्वधर्मिः ॥ ६ ॥

अर्थ—(तुराणां अनुराणां) तबरा करनेवाली तथा मन्त्र किया सुस्त और (मन्त्रुपीणां पिशां) बुराई करने न करनेवाली प्रजाओंका (अगः विध्यतः समेतु) ऐश्वर्य सब ओरसे इकट्ठा होवे और वह (मम भन्तर्हस्तं कृतं) मेरे हस्तके साधीन होवे ॥ २ ॥

(स्वयं धृष्टिर्नमोभिः ईडे) अपने बिज धनते पुनः प्रकाशक देखी मयस्कारों द्वारा पुनः करता हूँ । (इह प्रसफ्तः तः कृतं विचयत्) यहा रहता हुआ यह देख हगारे किये कर्मको उलो प्रकार बंधित करे, जैसे (पालयन्निः रयैः ॥ प्रमेरे) प्रदनुष रजोते स्वान नर रते हे । यशस्व नं (मरुतां प्रदक्षिणं हतोमं क्षत्र्यां) मरुतांका थोड स्तोन सिद्ध करता हूँ ॥ ३ ॥

( पर्यं त्वया युता वर्त जयेम ) हम-तैरी सहस्राक्षे मुख होकर बोलैबाने प्रभुको जीने । ( भेदे भेदे अस्माकं भंशं उद्ध मय ) प्रत्येक युद्धमें हमारे कार्य-भागको जकड़ रख कर । हे शत्रु । ( अस्मभ्यं वरीयः सुग रुधि ) हमारे लिये वरिष्ठ स्थान सुझते काले शीघ्र कर । हे ( मघवन् ) धनवान् इन्द्र । ( शत्रूणां कृण्या प्र वज ) शत्रुओंके बर्तोंको तोड़ ॥ ४ ॥

(सं लिखितं त्वा अजेयं) हरएक रीतिसे धारणैवाले दुस शत्रुको ये जीत लेता हूँ। (उत संवधे भजेयं) धीर दोखैवाले दुस जेहे शत्रुको भी ने जीतता हूँ। (यथा वर्धे युद्धः मघत्) जैसे धेखी मेघिया मघता है (यथा वे कृतं सभामि) ऐसे ये तेरे लिये शत्रुनव कर्णको ये भव बसता हूँ ॥ ५ ॥

( जत ध्येतदोषा प्रहां जयति ) और अर्थात् विजयेंचु वीर प्रहार करनेवालेको भी जीत लेता है । ( भ्यर्प्री [ स्व-प्री ] काते कृतं इव विचिनेति ) अपने अणक मान करनेवाला युद्ध समझकर अपने लिये हुए करनेकी ही विशेष रीतिसे प्राप्त करता है । ( यः वृक्षकर्मः धनं न रूपयति ) जो वृक्षको तुल्यकी दृष्ट्य करनेवाला पत्थरों केवल अपने लिये ही रोक रखता है । ( सै इत् रायः स्वधाभिः संयुजति ) उसीको सब धन अपनी मारक शक्तिमें उसम प्रकार संयुक्त होता है व ६ ५

भावार्थ—किसी कामको त्वरितो समाप्त करनेवाले, मुसीबती समाप्त करनेवाले और दुर्भाग्यको दूर न करनेवाले प्रजापति होते हैं। उन सब प्रजापतियोंका पन एक स्थानपर जमा होने और वही भेरे हाथमें रहे ॥ २ ॥

मैं ईश्वरजी भक्ति और उपासना करता हूँ। यह वैश्व हमारे कमोंका निरीक्षण करे और जिस प्रकार रपोंसे धन इकट्ठा करते हैं उस प्रकार हमारे सब साधकोंका फल इकट्ठा होवे। उसमें अपनी कच्चे हुए हम उताम सतीशों। गायन करते आनन्दते रहें। ३ ॥

हम ईश्वरको सहृदयतासे सब तपुको बोधे । ईश्वरको कृपासे हरएक युद्धमे हमारे प्रयास सुरक्षित हों । हे देव । हमारे शत्रुजोका नष्ट काम करो भीरु हमें बरिष्पत्यमान सबसे प्रान्त हो ॥ ४ ॥

पीढा देनेवाले और मारने लगावट पैदा करनेवाले शत्रुओं में से होता हूँ। जिस प्रकार भेड़िया भेड़ों को पराजित करता है, वैसे ही मैं शत्रुओं को उन्मूलित करने प्रयत्न कर रहा हूँ। ५०

३२ [ अथर्व. भा. २ यावृ० हिमवी ]

● 1950 年 5 月 1 日

गोमिष्टरेमामिति दुरेवां यवेन वा धुपं पुरुहूत विधे ।

यपं राजसु प्रथमा धनान्वर्भंशासो वृजनीभिर्जयेम

॥ ७ ॥

ऊतं मे दक्षिणे हस्ते जषो मे सन्ध्य आहितः । गोविर्भूपासमभ्यजिद्वेनंजयो हिरण्यजित् ॥ ८ ॥

अक्षार फलवर्ती धुपं दुच मां क्षीरिणीमिव । सं मां कृतस्य धारया धनुः स्वाधैव नहत ॥ ९ ॥

अर्थ—( दुरेवां अमति गोभिः तरेम ) दुर्बलिय कुमतिको गोमति पार करें । हे ( पुरुहूत ) बहुमी द्वारा प्रवृत्तिये । ( पिष्ट्रे यवेन वा धुपं ) और हम सब जोसे भूतको पार करें । ( यपं राजसु प्रथमाः सरिष्टासः ) हम सब राजाओंमें उत्कृष्ट होकर विवाहको न प्राप्त होते हुए ( वृजनीभिः धनानि जयेम ) निज वास्तव्योति धनोको जीते ॥ ७ ॥

( ऊतं मे दक्षिणे हस्ते ) पुरुषार्थ मेरे दाहिने हाथमें है और ( मे सन्ध्य जषः आहितः ) मेरे बायें हाथमें विजय है । अतः मे ( गोविर्भूपासमभ्यजित् ) गोभी और घोमेंका विजय, ( हिरण्यजित् धनंजयः ) भूपासं ) सुवर्ण और पद्मका विजय होज ॥ ८ ॥

हे ( अक्षारः ) मान धिक्कातो । ( क्षीरिणी मां दूय ) दूधवाको गोके समान ( फलवर्ती धुपं दूय ) फलवाली विजयोपा हमें दो । ( अक्षारा धनुः दूय ) जैसे तबड़ेके धनुष्य संयुक्त होता है वैसे ( मां कृतस्य धारया सं नहत ) मनुष्यो कृतकर्मकी धारा प्रवाहसे युक्त कर ॥ ९ ॥

भावार्थ— विजयेश्वर और पातक शत्रुको भी जीत लेता है । भाव्यपात करनवाला मूढ़ मनुष्य अपने ही कर्मकी ही भोगता है । जो मनुष्य देवकार्यके लिये अपना धन समर्पित करता है और ऐसे समयमें अपने पास पौक नहीं रखता, उसीको विजय धन प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

सुरति और कुमतिको गोभीकी रक्षा करके हटा दें । इसी प्रकार जीते भूतको हटा दें । हम राजाओंमें उत्कृष्ट राजा हैं और निजवास्तव्योति पदंष्ट धन कमायें ॥ ७ ॥

मेरे दाहिने हाथमें पुरुषार्थ है और बायें हाथमें विजय है । इसलिये हम गोवें, घोवें, सुवर्ण और पद्म धन प्राप्त करें ॥ ८ ॥

मानवितान ये मेरी आंखें बनें और उनसे बहुत । देववाली पीके समान उत्तम फल देनेवाली विजयेश्वर हममें स्थिर रहे । निज प्रकार तांत्रिके धनुष्यके नोनों नीक बूटें रहते हों, उस प्रकार मेरा पुरुषार्थ मूलें फलके साथ बांध लें ॥ ९ ॥

## कर्म और विजय

### पुरुषार्थ और विजय

इस युक्तिका सप्तम मंत्र हरद्विको सदा ध्यानमें धारण करने योग्य है, उसका पाठ ऐसा है—

ऊतं मे दक्षिणे हस्ते जषो मे सन्ध्य आहितः ।

गोविर्भूपासमभ्यजिद्वेनंजयो हिरण्यजित् ॥ ( मं. ८ )

‘ पुरुषार्थ प्रयत्न मेरे दाहिने हाथमें है और विजय मेरे बायें हाथमें है । इससे मैं गोवें, घोवें, धन और सुवर्णको जीत कर प्राप्त करवेवाला होज । ’

मनुष्यको वही विचार मनमें धारण करने चाहिये और उसको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि अपने प्रयत्नसे अपनी

विजय धारों और होवे । अपनी विजय कहीं बाहरके प्रयत्नसे नहीं होनी है, बल्कि अपने अंदरके बलसे ही प्राप्त होनी । लिये अपने शरीर इतना मजबूत और अपनी विजय ही, इसके लिये प्रयास करना मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है ।

‘ इत, नेता, दापर और कति ’ ये चार प्रकारके मनुष्यके कर्म होने हैं, इनके लक्षण ये हैं—

कलिः ज्ञापानो मयति संज्ञिहानस्तु दापरः ।

उत्तिष्ठंमेता मयति ऊतं संपद्यते चरन् ॥

( ऐ. वा. ७।१५ )

‘ जो ज्ञान कलि है, विज्ञान ज्ञाप दापर है, उत्थित

तैयार होना श्रेता कहलाता है, कार्य करना शुरू करता है । ' अर्थात् सुस्तिते कर्तव्यम् यत्नः ।' और पूर्ण पुण्यार्थके कृत यत्न होता है और बीचकी अवस्थाएँ आपर और श्रेता मध्यकी हैं । कुत, श्रेता, आपर और कर्त्तव्य ये चार नाम पुण्यार्थके चार श्रेणियोंके सूचक हैं । जो पुण्य प्रवृत्त करके अपने हाथमें कृत नामक पुण्यार्थ लेता है, वह दूसरे हाथसे निःशेष पूर्वक विनश्वर प्राप्त कर लेता है । ' कृत' पुण्यार्थ भावों एक बड़े अन्तप्रवाहकी मध्य धारा है, वह धारा निःसंदेह विनश्वर पड़ता है—

कृतस्य धारया सा सं गच्छात् । ( मं ९ )

' कृत नाम श्रेष्ठ पुण्यार्थको प्रवाह धारासे सम्यक्त होकर अर्थात् स्वामको सं पश्य सज्ज । ' कृतनामक पुण्यार्थका लक्षण क्या है ? इसके साथ ' लय, अहिंसा, प्रवृत्त पुण्यार्थ धर्मित, प्रदाम, सत्कृता, पंचे आदि सार्वत्रिक गुणोंका साहचर्य हमेशा रहता है । सत्ययुग कृतयुगको हो कहते हैं । सत्ययुगके मनुष्योंके जो गुण पुराणोंमें वर्णन किये हैं, वेही सार्वत्रिक गुण गुण इस कृत नामक पुण्यार्थके साथ सदा रहते हैं, ऐसा महा समझना चाहिये, तब कृत पुण्यार्थका महत्त्व वाचकोंके सामुख आसकता है ।

' कर्त्तव्य' महा कोई पुण्यार्थ नहीं है, वह प्रत्यक्ष पुण्यार्थहीनताका चिह्नक है । जहाँ वित्तकुल पुण्यार्थ नहीं है वहाँ कर्त्तव्य रहता है, आपसके सपने, अनाचार, अधर्म, अनीति, अपमानका व्यवहार सब इसके साथ रहता है । इससे मनुष्योंकी अपमानित होती है । इसलिये इससे मनुष्योंको बचना आवश्यक है । बीचके दो पुण्यार्थ इन दो स्थितियोंके बीचमें हैं ।

### जुआरीको दूर करो

अपने समाजमेंसे जुआरीको दूर करनेके विषयमें इस सूक्तका परिलक्ष हो मात्र उदा बोधप्रद है, देखिये—

यथा वृक्षमग्निर्विध्वादा हन्त्यप्रति ।

एवाहमप्य कितवान्दैर्घ्यासात्मजम् ॥ ( म. १ )

' बड़े आकाशकी विद्युत् वृक्षका नाश करती है उस प्रकार मैं अपने समाजमेंसे पाशोंके साथ जुआरियोंको दूर करता हूँ । ' समाजमें जुआरियोंको दूर करता हूँ, अर्थात् समाजमें एक ओर जुआरीको नहीं रहने दूँगा । समाजमें जुआरियोंको दूर करना ही समाजके जुआरियोंका बन्ध है । यह कोई शरीरके नाशसे ही होता है और अन्य रीतिसे नहीं होता, ऐसी बात नहीं है । समाजमें धनतक जुआरी रहेंगे, तबतक समाजमें

पुण्यार्थका साधन बढेगा नहीं, क्योंकि छोटे प्रयत्नसे ही धनी होनेका सब जुएसे जनतामें बढता है । अतः समाज पुण्यार्थ होनेके लिये समाजमें जुआरी न रहे, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये ।

### तीन प्रकारके लोग

समाजमें तीन प्रकारके लोग होते हैं, ' सुख, अनुर और लज्जम् ' अर्थात् स्वयंसे काम करनेवाले, प्रत्येक काममें अव्यक्त प्रीतिमान करनेवाले, जसकी जसकी कार्यकारके कार्यको निष्पादनेवाले जो होते हैं वे भी पुण्यार्थके लिये योग्य नहीं होते, क्योंकि वे प्रीतिमान ही हाथमें लिये कामको विचार देते हैं । दूसरे ' अनुर ' अर्थात् शिष्टिप्रिय किंवा सुख, वे अपनी सुखोंके कारण कार्यका विचार करते हैं, अतः वे पुण्यार्थके लिये निकम्मे होते हैं । तीसरे ' लज्जम् ' अर्थात् शर्म करने योग्य बातोंकी भी दूर नहीं करते । वे लोग जो कभी पुण्यार्थ करते अपनी उमति नहीं कर सकते । वे तीनों प्रकारके लोग उदा हीन अवस्थामें ही रहेंगे, इनकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है । इसलिये मध्यमें कहा है कि—

सुराभामनुराणां विशामयर्जुपीनाम् ।

समेतु विभ्यस्य भगो अन्तर्हस्तं कृत मम ॥ ( म. २ )

' प्रीतिमान करनेवाले, सुख तथा सुराहियोंकी भी दूर न करनेवाले वे जो तीन प्रकारके लोग अपनी उन्नतिकी साधना नहीं करते, वे महा दुर्भाग्यमें ही रहेंगे । अतः उनके पास जानेवाला वह मेरे हाथमें रहनेके समान हो जावे, क्यों कि मैं पुण्यार्थ करता हूँ । ' इसका आशय यह है, कि पूर्णतः तीन श्रेणियोंके लोग वे सब दुर्भाग्यमें ही रहेंगे और विश्वके पनबा की भाव उनकी श्राप होना या, वह उनका भाग पुण्यार्थों लोभोंके हस्तगत होता । उदाहरणके लिये यह जान लीजिये कि जल्द से १००-१०० है और पाप पूर्वक तीन श्रेणियोंके युक्त हैं । ऐसा होनेसे उन्नत बन पावे ही पुण्यार्थों लोभोंमें अन्तः प्रयत्न और पाप लोग दुर्भाग्यमें ही रहते रहेंगे । यह मात्र मात्र कृष्टिसे वाचकोंकी विचार करने योग्य है । एक ही समयमें कई लोग पुण्यार्थमें लगे पकते हैं और सुखीसे कई विषय व्यवस्थामें रहते हैं, इसका कारण इस भयमें लज्जामें पतित है ।

सूतोप शर्ममें कहा है कि प्रकाशक देखी हम उपायना करते हैं और उससे पश्चात् भय हमें मिल सकता है । कर्म फलमें भी यही व्यवस्था स्पष्ट हुमा है—



वयं जयेम त्वया युजा । ( अ. ४ )

‘हम तेरे ( ईश्वरके ) साथ रहनेसे विजय प्राप्त कर सकते हैं ।’ ईश्वरके साथ रहनेसे अर्थात् ईश्वरके भक्त होनेसे विजय प्राप्त होती है, यह विजय सच्ची विजय होती है । ईश्वरके साथ भक्त होनेसे यज्ञोपनिषत् प्राप्त होती है । ऐतरेय इस विषयमें पञ्चम मंत्रका कथन यह है—

अजयेयं त्वा संल्लिखितमजैपमुत संरघम् । ( अ. ५ )

‘सुरक्षितवाले अर्थात् विविध प्रकारसे दुःख सेवेबले और रोकटोक करनेवाले दुष्ट जैसे शत्रुको मैं जीत लेता हूँ ।’ अर्थात् ईश्वरभक्त होनेके कारण सब दुष्टों साथ मार्गसे अपने घड़नेके लिये कोई शत्रु नहीं है । मैं अपने पुत्रवार्धते अपनी उत्पत्ति निःसन्देह सिद्ध करूँगा । पुत्रवार्धकी सिद्धता होनेके विषयमें एक नियम है । यह कि धार्मिक दुष्टोंके निर्दोष पुत्रवार्ध प्रयत्न करनेवाला ही जीत जाता है, अन्यथा इसीकी विजय होती है । अमानिस की कुछ बेरके लिये विजय हो भी जाय तो भी अन्तमें उसका नाश निश्चयसे होता है, इस विषयमें यज्ञ मंत्रकी धीवधा विचार करने योग्य है—

उत प्रहामतिदीवा जयति ।

कृतमिव श्वस्री पिथिमोति काले ॥ ( अ. ६ )

‘निःसन्देह यह बात है कि ( अतिदीवा ) अर्थात् विजिगीषु पुत्रवार्ध मनुष्य ( प्रहाम जयति ) प्रहार करनेवालेको जीतता है । और ( श्व-स्री, स्वस्री ) अपना आत्मपात करनेवाला मनुष्य ( काले ) समयमें अपने कृतकर्मका फल प्राप्त करता है ।’

इस समयमें दो शब्द विशेष महत्वके हैं । उनका विचार करना सत्यत आवश्यक है ।

१ श्व-स्री=[ स्व-स्री ]=आत्मपात करनेवाला मनुष्य, जो मनुष्य अपने नाशके कारणभूत कुर्म करता रहता है । जिससे उसकी अपोगति होती है ऐसे कुर्म जो करता है वह आत्मपातकी है । आत्मपातकी लोगोंकी अपोगति होती है इस विषयका वर्णन ईशोपनिषद्में भी ( वा. पञ्च, ४०-१३ ) में है ।

२ अतिदीवा=इह धनम् ‘दिव्’ वायु ‘विजिगीषा, व्यवहार, स्तुति, मोद, गति’ इत्यादि धर्ममें है, अतः ‘दीवा’ शब्दके अर्थ—‘विजिगीषा अर्थात् अपनी इच्छा करनेवाला, व्यवहार उत्तम रीतिसे करनेवाला, स्तुति ईश्वरभक्ति करनेवाला, आनन्द यज्ञनेवाले कार्य करनेवाला, जयति करनेवाला’ इतने होते हैं । ‘अतिदीवा’ शब्दका अर्थ ‘आत्म विजयका

पुत्रवार्ध करनेवाला’ इत्यादि प्रकारका होता है । यह विजय करनेवाला अपने शत्रुको अवश्य ही जीत लेता है ।

## देवकाम मनुष्य

कई मनुष्य देवकामो होते हैं और कई अनुरकामो होते हैं । देविक सम्मान जिनको इच्छा होती है, वे देवकामो मनुष्य और राक्षसोंके सम्मान जिनकी कामना होती है, वे अनुरकामो मनुष्य होते हैं । वे क्या करते हैं इस विषयका वर्णन इसी मंत्रमें किया है, यह वर देविमें । इसी मंत्रके शब्द निम्न प्रकार रखनेसे दोनोंके लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं—

देवकामः धनं न रणञ्च ।

[ अनुरकामः ] धनं, रणञ्च । ( अ. ६ )

‘देवकामनावाला मनुष्य अपने धनको अपने पास ही इकट्ठा करके नहीं रखता, परंतु आवुरीकामनावाला मनुष्य अपने पास पण इकट्ठा करके रखता है ।’ यह मंत्रमात्र । दोनोंके व्यवहारका स्वल्प अच्छी प्रकार बता रहा है । कर्तव्य सोच पण अपने पास संग्रह करते हैं, उसको बाहर व्यवहारमें जाने नहीं देते, अपना अपने स्वार्थी भीषोंके जिम्मे रखते हैं, अतः ये राक्षसों कामनाएं हैं । परंतु जो मनुष्य ईश्वरी प्रभुतिसे होते हैं, वे पण अपने पास कभी इकट्ठा करके नहीं रखते, अपितु अपने सर्वस्वको सब जनताकी भलाईके लिये समर्पित करते हैं, अपनी संपूर्ण शक्तिसे उसी कार्यमें लगाते हैं, इसलिये ये श्रेष्ठ उत्पत्तिके भागी होते हैं । यही बात इसी मंत्रके अंतमें रही है—

तं रायः स्वधामिः संस्तुजति । ( अ. ६ )

‘उसीको सब प्रकारके पण अपनी सब मारक शक्तियोंके साथ प्राप्त होते हैं ।’ जो अपना धन देवकार्यके लिये लगाता है यही विजय पण प्राप्त कर सकता है और यही यज्ञोपनिषत् प्राप्त कर सकता है ।

यहां देवकार्य कीवत्ता है, इसका भी विचार करना चाहिये । ‘साधुजनको पालना करना, दुष्कर्म करनेवालोंका नाश करना और धर्मधर्मियोंको स्थापना करना’ यह विविध कार्य देवकार्य कहलाता है । अर्थात् इतके विरुद्ध जो कार्य होमा त्वा राक्षस त्वा अनुरकाम सम्मान चाहिये । यह देवकार्य जो करता है और इस देवकार्यमें अपनी शक्ति और पण भी लगाता है यह देवकाम मनुष्य होता है । इसके विरुद्ध कार्य करनेवाला मनुष्य आवुरीकामनावाला कहलता है और यह अनुरकामो मान्य होता है ।

## भोरक्षा

इत्तम भवमे गोरक्षाका महत्त्व वर्णित है। यदि कुर्वन्ति ते मन्त्रेणा कोहं सन्धा सापन्न है सो यह एक मात्र भोरक्षा ही है, देखिये—

दुरेधां भवति गोभिः तरेम । ( मं. ७ )

‘दुरवस्थाकी जो दुर्बिहीन स्थिति है वह हम गोओंको रक्षासे दूर करें।’ अर्थात् गोओंकी सहायतासे हम अपनी दुरवस्था हटा दें। देखते उत्तम भोरक्षासे और विपुल रूप हरएकको प्राप्त होनेसे देखती दुरवस्था निःसन्देह दूर हो सकती है। मनुष्यका सुधार करनेका यह एकमात्र उपाय है। इसी प्रकार—

विश्वे पथेत धुधं [ तरेम ] । ( मं. ७ )

‘हम सब राते भूखको दूर करें।’ अर्थात् जी आदि प्राणका भक्षण करके ही हम अपनी भूखका प्रत्यक्ष करें। यही मात आदि परायोंका भूषकी निर्मुक्ति के लिये उत्तेज नहीं है, यह बात विशेष ध्यानमें धारण करने योग्य है। गोका दुध चीना और ओ, गेहूँ, चावल आदि प्राणका लेवन करना, ये दो रीतियां हैं तबसे मनुष्य उत्तम होता है और अन्ततः सुखी हो सकता है। जब अतिथय मन्त्रका उपदेश देखिये—

अक्षाः फलतयीं धुधं दत्त । ( मं. ९ )

‘हे शाल विज्ञानी ! फलवाली विजय हमें दे।’ यहा ‘अक्षा’ छाव है, यह रात्र कोशीमें निम्नलिखित अर्थोंमें आया है— ‘गाओका मूत्र अक्ष, आचार उत्तम, रथ, गाओ,

घण्ट, तुलका वण्ट, तोलनेका बलन ( कर्ण ), विभीतक ( भिलाषा ), पदाक्षका वृद्ध, रक्षाक्ष, इन्द्राक्ष, सर्प, मरुट, अक्षया, सान, सत्यज्ञान, विज्ञान, तारका ज्ञान, ब्रह्मज्ञान, कानून, कानूनी कार्यवाही, विधिविधान’। हमारे मतसे यहाका ‘अक्ष’ अर्थ अन्तिम अक्ष या नौ अर्थोंको यहा म्पन्न कर रहा है और इसीलिये हमने इसका अर्थ ज्ञान विज्ञान ऐसा किया है।

यू भोर दोषोंको उत्पत्ति एक ही विद् धातुसे होनेके कारण ‘अतिदीया’ अर्थके मतमें जी अर्थ बताया है वही ‘धुधं’ का यहा अर्थ है। ‘विजिगोपा’ इसका यहा अर्थ अधिपति है। ‘शाल विज्ञानसे हमें अत्यन्त विजय प्राप्त हो’ यह इस मन्त्रभावका यहा आशय है। शाल विज्ञानसे ही सुदृढ सुलभ विजय प्राप्त हो सकती है।

विजय ऐसी हो कि बंबी ( क्षीरिणी गां इय ) तथा दूध देनेवाली भी होती है। विजय प्राप्त करनेसे उसका सधुर पाल भविष्यमें वितरित रहे और पुत्र, ह्वारा अथवात कभी न होवे, यह आशय यहा है।

( छतस्य धारयामा संनद्धात् । म. ८ ) अर्थात् फिरे हरे पुरुषावके धाराप्रवाहसे मे उन्मूर्च्छा सरलतया प्राप्त होऊ। बीचमें किसी प्रकारकी रुकावट न हो। जो शाल विज्ञानयुक्त होकर इस प्रकार परमपुरुषार्थ करेंगे, वेहो नि सन्देह ययके भागी होंगे।

पुरुषार्थ विजय प्राप्त करनेवाले इस सूक्तका इस प्रकार विचार करें और बोध प्राप्त करें।

## वर्चःप्राप्ति सूक्त

कांड ३, सूक्त २२

( ऋषिः - वसिष्ठः । देवता - वर्चः, ब्रह्मपति, विश्वदेवता । )

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद्यज्ञो अदित्या यत्तुर्गः संतुभूवं ।

तरसर्वं समदुर्महामेतद्विश्वं देवा अदितिः स्रजोपाः

॥ १ ॥

अर्थ— ( ये अदित्याः तन्वाः ) जो अदितिके अंतरीसे ( सवभूव ) उत्पन्न हुआ है वह ( हस्तिवर्चसं बृहत् यज्ञः ) हाथीके वस्त्रके समान बड़ा ( प्रथतां ) फेंके । ( तत् एतत् ) वह यह यज्ञ ( सर्वे स्रजोपाः विश्वे देवाः ) अदितिः । सब एक मन्त्राधी देव और अदिति ( सर्वे स्रजोपाः ) मूत्रे देती हैं ॥ १ ॥

भाषार्थ— जो मूल प्रकृतिके ऊपर बस है, जो हाथी आदि पशुओंमें जाता है, वह सब मन्त्रमें आये, सब देव एक मतसे मूत्रे बल ॥ १ ॥

मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेतु । देवासो विश्वधायस्तस्ते मोक्षन्तु वर्षसा ॥ २ ॥  
 येन हस्ती वर्षसा संयभूय येन राजा मनुष्येषुस्वभूतः ।  
 येन देवा देवतामग्र आपन्तेन सामद्य वर्षसायै वर्षस्विनं कृणु ॥ ३ ॥  
 यचे वर्षो जातवेदो बृहद्भस्वाहुतेः । यावत्सर्वस्य वर्ष आसुरस्य च हस्तिनः ।  
 तावन्मे अधिना वर्ष आ घंतां पुष्करस्रजा ॥ ४ ॥  
 यावत्स्रजः प्रदिशुषधुषावन्तमभुवे । तावत्समैर्विन्द्रियं मयि तर्हस्तिवर्षसम् ॥ ५ ॥  
 हस्ती मृगाणां सुपर्दामविष्टावान्भूनु हि । तस्य भवेन् वर्षसामि पिश्यामि मामुहम् ॥ ६ ॥

अर्थ— ( मित्र, वरुण, रुद्र, चेतुः च ) मित्र, वरुण, रुद्र और चेतु ( चेतुः ) शस्त्राह वै । ( ते विश्व-  
 धायस्तः देवाः ) ये विश्वके धारक देव ( वर्षसा मा गजान्तु ) तेजसे मुझे मुक्त करें ॥ २ ॥

( येन वर्षसा हस्ती संयभूय ) जिस तेजसे हाथी जयन्त हुआ है और ( येन मनुष्येषु अस्तु च भन्तः  
 राजा सं यभूय ) जिस तेजसे मनुष्योंके और जलके अन्दर राजा जयन्त हुआ है और ( येन देवाः भोग देवतां मायन् )  
 जिस तेजसे, देवोंने पहले देवत्व प्राप्त किया, ( तेन वर्षसा ) उस तेजसे, हे भगने ! ( मां अद्य वर्षस्विनं कृणु ) मुझे  
 आज तेजस्वी कर ॥ ३ ॥

हे ( जातवेदः ) जातवेद ! ( ते यन् वर्षः साहुतेः बृहद् भस्वति ) तेरा जो तेज भाहुतिवोंसे बड़ा होता है  
 ( यावत् सूर्यस्य, आसुरस्य, हस्तिनः च वर्षः ) और जिसका सूर्यका और आसुरी हाथी [ मेघ ] का बल और तेज  
 होता है, हे ( पुष्करस्रजो अधिनो ) पुष्पमाला धारण करनेवाले अधिदेवो ! ( तावत् वर्षः मे भाधतां ) जतना  
 तेज मेरे अन्दर स्थापित कीजिये ॥ ४ ॥

मायन् ( कृतघ्नः प्रदिशः ) गि,भी दूर पारों दिशायें है, ( यावत् स्रजः समन्तमुते ) जिसकी दूर बुद्धि जाती  
 है, ( तावत् मयि तत् हस्तिवर्षसं विन्द्रियं ) जतना मुझमें वह हाथीके समान इन्द्रियोंका बल ( सं येन ) बड़ा होकर  
 मिले ॥ ५ ॥

( हि सुपर्दा मृगाणां ) जैसे अच्छे बँकनेवाले पशुओंमें ( हस्ती अतिष्ठान् वभूय ) हाथी बड़ा प्रतिष्ठा-  
 पात्र है, ( तस्य भगेन वर्षसा ) उसके ऐश्वर्य और तेजसे साथ ( अहं मां अभिपिश्यामि ) मैं अपने आरको अभिषिक्त  
 करता हूँ ॥ ६ ॥

भाषार्थ— मित्र, वरुण, रुद्र और चेतु ये विश्वके धारक देव मुझे जसाह देवे, आज देवों और मुझे तेजसे मुक्त  
 करें ॥ २ ॥

जिस बलसे हाथी सब पशुओंमें बलवान् हुआ है, जिस बलसे मनुष्योंके अन्दर राजा बलवान् होता है और भूमि  
 तथा जल पर भी जयता प्राप्तन करता है, जिस बलसे पहले देवोंने देवत्व प्राप्त किया था, हे तेजके देव ! वह बल आज  
 मुझे प्राप्त होये ॥ ३ ॥

हे उत्पन्न हुए संसारको जन्मनेवाले देव ! जो तेज यन्त्रिमें जलुतियां देखेंसे बलवान् है, जो तेज सूर्यमें है, जो  
 असुरोंमें तथा हाथीमें या मेघोंमें है, हे अधिदेवो ! वह तेज मुझे दोजिये ॥ ४ ॥

पार दिशार्ध जिसकी दूर फैली है, जिसकी दूर मेरी बुद्धि जाती है, जतनी बलसे मेरे सामर्थ्यका प्रभाव  
 फैले ॥ ५ ॥

जैसे हाथी पशुओंमें बड़ा बलवान् है, वैसे बल और ऐश्वर्य में प्राप्त करता हूँ ॥ ६ ॥

## वर्जःप्राप्ति सूत्र

### आत्मोन्नतिसे बल बढ़ाना

शरीरका बल, तेज, आरोग्य, योग्य आदि बढ़ानेके लक्षण का उपदेश करनेवाला यह सूत्र है। प्राणिजोंमें हाथीका शरीर ( दृष्टीवर्चसं । म १ ) बड़ा भोटा और बलवान् भी होता है। हाथी दाकाहारे प्राणी है, इसीका आरज बढ़ने यहाँ लिखा है; सिंह और व्याघ्रका आरज नहीं लिखा। इससे सूचित होता है कि मनुष्य आत्म भोजी रहता हुआ अपना बल बढ़ावे और बलवान् बने। बैरकी दाकाहार करनेके विषयकी भांति ॥ सूत्र द्वारा अमरवृत्तसे अमर हो प्यो है।

### बल प्राप्तिकी रीति

‘अदिति’ प्रकृतिका नाम है, उस मूल प्रकृतिमें बहुत बल है, इस बलके कारण ही प्रकृतिको ‘अदिति’ अर्थात् ‘अ-दीन’ कहते हैं। इस प्रकृतिके दो पुत्र सूर्य, चन्द्रादि ॥ हैं, इसीलिये प्रकृतिको देव माता, सूर्यादि देवोंकी माता कहा जाता है। मूल प्रकृतिका ही बल विभिन्न देवोंमें विविध रीतिसे प्रकट हुआ है, सूर्यमें तेज, चामुने जीवन, जलमें शीतता आदि गुण इस देवोंकी अधिक मातासे इनमें आये हैं। इसलिये प्रथम सूत्रमें कहा है कि ‘इमं स बलं देवोऽस्मि प्रकृतिका

अवधार बल धनं प्राप्त हो। ( म १ )’ सधनुष मनुष्यको जो बल प्राप्त होता है वह पृथ्वी, आप, तेज, यामु आदि देवोंकी सहायतासे ही प्राप्त होता है, किसी अन्य रीतिसे नहीं होता है। ॥ बल प्राप्त करनेकी रीति है। इन देवोंके साथ अपना लक्षण करनेसे अपने शरीरका बल बढ़ने लगता है। जलमें तैरने, चामुने भ्रमण करने अथवा शूलमूढ करने, धूमके शरीरको तपाने अर्थात् शरीरकी चमकीले साथ इन देवोंका सम्बन्ध करनेसे शरीरका बल बढ़ता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि तब मनुष्यमें अपने भागकी मूल रज्ज्से बल घटता है।

द्वितीय सूत्र कहता है कि ‘ ( मित्र ) सूर्य, ( वरुण, ) जलदेव, ( इन्द्रः ) विद्युत्, ( रुद्रः ) अग्नि अथवा चामु से विश्वधारक देव मेरी उचित प्रार्थना’ ( म २ )। यदि इनके जीवन रक्षणमें अमृत प्रसादोंसे अपना लक्षण ही दूढ़ गया तो ये देव हमारी उचित कीर्ति बढ़ावेंगे ? इसलिये बल बढ़ाने-वालोंको उचित है कि वे अपने शरीरकी चमकीला लक्षण इन देवोंके अमृत प्रसादोंके साथ योग्य प्रमाणसे होने दें। ऐसा करनेसे इनके अवरका अमृत रस शरीरमें प्रविष्ट होगा और बल बढ़ेगा।

## ज्ञान और शरीरकी तेजस्विता

### कांड ३, सूक्त १९

( श्रुति. - बलिष्ठः वेत्ता - विज्ञेयेता, चन्द्रमा, इन्द्र. )

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम् । संशितं स्रजमब्रामस्तु लिङ्गयैवामस्मि पुरोहितः ॥ १ ॥  
समहनेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम् । वृष्यामि अर्जुनां चाहनुनेन हविषाहम् ॥ २ ॥

अर्थ— ( मे इदं ब्रह्म संशितं ) ऐसा यह ज्ञान तेज युक्त है और ऐसा यह ( वीर्यं बलं संशितं ) वीर्य और बल तेजस्वी है। ( येषां लिङ्गः पुरोहितः अस्मि ) जिसका मैं विजयी पुरोहित हूँ। ( संशितं स्रजं अजटं अस्तु ) इनका तेजस्वी बना हुआ शायबल कभी सोप न होनेवाला होवे ॥ १ ॥

( अहं येषां राष्ट्रं संस्थासि ) मैं इनका राष्ट्र तेजस्वी बनाता हूँ, इनका ( ओजः वीर्यं बलं संस्थासि ) बल, वीर्य और संपन्न तेजस्वी बनाता हूँ। और ( अनेन हविषा ) इस हवनसे ( शत्रूणां बाहून् वृष्यामि ) शत्रुओंकी बाहुओंको काटता हूँ ॥ २ ॥

भाष्यार्थ— मैं जिस राष्ट्रका पुरोहित हूँ उस राष्ट्रका ज्ञान मैंने तेजस्वी किया है और वीर्य, वीर्य और अधिक तीक्ष्ण किया है, जिससे ॥ राष्ट्रका शायबल कभी सोप नहीं होगा ॥ १ ॥

मैं इस राष्ट्रका तेज बढ़ाता हूँ और इसका आरोग्य बल, पचकप और उत्साह भी बढ़ाता हूँ। इससे मैं शत्रुओंकी बाहुओंको काटता हूँ ॥ २ ॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नो सूरि मयचानं पृथन्यान् ।

क्षिणामि ग्रहणामित्रानुक्षयामि स्वानुहम्

॥ ३ ॥

तीक्ष्णीयांसः परशोरप्रेस्तीक्ष्णतरा उव । इन्द्रस्य वज्राचीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥ ४ ॥

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।

एषां क्षत्रमजरमस्तु क्षिण्वेदेष्टां चित्तं विधेयवन्तु देवाः

॥ ५ ॥

उद्धर्षन्तां मघदन्वाजितान्पुद्गीराणां जयतामेतु घोषः ।

पृथग्घोषां उल्लुलपः केतुमस्तु उदीरताम् देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥

मेता जयता नर उग्रा यः सन्तु बाहवः ।

तीक्ष्णेपवोऽवलर्षन्वनो हतोप्रायुधा अवलानुप्रवाहवः

॥ ७ ॥

अर्थ— ( ये सः मघदानं सूरि पृथन्यान् ) जो हमारे धन्यान् और विद्वान् पर तेनासे बड़ाई करें । ये सन्तु ( नीचे पद्यन्ताम् ) नीचे निधे, ( अधरे भवन्तु ) भवन्तु हों, ( बह्मं ग्रहणामित्रान् क्षिणामि ) मे हापने शत्रुओंका क्षय करता हूं, और ( स्वान् उधयामि ) अपने लोगोंको उठाता हूं ॥ ३ ॥

( येषां पुरोहितः अस्मि ) निजका पुरोहित मे हूं उनके ( परशोः तीक्ष्णीयांसः ) परशुसे अधिक तीक्ष्ण ( उत अग्रे तीक्ष्णतराः ) और जगिते भी अधिक तीक्ष्ण, ( इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसः ) इन्द्रके बजसे भी अधिक तीक्ष्ण बरत हूं ॥ ४ ॥

( अहं एषां आयुधा संस्यामि ) मे इनके आयुधोंको वस्त्रम तीक्ष्ण बनाता हूं, ( एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ) इनका राष्ट्र उन्नत औरतासे युक्त करके बड़ाता हूं, ( एषां क्षत्रं अजरं क्षिण्वे भस्तु ) इनका शासन अशय तथा अप्रयाणी होवे, ( क्षिण्वेदेष्टाः ) एषां चित्तं भवन्तु ) सब देव इनके चित्तको उस्ताह् युक्त करें ॥ ५ ॥

हे ( मघदन् ) धनवान् इव । उनके ( याजितानि उद्धर्षन्तां ) उठातेवित हों ( जयतां घोराणां घोषः उम् यन्तु ) विजय करनेवाले घोरीका शब्द ऊपर उठे । ( केतुमस्तुः उल्लुलपः घोषः ) हांसे लेकर हुसता करनेवाले घोरीके संघमधका घोष ( पृथक् उत ईरताम् ) अलग अलग ऊपर उठे । ( इन्द्रज्येष्ठा मरुताः देवाः ) इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुत देव ( सेनया यन्तु ) अपनी सेनाके साथ कहे ॥ ६ ॥

हे ( तरः ) लोधी । ( प्र इत ) घलो, ( जयत ) जीते, ( यः बाहवः उग्राः सन्तु ) युग्महादे बाहु धीरसे युक्त हों । हे ( तीक्ष्णेपवः ) तीक्ष्ण बाण वाले घोरी । हे ( उग्रायुधाः उप्रवाहवः ) उप्र-आयुधवालो और बलवुक्त भुलावालो । ( अवल-धन्वनः अवलान् हत ) निर्बल घनुष्यवाले निर्बल शत्रुओंको मारो ॥ ७ ॥

भाषार्थ— जो सन्तु हमारे धनीकीपर तथा हमारे ज्ञानिधीपर संन्यसे साथ हमला करते हूं वे सयोगितिकी प्राप्त हों । क्योंकि मे अपने हातसे शत्रुओंका नाश करता हूं और उल्लोसे अपने लोगोंको उन्नत करता हूं ॥ ३ ॥

निज राष्ट्रका मे पुरोहित हूं उत राष्ट्रके अस्त्रास्त्र परशुसे अधिक तीक्ष्ण, अग्निसे भी अधिक बाहक और इन्द्रके बजसे भी अधिक सहायक मैंने किये हूं ॥ ४ ॥

मे इनके घटनास्त्रोंकी अधिक तीक्ष्ण बनाता हूं, इनके राष्ट्रको जसमें जसस धीर उत्पन्न करके बड़ाता हूं, इनके शीर्षको कभी क्षोण न होनेवाला और सदा विजयी बनाता हूं । सब देवता इनके चित्तोंको उस्ताह् युक्त करें ॥ ५ ॥

हे प्रभो ! इनके बल उस्ताहसे युग्म हों, इनके विजयी विरोंका जयजयकारका शब्द अनाजसमें भर जावे । हांसे उठाकर विजय पानेवाले इनके घोरी कि क्षत्र अस्त्र युग्म हों । निज प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतोंकी सेना विजय प्राप्त करती है, उसी प्रकार इनकी सेना भी विजय कमावे ॥ ६ ॥

हे घोरी ! आगे घडो, विजय प्राप्त करो, अपने बाहु प्रतापसे युक्त करो, तीक्ष्ण बाणों, प्रतापी धारवाहों और समर्थ बाहुओंकी धारण करके अपने शत्रुओंकी निर्बल बनाकर उनको काट डालो ॥ ७ ॥

अवस्तुष्टा परा पत शरब्धे ब्रह्मसंशिते ।

जयामिश्रान्न पंचस्र ज्योषिं वरं वरं मामीषां मोचि कश्चन

॥ ८ ॥

अर्थ— हे ( ब्रह्म-संशिते शरब्धे ) ज्ञानधारा तेजस्वी बने क्षत्र । तू ( अवस्तुष्टा परापत ) छोटा हुआ दूर जा और ( जयामिश्र जय ) शत्रुओंको जीत, ( पंच पंचस्र ) पांच बड़, ( वरं वरं वरं जाते ) इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य बीरोंको मार दाल, ( मामीषां कश्चन मा मोचि ) इनमेंसे किसीको भी मत छोड़ ॥ ८ ॥

भावार्थ— ज्ञानसे तेजाकी बना हुआ क्षत्र जन बीरोंकी प्रेरणासे छोटा पड़ा है, तब वह दूर जाकर शत्रुपर गिरता है और शत्रुका नाश करता है । हे बीरो ! शत्रुपर चढ़ाई करो और शत्रुके मुख्य बीरोंको मार चुनकर मार दालो, उनको ऐसा कत्तल करो कि उनमेंसे कोई न बचे ॥ ८ ॥

## ज्ञान और शौर्यकी तेजस्विता

### राष्ट्रीय उन्नतिमें पुरोहितका कर्तव्य

राष्ट्रमें शासन, भविष्य, वर्ण, वृद्ध और निवार ये पांच कार्य होते हैं । उनमें शासनकी कर्तव्य पुरोहितका कार्य करना होता है । पुरोहित करनेवालेका नाम पुरोहित है । यन्मात्र का पूर्णहित करनेवाला पुरोहित होना चाहिये । जब संपूर्ण राष्ट्रका विचार करना होता है उस समय सब राष्ट्र ही समान है और सब शासननाति उस राष्ट्रके पुरोहितके स्थानपर होती है । इससे संपूर्ण राष्ट्रका पूर्णहित करनेका भार उस पुरोहित पर्यवर भा जाता है । ज्ञानकी ज्योति सब राष्ट्रमें प्रवर्धित करके उस ज्ञानके द्वारा राष्ट्रका संप्रवर्ध और निःशेष सिद्ध करना पुरोहितका कर्तव्य है ; इस कर्तव्यका इस सूत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें वर्णन किया है, राष्ट्रके शासन इस सूत्रका मनन करें और अपना कर्तव्य जाय कर उसको निभायें ।

इति सूत्रका अर्थ वसिष्ठ है और वसिष्ठ नाम ब्रह्म-निष्ठ शासनका मुप्रतिष्ठ है । उस दृष्टिको भी इस सूत्र का मनन शासनकी करना चाहिये । अब सूत्रका अर्थय वेष्टिये—

### ब्राह्मदेवकी ज्योति

राष्ट्रमें ब्राह्मदेवकी ज्योति बढ़ाना और उस ज्योतिके द्वारा राष्ट्रकी उन्नति करनेका कार्य समस्त ब्राह्मदेवका और अत्यंत आवश्यक है । इस विषयमें इस सूत्रमें यह कथन है—

मे इदं ब्रह्म संशितम् । ( प १ )

ब्रह्मणा भूमिमान् क्षियामि । ( प २ )

उन्नयामि इयान् सद्धम् । ( प ३ )

अवस्तुष्टा परा पत शरब्धे ब्रह्मसंशिते । ( प ८ )

जय अमिषान् ७ ( पं. ८ )

‘ मेरे प्रबलसे इस राष्ट्रका शासन मैं बनकता हूँ । मैंने ब्रह्मसे संप्रभोकर नाश करता हूँ । और उसी क्षणसे मैं अपने राष्ट्रके स्वर्णोंकी उन्नति करता हूँ । ज्ञानके द्वारा उन्नतित हुआ क्षत्र ब्रह्मका परिचाय करता है, उन्नत राष्ट्रकी नीति तो । ’

ये सूत्र भाग राष्ट्रमें ब्राह्मदेवके कार्यका स्वरूप बताते हैं । सब राष्ट्रीय उन्नतिमें ब्रह्म भारी कार्य करता है । जगत्में श्रेष्ठ राष्ट्र है जन्में से हो राष्ट्र अग्रभागमें है कि जो तावसे विशेष सफल है । ज्ञान न होते हुए अग्रभागका होना असंभव है । यदि उन्नतिका विरोधक कोई कारण है तो एकमात्र अज्ञान ही है । अज्ञानसे भयन होता है और ज्ञानसे उस भयनका नाश होता है । इसलिये राष्ट्रमें जो शासन हो उन सबका कर्तव्य है कि वे स्वयं ज्ञानी बनें और अपने राष्ट्रके सब स्वर्णोंको ज्ञानतपस्व करें । धर्मियों देशों और धूर्तोंकी भी ज्ञान आवश्यक ही है । उनके व्यवसायोंकी उन्नततासे निम्नानेके लिये ज्ञानकी परब आवश्यकता है ।

ज्ञानसे शत्रु जीत है और अपना हितकारी मित्र जीत है इसका निश्चय होता है । अपने ज्ञानसे राष्ट्रके शत्रुकी

जानना और उसकी रूर करनेके लिये जानसे हो उपायकी योजना करनी चाहिये । यह उपाय योजना का कार्य बाह्योक्तों का परम कर्तव्य है । शत्रुपर हमला किस समय करना चाहिये, शत्रुके शास्त्रास्त्र कैसे हैं, अपने शास्त्रास्त्र उनसे भी अधिक प्रभावशाली किस रीतिसे करने चाहिये, शत्रुके शास्त्रास्त्र जितनी दुरीपर प्रभाव कर सकते हैं उससे अधिक दुरीपर प्रभाव करनेवाले शास्त्रास्त्र कैसे निर्माण करने चाहिये, सामग्री बातों जानसे ही सिद्ध हो सकती हैं, अपने राष्ट्रमें हमकी सिद्धता करना बाह्योक्तों का कर्तव्य है । अर्थात् बाह्यजन अपने ज्ञानसे इसका विचार करें और अपने राष्ट्रमें ऐसी प्रेरणा करें कि जिससे राष्ट्रके अंदर उक्त परिवर्तन आ पाये । यही भाव विष्णुनिहित मंत्रमें कहा है—

अथष्टा परा पत शत्रुये ब्रह्मसंस्थिते । ( मं. ८ )

‘ ज्ञानसे तीक्ष्ण बने शास्त्रास्त्र शत्रुपर विरें । ’ इसमें ज्ञानसे उत्तेजित, प्रेरित और तीक्ष्ण बने शास्त्रोंके अधिक प्रभावशाली होनेका वर्णन है । अन्य देशोंके शास्त्रास्त्र देखकर, उनका धैर्य जातकर और उनका परिणाम अनुभव करके जब अपने अधिक वेगवान् और अधिक प्रभावशाली शास्त्रास्त्र अपने देशके धीरोंके पास दिये जायें, तब अन्य परिस्थिति समझ होनेपर अपनी जीत निश्चयसे होगी इसमें शूरा भी सचेत नहीं हैं ।

### पुरोहितकी प्रविष्टा

‘ जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूँ उस राष्ट्रका ज्ञान, धर्म, धन, पराक्रम, शौर्य, धीर्य, धैर्य, विजयी उरसाऊँ कभी क्षीण न हो । ’ ( मं. १ )

‘ जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूँ उस राष्ट्रका पराक्रम, उरसाहूँ, धीर्य और बल मैं बढ़ाऊँ हूँ और शत्रुओंका बल घटाऊँ हूँ । ’ ( मं. २ )

‘ जो राम हमारे यही धर्मों और ज्ञानी बाह्योक्तोंके ऊपर, अर्थात् हमारे देशके मूढ़ न करनेवाले लोगोंपर, वैय्यके साथ हमला करेगा उसका नाश मैं अपने हाथसे करता हूँ और अपने राष्ट्रके लोगोंकी मैं अपने डालके बलसे उठता हूँ । ’ ( मं. ३ )

‘ जिनका मैं पुरोहित हूँ उनके शास्त्रास्त्र मैं अधिक तेज ज्यादा हूँ । ’ ( मं. ४ )

‘ इनके शास्त्रास्त्र मैं अधिक तीक्ष्ण करता हूँ । उसमें धीरोंकी संख्या इस राष्ट्रमें बढ़ाकर इस राष्ट्रको उन्नति करता हूँ और इनका शौर्य बढ़ाता हूँ । ’ ( मं. ५ )

ये मंत्र भाव पुरोहितके राष्ट्रीय कर्तव्यका ज्ञान अस्मिन् सम्बन्धों द्वारा दे रहे हैं । पुरोहितके ये कर्तव्य हैं । पुरोहित शत्रियोंके शास्त्रास्त्रों, सिद्धांतों, धर्मोंकी व्यापार व्यवहार करनेका ज्ञान देवे और शत्रुओंकी कारोबारी नीति देखे, और बाह्योक्तोंको इस प्रकारके विशेष ज्ञानसे युक्त करे । इस रीतिसे चारों पक्षोंकी तेजस्वी बनाकर संपूर्ण राष्ट्रका उद्धार अपने ज्ञानकी शक्तियों करे । जो पुरोहित ये कर्तव्य करेगा वेही वेदकी दृष्टिसे सच्चे पुरोहित हूँ । जो पश्चात् पुरोहितका कार्य कर रहे हूँ वे इस युक्तका विचार करें और अपने कर्तव्योंका ज्ञान प्राप्त करें ।

### युद्धकी नीति

यह, सप्तम और अष्टम इन तीन मंत्रोंमें युद्धनीतिका उद्देश इस प्रकार किया है—

‘ धीरोंके पक्षक अपने अपने हाथें उठाकर युद्धगीत गाते हुए और अर्धबसे विजय सूचक शब्दोंका घोष करते हुए शत्रुसेनापर हमला करें और विजय प्राप्त करें । जिस प्रकार इनकी प्रमुखतामें मरतेकि पक्ष शत्रुपर हमला करते और विजय प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार अपने राजाके तथा अपने सेनापतिके आधिपत्यमें रहकर हमारे धीर शत्रुपर हमला करें और अपनी विजय प्राप्त करें । ’ ( मं. ६ )

‘ धीरों । अपने बड़ी, तुम्हारे बाहू प्रभावशाली हों, तुम्हारे अस्त्र शत्रुकी अनेका अधिक तीक्ष्ण हों, तुम्हारी शक्ति शत्रुकी शक्तियों अधिक पराक्रम प्रकाशित करनेवाली हो । इस प्रकार युद्ध करते हुए तुम अपने निर्विक शत्रुकी मार जालो । ’ ( मं. ७ )

‘ जगत्से उत्तेजित हुए तुम्हारे राज शत्रुका नाश करें, ऐसे तीक्ष्ण शस्त्रोंके शत्रुका युग पराक्रम करे । ’ ( मं. ८ )

इन तीन मंत्रोंमें इतना उद्देश देकर पश्चात् इस अष्टम मंत्रके अन्तमें अत्यंत महत्वकी युद्धनीति कही है, ये शब्द देखने योग्य हैं—

( १ ) जहोपां धरं धरं,

( २ ) माऽग्नीषां गोचि कश्चन ॥ ( मं. ८ )

‘ इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य प्रमुख धीरोंकी मार हो और इनमेंसे कोई भी न बचे । ’ ये दो उद्देश युद्धके संबंधमें अत्यंत महत्वके हैं । शत्रुसेनाके पक्षके जो सहायक और प्रमुख धीर हों, प्रथम उनका बल नष्ट करना चाहिये । शत्रु

संसारकोमेंसे कोई भी न बचे । ऐसी अवस्थामें जल्दी सेना  
बड़ी असाधारण पराक्रम हो जायगी । यह भूजनीति अत्यन्त  
मनन करने योग्य है ।

वीरोंको चुन चुन कर बारम्बार तत्पर हों । जब इन वीरोंके  
बेधते प्रभुसेनाके मुखिया बीरोंका हों ही जायें, तब अल्प  
सेनापर हमला करनेमें उक्त लक्ष्यसम्पत्ति पराभव होनेमें देरी  
नहीं लगेगी ।



## तेजस्विताके साथ अभ्युदय

कांड ३, सूक्त २०

( अर्थः - वसिष्ठः । देवता - अग्निः, सगोत्रादेवताः । )

अयं ते योनिर्भुवि यो यतो अरोचयामः । तं ब्रानर्जम् आ रोहासा नो वर्षया रुयिम् ॥ १ ॥  
अग्ने अन्धो बभूव नः प्रयच्छ नः सुमनां भव ।  
प्र णो पवच्छ विशां पते धनुदा अग्निं नृस्त्वम् ॥ २ ॥  
प्र णो यच्छत्सर्वमा प्र भवः प्र वृहस्पतिः । प्र देवीः प्रोत्तं सनुतां रुयिं देवीं दधातु मे ॥ ३ ॥  
सोमं राजानमवसेदमि गीमिर्हवामहे । आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च वृहस्पतिम् ॥ ४ ॥

अर्थ— हे भगने । ( अयं ते भुवि यः योनिः ) यह तेरा भूजनीति संवर्धित उत्पत्ति स्थान है ( यतो जातः अरोचयामः )  
जिससे प्रकट होकर तू प्रकाशित हुआ है । ( तं ब्रानर्जम् आ रोहा ) उन्नतको जानकर ऊपर चढ़ ( अग्ने नः रुयिं वर्षय )  
और हमारे लिये पनबूझ ॥ १ ॥

हे भगने । ( इह तां अच्छ पदं ) यहाँ हमसे अच्छी तरह नील और ( प्रयच्छ नः सुमनां भव ) हमारे  
सम्बन्ध होकर हमारे लिये उत्तम मनवाला हो । हे । विशां पते ) प्रजापति स्वामिन् । ( नः अयच्छ ) हमें दान दे देवी  
कि ( रुयिं नः धनुदाः अग्निं ) तू हमारा पनवाला है ॥ २ ॥

( अयंमा ॥ प्रयच्छतु ) सर्वमा हमें पन देदे, ( भवः वृहस्पतिः प्र अयच्छतु ) भग और वृहस्पति भी  
हमें पन देवे । ( देवीः प्र ) देवियों हमें पन देवे । ( उत्तं सनुतां देवीं मे रुयिं प्र दधातु ) और तरत स्वभावावाली  
देवी मुझे पन देवे ॥ ३ ॥

राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और वृहस्पति ( अयंसे गीमिः हवामहे ) भगवो रक्षाके  
लिये बुझाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे भगने ! भूजनीति संवर्धन रखनेवाला वह तेरा उत्पत्तिस्थान है, जिससे जन्मते ही तू प्रकाशित हो रहा  
है । भगने उत्पत्तिस्थानको जानता हुआ तू उन्नत हो और हमारे पनको वृद्धि कर ॥ १ ॥

हे भगने । यहाँ स्पष्ट वाणीसे योग्य, हमारे सम्बन्ध उत्पत्ति होकर हमारे लिये उत्तम पनवाला हो, हे प्रजापति  
पाशक ! तू हमें पन देनेवाला है, प्रसन्नियों तू हमें पन दे ॥ २ ॥

अयंमा, भग, वृहस्पति, देवियां उत्तम वाणीको ये सब हमें पन देवें ॥ ३ ॥

राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और वृहस्पति ही हम प्रार्थना करते हैं कि वे हमारी योग्य रीतिसे  
रक्षा करें ॥ ४ ॥



त्वं नो अग्रे अग्निमिमेक्षं वृजं च वर्षय । त्वं नो देव दासवे रयिं दानाय चोदय ॥ ५ ॥

इन्द्राय उभाविह सुहवेह हवामहे ।

यथा नः सर्वे इव जनः संगस्यां सुमना असहानकामश्च नो भवत् ॥ ६ ॥

अयमणं वृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय । वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥

वाजस्य तु प्रसवे सं प्रभूषिमेमा च विद्या भुवनान्यन्तः ।

उतादिस्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं मि यच्छ ॥ ८ ॥

दुह्रा मे पञ्च प्रदिक्षो दुहामुर्वीषेथावल्गम् । प्रापेयं सर्वा आकृतीर्मनसा हृदयेन च ॥ ९ ॥

गोसनिं वाचमुदेयं वर्षसा माभ्युदिहि । आ रुन्धा सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥ १० ॥

अर्थ— हे आने ! ( त्वं अग्निभिः ) तू अग्निवैकि क्षाम ( नः यज्ञ यज्ञं च वर्षय ) हमारा सान और पत्त बडा । हे देव ! ( सर्व नः दासवे दानाय रयिं चोदय ) तू हमारे शत्रु पुत्रको दान देनेके लिये धन भेज ॥ ५ ॥

( उभा इन्द्राय ) दोनों इन्द्र और वायु ( सु-हवी ) उत्तम दुलारे योध्व तू इन्द्रलिये उत्तम ( इह हवामहे ) महा बुलाते है । ( यथा नः सर्वा इतः जनः ) जिससे हमारे संपूर्ण लोग ( संगस्यां सुमनाः असत् ) सगतिमें उत्तम मनवाले होवें ( च नः ) और हमारे लोग ( दानस्त्रामः भुवत् ) दान देनेको इच्छा करनेवाले होवें ॥ ६ ॥

अयमा, वृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और ( वाजिनं सवितारं ) वेगवान् सवितारको ( दास्य चोदय ) हमें दान देनेके लिये प्रेरित कर ॥ ७ ॥

( वाजस्य प्रसवे सं प्रभूषिमा ) कलकी उत्पत्तिमें ही हम संबंधित हुए है ( च इमा पिभ्या भुवनानि अन्तः ) और ये सब भूवन उसके बीचमें है । ( प्रजानन् ) जननेवाला ( अविस्सन्तं उत दापयतु ) दान न देनेवाले को निश्चयपूर्वक दान देनेके लिये प्रेरणा करे । ( च नः सर्ववीरं रयिं नियच्छ ) और हमें सब प्रकारसे और भावसे युक्त धन देवे ॥ ८ ॥

( उर्वीः पञ्च प्रदिशः ) ये चारो पार्श्वों दिशाएँ ( यथावल्गं मे दुह्रां ) यथाप्रविन मुझे रत्त देवे । ( मनसा हृदयेन च ) मनसे और हृदयसे ( सर्वाः आकृतीः प्रापयेयम् ) सब संकल्पोंको पूर्ण कर सके ॥ ९ ॥

( गोसनिं वाचं उदेयं ) इन्द्रियोंकी प्रसन्न करनेवाली वाणी में शोक । ( यच्छंसा मां अभ्युदिहि ) तेजसे साथ मुझे प्रकाशित कर । ( वायुः सर्वतः आ रुन्ध्याम् ) प्राण मुझे सब ओरसे घेरे रहे । ( त्वष्टा मे पोषं दधातु ) त्वष्टा मेरी सब पुष्टिको देता रहे ॥ १० ॥

अप्यर्थ— हे आने ! तू अनेक अग्निवैकि क्षाम हमारा सान और हमारी कर्पतन्त्र बडा । हे देव ! दान देनेवाले मनुष्यको दान देनेके लिये प्रेरित कर दे ॥ ५ ॥

हम इन्द्र, वायु इन दोनोंको प्रार्थना करते हैं जिससे हमारे सब लोग सगठनसे संबंधित होते हुए उत्तम मनवाले बनें और दान देनेको इच्छावाले होवें ॥ ६ ॥

अयमा, वृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और वज्रवान् सवितार ये सब हमें दान करनेके लिये प्रेरित करें ॥ ७ ॥

सब उत्तम करनेके लिये हम संबंध बनाते हैं, जैसे ये सब भूवन अवरसे सम्बंधित हुए हैं । यह जाननेवाला कर्तृत्वको दान करनेकी प्रेरणा करे और हमें संपूर्ण और भावसे युक्त धन देवे ॥ ८ ॥

ये चारो दिशतों पार्श्व ही दिशाएँ हमें यथाप्रविन पोषक रत्त देवें, जिससे हम मनसे और हृदयसे वादवान् बनें और अपने संपूर्ण संकल्पोंको पूर्ण करें ॥ ९ ॥

प्रसन्नताकी दाननेवाली वाणी में शोक । चारों ओरसे मुझे प्राण उत्साह करे और जाग्रदविता देव मुझे सब प्रकार पुष्ट करे ॥ १० ॥

## तेजस्विताके साथ अभ्युदय

### अधिका आदर्श

### उत्पत्तिस्थानका स्मरण

इस सुखमें अग्निके आदर्शसे मनुष्यके अभ्युदयकी सिद्ध करनेके मार्गका उत्तम उपदेश दिया है । इस सुखका ध्येय भाष्य यहाँ है—

यत्वेत्ता ॥ अभ्युदयिहि । ' मं. १० ।

' तेजके साथ मेरा सब प्रकारसे उदय करा ' यह हरएक मनुष्यकी इच्छा होगी चाहिये । यह साथ सिद्ध होनेके लिये साधनके आवश्यक मार्ग इस सुखमें उत्तम प्रकार बताये हैं । उनका विचार करनेके पूर्व हम अग्निके आदर्शसे जो बातें बताई हैं वह देखते हैं—

' यहाँ जो अग्नि होती है, वह सरस्वतीसे उत्पन्न की जाती है, लकड़ियाँ स्वयं प्रकाशित नहीं हैं परंतु उनसे उदय होनेवाली अग्नि ( जातः अरोचध्याः । मं. १ ) उत्पन्न होती ही प्रकाशित होती है । पक्षमा वह हवन कुशर्म रखी जाती है, वहाँ वह ( रोह । मं. १ ) रख बढती है और हुत्तरीकी भी प्रकाशित करती है । इस समय उसके चारों ओर अश्विन लोग ( नीमिः ह्याश्वहे । य. ४ ) मंत्र पाठ करते हैं और हवन करते हैं । इस समय इस अग्निके साथ ( अग्निः अग्निमि । मं. ५ ) अनेक हवन कुशर्म अनेक अग्निपाद पदवर्धित होती हैं और इसके ( प्रस्य यक्ष च वर्यय । मं. ५ ) जान और यक्षकी बृद्धि होती है । सबसे सब लोप ( जनः सगत्या सुमताः । मं. १ ) मिलकर उत्तम विचारों कार्य करते हैं । तथा ( प्रसये संवभूविमं । मं. ८ ) ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये एक होकर कार्य करते हैं और इस प्रकारके यज्ञसे तेजस्वी होकर अपना अभ्युदय सिद्ध करते हैं । '

धाराशसे यह यज्ञ प्रक्रिया है, इसमें उच्छ्रियोंसे उत्पन्न हुई छोटीछोटी अग्निकी चिनगारीका कितना धंध बढता है और यह अग्नि अनेक मनुष्योंको उत्पत्ति करनेमें कैसे समर्थ होती है, यह बात बताई है । यदि अग्निकी छोटीछोटी चिनगारीके तेजके साथ बढ जायेंगे, इतना अभ्युदय हो सकता है, तो 'मनुष्यमं, रूहनेवाको' चेतन्यकी चिनगारी इनो प्रकार प्रकाशके मार्गसे बलवती तो कितना अभ्युदय प्राप्त करेगी, इसका विचार पाठक स्वयं जान सकते हैं, इसीका उपदेश पूर्वोक्त अग्निके वृष्टान्तसे इस सुखमें बताया है ।

सबसे प्रथम अपने उत्पत्तिस्थानका स्मरण करनेका उपदेश प्रथम मध्यमें दिया है । ' यह तेज उत्पत्तिस्थान है, जहाँ उत्पन्न होते ही तु प्रकाशता है, वह जानकर स्वयं बढनेका यत्न कर और हमारी भी छोभा बढा । ' ( व. १ ) यह उपदेश चदन करने योग्य है । उत्पत्तिस्थान कई प्रकारका होता है, अपना कुल, अपनी जाति, अपना देश यह तो स्पष्ट दृष्टिके उत्पत्तिस्थान है । इस उत्पत्तिस्थानका स्मरण करते अपनी उत्पत्ति करने चाहिये । दूसरा उत्पत्तिस्थान आध्यात्मिक है जो प्रकृतिमत्ता और परमपितासे सम्बन्ध रखता है, वह भी आध्यात्मिक उत्पत्तिके लिये मनन करने योग्य है । उत्पत्तिस्थानका विचार करनेसे ' मैं कहाँसे आया हूँ और मुझे कहाँ पहुँचना है ' इसका विचार करना सुगम हो जाता है । जहाँ कहाँ भी उत्पत्ति हुई हो वहाँसे अपनी पक्षितसे प्रकाशता, बढना और दूसरोंकी प्रकाशित करना चाहिये ।

( इह अक्ष्छा यद् ) वहाँ सबके साथ सरल भाषण कर, ( प्रस्यह सुमताः भय ) प्रत्येकके साथ उत्तम मनो-भावनासे बर्ताव कर, अपने पाश छोड़ो, वह हुत्तरीकी यज्ञार्थिके लिये ( प्रयच्छ ) दान कर, यह द्वितीय मन्त्रसे तीन उपदेश वाचस्पति, यम, अष्टि और मातृगुडिके लिये अवगत उत्पन्न है । इसी भावसे इनको पवित्रता हो सकती है ।

आपके दो बंधोंमें हमें किन किन शक्तियोंसे सहायता मिलती है इसका उत्प्रेष है ।

सबसे प्रथम ( देवीः ) देवियों अथवा माताओंसे सहायता मिलती है, जिसकी कृपाके बिना मनुष्यका उद्धार होना अशक्य है, तत्पश्चात् ( स्त्रुता देवी ) सरल बानीसे सहायता प्राप्त होती है । मनुष्यके पास योग्य भावसे बोलनेकी शक्ति न हो तो उसकी उन्नती असंभव है । इसके नंतर ( अर्यमन् = प्रार्यमन् ) अर्थ बलके भावसे जो सहायता होती है वह अयुक्त हो है । इसके पश्चात् ( पृथस्पतिः ) ज्ञान और ( अग्नि ) अग्निवाणी सहायता देते हैं, इनमें बढा तो अंतिम यज्ञितत्वक पक्षपा देता है । ये उत्पत्तिके उपाय योग्य ( राजा अयच्छे ) राजाकी रक्षामें हो सहायक हो सकते हैं, सुखमय हो अर्थात् राजका सुखमय हो तो सब प्रकारकी उत्पत्ति समक्रीय है अन्त्या अशक्य है । इसके

साथ साथ ( भोम आदि य सूर्य ) वनस्पतिज और सत्वा आदान करनेवाला सूर्यप्रकाश य वन और आरोग्य वर्धक होनेसे सहायक है और अन्तर्गत् विशेष मदुस्वकी सहायता ( विष्णुः ) सर्वव्यापक देवताकी है जो सर्वांगीर होनेसे सबका परिपालक और सबका पातक है और इसकी सहायता सभीके लिये अत्यन्त आवश्यक है । जन्मसे लेकर मृत्युतक इस प्रकार सहायताएँ मिलती हैं और इसकी सहायता लेता हुआ मनुष्य अपने परम उत्पत्तिस्थानसे यहाँ भाकर फिर वहीं पहुँचता है ।

### सम्भूय समुत्थान

इस सूक्तमें एकताका वाद स्पष्ट अर्थों द्वारा दिया है । ( वाजस्य तु प्रसवे सप्तभूमिम् । ( म ८ ) ' वल्लो उत्पत्तिके लिये हम अपनी स्रष्टा बना करते हैं । ' सम्भूयसम्-स्थानके बिना शक्ति नहीं होती इसलिये सहायिता करके शक्ति पड़नेका उपदेश यह किया है । ( सूर्यः जन संश्रम्यो सुमनसः भपत् । म ६ ) ' जब सब मनुष्य सहायिता करने लगे उस समय बरस्वर उत्तम भद्रक साथ व्यवहार करें । ' ऐसा न करेंगे तो संप्रसारित ब्रह्म नहीं सकती । यह वस्तु समीपस्थका व्यवहार सिद्ध होनेके लिये ( ब्रह्म यज्ञ च वर्धये । म ५ ) ज्ञान और आत्मसमर्पणका साथ बढ़ाओ । संप्रसारितके लिये इनकी अत्यन्त आवश्यकता है । मनुष्यकी उत्पत्ति तो भवितव्य और तथ्या होती है, इसलिये पहले वैयक्तिक उत्पत्तिके उपदेश देकर पश्चात् साधिक उत्पत्तिके निर्देश दिये हैं । इस प्रकार दोनों मांगोंसे प्रसूति होनेपर ही पूर्ण उत्पत्ति हो सकती है ।

' वाजस्य प्रसवे सप्तभूमिम् ' ( म ८ ) यह मन्त्र बहुत दृष्टिके मान करने योग्य है । वल्लो ' वाजके अर्थ देखिये- ' युद्धमें जय, अन्न, जल, शक्ति, वस्त्र, धन, प्रति, बाणीका वस्त्र ' ये अर्थोंके प्रकरणमें इस मन्त्र-वाक्यका अर्थ इस प्रकार होता है- " हम युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये स्रष्टा करते हैं, अन्न, वस्त्र, जल, धन और पनादि ऐश्वर्यपूर्णके पदार्थ प्राप्त करनेके लिये आपातको एकता करते हैं, अपनी बाणीका वस्त्र बढ़ानेके लिये अर्थात् अपने भक्तका प्रभाव बनानेके लिये अपनी स्रष्टा करते हैं, एक प्रसवे जो द्रव्य हम पोलेंगे वे निश्चय ही अधिक प्रभावशाली पड़ेंगे, तथा हमारी प्रगति और उत्पत्तिकारक बनानेके लिये भी हम अपनी सहायिता बढ़ाते हैं । "

उत्पत्तिके लिये कद्रुसीका भाव पातक है इसलिये कहा है कि ( अ-द्विस्तन्त द्वापयतु । म ८ ) ' कद्रुसीको भी, दान न देनेवालेकी भी दान देनेकी और मुकाबो, ' शक्ति जरातता हो स्रष्टा होतो है और अनुवारतासे विपद्यती है । अपने पास धन तो होना चाहिये परन्तु वह धन ( सर्व चीर रश्मि नियच्छ । म ८ ) ' सन्तुं होरावके मुनीके साथ हो । ' अन्यथा कदावा हुआ धन कोई उठाकर ले जायगा इसलिये वीरताके साथ धन कायमका उपदेश यहाँ है ।

इस रीतिसे उत्तम हुआ मनुष्य ही कह सकता है कि ' धनो पालो विद्यया यथाशक्ति वस्त्र प्रदान करें और धनसे तथा द्रव्यसे जो सकल्य में कष्ट वे पूर्ण होजाय । ( म ९ ) इसके ये संकल्प निश्चय ही पूर्ण होजाते हैं ।

हरएकके मनमें अनेक संकल्प रहते हैं, परन्तु किसके सकल्य सफल होते हैं ? सकल्य तब सफल होते जब उन संकल्पोंके पीछे प्रवृत्ति होय, मान्यता संकल्पोंकी सिद्धि होय असंभव है । इस सूक्तमें संकल्पोंके पीछे प्रवृत्ति उत्पन्न करनेके विषयपर बड़ा बल दिया गया है । सूक्तके प्रारम्भसे यही विषय है-

' अपनी उत्पत्तिस्थानका विचार कर अपनी उत्पत्ति करने लिये कम्पर कल्ले उड़ना, ( म १ ) ; सीमा तारस आश्रय करना, पहले भाव उत्तम करना, ( म २ ) ; अन्न और तपस्य भाव बढ़ाना, ( म ५ ) ; प्राण धन परीकारमें लगाया, ( म ५ ) ; मनुष्योंको उत्तम विचार प्रारण करने, एकता यज्ञमें और परीकार करनेकी और प्रवृत्त करना, ( म ६ ) ; समर्थ्य बढ़ानेके लिये अपनी आवातको स्रष्टा बना, ( म ८ ) , अपने भद्र जो स्रष्टा विचारके हैं उनकी भी वचार बढ़ाना, ( म ८ ) , इस पूर्व तैयारीके पश्चात् ही सब सावधिक संकल्पोंकी सफलता संभव है । ' संकल्पोंके पूर्व इसी सहायकशक्ति उत्पन्न होना चाहिये । तब सकल्य सिद्ध होगे । इसका विचार करके पाठक इस प्रसिद्धको उत्पन्न करनेके कार्यमें लग जाय । इसके पक्ष - ' सब स्थानमें उत्तमो प्राप्तशक्ति साक्षात् होती है, सब स्थानसे उत्तमो दृष्टि होती है, यह सब प्रसन्नता बढ़ानेवासी हो भाषा जोलता है इसलिये वह तेजस्विताके साथ मनु-ष्यको प्रसन्न होता है । ( म १० ) '

इस वचन मन्त्रमें ' गोसन्ति वाच उदेय ' यह वाक्य है । ' गो ' का अर्थ है- ' इन्द्रिय, गी, नृत्ति, प्रकाश, स्वर्ण-सुव, वायो । ' इन्द्रियोंकी प्रसन्नता, वाणीकी प्रसन्नता,

प्रकाशका विस्तार, मनुष्यपिका पुनः शारीरिक शिद्धता होने योग्य में भाषण होता है ' ये सर्व इत्येते व्यक्त होता है । भाषे ' तेजस्विताके साथ मनुष्य ' प्राप्त करनेका विषय कहा है, उसके साथ यह ' प्रकाशता बढ़ानेवासी वाणीसे बोधना ' कितावा आवश्यक है, यह पाठक यहां अवश्य देखें । इस प्रकार इस वृत्तके वाच्योक्ति, पूर्वपर सबंध देखकर यदि पाठक मनन करेंगे तो उनको विशेष बोध प्राप्त हो सकता है ।

इस वृत्तका सङ्गोष्ठे यह विवरण है । पाठक जिसका अधिक विचार करने उतना अधिक बोध वे प्राप्त कर सकते हैं । अधिक विचार करनेके लिये भाष्यक संकेत, इस स्थान पर दिये हो हैं, इत्यन्तमें यहां अधिक लेख बढ़ानेकी आवश्यक नहीं है । अन्तिम वर्णन करनेके निमित्त शिरो ठूट सामान्य निदेश मनुष्यकी उत्पत्तिके निदर्शक कहे होते हैं, इसका अनुभव पाठक यहां करें । वेदको यह एक मनुष्य श्रेणी है ।

## तेजस्विताकी प्राप्ति

कांड ६, सूक्त ३८

( श्रुति - अथर्व बर्चस्काम । वेदता - त्रिवि, पृथक्पति )

सिद्धे व्याप्त उत या पुत्राकौ त्रिविंशौ ब्रह्मणे स्युं वा ।

इन्द्रं या देवी सुभगा जज्ञान सा न ऐतु वर्यसा संविदना

॥ १ ॥

या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्रिविंशसु गोषु या पुरुषेषु ।

इन्द्रं या देवी सुभगा जज्ञान सा न ऐतु वर्यसा संविदना

॥ २ ॥

रथे अथेष्टवृषमस्य बाजे वाते पञ्चमे चरुणस्य शुष्मे ।

इन्द्रं या देवी सुभगा जज्ञान सा न ऐतु वर्यसा संविदना

॥ ३ ॥

राजन्त्ये दुन्दुभाचार्यतायामर्षस्य बाजे पुरुषस्य मायौ ।

इन्द्रं या देवी सुभगा जज्ञान सा न ऐतु वर्यसा संविदना

॥ ४ ॥

अर्थ - ( या त्रिविः ) जो तेज ( सिद्धे, व्याप्ते, उत पुत्राकौ ) सिद्ध, बाध, और लाभमें है और ( या अष्टौ, ब्रह्मणे, स्युं ) जो तेज अग्नि, ब्राह्मण, और पूर्वमें है, ( या सुभगा देवी इन्द्रं जज्ञान ) जो भाग्यपूत देवी तेज इनको अर्थात् राजाको उत्पन्न करता है ( वर्यसा संविदना सा नः ऐतु ) मनुष्य और अन्ते पुत्र होकर वह तेज हमें प्राप्त होवे ॥ १ ॥

( या त्रिविः ) जो तेज ( हस्तिनि द्वीपिनि ) हाथी और वाघमें है ( या हिरण्ये, अष्टु, गोषु, पुरुषेषु ) जो श्वेत घोडा, जख, घोडे और मनुष्योंमें होता है, जिस भाग्यपूत तेजसे राजा उत्पन्न होता है, वह तेज हमें प्राप्त होवे ॥ २ ॥

जो तेज ( रथे अथेष्टवृषमस्य बाजे ) रथ, जख, और बंछके जखमें है और ( वाते पञ्चमे चरुणस्य शुष्मे ) वायु पञ्चम और चरुणके प्रागर्षमें है और जिससे राजा उत्पन्न होता है वह तेज हमें प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

जो तेज ( राजन्त्ये आयतायां दुन्दुभौ ) क्षत्रियमें और खिचो हुई कुम्भीमें होता है, और ( अम्बस्य बाजे, पुरुषस्य मायौ ) घोडेके दन्तों और मनुष्यके विलमें जो जख होता है, जिससे राजा उत्पन्न होता है, ॥ ४ ॥ तेज मुझे प्राप्त हो ॥ ४ ॥

## तेजस्विताकी प्राप्ति

### तेजके स्थान

इस मुक्तमें तेज कहा कहा रहता है, इसका उत्तम वर्णन है। मनुष्यको इन्हे गुण बनाना चाहिये और इनसे तेजका पाठ सीखना चाहिये, देखिये—

१ सिद्ध—सिद्धमें तेज है इसीलिसे उसने जनराज कहते हैं। सिद्धके सामने उसकी उन्नता देखकर साधारण मनुष्य नहीं रह सकता।

२ व्याघ्र—याघ भी बड़ा तेजस्वी होता है, उसकी उन्नता प्रसिद्ध है।

इसी कारण अधिक तेजस्वी मनुष्यको 'जगत्सिद्ध, जगद्व्याघ्र' कहते हैं। क्योंकि ये वस्तु अन्य वस्तुओंसे बड़े तेजस्वी होते हैं।

३ वृद्धाक्ष—सग भी बड़ा तेज बुद्ध होता है, धन और उन्न होता है।

४ अग्नि—अग्निको तेज, उत्पत्ति और प्रकाश का ज्ञान है।

५ ब्राह्मण—ब्राह्मणमें ज्ञान और विज्ञानका पटल रहता है।

६ सूर्य—सूर्य तो सब तेजका केन्द्र है ही। इसके समान कोई तेजस्वी पदार्थ नहीं है।

७ हस्ती—हाथीमें गभीरताका तेज होता है, उसकी प्रोभा महोत्सवोंमें दिखाई देती है, इसकी प्रगति भी बड़ी होती है।

८ व्रीषी—यह नाग तरह का व्याघ्रका है यह बड़ा उन्न और तेजस्वी होता है।

९ हिरण्य—सोनेका तेज सब जानते हैं।

१० आणः—जल भी तेजस्वी होता है, 'उत्त मनुष्यमें विक्रान्त भी पानी नहीं है,' ऐसा भाषाया भी व्यवहार होता है। जलमें तेज होनेके कारण जीवनके लिये भी यह राज्य प्रयुक्त होता है।

११ गौ—गायमें भी तेज है। पाठक भैरवा गोपिक और गायकी चपलताका बिचार करेये तो उनकी गायके तेजका पता लग जायगा।

१२ वृक्ष—मनुष्यमें भी तेज होता है।

१३ रथ, अश्व, वृषभ—इनके तेजका अनुभव सबकी है। मनुष्योंमें जो श्रेष्ठ होता है उसको 'नरपति' अर्थात् 'मनुष्योंमें बंस' ऐसा कहते हैं। बंस बड़ा बलवान् और तेजस्वी होता है।

१४ चायु, पर्जन्य—यद्यपि चायु अनुभव है तथापि वह प्राणके द्वारा उत्तरीयमें तेज स्थापित करता है, प्राणके बिना मनुष्य निराल बनता है। पर्जन्य जलके द्वारा सबको जीवित देता है।

१५ क्षत्रिय—क्षत्रियोंमें अन्य मनुष्योंसे उन्नता और तेज होता है इसी कारण सखिय राज्यका शासन कर सकता है।

१६ कुटुम्भी, अभ्यः—दोहके दन्तों ही मनुष्यमें दन्त उत्पन्न करता है और धोखा भी बड़ा प्रभावशाली होता है।

बिचार करने पर पता लग जायगा कि इनमें अलग अलग प्रकारका तेज है और ये सब प्रकारके तेज मनुष्यमें स्थिर होने चाहिये। भिन्न तेजोंकी वृद्धताके लिये देखिये सूर्य, चन्द्र, विष्णु, अग्नि इनमें तेज है, परन्तु वह परस्पर भिन्न है। हर एक पदार्थके तेजमें भिन्नता है। गायका तेज और गौका तेज परस्पर भिन्न है। मनुष्यको बिचार करके इनके तेजोंको अपने अंदर धारण करना चाहिये।

अग्निमें तेज है, उसकी बलि उन्न बिद्याकी धोर होती है वह रथ जलकर दूसरोंको प्रकाशित करता है, वह सब उन्न अवस्थामें रहता है, इसी प्रकार मनुष्यको अपनेमें तेज बढाना चाहिये। जगत् मनुष्य तेजस्वी बने, उन्न अवस्थानों और अपनी प्राप्ति करे, स्वयं कष्ट सहन करके दूसरोंको प्रकाशित करे और सब उन्न बच रहे। अग्निके तेजसे यह उपदेश मनुष्य से सकता है। उसी प्रकार सब प्राण तेजोंके विषयमें जानना चाहिये।

इस जगत्में हर एक पदार्थ मनुष्यको बोध देनेके लिये तैयार है, परन्तु मनुष्य हो बोध लेनेके लिये तैयार होना चाहिये। बोध लेनेकी दृष्टिसे यह युक्त बड़ा महत्वपूर्ण है।



# अभ्युदयकी दिशा

कांड ३, सूक्त २७

( अथि. - अथवा । देवता - अग्न्यात्म्य । )

प्राची दिगमिरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः ।

तेभ्यो नमोऽर्धिरितिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान्देहि यं इयं द्विभस्वतो वो जस्मै दध्मः

॥ १ ॥

अर्थ - ( प्राची दिक् ) उदयकी दिशाका ( अग्निः अधिपतिः ) तेजस्वी स्वामी, ( म - सित, रक्षिता ) मन्दरहित रक्त और ( मादित्या इषवाः ) प्रकाशजन्य जलवाता है । ( तेभ्यः ) उन ( अधिपतिभ्यः ) तेजस्वी इतिभ्यो ( नमः ) शेर नमन है । उन ( रक्षितृभ्यो नमः ) मन्दरहित सरक्षकों के लिये दुःखों का हरण है । उन ( इषुभ्यः नमः ) प्रकाशके शस्त्रोंके साथमें हमारी मज्जा रहे । ( यः ) जो अकेला ( अस्मान् ) हम सब आसितकोंके ( देहि ) देव करता है और ( यं ) जिस अकेले दुष्टसे ( इयं ) हम सब धार्मिक पुण्य ( द्विभस्वः ) देव करते हैं ( त ) उस बुद्धको हम सब ( यः ) आप सब सरक्षकोंके ( अग्ने ) न्यायके अजयमें ( दध्मः ) घर देते हैं ॥ १ ॥

भाषार्थ - प्राची दिशा अभ्युदय, उदय और पश्चिमका सूचक है । सूर्य, चंद्र, मन्त्र आदि सब विषय परापूर्वका उदय और उन्नति इसी दिशासे होती है और उदयके परभावत् उनके पूर्ण प्रकाशको अदम्य प्राप्त होती है । इसलिये सन्मुख यह प्रगतिकी दिशा है । जिस प्रकार जल उदयको दिशासे सबका उदय और वृद्धि हो रही है, उसीप्रकार हम सब मनुष्योंका अभ्युदय और सबर्धन होना चाहिए । यह पूर्व दिशा हम सब मनुष्योंको उदय प्राप्त करनेकी सूचना दे रही है । जल सिक्के अनुसार जल सबको मिलकर अभ्युदयकी तैयारी करके चाहिए । जल नृजन और मिश्रका प्रहण करने के लिये अपने और जनताके अभ्युदयके लिये अवश्य पान करना । उदयको दिशाका ( अग्निः ) जलही, ज्ञानी और शक्ता अधिपति है । उदयका मार्ग जानी उपदेशकोंके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, इसलिये हम सब लोग जानी उपदेशकोंके पास आकर आधुनिके साथ उनका उपदेश ग्रहण करेंगे । अब सोनेका समय नहीं है । उचित, आधुनिकता समग्र प्रारंभ हुआ है । धर्म, तेजस्वी ज्ञानसे युक्त युक्त पात धर्म और उनसे ज्ञानका प्रकाश प्राप्त करेंगे । इस उदयकी दिशाका ( म - सित ) मन्दरहित बुर रहनेवाला, स्वतन्त्रताके विचार धारण करनेवाला हो सक्त है । ज्ञानीके साथ रहकर ज्ञानको प्राप्ति और स्वातन्त्र्यके सरक्षणके साथ रहनेसे स्वातन्त्र्यकी प्राप्ति होती है । स्वातन्त्र्यका धिमा उन्नति नहीं होगी इसलिये स्वातन्त्र्यका सरक्षण करना आवश्यक है । इस सरक्षणके दासत्व ( आदिशयः ) प्रकाशके विरुद्ध है । प्रकाशके साथ ही स्वातन्त्र्य रहता है । विशेषतः ज्ञानके प्रकाशसे स्वातन्त्र्यका सबर्धन होना है । प्रकाश जिस प्रकार अज्ञानका निवारण करता है, उसी प्रकार ज्ञानका पूर्ण ज्ञानके आवरण अन्धकारमय प्रतिबन्धोंको दूर करता है । अभ्युदय प्राप्त करनेके लिये स्वातन्त्र्य होनेकी आवश्यकता है और प्रतिबन्धोंको दूर करनेसे ही स्वातन्त्र्यको प्रतिष्ठित करनेमें सक्षम है । तेजस्विता, ज्ञान, यत्नः, आत्मतन्त्र आदि आत्मिक धर्मोंके आधिपत्यसे ही अभ्युदय होता है, इसलिये तेजस्वी अधिपतियों, स्वातन्त्र्यके संरक्षकों और प्रतिबन्धनधारक प्रकाशमय प्रतिबन्धोंका ही जल आकर करते हैं । इसके विपरीत धर्मोंका हम सबों का हरण नहीं करेंगे । जो अकेला दुष्ट मनुष्य सब आसितक धार्मिक मन्त्र पुण्यको काट देता है, उसको प्रगति और उन्नतिले विघ्न करता है तथा जिसके दुष्ट होनेमें सब सरकारी भद्र धर्मोंकी पूर्ण समप्ति । मर्यादा भी सबमूल्य दुष्ट है, उसको जो बड़ देनेका काम हम अपने हाथमें नहीं लेना चाहते, परंतु हे तेजस्वी स्वामियो ! और स्वातन्त्र्यता देनेवाले सरक्षकों ! आपके न्यायके जनमें हम सबका रक्त है । जो बड़ भावकी पूर्ण संप्रतिष्ठा योग हो आप ही उसकी नीति । समाजको आसितके लिये हर एक मनुष्यको धर्म है कि यह सच्चे अन्यायीको भी बड़ देनेका अधिकार अपने हाथमें न लेवे, अतः उस अन्यायीको अधिपतियों और सरक्षकोंको न्याय-समाप्ति अर्पित करे तथा पूर्णतः प्रकाशके अधिपति और सरक्षकोंका ही तथा आकर करे । अर्थात् हर एक मनुष्य सब और भागका विषय करनेके लिये सदा तत्पर रहे ॥ १ ॥

३४ ( अथर्व. भा. १ मन्त्र- द्विष्ये )

दक्षिणा दिग्निद्रोऽधिपतिस्तिराशिराजी रक्षिता पितर इषेवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान्देष्टि यं वयं द्विभ्यस्तं वो जम्भे दुष्मः

॥ २ ॥

प्रतीची दिग्निद्रोऽधिपतिः प्रदोक् रक्षितान्मिषेवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान्देष्टि यं वयं द्विभ्यस्तं वो जम्भे दुष्मः

॥ ३ ॥

अर्थ— ( दक्षिणा दिक् ) दक्षिणा की दिशा ( इन्द्रः अधिपतिः ) राजा विचारक और ईश स्वामी है, ( तिराशिराजी रक्षिता ) वह सर्पाकार अतिरक्षण न करनेवाला और संरक्षक है ( पितरः इषवः ) पितृपतिवां अर्थात् प्रजननकी शक्तिवा वक्ते जगत् है । हम सब उस समुनिवारक और अधिपतिमें, अपनी मर्मादाका कभी अतिरक्षण न करनेवाले संरक्षकोंका तथा मुद्रका निर्माणके लिये सामने पितृपतिवांका आदर करते हैं । जो हम सब आत्माओंका विरोध करता है और जिसका हम सब आस्तिक विरोध करते हैं, उसकी, हम सब स्वामी और संरक्षकोंके स्वायत्त जगदेवें घर हैं ॥ २ ॥

( प्रतीची दिक् ) पश्चिम दिशा ( पशुनः अधिपतिः ) बर अर्थात् भेद्य अधिपति है ( पूष-आ-कुः रक्षिता ) वह स्वर्णनें उताहा धारण करनेवाला और संरक्षक है ( अर्थ इषवः ) जग उल्लेख इषु है । उन भेद्य अधिपति-वांके लिये, उन उताहों संरक्षकोंके लिये, तथा उन अमोघ अन्नके लिये हमारा आदर है । जो सबके साम कसह करता है इसलिये सब भद्र पुष्ट जिसकी नहीं पाहते हैं उसको उक्त अधिपतिवां और संरक्षकोंके स्वायत्त जगदेवें घर होते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— दक्षिण दिशा दक्षिण्यका मार्ग उता रही है । दक्षता, क्षत्रिय, क्षीररथ, कांकी प्रबोधता, प्रीति, चर्म, शीघ्र आदि क्षत्र गुणोंकी सूचक यह दिशा है, इसीलिये सोचा अंग रक्षितार्थ कहलता है और सोचा मार्ग प्रपञ्च दक्षिण मार्ग इसी दक्षिण दिशासे बताया जाता है । अर्थात् दक्षिण दिशासे सोचनेके मार्गके सूचका मिलती है । क्षत्रका निवारण करने, अपने नियमोंकी मर्मादाका उत्संघन न करने और उत्तम प्रजा निर्माण करनेकी प्रविष्ट धारण करनेवाले जगत् : इस मार्गके अधिपति, संरक्षक और सहायक हैं । इहिका आदर और सम्मान करना योग्य है । अपनी उत्पत्तिको सिद्ध करनेके लिये ( इन्द्र-ऋ ) क्षत्रियोंके विचारण करनेकी आवश्यकता होती है । क्षत्रका पराजय करनेपर हो अपना मार्ग निभंरक हो सकता है । क्षत्रियोंके साथ युद्ध करनेसे अपना मत बदलता है और क्षत्रदमन करनेके दुराचारोंके अपनेमें उताह स्थिर रहता है । इसलिये मेरे तथा समाजके क्षत्रियोंका प्रमत्त करनेके उपायका अवलंबन करना मेरे लिये आवश्यक है । समाजकी धार्मिक लिये अपनी मर्मादाका उत्संघन न करनेवाले संरक्षकोंकी आवश्यकता है । कोई भी समाज अपनी मर्मादाका उत्संघन करने अथवाधार न करे । यं भी कभी अपने नियमोंका और मर्मादाका अतिरक्षण न करे । समाजकी सुस्थिति के लिये उत्तम पितृपति अर्थात् मुद्रका निर्माण करनेकी धार्मिक आवश्यकता है । मुद्रका निर्माणसे समाज अमर रह सकता है । इसलिये हरएक मुद्रवादी अपने अंदर उत्तम पुष्टत्व तथा हरएक स्त्रीको अपने अंदर उत्तम स्त्रीत्व विकसित करना चाहिए । तत्पर्यं यह कि उक्त प्रकाशके क्षत्रनिवारक अधिपति, नियमनुकूल व्यवहार करनेवाले संरक्षक और उत्तम पितर जहाँ होते हैं वहीं रक्षित्यका व्यवहार होता है । इसी प्रकारकी व्यवस्था स्थिर करनेका पान में अवाय कर्मा । जो सबको हानि पहुंचाता है और जिसको सब समाज बुरा करता है उसको चक्र अधिकारी, संरक्षक और पितरोंके स्वायत्त-तयमें हम सब पहुंचाते हैं । देखो उसके चोपका यथायोग्य विचार करें । हरएक मनुष्यको उचित है, कि वह गोपे मार्गके चके और समाजकी उत्पत्तिके साथ अपनी उत्पत्तिको उत्तम प्रकारसे सिद्ध करे ॥ २ ॥

पश्चिम दिशा विषाधकी दिशा है; क्योंकि पूर्ण आदि सब दिग्ग व्योतिवां इतो पश्चिम दिशामें प्राकर मूल होती हैं और जगत्को अपना रक्षक कार्य संपादित करनेके दशवर्ग विषाध सेनेकी सूचना देते हैं । पूर्ण दिशा द्वारा भूस्थिति

उदीचीं दिक्तामोऽधिपतिः स्वो रक्षितान्निरिष्वः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्यस्व वो जम्भे दध्मः

॥ ४ ॥

धुरा दिग्दिष्णराधिपतिः कृत्वापेभ्यो रक्षिता वीरुध इषवाः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्यस्व वो जम्भे दध्मः

॥ ५ ॥

अर्थ—( उदीचीं दिक् ) उत्तर दिशाका ( सोमः अधिपतिः ) जात अधिपति है ( स्व-जः रक्षिता ) वह स्वयं सिद्ध और रक्षक है ( अशानिः इषवाः ) विघ्नोत्पन्न उल्लेख इषु हैं । उन जात अधिपतिज्यों, स्वयंसिद्ध सरक्षकों और तेजस्वी इषुज्यों के लिये हमारा नमन है । जो उससे द्वेष करता है और मिलने सब द्वेष करते हैं उसको उक्त अधिपतिज्यों और सरक्षकों के व्यापके लक्ष्यमें हृष्य कर देते हैं ॥ ४ ॥

( धुरा दिक् ) निम्न दिशाका ( दिष्णः अधिपतिः ) प्रवेष्टकर्ता अधिपति है ( कृत्वापे-कर्मात्त-प्रायः रक्षिता ) वह कर्मकर्ता और सरक्षक है ( वीरुधः इषवाः ) वनस्पतिजा उसको इषु हैं । इन सब अधिपतिज्यों और रक्षकों के लिये ही हमारा आदर है । ॥ ५ ॥

पुनराचार्यकी सूचना की गई थी, अब पवित्र दिशाके गुण स्वामय्यं प्रविष्ट होने, वहाँ विद्याति और शांति प्राप्त करने, अर्थात् विपुलतन्त्र पुनराचार्य साध्य करनेकी सूचना मिलने है । अथ उसको सहायता पुरुष ब्रह्म मार्गके जमनाः धनिपति और सरक्षक हैं । विभाग और अग्रसक्त मुख्य साधन वही अथ है । भेद और उत्तमही अधिपति और सरक्षकों काकार सबको करना उचित है । तथा अन्नको और कर्मात्मकी दृष्टिसे देखना योग्य है । जो सबके मार्गमें विघ्न डालता है इसलिये जिसको कोई पाल करना नहीं चाहता उसको अधिपतिज्यों और सरक्षकोंको व्यापकताके आधीन करना योग्य है । समाजके हितके लिये सबको उचित है, कि ये व्यापानुसार ही अपना सब कर्त्तव्य करें और किसीको उपद्रव न दें ॥ १ ॥

उत्तर दिशा पञ्चमद अवस्थाकी सूचना देती है । हृष्यक सन्मुखको अपनी अवस्था उच्चतर बनानेका प्रयत्न हर समय करना चाहिये । इस उच्चतर मार्गमें प्राप्त स्वभावका अधिपत्य है, भावस्य छोड़कर सब सिद्ध और उद्यत रहनेके धर्मसे इस पथपर चलनेवालोंका सरक्षण होता है । व्यापक उत्तर क्षेत्रकी स्वभावके द्वारा ब्रह्म मार्गपरकी सब आवश्यकता पूरा होती है । इसलिये मैं इन गुणोंको धारण कर और समाजके साथ अपनी अवस्था उच्चतर बनानेका पुनराचार्य अवश्य करूँ । शांत स्वभाव धारण करनेवाले अधिपति, सब उद्यत और सिद्ध सरक्षक हो सब सम्मत करने योग्य है । साथ ही सर्वोपयोगी व्यापक तेजस्विताका आदर करना योग्य है । जो सबकी हानी करता है इसलिये जिसका सब सम्मन निरादर करते हैं उसको उक्त अधिपतिज्यों और सरक्षकोंके सन्मुख सदा किया जाये । सोच ही स्वयं पतकी ॥ न. वेर्मे । अधिपति ही निम्नताशास्त्रीकी दृष्टिसे उसको योग्य व्याप देवे । समाजकी उच्चतर अवस्था जमानेके लिये उक्त प्रसारका स्वभाव धारण करना अत्यन्त आवश्यक है ॥ ४ ॥

ध्रुव दिशा स्थिरता, दृढता, आधार भावि शुभ गुणोंकी सूचना है । चलसत्ता दूर करने और स्थिरता करनेके लिये ही सब धर्मके निमित्त है । उद्यमी और पुण्याधीन पुरुष वहाँ अधिपति और सरक्षक हैं । क्योंकि कर्मसेही जगत्की स्थिति है, इसलिये कर्मके बिना किसीकी स्थिरता और दृढता ही नहीं सकती । यही कारण है कि इस दृष्टाके मार्गके उद्यमी और पुण्याधीन सारक्षक हैं । यहाँ अधिपति वनस्पतिज्यों योग्य निवारणद्रावा सहाय्य करते हैं । जो जो दोषोंको दूर करनेवाले हैं वे सब इस मार्गके प्रहायक हैं । उद्यमी और पुण्याधीन अधिपति और सरक्षकोंका सम्मान सबको करना चाहिए । ॥ ५ ॥



ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः शिषो रक्षिता वर्षमिषंवा ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो राक्षतभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान्द्रष्टि यं चयं द्विभस्तं वो ब्रह्मो दक्षः

॥ ६ ॥

अर्थ— ( ऊर्ध्वा-दिक् ) ऊर्ध्व दिशाका ( बृहस्पतिः अधिपतिः ) आत्मज्ञानी स्वामी है, ( शिषः रक्षिता ) वह पवित्र और सरल है ( वर्ष इषवः ) अन्न वन उसके इष्ट हैं । आत्मज्ञानी स्वामियोंका तथा पवित्र सरलकोंका ही सबको सम्मान करना योग्य है । कुछ अमृत जनक ही सबको आवर करना चाहिये । ६० ॥ ६ ॥

भावार्थ— ऊर्ध्व दिक् आत्मिक उन्नतताका मार्ग सुचित करती है । सच्चा आत्मज्ञानी भाक्त पुरुष ही इस मार्गका अधिपति और सरलक है । जो अन्नवस्तु पवित्र होगा वही यज्ञ सरलक ही सकता है । आत्मके अनुभव और पवित्रत्वका यही स्वाभाविक है । आत्मिक उन्नतताके मार्गका अवलम्बन करनेके समय आत्मज्ञानी भाक्त पुरुषके आधिपत्यमें तथा पवित्र सत्ताधारी सत्पुरुषके सारक्षणमें रहते हुए ही इस मार्गपर चलनेसे इष्ट सिद्धियोंकी वृद्धि होती है । आत्मिक अन्न जनक रता-स्वयंभू केनेहा यही योगमार्ग है । ये इस मार्गका आत्मजन अन्वय होते ब्रह्म और इन्द्रोंका मार्ग भी प्रकाशित सुगम कर्क । मैं सरा ही पवन प्रकारके आत्मज्ञानी और कुछ सत्ताधारी सत्पुरुषोंका सम्मान करूँ । ६० ॥ ६ ॥

## अभ्युदयकी दिशा

### दिशाओंके वर्णनसे मानवी उन्नतिका तत्त्वज्ञान

#### उन्नतिके छः केन्द्र

इस 'सूक्तके' छ मन्त्रोंमें मानवी उन्नतिके छ केन्द्र छः दिशाओंके द्वारा सूचित किये गए हैं । ( १ ) प्राची, ( २ ) दक्षिणा, ( ३ ) प्रतीची, ( ४ ) उदीची, ( ५ ) भुवा और ( ६ ) ऊर्ध्वा ये छ दिशाएँ क्रमशः ( १ ) प्रसन्न, ( २ ) वक्षता, ( ३ ) विद्या, ( ४ ) उन्नता, ( ५ ) स्थिरता और ( ६ ) आत्मिक उन्नतिके भाव बता रही हैं । उपासक इन दिशाओंमें होनेवाली नैसर्गिक घटनाओंको विचारकी दृष्टिसे देखे । इस दृष्टिके विविध घटनाओंके द्वारा सर्वव्यापक परमात्मा प्रत्यक्ष उपदेश दे रहा है, ऐसी भावना करने स्थिर करके उपासकोंकी दृष्टिकी ओर देलना आवश्यक है । जब ताबको छोड़कर परमात्माके चैतन्यसे मूढ़ मूर्ख ओत-प्रोत व्याप्त हैं, ऐसी भावना मनमें स्थिर करनी चाहिए । क्योंकि ' यह पुरुषमूर्ख उन्नत पुरुष परमेश्वरके द्वारा ही उन्नत को प्राप्त होती है । और उस पुरुष ईश्वरकी दक्षिणही छ दृष्टि द्वारा दिखाई दे रही है । ' इस प्रकार विचार स्थिर करके यदि उपासक उन्नत प्रकार छ दिशाओं द्वारा अपनी उन्नतिके छ केन्द्रोंके सदृशने उपदेश लेने को व्यक्ति धीरे

समानको उन्नतिके स्थिर और निश्चित मार्गोंका ज्ञान उनको हो सकता है ।

इन केन्द्रोंका ज्ञान उत्तम रीतिसे होनेके लिये पूर्वोक्त वैदिक सूक्तोंमें कवित दिशाओंके ज्ञानके कीवक यही देते हैं और उनका स्पष्टीकरण भी काम्यकी दृष्टिसे समझते ही करते हैं—

दिशा कौष्टक ( १ ) [ अधर्व० ३।२७।१-६ ]

| दिग्    | अधिपति    | रक्षिता    | इषव     |
|---------|-----------|------------|---------|
| प्राची  | अग्नि     | असित       | आदित्या |
| दक्षिणा | इन्द्रः   | तिरिधिराजो | पितरः   |
| प्रतीची | वरुणः     | पृदाकुः    | अन्नम्  |
| उदीची   | सोमः      | स्वयः      | अश्विनः |
| भुवा    | विष्णुः   | कल्पापचीवः | वीरुधः  |
| ऊर्ध्वा | बृहस्पतिः | भ्यत्रः    | वर्षम्  |

इस सूक्तके मन्त्रोंके देखनेसे इस ओतकको सिद्ध हो सकती है । अब वेदमें अथ स्वामीमें आये हुए दिशा विवरण उल्लेखोंका विचार करना है । इस विषयमें निम्न मन्त्र देखिए—

येऽस्या स्य प्राच्या विशि हेतयो नाम देवा  
स्तेषा वो अग्निरिव । ते नो मृदत ते  
नोऽधिभूत तभ्यो यो नमस्तेभ्यो च स्वाहा ॥ १ ॥  
येऽस्या स्य दक्षिणाया दिश्यविष्ववो नाम  
देवास्तेषा च काम इव । ते नो ॥ २ ॥ येऽस्या  
स्य प्रतीच्या विशि वैराजा नाम देवास्तेषा च  
आप इव । ते नो ॥ ३ ॥ येऽस्या खोदीच्या  
दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवास्तेषा वो वात  
इव । ते नो ॥ ४ ॥ येऽस्या स्य भ्रुवाया  
दिशि निलिप्या नाम देवास्तेषा च ओषधी  
रिव । ते नो ॥ ५ ॥ येऽस्या स्थोर्वीया  
दिश्यवस्त्वन्तो नाम देवास्तेषा वो घृहरपतिरिव ।  
ते नो ॥ ६ ॥ ( अथ ३२११६ )

‘ प्राची आदि दिशाओंमें हेति आदि देव ह और अग्नि  
मार्ग इव ह । य सब ( न ) हम समको ( मृदत )  
मुझी करें ये हम समको ( अधिभूत ) उपदेश करें उन  
सबको हमारा नमस्कार है, उनके सिम हमारा नमस्कार है ।  
यह ॥ मर्मोंका भाषण ह । अब इनका निम्न विवृत  
कोष्टक यत्ता है—

दिशा कोष्टक ॥ २ ॥ [ अथर्व० ३१२६।१६ ]

|         |             |          |
|---------|-------------|----------|
| विश     | देवा        | इव       |
| प्राची  | हेतय        | अग्नि    |
| दक्षिणा | अविध्य      | काम      |
| प्रतीची | वैराजा      | आप       |
| उदीची   | प्रविध्यन्त | वात      |
| भ्रुवा  | निलिप्या    | ओषधी     |
| ऊर्वा   | अवस्त्वन्त  | घृहस्पति |

पहिले कोष्टकको इत द्वितीय कोष्टकके साथ तुलना  
कोरिए । पहिले कोष्टकमें ‘ प्राची और ऊर्वा ’ के ‘ अग्नि  
और घृहस्पति ’ अधिपति हूँ केही यहाँ ‘ इव ’ बन ह ।

भ्रुवा दिशाके इव पहिले कोष्टकमें ‘ वीर्य ’ ह और  
यहाँ ‘ ओषधि ’ ह । इन दोनों गब्जोंका जर्म एक ही ह ।  
‘ प्रतीची ’ विषयका इव दोनों कोष्टकोंमें ‘ अन्न और  
‘ आप ’ है । खानपानका परस्पर निकट सम्बन्ध है ।  
‘ दक्षिण दिशाके इव दोनों कोष्टकोंमें ‘ वितर ’ और ‘ काम ’  
ह । कामके उपभोगसे ही वितर प्राप्त हो सकता है ।  
‘ उदीची ’ दिशाके इव ‘ वात और अग्नि ’ ह । अन्न  
निर्वा जय विद्यत है और उष्णता स्थान मध्यस्थान अर्थात्  
वायुका स्थान यावर यहाँ है । इससे पाऊँको पता लग  
जायगा, कि केवल प्राची और ऊर्वा दिशाओंके इव  
बनते ह, इतना ही नहीं परन्तु पहिले कोष्टकमें जो अधिपति  
य च हो सुगरेमें इव बन ह । अथ दिशाओंके इव समान  
जयका परस्पर सम्बन्ध रक्षनवाले ह । अथववेदको तीसरे  
काण्डके २६ और २७ सूक्तोंके कथनमें इतना सब है । इस  
जगते स्पष्ट होता है कि इव, अधिपति आदि शब्द शास्त्र  
विक नहीं ह परन्तु अलंकारिक ह । अब निम्न मंत्र  
देविप—

प्राचीमारोह गायत्री स्वावतु रथतर साम  
त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऋतुर्गन्धर्वा विणिग् ॥ १० ॥  
दक्षिणमारोह विष्णुस्वावतु वृहन्तसाम  
वज्रदश स्तोमो ग्रीष्म ऋतु क्षत्र विणिग् ॥ ११ ॥  
प्रतीचीमारोह जयत्री स्वावतु वैष्णव साम  
सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विद् विणिग् ॥ १२ ॥  
उदीचीमारोहातुप्सुस्वावतु वैराज  
सामैर्विशि स्तोम शरदतु फल विणिग् ॥ १३ ॥  
ऊर्वामारोह पक्षिस्वावतु शाक्यरैरथो सामनी  
विणवत्रयार्क्षिणी स्तोमो हेमन्तशिशिरावतु  
वर्षा विणिग् ॥ १४ ॥ ( यजु स १० )

‘ प्राची आदि दिशाओंमें ( ऋतु विणिग् ) शान आदि  
बन है । इन वर्गोंका स्पष्टीकरण निम्न कोष्टकमें हो  
सकता है—

दिशा कोष्टक ॥ ३ ॥ [ यजु० १०।१० १४ ]

|              |            |           |                     |              |           |
|--------------|------------|-----------|---------------------|--------------|-----------|
| विश          | रथक छत्र   | साम       | स्तोम               | ऋतु          | दक्षिण बन |
| प्राची       | गायत्री    | रथतर      | त्रिवृत्            | वसन्त        | मह        |
| दक्षिणा      | त्रिष्टुप् | वृहत्     | वज्रदश              | ग्रीष्म      | क्षत्र    |
| प्रतीची      | जयत्री     | वैष्णव    | सप्तदश              | वर्षा        | विद्      |
| उदीची        | अनुष्टुप्  | वैराज     | एकविंश              | शरद्         | फल        |
| भ्रुवा ऊर्वा | पक्षि-     | शाक्यरैरथ | त्रिणवत्रयार्क्षिणी | हेमन्त शिशिर | वर्षा     |

इस कोष्टकमें दिशाओंके घनोंका बलक अथवा अक्षरों का करे ( १ ) प्राची दिशाका धन ( अक्षर ) जान है । ( २ ) दक्षिण दिशाका धन ( अक्षर ) भीम है । ( ३ ) प्रतीची दिशाका धन ( विश ) उत्तमहोते पुनरापन करनेकी वंश शक्ति है । ( ४ ) उत्तरी दिशाका धन फल परिणाम लाभ भारि है । ( ५ ) ध्रुवा और ऊर्ध्व दिशाका धन शक्ति, बल आदि है । जान, शीघ्र, पुनरापन प्रयत्न, लाभ और शीघ्र तेज ये उक्त दिशाओंके धन हैं । उत्तरी तुलना प्रयत्न कोष्टकके साथ करनेसे अर्थका बहुत पोरब प्रतीत होता । पाठकों पर यह जान किया होना कि उक्त धन विशेष वर्णोंके होकर उक्त दिशाओंका समग्र उक्त वर्णोंके साथ भी है । आह्वानोंका जान, शीघ्रोंका शीघ्र, वंशोंका पुनरापन, धनके पुनरापन लाभ और जनताका बोधतेज सब राष्ट्रके उद्धारका हेतु है । तथा प्रत्येक व्यक्तिमें जान, शीघ्र, पुनरापन, फल प्राप्ति तक प्रयत्न करनेका धृष्ट और बोधतेज चाहिए । इस प्रकार व्यक्तिमें उक्त गुणोंका समग्र है । इस समग्रकी स्मरण करनेसे हुए पा क निम्न मंत्र वेष्टि—

प्राच्या विशि शिरो अजस्य धेहि ।  
दक्षिण्या विशि दक्षिण धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥  
प्रतीच्या विशि भस्वमस्य धेहि ॥  
उत्तरस्या विश्वुत्तर धेहि पार्श्वम् ॥  
ऊर्ध्वा विश्वजलस्यानूर्ध्व धेहि ॥  
विशि ध्रुवाया धेहि पाजस्यम् ॥ ८ ॥

( अर्थ ५३४ )

‘ प्राची दिशामें ( अजस्य ) अजगता शीघ्रता सिर रखी तथा अन्य दिशाओंमें अन्य अथवा शीघ्र । ॥ ७ ॥ मध्यमें व्यवहारोंका दिशाओंके साथ समग्र बताया है । निम्न कोष्टकके इसका भव स्पष्ट होगा—

दिशा कोष्टक ॥ ४ ॥ अर्थ. ( ४१४७-८ )

| प्राची  | शिरो           | मस्तक       |
|---------|----------------|-------------|
| दक्षिणा | दक्षिण पार्श्व | बाहिना नयल  |
| प्रतीची | भस्व           | मुक्त नाग   |
| उर्ध्वी | उत्तर पार्श्व  | अम्बा नयल   |
| ध्रुवा  | पाजस्य         | पद          |
| ऊर्ध्वी | आनूर्ध्व       | पीठकी हठ्ठी |

इस कोष्टकके साथ पूर्वोक्त तीसरे कोष्टकको तुलना कीजिए । जान, शीघ्र, पुनरापन और फलका समग्र स्मरण, बाह्य, मध्यभाग और निम्न भागके साथ यहाँ किया है ।

जान, शीघ्र पुनरापनका समग्र गुणकयते प्रत्येक व्यक्तिमें है और सर्व रूपसे आह्वान, शक्ति, वंशोंमें अपात् राष्ट्र-पुनरापनके अवयवोंमें है । इस प्रकार वर्णोंका समग्र दिशाओंके साथ स्पष्ट है । यह समग्र ध्यानमें धर कर विचार करते हुए आप निम्न मंत्र देखिए—

प्राचीं प्राचीं प्रदिशामरमेधामेत लोक भद्र-  
धानाः सचन्ते । यद्वा पक्ष परिधिष्टमनो  
तस्य मुक्तये दृष्टी सधयेधाम् ॥ ७ ॥  
दक्षिणा दिशमभि नक्षमाणी पर्यायर्तधामभि  
पाशमेतत् । तस्मिन्वा यम पितृभि सविज्ञानः  
पकाय शर्म बहुल निदध्यात् ॥ ८ ॥  
प्रतीचीं दिशामियमिदं पस्या सोमो अधिप  
सुखिता च । तस्या अयेधा सुखतः सचेधा-  
मधा पकान् मिथुना समवाधः ॥ ९ ॥  
उत्तर राष्ट्र प्रयोत्तरादिशामुदीचीं कुलवन्  
नो अग्रम् । पाक छद्म पुनरो मभूय दिव्यै-  
र्विश्वायः सह समवेम ॥ १० ॥  
ध्रुवेय विराण्मनो अस्त्यस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत  
महायस्तु । सा नो वेष्ट्यदिते विश्वचार इष्य ॥  
योषा मभि रक्ष एकम् ॥ ११ ॥ ( भय १२५ )

( १ ) ( प्राची ) पूर्व दिशा प्रगति की दिशा है, इसमें ( आरमेधा ) उत्तमहोते साथ पुनरापनका स्मरण कीजिए, ( एत लोक ) इस उत्तमहोते लोकमें ( अर्धधाना ) अर्ध आराम करनेवाले हो पहुँचते हैं । ( यो ) जो ( प्रा ) जान शीघ्रता अग्निमें प्रविष्ट होकर ( पक्ष ) पक्षी हुआ भद्र होया, ( तस्य मुक्तये ) उसकी रक्षाके लिये ( दृष्टी ) शीघ्र-पुनरापन ( सधयेधा ) प्रयत्न करें । ( २ ) इस दक्षिण दिशामें जब आप ( अभि नक्षमाणी ) सब प्रकारसे प्रगति करते हुए ( पा-य ) योग्य अवस्था सरलक कर्मका ( अभि पर्यायर्तधा ) सब प्रकारसे बारबार अनुष्ठान करने, तथा आपकी ( पकाय ) परिपक्वताके लिये ( पितृभि. ) रख करके साथ ( सविज्ञानः यमः ) जानने निदानक ( बहुल शर्म ) बहुत कुछ देना ॥ ( ३ ) ( प्रतीची ) पश्चिम दिशा यह सबकुछ ( वर ) अच्छा दिशा है, जिसमें ( सोम. ) विद्वान् और शास्त्र अधिपति और ( सुखिता ) मुक्त देनेवाला है । इस दिशाका आपका कीजिए, मुक्त करके परिपक्वता-को ( सचेधा ) प्राप्त कीजिए । और ( मिथुना ) स्त्रीपुत्र सब निरुद्ध ( स मयाध. ) मुक्तज्ञान वरिष्ठ कीजिए । ( ४ ) उत्तर दिशा ( प्र-अग्र. ) विजयशाली राष्ट्रीय दिशा

है, इसलिये हम सबको यह उत्तर दिना (अत्र) अव  
भागमें ले जाये। (पाँच) पाच वर्षों-राष्ट्रके निर्माणका  
(छः) छह ही यह पुरुष होता है। सब अर्थात् सब  
हम सब (संभवेम) मिलकर रहें। (५) यह पुरुष  
दिना (पिराट) बड़ी भारी है। इसके लिये नमन है।  
यह वेदे लिखे तथा वाक्यान्वयों लिये (निवा) कथन

कापी होने। हे (अ-दिते देवी) हे स्वतंत्रता देवि !  
(विश्व-धारे) सब आधुनिकोंका निवारण करनेवाली  
देवी ! तू (गोपा) हथ सबका तराज करती हुई, हमारी  
परिपक्वताको वरक्षित रखे।

इन धर्मों में दिखाओकी कई विशेष बात बताई है।  
इनके मुचक मध्य प्रत्येका लिख्न शोष्टक बनता है।

दिशा कोष्टक ॥ ५ ॥ ( अर्थ १२।३।७-११ )

|          |             |           |                 |           |
|----------|-------------|-----------|-----------------|-----------|
| विश      | अर्थ        | साधन      | साधक            | विश       |
| माची     | आरंभः       | अद्वयान   | दंपती           | सुधयेयां  |
| वृक्षिणा | पर्यावर्तने | मक्षमायः  | यमः सविज्ञानः   | निपच्छात् |
| प्रतीची  | साधयः       | सुकृतः    | भियुतः          | समयापः    |
| जदीवी    | प्र-जयः     | पाकं छद्ः | पुरयः           | सह समयेम  |
| भया      | वि-राट्     | निवा      | विश्ववारा भविति | रक्ष      |

इस प्रकारके साधारणकर्मों पता लग जायगा कि दिसा-  
मौके जस्त मान किस बातके सूचक है। और इन सूचक  
मानों सेता ज्ञान दखवाना भरा है। इन प्रश्नोंके देखनेसे  
निम्न बातोंका पता लगता है—

( १ ) प्राची विद्या— ( प्र+अच्=आगे बढ़ना, उप-  
करण ) यह मूल अर्थ 'प्राच्' वायुका है, जिससे  
'प्राची' शब्द बनता है । 'प्राची विद्या' का अर्थ सबसे  
अथवा उत्तम की विद्या, यद्विद्या आर्थ ।

उपलब्धिके लिये विविध कर्म शरभ करनेकी आवश्यकता पड़ती है। वृषवायोका प्रारम्भ किए बिना उपलब्धिकी प्राप्ति करना व्यर्थ है। जाताहूले मुख्याय करनेके लिये भद्रा षाहिर । भद्राके बिना जाताहू प्राप्त नहीं हो सकती। समस्तमें शत्रुमुख मिलकर ही विविध वृषवायोका सामन करते हैं। उनके परस्पर मिलकर रहतेही जाताहूमें सब भेगोंकी परिपक्वता और ( सुप्ति ) लक्षण हो सकता है। इस प्रकार प्राचीन दिशाके शेष मिलता है।

( २ ) दक्षिण दिशा- ' दक्षिण ' शब्दका अर्थ नक्ष, ठीक, योग्य, प्रबुद्ध, सीधा, सच्चा है । ' दक्षिण दिशा ' शब्दोंका मूल अर्थ सीधा मार्ग, सच्चा मार्ग होता है । पश्चात् इसका अर्थ 'सोचें बराबर की दिशा ' हो गया है ।

उत्पत्तिके लिये तीर्थ और जन्मे भाँजे चलना चाहिए ।  
 और ( नक्षत्रमात्र ) गति प्रपन्ना हस्तगत किंवा प्रयत्न करवा  
 चाहिए क्षम्यता सिद्धि होतो अत्यन्त है । एकवार प्रयत्न  
 करनेके सिद्धि न हो तो बारबार पुनरावृत्ति करना आवश्यक  
 है, इसीको वचना ( एवमर्थात् परि-श्र-म-त-र्थात् )

चारवाद प्रत्यक्ष कोटिपर 'इन' शब्दों द्वारा प्रत्यक्ष ही है। 'अयम्' 'अयम्' नियमोंका सुचक, 'पितृ' शब्द जन्मदाता और सरलरूपका सुचक, तथा 'सर्विद्वान्' शब्द ज्ञानका सुचक है। नियम, स्वस्वरूप और ज्ञानसे ही धर्म अर्थात् सत्य होता है। यह अधिकांश विज्ञानके प्रत्यक्ष बोध मिलता है।

( ३ , प्रतीक्षी विद्या— प्रत्यक्ष अद्वय आत्मा, भक्तभुंज होता । प्रतीक्षी विष्णु प्रसिद्धी विद्या, अद्वय मूल स्वभाव पर आनेको दिद्या, स्वभावपर आनेका भाग, भक्तभुंज होनेका भाग, यह इस अद्वयका मूल भव्य है । ' पूर्वाविद्या ' को माने यदनेका भाग कहा है और परब्रह्म विद्याको छिद्र धारण होकर अपने मूल स्वभाव पर आकर विश्राम लेनेकी विद्या कहा है—

|                |              |
|----------------|--------------|
| प्रतीक्षा      | प्राची       |
| ( प्रति-क्ष् ) | ( प्र-क्ष् ) |
| प्रति-गति      | प्र-गति      |
| प्रति-पदन      | प्र-पदन      |
| प्रि-वृत्ति    | प्र-वृत्ति   |

दिशाओंकि नापोंसे भी भाव व्यक्त होते हैं, जइसा बता  
इस कोष्टकसे लग सकता है। बरिक्त शब्दोंका ॥ प्रकार  
यत्नसे देखना चाहिए।

निर्वृति निधिर्नित् अपन्ना स्व-स्थताका ह्वात हो भेद्य  
(वर्) होता हुं । सातिसे निप्र और भेद्यता क्या होगी ?  
छेद्य हो शतताकी देवता हुं । धूपके पक्षरतर प्रचद, किरणोंके  
वापसि चतत भ्युष्य बज (स्रोम) के शीत प्रकाशसे शत  
मल्लुट और आनित होता ह । मुकुट अर्पित आनित धूप

मर्शोंका मार्ग हो इस यात्राको प्राप्त कर सकता हूँ, इत्यादि भाव इस मन्त्रमें तात होते हैं ।

( ४ ) उत्तर दिशा- ( उत्-तर ) अधिक उच्चतर, अधिक श्रेष्ठ व्यवस्था प्राप्त करनेका मार्ग ऐसा इसका मूल अर्थ है । मनुष्योंको उच्चतर अवस्था प्राप्त होनेके लिये राष्ट्रको भक्ति कारण होती है, क्योंकि—

अन्नमिच्छन्त आपयः स्वर्चिदस्तपो दौष्टामुप-  
निषेदुरग्रे । ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जात तदसे  
देवा उपसंसमन्तु ( अथर्व १५४११ )

‘सबका कल्याण करनेको इच्छा करनेवाले ब्राह्मी ऋषि-मुनियोंने तप किया और ब्रह्मतासे प्रत किया । उससे राष्ट्र, बल और ओज उत्पन्न हुआ, इसलिये सब देव उस राष्ट्रीय-ताके सम्मुख मद्रता धारण करें ।’ राष्ट्रियताके साथ लोक-कल्याणका भाव इस प्रकार वेदमें वर्णन किया है । लोक-कल्याण ही लोगोंकी उच्चतर अवस्था है । राष्ट्रीय भावना के अन्तर ( जः अन्नं कृण्वन् ) ‘हम सबको अन्न भागमें होनेके लिये प्रयत्न’ करना आवश्यक है । राष्ट्र ( पाँच ) पाँच विभागोंमें विभक्त है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, गृह और व्यापार, अथवा तानी, दूर, व्यापारी, कारोबार और साधारण जन मिलकर राष्ट्रके पाँच अवयव होते हैं, इन पाँच प्रकारके जनकोंका कल्याण करनेको ( छद् ) प्रयत्न इच्छा जिसमें होती है वही सच्चा ‘पुण्य’ कहा जा सकता है । पुण्य उसको कहते हैं कि जो ( पुरि ) नगरमें ( वसति ) निवास करता है । नगरिक जन जो ‘लोक कल्याण’ करता है, वही सच्चा पुण्य है । सब अगति उसको पूर्णता होती है और उत्पत्तिके लिये ( भू भवेम ) सबको मिलकर एकजिंत होनेकी आवश्यकता है । यह शेष उत्तर दिशाके मन्त्रके अर्थसे स्पष्टता है ।

( ५ ) ध्रुवा विष्-स्मरताका धर्म यहाँ बताया है । मनुष्यके व्यवहारोंमें पक्षता ठीक नहीं है । स्मरता, यज्ञता निश्चितता, उपपत्तिकी साधक है । सबका ( अया ) कल्याण इस गुणसे होता है । स्मरताका मार्ग योगमार्ग है, जिसमें बलशाली बुर करके स्मरताकी प्राप्ति हो जाती है । इससे सबका हित होता है । यही ( अ-द्विती ) अविनाश-को वेदता अथवा स्मरताकी वैभवा है । स्मरताके बिना स्मरताकी प्राप्ति नहीं हो सकती । ( गो-पत ) इक्षियोंका संरक्षण अर्थात् सपम ब्रह्म मार्गमें अत्यन्त आवश्यक है । इस प्रकार भूय दिशाके मन्त्रसे शेष प्राप्त होता है ।

मर्शोंकी अवयोजना कितनी अर्थपूर्ण है, इसका विचार पाठक यहाँ कर सकते हैं । अस्तु । बिना विषयक उल्लेख आश्रय नहीं है । इसलिये अब इस सप्त विवरणका एकीकरण करते हैं । उसके पूर्व निम्न मन्त्र देखिए ।

प्राच्यै र्ना दिशोऽनयेऽधिगतयेऽक्षिताय  
रक्षित्र आदिःपयेपुमते । एत परिदक्षस्त नो ।  
गोपापतामस्माकर्मते । विष्ट नो अत्र जरसे नि  
नेपज्जप मृगये परि णो वृदात्त्वय एफनेम  
सह सं भवेम ॥ ५५ ॥ इक्षिणाये र्ना विष्ट  
इन्द्रयाधिपतये तिरक्षिराजये रक्षित्रे पसाये  
पुमते ॥ एतं ॥ ५६ ॥ प्रतीच्ये र्ना दिशे वरु-  
णायाधिगतये वृद्धाक्रे रक्षित्रेऽज्ञायपुमते ।  
एतं ॥ ५७ ॥ उदीच्ये र्ना दिशे सोमायाधि-  
पतये स्यजाय रक्षित्रेऽज्ञाय ॥ पुमये ॥ एतं  
॥ ५८ ॥ ध्रुवाये र्ना दिशे विष्णवेऽधिपतये  
कल्माषप्रियाय रक्षित्र ओपधीभ्य इपुमतीभ्य-  
॥ एतं ॥ ५९ ॥ उश्चाये र्ना दिशे बृहस्पतये  
ऽधिपतये भिज्जाय रक्षित्रे पनीयेपुमते ॥  
एत ॥ ६० ॥ ( अथर्व १५१३ )

‘प्राची विजय, अग्नि अधिपति, अक्षित रक्षिता और इन्द्रात् आदित्यके लिये ( एतं ) यह वाक्य ( परिदक्ष ) कहते हैं । ( अस्माकं आ-पतो ) हमारे दुष्ट भावोंसे हम सबका ( जः गोपायतां ) संरक्षण करें । ( अत्र ) यहाँ ( जः ) हम सब को ( विष्ट ) अच्छी धर्मकी प्रेरणा ( जरसे ) बृद्ध अवस्थातक ( नि नेपत् ) से धारें । ( जरा ) बृद्ध अवस्था मनुष्यों ( न मृगये परिद्वानु ) हम सबको मनुष्यके प्रति देंगे । ( अय ) और ( एफनेम ) परिपक्वताके साथ ( संभवेम ) समृद्धि अर्थात् उत्पत्तिकी प्रत्यक्ष हो जाये । यह प्रथम मन्त्रका अर्थ है । द्वेय मार्गोंका भाव ऐसा ही सुख है ।

१। मर्शमें ( १ ) दान, ( २ ) स्वतन्त्रता, ( ३ ) इष्ट-भावका दूर करना, ( ४ ) धर्मकी प्रेरणाके साथ पूर्ण वृद्ध अवस्थाका अनुभव लेनेके पश्चात् शेष जायकी समाप्तिके पश्चात् मरनेकी कल्पना और ( ५ ) परिपक्व ( मुष्टिके सम्बन्धों ) के साथ अर्थात् सत्त्वममें रहनेका उपदेश है ।

प्रारम्भसे यहाँ तक बिना विषयक जो श्लोक और मन्त्र दिये हैं उन सबका एकीकरण पूर्णतः विचार करनेसे ही मर्शोंका अधिक शेष होना स्पष्ट है ।

प्राची दिग्गतिरधिपतिरहिते रक्षिताऽऽदि-  
हपरः ॥ तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षि-  
तभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान्  
द्रष्टुं यं यय दिप्सस्त चो जग्मे दध्मः ॥ १ ॥

( अयम्, ३१७अ१ )

इस मंत्रका शब्द विचार करना है । इसका विचार होनेसे  
अग्न्य सब मंत्रोंका विचार हो सकता है । पूर्वं स्वयम्, अहो  
विश्वामित्रा द्वितीय कोष्टक दिया है, वहां बताया है कि  
अधिपति, इषु, रक्षिता आदि शब्द आत्मकारिक हैं, इसलिये  
इनका अर्थ काम्य कल्पनाके अनुसार लेना चाहिए ।

( १ ) अधिपति, रक्षिता, इष्य आदि शब्द आत्मकारिक  
हैं क्योंकि यहाँ, शीघ्र आदिशब्दोंको भी शेष कहा है ।  
यस्तु ये शब्द नहीं हैं । इस कारण कबिकी आत्मकारिक  
वृत्तिसे इनका अर्थ लेना उचित है ।

( २ ) मंत्रके प्रथम पादमें अधिपति, रक्षिता ये शब्द  
एक वचनमें हैं, परन्तु द्वितीय चरणमें इन ही शब्दोंका  
बहुवचन लिखा है । एक वचनका शब्द परमेश्वर पर माना  
जा सकता है परन्तु 'अधिपतिभ्यः, रक्षितभ्यः' शब्द  
बहुवचन होनेके कारण परमेश्वर पर नहीं माने जा सकते ।  
आदरात्मक बहुवचन माननेके पक्षमें पूर्वचरणमें एकवचन  
आया है उसकी निरपेक्षता होती है । वेदमें किसी स्थाव  
पर कर्ममें परमेश्वर का वचन शब्दोंका एकवचन और बहु-  
वचन आया नहीं है । इसलिये यहाँ इन शब्दोंके अर्थ केवल  
परमेश्वर पर होनेमें सारा है ।

( ३ ) प्रथम दिशाका अधिपति रक्षिता और इषु भिन्न  
हैं । यदि वे परमेश्वर पर शब्द हैं तो भिन्नताका कोई कारण  
नहीं निकल सकता ।

( ४ ) तृतीय चरणमें 'मो ह्यु सबसे द्वेय करता है और  
जिससे हम सब द्वेय करते हैं उसको ( यः जग्मे ) जो  
सबके एक जगदमें हम सब पर बैठे हैं ।' इस भावपके  
शब्द आये हैं । यह मंत्रका भाव केवल सामाजिक स्वरूप  
पर कहा है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है । दुष्टको दण्ड देनेका  
इसमें विषय है और शब्द देनेका शक्यता नहीं है, परन्तु  
( यः ) धनके हैं । ( यः जग्मे ) 'आज अनेकोंके एक  
जगदमें हम सब मिलकर उस दुष्टको बैठे हैं' आज जो  
बाहें उसको दंड दीजिए । सब देनेका अधिकार हम अपने  
हाथों नहीं लेते, आप सबकी ही उब देनेका अधिकार है ।

यह आशय उक्त मंत्र भागमें स्पष्ट है । इसमें व्याप शब्द-  
स्थापी वाच्य स्पष्टतासे सिद्धो है—

- ( व ) धनके सन्तर्पणको विलक्षण व्याप करना चाहिए ।  
( भा ) किसीको उचित नहीं कि बहुत स्वयं हो दुष्टको मन  
माना दण्ड देवे । शत्रु अधिकार व्यापसभाका हो है ।  
( इ ) बहुवचन द्वेय नहीं करता चाहिये । द्वेय करना बुरा  
है । स्वतन्त्रता प्रकट करना द्वेय नहीं है ।  
( ई ) बहुवचनको भी उचित नहीं कि वे अपनी समतिते  
किसीको दण्ड देता । बहुवचन और अत्यवशके मतभेद  
होनेपर साम्यसभा द्वारा योग्यायोग्यता विचार करना  
चाहिए और व्यापसभाका विषय सबको मानना  
चाहिए ।

इत्यादि बातें उक्त मन्त्रभागसे स्पष्ट सिद्ध होती हैं ।  
जहां परमेश्वरके जगदमें देनेकी कल्पना नहीं प्रतीत होती )  
अब यहाँ 'जग' शब्दका अर्थ देना उचित है—

'जग' शब्दका अर्थ दत्त, हाथीका दात, मुख, जगडा,  
वचन, सब होता है । मंत्रमें 'यः जग' शब्दों 'अनेकोंका  
एक जगडा' कहा है, प्रत्येक प्राणीका एक जगडा हुआ करता  
है । परन्तु यहाँ अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जगडा कहा  
है । सामाजिक रीतिसे अनेक मनुष्योंका एक जगडा नहीं  
हो सकता, परन्तु यहाँ कहा है, इसलिये जगडा सामा-  
जिक नहीं है, केवल कार्यात्मिक है । निम्न शब्दकोसे व्युत्पि-  
गत और सामाजिक जगडेकी कल्पना आ सकती है—

| व्युत्पिन्न जगडा | समाजका जगडा   |
|------------------|---------------|
| जग               | व्यापसभा      |
| मुख              | मुख्य         |
| सावेदिव-वचन      | सावेदिव-वचन   |
| दत्त-द्विज       | वर्चस्व-द्विज |
| उत्पत्ति         | द्विज-समाज    |
| वचन, वार्तिकवचन  | विषय-वर्ण     |
| जग-वचन           | प्रमाण-विचार  |

सिद्ध, व्याप आदि द्विज यन्त्र अपने शत्रुको मरने जगदमें  
रखकर खाते हैं । शत्रुको मरने जगदमें रखनेको कल्पना  
नोब प्राथम्यमें है । जोषी मनुष्य पागल बनकर अपने  
शत्रुको मारने बीजता है । परन्तु विचारो मनुष्य इन पशु-  
वृत्तिकी बजाकर अपने भावको समाजका एक अवयव समझ-  
कर, अपने शत्रुको भी समाजका एक अवयव मानता है,

इस कारण यह शत्रुको बच देनेके लिये स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ, व्यापसभाकी शरण लेता है, क्योंकि यही 'समाजका अवस्था' है। इस व्यापकमय द्विजोंकी समाजस्थिति है और यह अनुकूल प्रतिकूल शक्तोंका मकरदारवार करके युद्धको बंद देती है और समाजको स्वातंत्र्य अर्पण करती है। इस समाजके जनदेवता-अर्थात् व्यापसभाका-आद्य 'जंभे' शब्दसे लेना यहाँ उचित है। वही जनके मनुष्योंका मिलकर एक जनजा होसकता है।

त यो जंभे वृध्मः ।

( त ) उस युद्धको हम सब ( जंभे ) आप छेनेके ( जंभे ) एक जनदेव-अर्थात् व्यापसभा- ( वृध्म ) स्थापित करते हैं। अर्थात् आपके आधीन करते हैं। व्याप-सभाकी शिरोधार्यता यहाँ बताई गई है।

यद्वाका 'द्यः' शब्द पूर्वोक्त 'अधिपतिभ्यः, रक्षितभ्यः' इन शक्तियोंके सूचित करता है। समाजके अध्यापक शत्रुके अधिपति और रक्षक 'द्यः' शब्दसे जाने जाते हैं। सबसे द्वेष करनेवाले युद्धको आप पक्षके आधीन करना चाहिए, यह मन्त्रात् स्पष्ट आद्य है। इसीलिये 'अधिपति' आदि शक्तियोंका बहुवचन समने आया है और इसी कारण यह बहुवचन योग्य और अर्थके अनुकूल है।

शत्रुको पक्षके आधीन करकेके साथसे शत्रुको स्वयं बच देनेकी और व्यापकी अपने हाथमें लेनेकी वृत्ति कम होती है और पक्षोंकी ओरसे व्याप प्राप्त करनेकी साधक प्रवृत्ति बढ़ती है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति समाजके हितके लिये आवश्यक है।

इस उपदेशसे भर्तृ आपकी समाजका अथवा समाजके साधक भाव बढ़ाया जाता है। मैं भगवाण एक अन्न हूँ, जनताका और मेरा अन्न सभ्य है, यह भावना व्यक्त भेद है और इस उच्च भावनाका जोन कितनी उत्तमतासे जन-शरणमें रखा गया है। यह वैदिक धर्मका ही महत्व है।

'तेभ्यो ममो ०' आदि दो पाद प्रत्येक पदमें है। ये दो पाद छे मन्त्रोंमें बारबार कहे गए हैं। बारबार मन्त्रोंको जनवाद दिया जाता है उसको 'अभ्यास' करते हैं। विशेष महत्वपूर्ण मन्त्रोंका ही इस प्रकार बारबार अनुवाद वेदमें किया गया है। इससे सिद्ध है, कि इन मन्त्रोंका भाव मुख्य है और इनके अनुकूल शब्द मात्रभाषका अर्थ करता चाहिए। अर्थात् इस शक्तिका अर्थ सामंजसिक है।

( १ )

( १ प्राची दिष् ) प्रगतिकी दिक्षा, ( २ अग्नि अधि-पतिः ) तेजस्वी स्वामी, ( ३ असितः रक्षिता ) स्वतन्त्र सरलक और ( ४ मा-दित्या इपयः ) स्वतन्त्रपूर्ण वस्तुत्व ये चार बातें हैं।

प्रत्येक विज्ञा विशेष मार्गकी सूचक समझी जाती है और उस विशेष मार्गके साधक तीन गुण हैं। प्रत्येक विज्ञाके साथ ये गुण निश्चित हैं। इस पूर्व विज्ञाके अनुसंधानसे प्रगतिके मार्गका उपदेश किया है। तेजस्विता, स्वतन्त्रता और वस्तुत्व ये तीन गुण उपतिके साधक हैं। अर्थात्पतिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निरन्तर निर्धोर राजा, पराधीन रक्षक और अस्वतन्त्र वक्ता किसी प्रकार भी उपतिका साधन नहीं कर सकते। इसी प्रकार अन्य विज्ञाओंका विचार करके शेष जानना उचित है।

( १ ) प्रगतिका निश्चित मार्ग, ( २ ) तेजस्वी स्वामी, ( ३ ) पराधीनताका पारण करनेवाला रक्षक और ( ४ ) स्वतन्त्रपूर्ण वस्तुत्व, ये चार बातें मानवी उपतिके लिये आवश्यक हैं। इसी प्रकारके स्वामी, सरलक और वक्ता-ओंका सरलर होना उचित है। जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं उसको आप अधिपतिओंकी सभाके आधीन हम सब करते हैं। यह मन्त्रका तीसरा भाग्य है। मनुष्यकी भलाईके उपदेश यहाँ है। इस प्रकार अर्थका ध्यान करना उचित है। अब मुख्य शक्तोंके मूल अर्थोंका मन्त्र करते हैं—

( १ ) 'अग्नि' शब्द वैदिक वाङ्मयमें वाङ्मय और वस्तुत्वका प्रतिनिधि है। दिक्षा कोष्टक सं ३ देखिए, उक्तमें प्राची विद्याका 'अन्न' अर्थात् भाव ही पन कहा है।

( २ ) 'अ-सित' शब्दका अर्थ अचरहित, स्वतन्त्र, स्वाधीन होता है। 'सि-धयने' इस पादसे 'सित' शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'पर-आधीन' है। 'अ-सित' अन्न, स्वतन्त्र।

( ३ ) 'आदित्य' शब्द 'अ-सु-उनीय' अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'सु-अपराधने' पादसे 'दिति' शब्द बनता है जिसका अर्थ 'खंडित' है। 'अ-दिति' का अर्थ 'अ-खंडित' है। यदितिका भाव आश्रय है। अखंडनीय, अपराध, अपराहित, स्वतन्त्रताके भाव, यहाँ ज्ञानका अर्थ नहीं है।

( ४ ) 'इपु'—'इप-यतो' पादसे यह शब्द बनता

है। इसलिये ' गति ' हलचल यह माना जाता अन्वये मूल है। परवान् इसके अर्थ हलचलका यत्न करना, यत्नेत्न करना, घोषणा देना, उन्नति करना, ये हो सके। इस व्यापकता भाव ' ह्ययः ' अन्वये है। अस्तु। इस प्रकार प्रथम मन्त्रका आशय है। अब द्वितीय मन्त्र देखिए—

( २ )

( १ दक्षिणा दिक् ) दक्षतन्वा विद्या, ( २ इन्द्रः अधिपतिः ) शत्रुनिवारक स्वामी, ( ३ तिरश्चिराजी रक्षिता ) पक्षिने चलनेवाला सरलक और ( ४ पितरा ह्ययः ) घोषणा हलचल करनेवाले, ये चार बातें उन्नतिको साधक हैं। इसी प्रकारके स्वामी रक्षक और पालनोपन साकार हो। जो आस्तिकोंसे द्वेष करता है और जिससे आस्तिक द्वेष करते हैं उसको हम सब आप अधिपतियोंकी सभाके आधीन करते हैं।

( ५ ) ' इन्द्र ' — ( इन्द्र दायून् द्राघपिता ॥ १०८ ) शत्रुका निवारक करनेवाला विजयी।

( ६ ) ' तिरश्चिराजी ' — ( तिरा ) बीचमेंसे, ( अर्ध- ) जाना, ( राजी- ) सजीर, मर्यादा। अपनी मर्यादाका उल्लंघन न करनेवाला।

( ७ ) ' पितरा ' ( पालीति पितरा ) — सरलक पिता है। घोषे धारण करके उत्तम सत्तल उत्तम करनेवाला घोषणा पुत्र पितरा होता है।

यह भाव द्वितीय मन्त्रका है। अब तिसरा मन्त्र देखिये—

( ३ )

( १ मतीची दिग् ) उत्तर्गुह होनेकी विद्या, ( २ यरुणः अधिपतिः ) सर्व सम्मत स्वामी, ( ३ पुद्गाकुः रक्षिता ) स्वर्धने जाताही रक्षक और ( ४ अय ह्ययः ) मन्त्रकी वृत्ति ये चार बातें अभ्युदयकी साधक हैं।

( ४ )

( १ उदीची दिग् ) उत्तर विद्या, उन्नततर होनेकी विद्या, ( २ सोमः अधिपतिः ) दात स्वामी, ( ३ स्व-जः रक्षिता ) स्वयं निज सरलक और ( ४ अशनिः ह्ययः ) तेजस्वी प्रगति ये चार बातें उन्नतिको हैं।

( ५ )

( १ ध्रुवा दिक् ) निम्न विद्या, ( २ विष्णुः अधिपतिः ) कार्यधम स्वामी, ( ३ कस्मापप्रीयः रक्षिता ) कर्मकर्ता

सरलक और ( ४ धीरुयः ह्ययः ) अधिपतिकी वृद्धि ये चार बातें उन्नतिको लिये हैं।

( ६ )

( १ ऊर्वा दिक् ) उत्तर विद्या, ( २ बृहस्पति ) ज्ञानी स्वामी, ( ३ अश्विना रक्षिता ) गृह सरलक, ( ४ चर ह्ययः ) वृष्टिको पति ये चार बातें उन्नति करनेवाली हैं।

अब इन प्रध्याषोंका यत्न करेंगे। धर्मोंके मूल व्यापक होने लिये हैं—

( १ ) ' यरुण ' — यर-वृ-यरणो। पसर करना। जो पसर किया जाता है वह वरुण होता है। धर्म संमत सर्व-धर्म।

( २ ) ' पुद्गाकु ' — ( पुद्-आ-कु- ) — वृत्तका अर्थ पुद्, सदाय, स्वर्ध, स्वर्धके समय जाताहूके शब्द बोधनेवाला ' पुद्गाकु ' होता है। कु=शब्द।

( ३ ) सोम ' — दातिका वृत्तक यह अथवा सोम है। इसका वृत्तक अर्थ ' स+उमा ' अर्थात् विद्याके ताप रहनेवाला अर्थात् ज्ञानी है। ' सु-प्रतपयेभ्यययोः ' । पाठसे ' सोम ' शब्द बनता है जिसका अर्थ ' उत्पादक, प्रेरक और प्रेरणयन् ' होता होता है।

( ४ ) ' स्व-ज ' ( स्व+जः ) अपनी पालितो रहनेवाला, जिसे दूसरेकी पालिका अवलम्बन करनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वात्मन्यवर्णित। स्वयं जितका दाता चारों ओर फैला है।

( ५ ) ' अशनिः ' — वह विद्युत्का नाम है। तेजस्विकाको बोध होता यन्त्रके होता है। ' मद् ' वागुका अर्थ ' व्यापना ' है। व्यापक दातिका नाम अशनि है।

( ६ ) ' विष्णुः ' सर्व ' व्यापक ' ज्ञानी उन्नयो।

( ७ ) ' कस्माप-प्रीयः ' — ' कस्मन् ' का अर्थ ' कर्मन् ' अर्थात् कर्म, कार्य, उद्योग है। ' कस्माप ' = ( कस्मा स ) = कर्मके द्वारा कर्मिण् बुराईका नाश करने-वाला। ( कर्मणा अनिष्टं स्याति इति कस्मापः । कर्मोप-पत्वं कस्मापः । ' पुद्गापंके वृष्टताको दूर करके मुल्ला-खे पाठ करनेवाला और इस प्रकारके पुद्गापके भाव मतेमें सदा धारण करनेवाला ' कस्मा-प-प्रीय ' किंवा ' कर्मो-स-प्रीय ' कहलाता है।

( ८ ) ' बृहस्पतिः ' — महान् ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी। तृप्ति अथवा अस्तिकता अधिपत्य।



( ९ ) ' भिन्नः '—युद्ध, पवित्र, ज्ञेय ।

अस्तु, इस प्रकार मुख्य जगत्के लक्षण हैं ।

पूर्व, पश्चिम, पश्चिम, उत्तर ध्रुव और ऊर्ध्व ये छः दिशाओं भयः प्रगति, चतुर्ध्व, जति, उग्रति, स्वर्ग और भेदता इन ॥ गुणोंको मुख्य हैं । इन छः गुणोंका साधक ' गुण-चतुष्टय ' पूर्वोक्त मन्त्रोंमें वर्णन किया है । ( १ ) दिशा, ( २ ) अभिपति, ( ३ ) रक्षक और ( ४ ) इष्ट वे चार शब्द विशेष संकेतों हैं और ॥ शब्दोंमें यही भगवाद्भार्य्य विशेष गुण भवे है, इस बातका प्रकाश पाठकोंके मनमें पूर्ण रीतिसे पडा ही होगा । बार बार मनन करके इनके गुण तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना हम सबका कर्तव्य है ।

इन मन्त्रोंमें ' इष्टु ' शब्द विलक्षण सर्वोक्त का प्रदुक्त हुआ है । इसका किसी प्रत्ययशायमें भाषांतर करना अवलोकन कठिन कार्य है । किसी एक प्रतिग्रन्थसे इसका भाव प्रकट होता ही नहीं । इसलिये इन मन्त्रोंको विशेष विचारसे शोधना चाहिए ।

उत्तम अभिपति और थोड़ा सरलताका सम्मान होनेसे जनसमाजकी शिपति ठीक रहती है, और राजशासन ठीक चल सकता है । अभिपति मुख्य होते हैं और सरलता उनके काममें रहकर कार्य करनेवाले होते हैं । अभिपति और सरलताके विषयमें जनतामें निरादर नहीं होना चाहिए । अभिपति और सरलताके गुण, जो इन मन्त्रोंमें हैं, जहाँ होवे वहाँ सब जनताका पूज्यभाव अदृश्य रहेगा । दुष्टकी दृष्ट देनेका अधिकार इन्हींको है । किसी मनुष्यको उचित नहीं है वह अपने हृदयमें न्याय करनेका अधिकार स्वयं ही लेकर किसीको दंड देवे । इससे भ्रष्टाचार और अराजकता फैलती है । इसलिये प्राचीन मन्त्रमें कहा है कि ' हम भेद और योग्य अभिपतिवाला आदर करते हैं और दुष्टका शासन होनेके लिये उसको इन्हींके स्वाधीन करते हैं ' सब लोगों-पर इस भावके सत्कार होनेकी यही सारी आवश्यकता है ।

अन्ये सांख्यिक व्यवस्थाका निरीक्षण करना और मानवी हितसाधन करनेका विचार करना, इन मन्त्रोंका मुख्य उद्देश्य है । मन्त्रोंमें जनताको उचितसे विचारकी सूचना मिली है । वैदिक धर्ममें व्यक्ति और समाजका मिलकर सुधार लिया है । केवल व्यक्तिका सुधार नहीं होगा और केवल समाजका भी नहीं होगा । दोनोंका मिलकर होगा । व्यक्ति स्वार्थकी मिलकर उन्नति होती है । प्रत्येक मनुष्यको प्रथम पक्षमें सामान्य सिद्धांत कहे हैं और दोन मन्त्रोंमें उन सिद्धांतोंकी जनतामें पटाकर बताया है ।

## दिशाओंका तथ्यज्ञान

### वैदिक दृष्टि

वैदिक तत्त्वज्ञान इतना विस्तृत, व्यापक और सर्वमान्य है, कि उसका उपदेश न केवल वेदके प्रत्येक सूत्र द्वारा हो रहा है, अपितु वेदके सूत्र पाठकोंमें वह दिव्य वृष्टि उत्पन्न कर रहे हैं, कि जिस वृष्टिसे जगत्के पदार्थमात्रकी और विशेष भावनासे देखनेका गुण वैदिक धर्मियोंके अंग उत्पन्न हो सकता है । विशेष प्रकारका वृष्टिकोण उत्पन्न करना वेदको अमोघ है । यदि पाठकोंमें वह वृष्टिकोण न उत्पन्न हुआ, तो वैदिक मन्त्रोंका अर्थ समझना ही अशक्य है । वेद मन्त्रोंकी रचना, तथा उनको समझनेकी रीति, वैदिक उपदेशकी पद्धति तथा वैदिक वृष्टि, इतनी विलक्षण और आश्चर्यजनक व्यवस्थासे भिन्न है कि, वह वृष्टि अपनेमें उत्पन्न करना ही एक बड़े प्रयासका कार्य, आजकालकी सम्प्रदायोंके कारण हो गया है । आजकालकी जड़ सम्प्रदायोंकी रीति का व्यवहार करनेके कारण यह वैदिक मानसिक व्यवस्था और वह दिव्य वृष्टि हमारेमें नहीं रहो, कि नो प्राचीन भाषाओंमें वैदिक धर्मके कारण भी ।

किसी काव्यकी भाषा नीरस और शुष्क हृदयमें कोई भाव उत्पन्न नहीं कर सकती, काव्यका रस जाननेके लिये पाठकोंका तथा श्रोताओंका हृदय विशेष तत्त्वज्ञानसे तथ्य हो चाहिए । कविकी वृष्टिसे ही काव्यका रस ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा कविकी वृष्टिसे बिना कोई काव्य पाठकोंके हृदयपर प्रेमका भाव उत्पन्न कर ही नहीं सकता । उच्च कविता जबकी मनुष्योंके हृदयपर कोई दृष्ट परिणाम नहीं कर सकती, इसका यहो हेतु है । बोनाके एक तार खानेसे उसके स्वरके साथ मिले । दूसरे तार आय हो साथ जवान देते रहते हैं, परन्तु जो तार उसके स्वरके साथ मिले नहीं होते, वह नहीं बजते । यही नियम काव्यके आस्वाद लेनेके विषयमें भी है । जो हृदय कविकी हृदयसे सजान उन्नत होते हैं वेही उस काव्यसे हिल जाते हैं, परन्तु जो हृदय निम्न प्रकारकी अवस्थामें होते हैं, वे नहीं हिल सकते । वेद ' देवका काव्य ' हीनेसे उसकी समझने और उसका वास्तविक आनंद लेनेके लिये नो विशेष उन्नत कोटिकी हृदय चाहिए ।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, कि यदि ऐसा है तो सामान्य मनुष्यके लिये वेद निकम्मा सिद्ध होगा । परन्तु वास्तविक बात वही नहीं है । परमेश्वरकी सृष्टि जैसी

सब मनुष्योंके लिये है, उसी प्रकार ईश्वरके देह भी सब मनुष्योंके लिये ही है। परन्तु अपनी योग्यता और अवस्था-नुसार हर एक मनुष्य वेरसे लाभ उठा सकता है।

जिस प्रकार साधारण मनुष्य जलसे स्नान करने और अग्निसे शीत निवारण करनेका काम लेकर इन प्रकारोंका उपयोग करता है और समझता है कि सृष्टिका मने उपभोग सिद्धा; तद्वत् साधारण मनुष्य वेरका स्थूल अर्थ लेता है और समझता है कि मने वेरका अर्थ ज्ञान लिया। जैसा—'अग्नि ईंधे' का अर्थ मने आगकी प्रशंसा करता है 'इतना ही समझता है।

जिस प्रकार उच्च कोटीके पक्षस्थानिपुण वैज्ञानिक उसी जल और अग्निकी दशांशमें एककर उनके योगसे उठे उठे जल बना लेते हैं और समझते हैं कि हमने सृष्टिका उपभोग लिया, तद्वत् ही उठे योगी और आत्मज्ञाथी पुनः उसी वेर मन्त्रका काव्य दृष्टिसे अत्यंतोत्कृष्ट करके परमात्म तत्त्वके सिद्धान्तोंको जानते हैं। जैसा—'अग्नि ईंधे'। का अर्थ वे लोग समझते हैं कि 'मैं उठा तेजस्वी आत्मतन्त्री प्रशंसा करता हूँ।'

जैसा सृष्टिका उपभोग दोनों के रहे हैं, वंसा हो वेरका अर्थ दोनों समझ रहे हैं। परन्तु एककी सामान्य दृष्टि अथवा शब्द दृष्टि है और दूसरेकी साधारण अथवा काव्यदृष्टि है। वेर काव्य होनेसे इस प्रकारकी असाधारण काव्य दृष्टिसे ही उसका आशय देखना उचित है। यद्यपि सबकी यह दृष्टि साम्य नहीं है, तथापि निम्नकी साम्य हो गई है उनकी सहायतासे आर्थिको उचित है कि वे अथवा गति इस भूमिकामें करें। आचार्यके द्वाये आर्थसे चलनेका यही तात्पर्य है।

वेरका अर्थ समझनेके लिये न केवल वेर अर्थका विशेष दृष्टिसे और विशेष पद्धतिसे अर्थ जाननेकी आवश्यकता है, अपितु सृष्टिकी और भी विशेष आर्थिक आवश्यकता देखने की अत्यंत आवश्यकता है। सब साधारण लोगोंकी सृष्टिकी तरफ जड़ दृष्टिसे देखनेका अभ्यास आवश्यक हो गया है। यह अभ्यास अत्यंत घातक है। जबतक जनतामें यह दृष्टि रहेगी, तबतक उनमें वैदिक दृष्टिका अभ्यास ही रहेगा। 'जिस व्यवधानसे सब भूतमात्र आत्मरूप होय, उस व्यवधानसे एक-एक-का सर्वत्र वर्तन होनेके कारण शोक मोह नहीं होता।' ( य Yash ) यह दृष्टि है कि जिस दृष्टिसे सृष्टिकी ओर देखना चाहिये। परमात्म तत्त्विका

जो विस्तृत इस प्रकृतिमें होगया है, वह ही सृष्टि है। सा सृष्टिकी 'आत्मरूप दृष्टि' कहते हैं।

जड़ दृष्टिके लोग अपने शरीरकी ओर भी जड़ानेके भावसे देखते हैं और केवल अर्थ, मन्त्र, माता आर्थिकोंकी ही देखते हैं, उनको इन जड़ पराधीन मित्र कोई भेद पराधीन शरीरमें दिखाई नहीं देता; परन्तु दूसरे सुविज्ञ लोग ऐसे हैं, कि जो इस शरीरकी ओर चेतन दृष्टिसे देखते हैं, और हर एक शरीरके भावमें आत्माकी दक्षिण विकास और आभास देखते हैं। यही दूसरी दृष्टि वेरकी अभीष्ट है। इसी दृष्टिसे सुविज्ञ विरोध करनेका तथा वेरका अभ्यास करनेका चल करना चाहिये। इस विचारका विशेष स्पष्टीकरण करनेके लिये सा विज्ञानोंका विवरण दिया है।

### 'प्राची दिशा' पूर्व दिशाकी विभूति

पूर्व दिशाके लिये वेरमें विशेष कर 'प्राची दिक्' शब्द जाता है। इसका मूल अर्थ निम्न प्रकार है—

( १ ) प्राची—( प्र+अच् )= प्र का अर्थ 'आविष्ट', प्रकृत, मार्ग, सम्मुख' है। 'अच्' का अर्थ 'गति पुनः' अर्थात् जाना, बदना, चलना, हलचल करना, सत्कार और पुनः करना' है। तत्पर्य 'प्राची' शब्दका अर्थ आगे चलना, उन्नति करना, उपन्यास हो जाना, प्रगतिका साधन करना, उपरकी प्राप्त होना, अभ्युदय साधन करना—अथवा चलना इत्यादि प्रकट होता है।

( २ ) दिक्—दिशा—का अर्थ तरफ, लोभ, लाल, दिशा घट, माता, निशा, लोभ, रास्ता, सत मार्ग इत्यादि होता है।

उक्त दोनों शब्दोंकी एकत्रित करनेसे 'प्राची दिक्' का अर्थ—( १ ) आगे बढ़नेकी दिशा, ( २ ) उपरका मार्ग ( ३ ) अभ्युदय प्राप्त करनेका रास्ता, ( ४ ) साकार और पुनः प्राप्त, ( ५ ) उन्नतिकी हलचल, ( ६ ) उच्च गतिकी लोभ मार्ग इत्यादि होता है। प्राची दिशाका मूल अर्थ बढ़ते अथवा उन्नतिकी दिशा, अभ्युदयका मार्ग, दृष्टि का रास्ता है।

विचार पूर्वक देखनेके पश्चात् पट्टर्षी वना सब जानता कि पूर्वदिशाका नाम 'प्राची दिक्' किन्तु क्यों रखा है। विचारकी दृष्टिसे रात्रिके समयमें नी पृथिवीकी ओर पादक देखते ज्ञान। पूर्व दिशाकी अपूर्वता लोभ और

राशिके समय हो शत हो सकते हैं । दिनके समय सूर्यके प्रवेष्ट प्रकाशके कारण ॥ विद्याका महत्त्व ध्यानमें नहीं आ सकता । इसलिये सवेरे और राखोको हो पूर्व विद्याके महत्त्वका चिन्तन करना चाहिये ।

ताकिक लोग विद्याओंको जट कटते हैं, उनका दृष्टि भिन्न है । वेद पढ़नेके समय आगको सर्वत्र पूर्ण चेतन्यको दृष्टिके देखना चाहिए । जैसा पूर्व विद्यामें वसी प्रकार अन्य सब विद्याओंमें चेतन्यका विकास हो रहा है, ऐसी दृष्टि कल्पना कीजिये । और प्रत्येक विद्या कीर्तित और जगत्त है, तथा विशेष प्रकारकी अतिरिक्त प्रकाश कर रही है । यदि आप इसको समझना देवता मान लेंगे तो भी हमारे प्रस्तुतके कामके लिये बहुत भयानक है ।

आप प्रभत कालमें पूर्व विद्याकी ओर मुड़ कर कीजिए । कई तारागणोंका उदय हो रहा है और कईयोंका उदय हो गया है, ऐसा आप देखेंगे । जगत तारागणोंको जन्म देने-वाली, यह पूर्वविद्या है । तेजस्विताका प्रकाश इस विद्यासे हो रहा है । प्रतिक्षण इस विद्याकी प्रतिभा बढ़ रही है, क्योंकि तेजोवृद्ध सूर्यनारायणका जन्म जन्मका समय है । देखिये । बीजे ही समयमें सहस्ररश्मी सूर्य भगवान् उदयको प्राप्त होने और सूर्य जलकी नक्षत्रीयते संचारित करने । तमोगुणो भयत्करका मास होगा और स्वयंभुवी प्राणमय प्रकाश चारों ओर फैलने लगेगा । अब सूर्यका उदय हो गया है, यह सूर्यदिन कंठा मनीरम, रमणीय, स्फुरण देने-वाला, मानदको ब्रह्मदेवाता, तेजका अर्ध करनेवाला, तथा सहस्रों शुभ गुणोंसे युक्त है । आप इसकी कैवल्य जट न समझिए । यह हमारे प्राणोंका प्राय है, यह स्वानर जगत्तका कीर्तनवाता है, इसके होनेसे हम कीर्तित रह सकते हैं और इसके न होनेसे हमारा मृत्यु है, ऐसा यह सूर्यनारायणहमारे कीर्तनका साधार, परमेश्वरके अतिशय तेजका यह सूर्य निःसंदेह व्यक्त पुत्र है । इसकी कल्पनासे आप परमत्माकी अतिशय तेजस्विताकी कल्पना कर सकते हैं । इस उच्च दृष्टिके आप इसका निरोधन कीजिए । उदय होते हो इसका तेज बढ़ने लगा है । तत्पर्य यह कि पूर्व विद्या हर-एकको उदयके मार्गकी सूचना दे रही है, सम्यक्दृष्टका रास्ता बता रही है, अपनी तेजस्विता बढ़ानेका उपदेश कर रही है । वेद कहता है कि यह ' उदयकी विद्या ' है । सबका उदय दहाते हो रहा है । हे मनुष्य ! ॥ प्रतिदिन इसका ध्यान और अपने उदयका मार्ग सोचो ।

सूर्य चक्रका और सब तारागणोंका उदय देखते हुए आप

अपने उदयके मार्गकी सूचना निःसंदेह ले सकते हैं । यदि एक समय अस्तको पहुँचा हुआ सूर्य पुरुषार्थसे फिर अपने, परिपूर्ण तेजस्विताके साथ उदयको प्राप्त हो सकता है, यदि क्षमताके कारण अथवा क्षीणताको पहुँचा हुआ चक्रमा प्रतिदिन जटः जन्म प्रयत्न करता हुआ फिर पुनर्माके दिन अपने परिपूर्ण वैभवको इसी पूर्व विद्यासे प्राप्त हो सकता है, इसी प्रकार यदि सब तारागण एकवार अस्तगत होनेपर भी पुनः पूर्ववत् उदयको प्राप्त कर सकते हैं; तो क्या किसी कारण अवलम्बितमें बहुत बड़े हुए मनुष्य भी उन्नत नहीं हो सकते ? जिस मनुष्यके हृदयमें प्रायत आत्मा बैठी हुई है, जिस मनुष्यके शरीरमें सब सूर्य चक्रादि देवताओंने प्रत्यक्ष जगत्त सिद्धा हुआ है, ऐसा मनुष्य कि जो ३३ कोटी देवताओंका स्वस्व है, वह पुरुषार्थ करनेपर शीघ्र अवस्थामें क्यों कर रह सकता है ? न केवल आ-पुनरपन इसका परिपूर्ण अधिकार है, अपितु यह अपना जैसा चाहे वैसा अनुदय अपने ही स्वावलम्बित और अपने ही पुरुषार्थसे निःसंदेह प्राप्त कर सकता है । स्थितिः, और सत्यः, अर्थात् अपना और जातिका, विजय और राष्ट्रका इसी वृद्ध भावनासे उदय हो सकता है । पूर्वविद्याके अवलोकनेममें ये विचार उत्पन्न हो सकते हैं ।

### पश्चिम दिशाकी विभूति

विद्याओंकी विभूतियोंका वर्णन करते हुए पूर्व स्थलमें पूर्वविद्याकी वैदिक कल्पना बताई है, अब इस स्थलमें पश्चिम विद्याकी कल्पना बताता हूँ । वैदिक कर्म देखा जाय ॥ पूर्व विद्याके पश्चात् पश्चिम विद्याका वर्णन आता योग्य है, और यह वैदिक दृष्टिके लोक भी है; क्योंकि उदयके मार्गके साथ साथ राक्षस्यका मार्ग चलना चाहिए । अनुदय और दक्षताका साहचर्य तत्पर्य हो है । उदयको दृष्टाके साथ राक्षस्यका अवलम्बन करनेकी आवश्यकता है, इसमें कोई संदेह हो नहीं है । तथापि पूर्व और पश्चिम विद्याओंकी विभूतिका परस्पर सापेक्षताका सबब रखती है, इसलिये वैदिक कल्पनाको स्पष्टता होनेकी दृष्टासे पूर्व विद्याका वर्णन होनेके पश्चात् पश्चिम विद्याका वर्णन किया है । यह सापेक्षताका संक्षेप देखिए—

|              |                             |
|--------------|-----------------------------|
| पूर्व        | पश्चिम                      |
| उदय          | अस्त ( अस्त गृह )           |
| जन्म         | मृत्यु ( स्व-रूप प्राप्ति ) |
| प्रकाशका शरण | अपकारका शरण                 |
| प्र-वृत्ति   | वि-वृत्ति                   |

|           |           |
|-----------|-----------|
| पूर्व     | पश्चिम    |
| पुरुषार्थ | विधाति    |
| प्राची    | प्रतोची   |
| प्रभञ्ज   | प्रतिभञ्ज |
| हलधस      | धति       |
| जाति      | मुनि      |
| दिग       | राजो      |

इन दो दिशाओंका परस्पर सापेक्ष सत्य देखनेसे बहिक कल्पना अधिक स्पष्ट हो जायगी। इसलिये कमशान्त दक्षिण दिशाका विचार न करते हुए पश्चिम दिशाका ही विचार ग्राह्य प्रयत्न करते हैं।

पश्चिम शांतिकी दिशा है। इस शांतिकी दिशाका अन्त-विधिति वदण स्वामी है, क्योंकि जलका हो गुण शांति है और यह वदणके आधीन है। इसीलिये इसको घर अर्थात् श्रेष्ठ कहते हैं। अथवा 'घर' शब्द गोमर्षालसे उदक बाधक भी है, जिसके पास 'घर' अर्थात् उदक है, वह वदण कहलाता है। जलविधितका सत्य अन्तके साथ होना स्वाभाविक ही है, जलके बिना अन्तको उत्पत्ति हो नहीं सकती। अन्तका भोजन करनेसे क्षुधासाति और जलका पाव करनेसे तृप्तासाति होती है, अर्थात् जलपानके कारण प्राणिकोंमें अन्त परिपूर्ण शांति होनेके कारण उत्साह बढ़ता है। इस प्रकार इस दिशासे जलतात्की शांतिक संभव है।

अथ पश्चिम दिशाकी विभूति देखिए- व्यक्ति के वेहने गुण भाग, सामने साक्ष्यकी अवस्था, दिनमें समय-कासका समय, दिनको पुरुष मानिए और वह दिन अपनी रानीके साथ मिलने जाता है, यही दिन और रात्रिका विमुन है। इसी प्रकार रानी पुरुषका मिष्ट होता है, इसलिये साक्ष्यावस्था पश्चिम दिशा है, चौकीस घंटेका महोरात्र अथवा पूर्ण दिवस होता है, उसमें १२ भटे व्यक्ती होते हैं, यह आत्मी सम्मन अथवा साक्ष्यावस्था है, इस समय पूर्ण विधामके लिये पश्चिम दिशामें जाता है। शत्रुओंमें वर्षा शत्रु, महिलाओं आरन भाद्रपद, कातोमें पर्यंत कास, वर्षोंमें वंश वर्ण, माधर्मोंमें गृहस्थाश्रम, पुण्यायोग काम, पुण्यमें द्वापर युग, व्यवस्थाओंमें धुनुति इत्यादि पश्चिम दिशाकी विभूति है। इसका विचार और आलोचन करके इस यथार्थमें स्थापित करना उचित है। साधारणतया घोषणा रूप यहा वर्णन किया है।

पश्चिम दिशाको ज्ञान प्रकार मात्र अन्त और व्यापक मानिए। एक विशेषभाव इस प्रत्यक्ष ध्यानमें लाना है।

साधारण लोक पश्चिम दिशासे पूर्वात होनेको दिशा समझते हैं, परन्तु इससे कई गुणा उच्च और व्यापक अन्त भाव वेदमें है, जिसका ज्ञान होनेके बिना दिशा बोधक बहिक यथोक्त अन्तोंका व्यापक समझने ही नहीं आयेगा।

'प्रतिभञ्ज' धातुसे 'प्रतीर्था' शब्द बनता है। इसका धातुर्थ पोछे हटाना, निवृत्त होना अन्तमूल होना, विधामकी तयारी करना इत्यादि प्रकार होता है। पूर्ण दिन भर प्रवृत्ति रूप कार्य करनेके पश्चात् विधामकी तयारी करके पश्चिम दिशाका आश्रय करता है। मानो कि एक जलकुंडी दिनभर प्रकाश देनेके पश्चात् पूर्ण विधातिके लिये अपने घर जाता है और रात्रीके साथ ससन्न होता है। इसी हेतुसे रात्रीको 'रमयित्री' अर्थात् रमन करनेवाली कहा जाता है। पुरुष भी इसी प्रकार दिनभर अपने सब व्यवहार करता हुआ दिन भर शांति पाता है। पूर्ण तपता है इसलिये तपस्वी है, वह ज्ञान उसका बहुल्य है, ज्ञान बहुल्यमें तत्के पश्चात् वह रात्रीके साथ रममान होनेसे गृहस्थ बनता है, यही उसका पश्चिम दिशाका कार्य है। इस बहुल्यधर्ममें विद्वानों और सत्तों कारण, तपनेवाला बहुल्यारी भी गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होकर प्राप्त होता है, यही व्यक्ति पश्चिम दिशाका कार्य है। क्योंकि ब्राह्मणवर्ण समविषयोंसे तप करता है, यह ब्राह्मणधर्म तपस्याके लिये ही है। परन्तु वैश्यवर्ण शांतिसे घरमें रहता, पति कमाता और आनंद पाता है। न तो इस वर्णको ब्राह्मणके समान तपस्याके कष्ट हैं और न पश्चिमके समान युद्धके दुःख हैं। शांतिसे साथ गृहस्थीका धोदनके कारण यह वैश्यवर्ण सातुर्बन्धमें शांति और विधामका अन्त पश्चिम दिशाका स्थान है। शत्रुओंमें वध और धोम उल्लासे तपनेवाले हैं, परन्तु वर्धशत्रुमें सर्व रीत जलकी वृद्धि होनेसे नदी, तब, तासाव और क्षुद्र जलसे परिपूर्ण होनेके कारण सर्व कृषिक प्रारंभ होनेसे सब भूमि हरिवायसे सुर और शांत विद्या देती है, इसलिये शत्रुओंमें वर्षा शत्रु पश्चिम दिशाकी विभूति यानी है। इसी दृष्टिसे प्रत्यक्ष रेतिए और सर्व पश्चिम दिशाको विभूति जाननेका यान कीजिए। इस प्रकारकी भावना पश्चिम दिशाके बहिक मर्मोंमें है, इसलिये इसको यथावत् कल्पना होनेसे ही यथोक्त ज्ञान दृश्यमें विद्यमान हो सकता है।

## उत्तर दिशाकी विभूति

पूर्व दो ओरोंमें 'पूर्व' और पश्चिम 'दिशाओंकी विभूति-

योंका वर्णन किया गया है, उसी कमालुकार इस सेतमें उत्तर दिशाका विचार करना और उस दिशाको विभूति-पाका स्वरूप धवलोकन करना है। पश्चिम दिशाके पञ्चाङ्ग अभिप्राय 'उत्तर' दिशा है। उत्तर दिशाका भाव निम्न प्रकार देखा जा सकता है—

|          |           |
|----------|-----------|
| उत्तर    | उबीची     |
| उत्तर-तर | उत्तर-अब् |
| उत्तर-तर | उत्तर-पति |

( उत् ) उच्चतले ( तर ) अधिक को भाव होता है, वह उत्तर किया उच्च-तर सम्बन्ध बताया जा सकता है। उच्चताकी दिशा, अधिक उच्चताके भावको दिशा यह इस सम्बन्धका अभाव है। जिस प्रकार पूर्व से सेतमें बताया गया है कि 'प्राची और प्रतीची' दिशा क्रमशः 'प्रगति और विभान' की सूचक दिशा है, उसी प्रकार समझिये कि यह 'उबीची' दिशा उच्चगतिकी सूचक है, व्यक्तिके शरीरमें यह उत्तर दिशा 'बायी बगल' के साथ सम्बन्ध रखती है।

शरीरमें बायी बगल उत्तर दिशा है, इसमें भी हृदय मुख है इसका आत्मा अभिप्राय है। अणुका मात्र पुण्य हृदयमें रहता है, वह उपनिषदोंका कर्मान यहाँ देखने योग्य है। इसका 'इयता' रक्षित है। 'इय-अ' शब्द स्वयंसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिका बोधक है। अस्मत्त्वकी स्वकीय शक्तिते यहाँका रक्षण होता है। बाहरकी शक्तिते यहाँका कार्य होना ही नहीं है। आत्माकी दिज शक्तिका ही प्रभाव यहाँ होता आवश्यक है। अस्माके प्रेमसे तथा परमात्माकी शक्तिते हृदयके प्रभुत्वमयता होनेकी संभावना यहाँ स्पष्ट हो रही है।

उत्तरं राष्ट्रं प्रजपोसराधिदिशामुदीचीं कृणवधो  
अग्रम् ॥ पाँके छंदः पुरुषो पभूव विभार्चिभ्यां  
सह संभवेम ॥ १० ॥ [ अर्थ. १२१३ ]

' ( उत्तरं राष्ट्रं प्रजया उत्तराधि ) उत्तर दिशा सा ही विश्वकी राष्ट्रीय दिशा है। इसलिये ( नः ) हम सबको ( अग्रं ) अग्रभागमें बढ़नेकी इच्छा पारण रखते हुए इसी उच्चतर दिशासे प्रवृत्त करना चाहिए। ( पाँके ) पाच वर्णोंमें विभक्त ( पुरुषः ) नागरिक जन ही इसका

छद्म है। इसलिये सब वर्णोंके साथ हम साथ ( सहसंभवेम ) मिलकर रहे, अर्थात् एकतासे पुद्गल्य करे।

राष्ट्रमें उच्च होनेकी भावना ही उत्तर अर्थात् उच्चतर दिशा है। इस दिशाके प्रगतिरा साधन और अभ्युदयके मार्गका अवलंबन करनेवाले राष्ट्रके प्रादेक मनुष्यके जहर यह भावना चाहिये, कि मैं ( अग्रं ) अग्रभागमें पुद्गल्य करता हुआ बहुत जाऊँ। मैं कभी पीछे नहीं रहूँगा। राष्ट्रमें पाच वर्ण होते हैं, मानके कारण साक्ष्योका श्वेतवर्ण साधके कारण रजोगुण प्रधान अधिर्वाका रक्त वर्ण, वैदिक कर्म करनेवाले पनसग्रह करनेवाले वैश्योंका पीतवर्ण, कारीगरोंका अर्थात् सधुओंका नीलवर्ण और अलपत्र नवविद्योका हृदय वर्ण होता है। सब जनता इन पाच वर्णोंमें विभक्त है, इसलिये पत्र जनोके राष्ट्रका वैदिक नाम 'पाचजन्य' है। 'पाच-जन्यका महानाव' ही जनताका सार्वजनिक मत्त हुआ करता है। जो पुरि अर्थात् नगरोंमें बसते हैं उनका नाम पुरय अर्थात् नागरिक होता है। ( पुरि-यस, पुर-यस, पुर-यप, पुरुष ) ये पुरुष अर्थात् नागरिक पहिले चार वर्ण हैं और पाचवा पितार वर्ण नागरिकोंसे भिन्न है, इसलिये कि वह जनसमूह रहता है। जबल निरासी भी राष्ट्रके अवयव हैं, जैसे नागरिक होते हैं। इसलिये 'पाच-जन्य' राष्ट्रमें सब लोक आते हैं, जिस प्रकार वैदिक राष्ट्रीय पांचजन्यकी कल्पनामें सब पाँचों प्रकारके जनोका अन्तर्भाव होता है, उस प्रकारका 'पाच जन्य राष्ट्र' का अर्थ और भावय बतायेवाला शब्द किसी अन्य भावामें नहीं है। इससे पता चलता है, कि वैदिक राष्ट्रीयताकी कल्पना कितनी उच्च और कंठी व्यापक है। सब धनदर्थों और खर्चोंके साथ जब प्रेमकन एकताका भाव होता है तभी राष्ट्रीय एकताकी अभ्युत्पन्न शक्ति विर्भाव होती है जिससे राष्ट्रको उच्चतर दिशाके अभ्युदयके मार्गसे जाना सुगम होता है। इस प्रकार उत्तम दिशाकी विभूति है।

अधुनमें जो उत्तर दिशा है वह सब जानते हो हैं, पही उत्तर दिशा भक्तिसे शरीरमें बायी बगल है, राष्ट्रमें उत्तर दिशा पनोत्पन्नकारी परवर वर्ण है, अधुनमें उत्तर दिशा परवृद्ध है, पहिलेमें आदिजन कालिक मास है, वर्णोंमें सधुओंकी कारीगर वर्ण हैं, छद्मोंमें अनष्टुष्ट छद्म, भावनाओंमें उच्च-तर होनेकी महत्वाकांक्षा है, इत्यादि प्रकार इस उत्तर दिशाकी विभूति है।

# रक्षाकी प्रार्थना

कांड ६, सूक्त ३

( ऋषि - अथर्व । देवता - वायदेवता । )

पातं न इन्द्रावृषणादितिः पान्तु मरुतः ।

॥ १ ॥

अपां नपात्सिन्धवः सप्त पातन् पातु नो विष्णुंश्च योः

॥ २ ॥

पातां नो वायावृषिबी अभिष्टये पातु प्रावा पातु सोमो नो अंहसः ।

पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पातुभिः सिवा ये अस्य पायवः

॥ ३ ॥

पातां नो देवाभिनां शुभस्पती उपासानक्तो न उरुम्वताम् ।

अपां नपादभिन्नुती गयस्य चिदेवं स्वष्ट्यर्थं सर्वतातये

अर्थ— ( इन्द्रावृषणी न पातं ) इन्द्र और वृषा ये नो देव हमारी रक्षा करें, ( अभिष्टिता मरुतः पान्तु ) अश्वि और मरुत ॥१॥ हमारी रक्षा करें । ( अपां नपात्, सप्त सिन्धवः पातन् ) मेघोंकी व गिरानेवाला पर्जन्यदेव और तातों समुद्र हमारी रक्षा करें, ( विष्णुः उत योः नः पातु ) व्यासक ॥२॥ और धृतेक हमें बचावे ॥ १ ॥

( वायावृषिबी अभिष्टये नः पातां ) धृतेक और वृषिबी लोक मधीय्य अथवा प्राप्त होनेके लिये हमारी रक्षा करें । ( प्रावा सोमः नः अंहसः पातु ) वायव और सोम जीवधि हमें पातने बचावें, ( सुभगा सरस्वती देवी ॥३॥ पातु ) उत्तम ऐश्वर्यवाली सिद्धादेवी हमारी रक्षा करे । ( अभिः पातु ) अग्नि हमारी रक्षा करे और ( ये अस्य पायवः ) ओ इन्की रक्षक गुण हैं, वे भी हमारी रक्षा करें ॥ २ ॥

( शुभस्पती अभिनो देवी नः पातां ) उत्तम पालक अश्विनोदेव हमारी रक्षा करें । ( उत उपासानक्ता ता उरुम्वतां ) तथा उदा और रात्री हमारी रक्षा करें । ( अपां नपात् स्वष्ट्यः देव ) हे अश्विनो न गिरानेवाले त्वष्टा देव । ( गयस्य अभिन्नुती चित् ) प्ररकी सुरवस्थाके भी सुर करके ( सर्वतातये यर्थं ) सब प्रकारके विस्तारके लिये हमारी बुद्धि कर ॥ ३ ॥



## रक्षाकी प्रार्थना

देवों द्वारा हमारी रक्षा

इस सूक्तमें कई देवोंके नामोंका उल्लेख करके उनसे हमारी रक्षा होनेकी प्रार्थना की है । इसमें पुष्पीपात्रीय देव ये हैं—

१ पृथिवी— भूमि, जिसपर सब जानव जाति रहती है ।

२ सप्त सिन्धवः— सात समुद्र, जिनमें सब भरा पड़ा है ।

३ अग्निः, अस्य पायवः यः— अग्नि और उसकी सब रक्षक शक्तियाँ ।

३६ [ अथर्व. भा. २ मनु० द्वितीय ]

४ सोमः— सोम अग्नि सब दनस्तियाँ और भोगियाँ ।

५ प्रावा— वायव तथा अन्वाय पवित्र बचाव ।

ये पांच देव पृथिवी स्थलीय हैं, ये अरुनो पवित्रयोंसे हमारी रक्षा करें । इनके अन्तर विविध प्रार्थना हैं, इसलिये उन प्रकृतियोंसे मनुष्यका मुक्त करे ऐसा उपाय यत्न करने चाहिये । उदाहरणके लिये अग्निवा उपयोग पाठ करने अग्नि कायों करनेसे लाभ और गृहदिके अज्ञानसे करनेसे हानि होती है । इसी प्रकार अन्याय देवताओंके विषयमें जानना चाहिये । सब अन्तरिक्षपात्रीय देवोंके विषयमें देखिये—

६ इन्द्र— ओ परमेश्वर देता है, विद्वत्का सहाय करता है ।

७ मरुतः— सब प्रकारके वायु, जो प्राणविरूपमें सबको रक्षा करते हैं ।

८ अर्वा सपात्— जलोंकी मेघोंमें धारण करनेवाला देव ।

९ न्युष्ठा— जो तोड़ने भोजनेका कार्य करता है और जो कर्षोंको भरता है ।

ये देव भी विविध शक्तियोंके द्वारा मनुष्योंकी रक्षा करते हैं । इसलिये इनकी शक्तियोंसे मनुष्यका लाभ हो और कष्टविह्वल न हो ऐसा प्रबंध करना चाहिये । अब सूर्या-नीय वेत्ताओंका विचार देखिये—

१० द्यौः— द्युलोक जहाँ सब तेजमयी सूर्यादि गोलक रहते हैं ।

११ पूषा— सूर्य जो अपने किरणोंसे सबको पुष्ट करता है ।

ये देव द्युलोकमें रहते हुए मनुष्योंकी रक्षा कर रहे हैं ; इसी प्रकार अन्य देवोंके विषयमें देखिये—

१२ अश्विनौ— इनका और लक्ष्यवास, प्राण और अपाण, तारक ( अर्भरी ), मारक ( तुर्करी ) शक्ति, वह प्राण शक्ति है ।

१३ उपासामका— उषा और राती, वह काम है ।

१४ सरस्वती— विद्या देवी, लाभदेवता, शास्त्रविद्या, सम्पत्ता ।

१५ अदितिः— अलक्षित मूल शक्ति, और

१६ विष्णुः— सर्वव्यापक ईश्वर ।

ये सब देव और देवताएँ मनुष्यकी रक्षा करें । मनुष्यको चाहिये वह इनसे ऐसा व्यवहार करे, जो जिससे इनकी शक्ति इसकी सहायक बने और कभी विरोधक न बने ।

इनमें सब शक्ति एक अद्वितीय सर्वव्यापक देवसे आती है, तथापि मनुष्यका इनके साथ अलग अलग संबंध आता है, और इनसे मनुष्यके विविध कार्य सिद्ध भी होते हैं और इनका विरोध होनेसे मनुष्यकी बड़ी हानि भी होती है, इसलिये इनकी सहाय्यताकी याचना यहाँ की है ।

### दो उद्देश्य

यानवी उक्तिके दो उद्देश्य हैं— ( १ ) रायस्थ अभि-  
व्युत्ती— परकी बुद्धिमत्ता, हाथि आदि दूत करना और  
( २ ) सर्वदातये यर्थय— सब प्रकारका विस्तार होनेके लिये बढ़ना । उक्त वेत्ताओंकी शक्तियोंसे ये दो उद्देश्य सिद्ध हों, ऐसा व्यवहार करना चाहिये । पूर्वोक्त ऋषि अपने शरीरमें अंग रूपसे हैं, उनकी शक्तियोंकी उन्नति करके भी मनुष्यका बड़ा लाभ हो सकता है । इस सूक्तका विचार करनेसे हमें इससे बहुत लाभ हो सकता है ।

अगला सूक्त भी इसी विषयका है, वह देख लिये ।

## रक्षाकी कार्यका

### कांड ६, सूक्त ४

( ऋषिः — अथर्वः । वेत्ता — यानवेत्ताः । )

त्वष्टा मे दैव्यं वचः पर्जन्यो अर्वाणस्पतिः । पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्बु पातु नो दुष्टं प्रार्यमाणं सहः ॥ १ ॥

अंशो भग्नो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः ।

अप तस्य द्वेपो ममेदमिदुर्गो वावयुच्छत्रमन्तितम् ॥ २ ॥

अर्थ— ( त्वष्टा ) सबका निर्माण करनेवाला, पर्जन्य, बहुलस्पति और ( पुत्रैः भ्रातृभिः अदितिः ) पुत्र और भाइयोंके साथ अदिति देवी ( मे दैव्यं वचः ) मेरे देवोंके संबंधके वचनको सुनै और ( तः ) दुष्टं प्रार्यमाणं सहः पातु ) हम सबके अजेय और रक्षा करनेवाले उसको सुरक्षित रखे ॥ १ ॥

अंश, भग, वरुण, मित्र, अर्यमा, अदिति और मरुत देव ये सब देव मेरी ( पान्तु ) रक्षा करें । ( तस्य अभि-  
व्युत्तः हेतुः रायगमोत् ) उस शत्रुका बुद्धिमान् द्वे वरुण होवे । ( मन्तितं शत्रुं याचयत् ) ये सब पातके शत्रुको दूर भगा दें ॥ २ ॥

धिरे समं धिना प्रावंतं न उरुष्या च उरुजम्भप्रयुञ्जन् । यौधेयितर्पणं विव दन्तुना या ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (अश्विनौ) धनिवरो ! (१) ये नः सं प्रावंतं) बुद्धिके लिये हमारी उन्नत रक्षा करो । हे (उरु-जम्भ) विरोध गतिवासे ! (२) उरुजम्भप्रयुञ्जन्) मूल न करता हुआ तू (नः उरुष्या) हम सबको रक्षा कर । हे (यौधेयितः) दंतोके पातक ! (३) या दन्तुना याचय) जो कुंति है, उसको दूर कर ॥ ३ ॥

## रक्षाकी प्रार्थना

॥ मूलतः पूर्व मूलमें कहे गए देवोंके नाम इस प्रकार हैं— 'एषा, अदिति, असुरः' । जिन देवोंके नाम पूर्व मूलमें नहीं आये वे ये हैं— 'पर्जन्य, प्राणरूपति, अंश, भग, पदप, मिश्र, अर्यमा, यौधेयता ।' पूर्वके अनु-संधानसे ही इस मूलका अर्थ देखा जा चाहिये ।

- १ पर्जन्यः— मेघ, जल देनेवाला देव ।
- २ प्राणरूपतिः— आनता स्वामी, ताज देनेवाला ।
- ३ अंशः— प्रकाश देनेवाला ।
- ४ भगः— भागवान्, भाग्य देनेवाला ।
- ५ पदपः— पविष्ठ देव, समस्त भेद देव ।
- ६ मिश्रः— सबका हितकारी,
- ७ अर्यमा— भेद पुरुषका मिश्रण करनेवाला ।
- ८ यौधेयता— दुष्टोदना वामक देव ।
- ९ पुष्यैः आशुभिः सह अदितिः— सबको और

आशुओंके समेत अदिति देवी । अलङ्कित मूल प्रकृतिका नाम अदिति देवी है, इससे सुषोमि तेजके मोलक उत्पन्न होते हैं, इसलिये ये इसके पुत्र हैं । तथा उसके समान जो हैं वे उसके भाई हैं । अर्थात् मूल प्रकृति अथवा मूल प्राणि और उसके उत्पन्न हुए सब पदार्थ इस मूल भागसे तेजे योग्य हैं ।

यह सब देवीप्राणिप्राणीका समूह हम सबको रक्षा करे ।

## रक्षाकर्म कार्य

रक्षा करनेका तात्पर्य इस मूलमें बताया है, इसलिये इसके लक्षण बाहर देखिये । रक्षाके लिये अपने बुद्धि उत्पन्न करने चाहिये । यह वर्तमानके लिये कहा है—

१ धिरे नः सं प्र भयतं— 'उत्तम बुद्धिके विस्तारके लिये हूँ तबकी उत्तम प्रकार विरोध रक्षा करो ।' मनुष्यको बुद्धिको ही विशेष ध्यान देना है । मनुष्यकी रक्षा भी इसी लिये होनी चाहिये कि उसकी बुद्धि विशेष मृदु, खिन्न, विरोध और कुजाद हो और कभी होव न हो । ( सं० ४ )

२ मे दीप्यं सचः— मेरा भावन दिग्ग हो, अर्थात् उत्तम देवके गुणोंका वर्णन हो, मृदु भाव हो और कभी हीन भाव न हो । बायींकी इस प्रकार बुद्धि होनेसे ही अगर कभी यह बुद्धिको उत्पत्ति हो सकती है । इस मूलमें एक बायींका उत्पत्ति करके ॥ अथ इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति मृदु करनेका उपदेश दिया है । जिस नियमसे बायींकी बुद्धि होती है, उसी नियमसे नेत्र कर्ण आदि प्रत्यात्म इन्द्रियोंकी भी बुद्धि होती है । इन्द्रियोंकी मूल कर्मसे तारा नियम रखनेसे ही सब इन्द्रियां मृदु हो सकती हैं । ॥ नियम सब इन्द्रियोंके विषयमें संचालन ही है । अपनी इन्द्रियोंमें 'विश्व भाव' स्थिर करना चाहिये, यह ॥ विवरणका तात्पर्य है । इस प्रकार सब इन्द्रियां मृदु होनेसे बुद्धि भी इनो अवरणसे मृदु होती है और विकसित होती है । ( सं० १ )

३ द्वेयः अवयमेव— द्वेयभाव, निद्रा करनेका स्वभाव, समूह करनेका आश्रय अन्तःकरणसे हूँ हो आये । यह पवित्र करनेका मार्ग है । द्वेयभावके मरते पूर्वतया निकल जानेपर सब मृदु होता है । ( सं० २ )

४ दन्तुना याचय— सब कुंतिको दूर कर । इन्द्रियोंके कर्मोंमें प्रभुत्व रखनेसे ही सब प्रकारकी कुंति प्रान्त होती है । इसलिये पूर्वोक्त प्रकार आत्मबुद्धि हो जानेपर कुंति अपने पास बचाना नहीं रहेगी । ( सं० ३ )

५ शत्रुं याचय— शत्रुको दूर भगा दे । शत्रुओंका आश्रय मृदु है, अथवा कभी कभी ये शत्रु हैं और शत्रुके भी शत्रु होते हैं । इन सब शत्रुओंको दूर करना चाहिये । पूर्वोक्त प्रकार आत्मबुद्धि करनेसे सब आंतरिक शत्रु दूर होते हैं, आंतरिक और अन्तःकारके शत्रुओंको दूर करनेका उत्तम जो वहांकी मृदुता करना ही है । इस करनेके लिये अपने अंदर बल चाहिये, उपाय उपदेश इस प्रकार है—

१ ना पुष्टं याचयाम्य सह— हमारे अंदर शत्रु



सिन्धे दुस्साह और हमारी रक्षा करनेवाला बल हो। उसके दो लक्षण यहाँ कहे हैं, यह बल ऐसा चाहिये कि बिचका ( दुः+तरं ) उत्पन्न न हो न कर सके। जब छात्र धाकधक करे उस समय यह पूर्ण रीतिसे परास्त हो। इसी प्रकार उस बलसे हरएक कठिन प्रसंगमें हमारी रक्षा होवे, ऐसा हमारा बल हमेशा रहना चाहिये। इस प्रकारका बल बड़ जाननेसे स्वयमेव सब काम दूर होंगे।

इस प्रकारका बल बढ़ाना बहुलस्पष्टिका कार्य है। बहुलस्पष्टि ज्ञान और ब्रह्मानका देव है और वह अपने ज्ञानके ज्ञानसे पूर्णरूपसे बल मनुष्योंमें बढ़ाता है। इसीलिए उसकी उपासना और स्तुति प्रार्थना मनुष्योंको करने चाहिये। उपासनाके समय इस प्रकारका मनन करनेसे और अज्ञाननिवृत्त अन्तःकरणसे उपासना करनेसे ये सब फल प्राप्त होते हैं।

## अपनी रक्षा

कांड ६, सूक्त ५३

( अथि. - बृहस्पति । देवता - वायुदेवताः । )

द्यौश्च न इदं पृथिवी च प्रथैवसौ ज्ञको बृहन्क्षिणया विपर्तु ।

अतुं स्पृधा चिकित्ता सोमो अमिर्वायुर्नः पातु सविता भगंश्च

॥ १ ॥

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु ।

चैश्चनरो नो अदन्धस्त्वनूपा अन्तस्तिष्ठति दुरितानि विशा

॥ २ ॥

सं वचंसा पर्यसा सं तनुमिरमन्महि मनसा सं क्षियेन ।

त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वन्तु नो मार्तुं तन्नोऽपि यदिरिष्टम्

॥ ३ ॥

अर्थ—( प्र-वेगली सीः च पृथिवी च ) उत्तम ज्ञानवाले पुनोक्त और भूतोंक और ( बृहन् क्षुः क्षिणया ) बड़ा सामर्थ्यवान् सूर्य रक्षताके साथ ( ये इदं विपर्तु ) मेरे इस सबकी रक्षा करे। ( सोमः माद्रीः ) सोमादि वनस्पति और अग्नि ये ( स्पृधा अतुं चिकित्ता ) अपनी पारण्यप्रतिष्ठा ज्ञान अनुकूलताके साथ लें। ( वायुः सविता भगः च नः पातु ) वायु, सविता और भग मैं हम सबकी रक्षा करें ॥ १ ॥

( प्राणः नः पुनः ऐतु ) प्राण हमारे पास फिर आवे, ( आत्मा नः पुनः ऐतु ) आत्मा हमारे पास पुनः आवे। ( पुनः चक्षुः पुनः अक्षुः नः ऐतु ) फिर ज्ञान और फिर प्राण हमारे पास आवें। ( अ-दन्धः तनु-पाः चैश्चानरः ) न दवाया सोनेबाता शरीरका रक्षक सबका नेता आत्मा ( नः चिन्मा दुरितानि ) हमारे सब पापोंको जागता हुआ ( अन्तः तिष्ठति ) कबल रहता है ॥ २ ॥

( वचंसा पर्यसा सं ) मेन और पुष्टिकारक रूपसे हम युक्त हों। ( तनुमिः शः ) उत्तम शरीरोंके साथ हम युक्त हों। ( क्षियेन मनसा सं अगन्महि ) कल्याणमय विचारयुक्त मनसे हम युक्त हों। ( त्वष्टा नः अत्र वरीयः कृणोतु ) थोड़ा कारीगर परमात्मा हमें यहाँ उत्तम बनावे। ( मार्तुं नः तन्नः अपि यदिरिष्टम् ) जो हमारे शरीरोंमें कष्ट देनेवाला भाग हो ( अनुमार्तुं ) उसको अनुकूलतासे दूर करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—दुनोकरा बड़ा ज्ञातिप्राणी मायवान् सूर्य, अन्तरिक्षतोरका वायु और भूतोंका अग्नि, सोम आदि हमारी रक्षा करें और हमारे अनुकूल हों ॥ १ ॥

हमारी आत्मा, प्राण, चक्षु आदि सब शक्तियां पूर्णरूपसे हमें पुनः प्राप्त हों। हम पापोंको क्षिणकर कर नहीं सकते, क्योंकि कि ज्ञानी रक्षक आत्मा हमारे अंदर जागता रहता है ॥ २ ॥

हमें पुष्टिकारक सन्न, तेज, उत्तम शरीर, उत्तम कल्याणका विचार करनेवाला मन प्राप्त होवे। हमारे शरीरमें जो कष्ट प्रातिकारक प्रमाणें पाया हो वह परमेश्वरकी आज्ञासे दूर होवे और हमारी दृष्टि होवे ॥ ३ ॥

## अपनी रक्षा

इस वृत्तमें मनो ही प्रकाशसे रक्षा हो इस विषयकी उत्तम प्रार्थना है। द्वितीय मन्त्रमें कहा है कि—

आत्मा, प्राणः अस्तु, चक्षुः नः पुनः यतु।

(म० २)

‘आत्मा, प्राण, आंश आदि सब दक्षितयां हमारे पास पुनः आतीं।’ अर्थात् रोषादिके कारण शरीरपर जो विविध आघातियां आती हैं, उनसे चक्षु आदि सब इन्द्रिय रोगों और विकृत हो जाते हैं, किसी किसी समय ये इन्द्रिय नामगैव भी हो जाते हैं, आत्मा और प्राण चले भी जाते हैं अर्थात् मनुष्य मर भी जाता है। अर्थात् जब शरीर ऐंश रोगों हो जाता है, कि मनुष्य मर भी जाता है। इसका रोगों होनेपर भी आत्मा, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, आदि सब दक्षितयां पुनः हमारे शरीरमें पूर्ववत् उत्तम अवस्थामें चले। अर्थात् रोग आदि आपत्तियां आनेपर भी पूर्ववत् आरोग्य प्राप्त हो। यह आरोग्य किस प्रकार प्राप्त हो सकता है इसका विचार पहिले मन्त्रमें बताया है—

(द्यौः पुष्टं शुक्रः सगः स्वयिता) पुनोक्तं वरा  
सामर्थ्यात् शुद्धता करनेवाला सूर्य, (वायुः) अन्तरिक्षका वायु और (पृथिवी अग्निः लोमः) पृथ्वीके ऊपरकी भाँति और सोमादि वनस्पतियां (अनु स्वधा चिकिता, पातु, पिपतुं) अनुकूलतासे अपनी भारक उचित देने, हमारी रक्षा करें, और पूर्णता करें। (म० १)

पुनोक्तं सूर्य है जो अपने प्रकाशमान किरणोंसे सबको शुद्धता करता है, सबमें शान लाता है और सबको बढ़ाकर पूर्ण करता है। अन्तरिक्षमें भी वायु है यह सबका आश होकर सबको जीवन देता है, पवित्र और शुद्ध करता है और दीर्घ आयु देता है। पृथ्वीपरकी सोम आदि वनस्पति-यां रोष दूर करनेके द्वारा सबका आरोग्य बढ़ाती हैं और सबको दीर्घायु करती हैं। अर्थात् अन्न, प्राण और चक्षु पुनः शरीरमें स्थिर करनेके साथ (१) सूर्यप्रकाश, (२) वायु और (३) वनस्पतियोंके मध्यमोध्य सेवनासे आसन्न-मरण हुआ मनुष्य भी पुनः स्वस्थ हो सकता है। इससे—

पयसा, धनंसा, शिवेन मन्त्रसा स अगमहि।  
(म० ३)

‘दुग्धादि अल्पान्, तेजस्विता और शुभ विचारवाला मनुष्य प्राप्त हो सकता है।’ आरोग्य चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनको मृन्मगत विचारोंसे मुक्त करे, क्यों कि विचारोंके धृष्ट रहने पर नुराई पात नहीं आसकती। स्वभाव सेवसी बनने और शुद्ध दुग्धाहार करके उत्तम आरोग्यका साधन करे। इसका प्रयत्न करने पर ही जो कुछ रोषबीज या रोष शरीरमें घुस जाए तो, उसे दूर करनेके लिये ऐंश प्रार्थना करे—

स्वधा नः स्वधा यत् चिरिष्ठ माष्टुं। (म० ३)

‘ईश्वर हमारे शरीरके रोषादिको हटा करके हमारी शुद्धता करे।’ क्योंकि मनुष्यके प्रयत्न होनेपर भी कुछ असुखिया हो जाती है और रोष घुस जाते हैं। ईश्वरकी प्रार्थना करनेसे यह रोष दूर हो जाते हैं, क्योंकि परमेश्वर प्रार्थना करनेसे मनमें एक प्रकारका अनुभूत बंधो बल प्राप्त हो जाता है जिससे सब रोष और रोगबीज तथा अन्य विषयिता दूर हो जाती हैं और मनुष्य निर्दोष हो जाता है। कोई यहाँ यह न समझे कि ईश्वरसे छिपाकर मनुष्य कुछ भी रोष या पाप कर सकता है। यह कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि—

वैश्वानरः, भद्रव्य, तनूपाः,  
विश्वा दुरितानि अन्तः तिष्ठति। (म० ३)

‘सब जगत्का बंध, कभी न बधनेवाला, शरीरकी रक्षा करता हुआ और हमारे सब पापोंका निरीक्षण करता हुआ हमारे ऊपर रहता है।’ जब यह जाग्रत रहता हुआ अगर रहता है तो उससे छिपकर कोई पाप कैसे कर सकता है? अर्थात् यह सर्वथा असंभव है। हमारे सब घरे और भले कमरेको यह जानता है, इसलिये उसीको प्रार्थना करनी चाहिये और उसीसे आसन्नमरण प्राप्त करना चाहिये।

यह राखि है जिससे मनुष्य बीरोग हो सकता है और अपनी उन्नति का साधन कर सकता है।

## अपनी रक्षा

कांड ६, सूक्त १०७

( ऋषि - अन्ताति । देवता - विश्वजित् । )

विश्वजित्त्रायमाणायै मा परि देहि । त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम् ॥ १ ॥  
 त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि । विश्वजिद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम् ॥ २ ॥  
 विश्वजित्कल्याण्यै मा परि देहि । कल्याणि द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम् ॥ ३ ॥  
 कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि । सर्वविद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ— हे ( विश्वजित् ) जगत्को जीतनेवाले ! ( मा त्रायमाणायै परि देहि ) मुझे रक्षा करनेवाली शक्तिके लिये दे । हे ( त्रायमाणे ) रक्षक शक्ति ! ( मा विश्वजित् चतुष्पात् च सर्वं रक्ष ) हमारे द्विपाद और चतुष्पाद सबकी रक्षा कर और ( यत् च नः स्वम् ) जो हमारा धन है उसकी भी रक्षा कर ॥ १ ॥

हे ( त्रायमाणे ) रक्षक शक्ति ! ( मा विश्वजिते देहि ) मुझे जगत्को विजय करनेवालेको दे । हे जगज्जेता ! मेरे धन और द्विपाद चतुष्पाद सबको रक्षा कर ॥ २ ॥

हे जगज्जेता ! ( मा कल्याण्यै परिदेहि ) मुझे कल्याण करनेवाली शक्तिके आशीर्वाद दे । हे कल्याणि ! मेरे धन और द्विपाद चतुष्पादकी रक्षा कर ॥ ३ ॥

हे कल्याणि ! ( मा सर्वविदे परि देहि ) मुझे सर्वज्ञके पास पहुंचा । हे सर्वज्ञ ! मेरे धन और द्विपाद चतुष्पादकी रक्षा कर ॥ ४ ॥

भाषार्थ— जगत्को जीतनेकी इच्छा करनेवाला रक्षकके सुपुर्व रक्षणार्थ वस्तुमात्रको करे । यह रक्षक सबकी पचासो रक्षा करे । रक्षक उन ॥ पदांशोंको विजयविजयीके पास लेवे । और वह विजयविजयी सबकी पचासो रक्षा करे । यह सब रक्षा करके कायापणके लिये हो, अर्थात् सबकी रक्षासे सबका पचासो रक्षा प्राप्त हो । कल्याण होनेका अर्थ यह है कि सब विजय ज्ञानीके पास रहें इसी कि सब प्रकारका कल्याण करनेसे हो होमा ॥ १-४ ॥

इस सूक्तसे यह बोध प्राप्त हो सकता है— ( १ ) हरएकको अपने अंदर रक्षा करनेकी शक्ति बढ़ानी चाहिये । ( २ ) मैं विजय प्राप्त करनी देखी महारक्षाका धारण करनी चाहिये । ( ३ ) सबको अधिको अधिक कल्याण करनेके लिये मान करना चाहिये और ( ४ ) ज्ञानीकी संपत्तिमें सबको समान चाहिये ।

## रक्षाकी प्रार्थना

कांड ७, सूक्त ५१

( ऋषि - अद्विगता । देवता - इन्द्राभूतस्वामी । )

बृहस्पतिर्नः परि पातु पृथादुबोचरस्मादधरादधायोः ।

इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कुषोतु

॥ १ ॥

अर्थ— ( बृहस्पतिः नः पृथात्, उत उत्तरस्मात् ) तानका स्वामी हूँ पीछेसे, उत्तर दिशासे, ( मधरात् मधायोः पातु ) नीचेके भगवत् पातु पुच्छते बचने । ( सखा इन्द्रः ) मित्र प्रभू ( पुरस्तात् उत मध्यतो ) आगेसे और बीचसे ( सखिभ्यः नः वरीयः कुषोतु ) मित्रोंमें हूँ श्रेष्ठ बनाने ॥ १ ॥

भावार्थ— ज्ञानदेनेवाला पीछेसे, ऊपरसे और नीचेसे अपना बग़रसे हवासे रक्षा करे और मित्र हमारे रक्षा समुच्चये और बौद्धिक स्थानसे करे ॥ १ ॥

ज्ञान देनेवाला और सहायक मित्र ये दोनों रक्षा करते हैं, एक बाहरसे रक्षा करता है और एक अंदरसे रक्षा करता है। परमात्मा ज्ञान देकर अंदरसे मित्र होकर, अंदरसे और बाहरसे और सब ओरसे हमारे रक्षा करता है।

## सुरक्षितताकी प्रार्थना

कांड ५, सूक्त २४

( अग्नि - अथर्व । देवता - ब्रह्मरक्षसा, मानादेवताः । )

सविता प्रसुवानामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मेण्यस्यां पुरोधायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

॥ १ ॥

चिर्यामस्यामाकृत्यामस्यामाश्रिप्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मेण्यस्यां पुरोधायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

॥ २ ॥

चिर्यामस्यामाकृत्यामस्यामाश्रिप्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

धानांपृथिवी दातृणामधिपत्नी ते मावताम् ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मेण्यस्यां पुरोधायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

॥ ३ ॥

चिर्यामस्यामाकृत्यामस्यामाश्रिप्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

वरुणोऽयामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मेण्यस्यां पुरोधायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

॥ ४ ॥

चिर्यामस्यामाकृत्यामस्यामाश्रिप्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

अर्थ— ( अस्मिन् ब्रह्मणि ) इस ब्रह्मणमें, ( अस्मिन् कर्मणि ) इस कर्ममें, ( अस्यां पुरोधायां ) पुरोहितके अनुष्ठानमें, ( अस्यां प्रतिष्ठायां ) इस प्रतिष्ठामें, ( अस्यां चित्यां ) इस चित्तमें, ( अस्यां आकृत्यां ) इस चकल्पमें, ( अस्यां आश्रिपि ) आश्रितोंमें, ( अस्यां देवहृत्यां ) इस देवोंके प्रार्थनामें में ( स्व-मा-हा ) आत्मसंबन्धका समर्पण करता हूँ, इस समय ( सः प्रसवानां अधिपतिः सविता मा अवतु ) वह सब ज्ञानात्मिका अधिपति मेरेक परमेश्वर मेरी रक्षा करे ॥ १ ॥

( सः वनस्पतीनां अधिपतिः अग्निः मा अवतु ) वह वनस्पतियोंका अधिपति अग्नि मेरी रक्षा करे ॥ २ ॥

( ते दातृणां अधिपत्नी धानांपृथिवी मा अवतां ) ये दाताओंके अधिपति आदापृथिवी मेरी रक्षा करें ॥ ३ ॥

( सः अपां अधिपतिः वरुणः मा अवतु ) वह जलोंका अधिपति वरुण मेरी रक्षा करे ॥ ४ ॥

मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चित्र्यामस्यामाकृत्यामस्यामाश्विन्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ५ ॥

मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते मावन्तु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चित्र्यामस्यामाकृत्यामस्यामाश्विन्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ६ ॥

सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चित्र्यामस्यामाकृत्यामस्यामाश्विन्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ७ ॥

वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चित्र्यामस्यामाकृत्यामस्यामाश्विन्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ८ ॥

सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चित्र्यामस्यामाकृत्यामस्यामाश्विन्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ९ ॥

चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चित्र्यामस्यामाकृत्यामस्यामाश्विन्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ १० ॥

इन्द्रो दिवोऽधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चित्र्यामस्यामाकृत्यामस्यामाश्विन्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ११ ॥

अर्थ— ( तौ वृष्ट्या अधिपति मित्रावरुणौ मा अवतु ) वे दोनों भूमिके अधिराज मित्र और वरुण मेरी रक्षा करें ॥ ५ ॥

( ते पर्वतानां अधिपतयः मरुतः मा अवन्तु ) वे पर्वतोंके अधिपति मरु मेरी रक्षा करें ॥ ६ ॥

( सः वीरुधाम अधिपतिः सोमः मा अवतु ) वह वीरुधियोका अधिपति सोम मेरी रक्षा करे ॥ ७ ॥

( सः अन्तरिक्षस्य अधिपतिः वायुः मा अवतु ) वह अन्तरिक्षका अधिपति वायु मेरी रक्षा करे ॥ ८ ॥

( सः चक्षुषां अधिपतिः सूर्यः मा अवतु ) वह नेत्रोंका अधिपति सूर्य मेरी रक्षा करे ॥ ९ ॥

( सः नक्षत्राणां अधिपतिः चन्द्रमाः मा अवतु ) वह नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्र मेरी रक्षा करे ॥ १० ॥

( सः दिव्य अधिपतिः इन्द्रः मा अवतु ) ॥ ध्रुवलोकाका अधिपति इन्द्र मेरी रक्षा करे ॥ ११ ॥

मरुतां पिता पशूनामधिपतिः स भवतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां  
चिरयामस्यामाकृत्यामस्यामाश्लिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा ॥ १२ ॥

मृत्युः प्रजानामधिपतिः स भवतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां  
चिरयामस्यामाकृत्यामस्यामाश्लिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा ॥ १३ ॥

यमः पितृणामधिपतिः स भवतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां  
चिरयामस्यामाकृत्यामस्यामाश्लिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा ॥ १४ ॥

पितरः परे ते भवन्तु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां  
चिरयामस्यामाकृत्यामस्यामाश्लिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा ॥ १५ ॥

तुता अघरे ते भवन्तु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां  
चिरयामस्यामाकृत्यामस्यामाश्लिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा ॥ १६ ॥

तत्तस्ततामहास्ते भवन्तु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां  
चिरयामस्यामाकृत्यामस्यामाश्लिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा ॥ १७ ॥

अर्थ— ( सः पशूनां अधिपतिः मरुतां पिता सा भवतु ) यह पशुओंका अधिपति मरुतता येरी रक्षा करे ॥ १२ ॥

( सः प्रजानां अधिपतिः मृत्युः सा भवतु ) यह प्रजाओंका अधिपति मृत्यु येरी रक्षा करे ॥ १३ ॥

( सः पितृणां अधिपतिः यमः सा भवतु ) यह पितरोंका अधिपति यम येरी रक्षा करे ॥ १४ ॥

( ते परे पितरः सा भवन्तु ) वे पूर्व पितर येरी रक्षा करें ॥ १५ ॥

( ते अघरे तताः सा भवन्तु ) वे पिछले-पिछानेह येरी रक्षा करें ॥ १६ ॥

( ते तताः ततामहाः सा भवन्तु ) वे बड़े-प्रसिद्धाणह येरी रक्षा करें ॥ १७ ॥

अपनी सुरक्षितता

मानोपदेशका कर्म, अन्याय्य पुण्याय, यजन याज्य, धनको स्थिरता और सुसुखता बचानेवाले कर्म, चित्तसे चित्तन भजन आदि कर्म, संकल्प, आशीर्वाद देना और लेना, ईश्वरको स्तुति प्रार्थना आदि कर्म तथा जो जो अन्याय्य कर्तव्य कर्म मनुष्य करता है, उसमें संपूर्ण देवताएँ और उन देवताओंका प्रेरक परब्रह्माण येरी रक्षा करे । यह प्रार्थना इस सूक्तमें है । यह स्पष्ट आशय है इसलिये अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है ।

## अपनी रक्षाकी मायना

कांड ६, सूक्त ४७

( अग्निः — अग्निः । प्रवेताः । वेक्ता — १ अग्निः, २ विश्वदेवाः, ३ शुक्ला । )

अग्निः प्रातःसवने पात्स्वस्मान्वैधानरो विश्वकृद्विश्वभूः ।

स नः पावको द्रविणे दधात्वायुष्मन्तः सुहर्म्याः स्याम

॥ १ ॥

विश्वे देवा मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिन्द्रितीये सर्वे न र्जुहा ।

आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमतौ स्याम

॥ २ ॥

इदं वृषीयं सर्वमं कजीनामुतेन ये चमसमैरपन्त ।

ते सौघन्वनाः स्वरानशानाः स्विष्टि नो अग्नि वस्यो नयन्तु

॥ ३ ॥

अर्थ— ( विश्वानरः ) विश्वका पातक, ( विश्वकृत् ) विश्वका निर्माणाकर्ता, ( विश्वशोभूः ) विश्वको शान्ति देनेवाला, ( अग्निः ) प्रकाश देव ( पातः ) सवने अस्मान् पातु । प्रातःकालके पत्तने हमारी रक्षा करे । ( सः ) पायका नः द्रविणे दधातु । यह पवित्र करनेवाला हम सबको पनके बीच रखे । अग्नि इससे हम ( आयुष्मन्तः ) सहमक्षाः स्याम ) दीर्घ आयुवाले और साथ भोजन करनेवाले होंगे ॥ १ ॥

( विश्वदेवाः मरुतः इन्द्रः ) सब देव, मरुत् और इन्द्र सब ( अस्मान् अस्मिन् द्वितीये सवने न जह्युः ) हमको इस द्वितीय पत्तने न डूब करें । ( आयुष्मन्तः ) दीर्घ आयुवाले और ( प्रियं वदन्तः ) प्रिय बोलनेवाले होकर, ( वयं येषां देवानां सुमतौ स्याम ) हम इन देवोंकी मुक्तिमें रहें अर्थात् इनका उत्तम आधीर्वाद हमें मिले ॥ २ ॥

( ये चमसं देरपन्त ) जो चमसकी हुबनके छिमे प्रेरित करते हैं ( कजीनां मुतेन ) उन कविमोंके आयुपातन-से ( इदं वृषीयं सर्वमं ) यह वृषीय यज्ञ भाग होता है । ( ते सौघन्वनाः स्याः शानशानाः ) वे उत्तम धनुष्य धारण करनेवाले और आत्माका केन शान्त करते हुए ( नः स्विष्टि वस्यः अग्नि नयन्तु ) हमारे उत्तम यज्ञको उत्तम कालके प्रति ले जायें ॥ ३ ॥

## ईश्वरके गुण

इस सूक्तकी प्रथम मंत्रमें ईश्वरके गुणबोधक शब्द हैं जो विचार करने योग्य हैं—

१ विश्वानरः= सब विश्वका पातक, जो सब विश्वमें रहकर विश्वको आये बधता है ।

२ विश्वकृत्= सब विश्वका जलानेवाला, जयकृत् निर्माणाकर्ता ।

३ विश्व-शो-भूः= जिससे विश्वको सुख और शान्ति मिलती है ।

४ अग्नि- प्रकाश देनेवाला, शान्त देनेवाला देव ।

ये सब शब्द और विश्वका पहिले तीन शब्द सबके निर्माता एक प्रभुके लक्षण हैं । यह ईश्वर हम सबको रक्षा करे, उसकी कृपासे हमारी आयु बड़े और हमारी संकलक्षणका सिद्ध होवे । हम आपसमें ( प्रियं वदन्तः ) प्रिय भाषण करें और ऐसा आचरण करें, कि जिससे ( वयं देवानां सुमतौ स्याम ) हम देवोंके उत्तम आधीर्वाद प्राप्त करें, हमारे विषयमें देवोंकी उत्तम बुद्धि स्थिर होवे और ( स्य शानशानाः ) हमारी आत्मा प्रकाशित होवे ।

## हमारी रक्षा

कांड ६, सूक्त ७९

( श्रुति - अथर्वानु. देवता - सप्तमन्त्रः । )

॥ १ ॥

॥ २ ॥

॥ ३ ॥

अयं नो नमस्तस्मिन् संस्फानो अभि रक्षतु । अर्धमातिं गुहेषु नः

सं नो नमस्तस्मिन् ऊर्जे गुहेषु धारय । आ पुष्टमेत्वा वसुं

देव संस्फान सहस्रपोषस्येतिषे ।

तस्य नो रास्व तस्य नो भेदि तस्य ते भक्तिर्वांसः स्वाम

अर्थ - ( अयं संस्फानः नमस्तः पतिः ) यह बलदेवता आकाशका पालक देव ( नः अभिरक्षतु ) हमारी रक्षा करे । तथा ( नः पुष्टेः अस्तमातिं ) हमारे घरोंमें सखामान्य पन रहे ॥ १ ॥

हे ( नमस्तः पति ) आकाशके स्वामी देव ! तू ( त्वं नः गुहेषु ) हमारे घरोंमें ( नः ऊर्जे धारय ) हमें प्रभूत मन्त्र के भीर ( पुष्टं वसुं आ पुष्टु ) पुष्टिकारक पन भी हमारे पास आये ॥ २ ॥

हे ( देव संस्फान ) बृद्धि करनेवाले देव ! तू ( सहस्रपोषस्य ईतिषे ) हमारों बुद्धियोंका स्वामी है, इतिषे ( तस्य नः रास्व ) उन बुद्धियोंको हमें दे, ( तस्य नो भेदि ) बड़े हर्ष दे, ( तस्य ते भक्तिर्वांसः स्वाम ) बल तेरी हम भक्ति करनेवाले हों ॥ ३ ॥

भाषार्थ - हे बृद्धि करनेवाले ईश्वर ! हमारी रक्षा कर और हमारे घरोंमें बहुत धनसमृद्धि प्रदान कर ॥ १ ॥

हे ईश्वर ! तू हमारे घरोंमें धन, बल और पुष्टि दे ॥ २ ॥

हे बृद्धि करनेवाले देव ! तेरे पास हमारों पोषक इतिषां हूँ । जबमेंते कुछ हर्ष दे, तेरे पोषक सामर्थ्यके हम भावी बनें ॥ ३ ॥

### ईश्वरके भक्त

परमेश्वर सबका पोषणकर्ता है, वह सबको धन, ऐश्वर्य, अन्न, तेज और पुष्टि देता है । इतिषे वह देव हमें पोषणके सामर्थ्य देने और उनका योग्य उपयोग करके हम सब सुख, पुष्ट और धनप्राप्तकरेंगे ।

## बल प्राप्त करना

कांड ६, सूक्त १०१

( श्रुति - अथर्वानु. देवता - सप्तमन्त्रः । )

॥ १ ॥

आ वृषायस्व अतिहि वर्धस्व प्रथयस्व च । यथाङ्गं वर्धतां श्रेष्ठस्तेन योषितुमिच्छति

अर्थ - ( आ वृषायस्व ) जलवान् हो, ( अतिहि ) उत्तम प्रायः धारण कर, ( वर्धस्व प्रथयस्व च ) बढ़ और धर्मको फल । ( यथा श्रेष्ठः अङ्गं वर्धतां ) जिसके प्रजननार्थ पुष्ट हो और तू ( तेन योषितुं इत् जति ) उसमें स्त्रीको प्राप्त हो ॥ १ ॥

भाषार्थ - हे मनुष्य ! तू जलवान् बन, प्रायका घन मन्त्र, प्रतीर पुष्ट कर, और योग्य ताता कर । इस प्रकार ॥ १ ॥ घरोंके उत्तम पुष्ट होनेके लक्ष्य लक्ष्मीको प्राप्त कर ॥ १ ॥



येन कुशं वाजयन्ति येन हिन्विन्त्यातुरम् । तेनास्य वंक्षणस्पते चतुरिवा तानया पसः ॥ २ ॥

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिन् घन्वनि । क्रमस्वर्थं इव रोहितमनवगलायता सदा ॥ ३ ॥

अर्थ— हे ( ग्रहणस्पते ) जानो ! ( येन कुशं वाजयन्ति ) जिसे कुछ मनुष्यको पুষट करते हैं ( येन आतुरं हिन्वान्ति ) जिससे रोगीको समर्थ बनाते हैं, ( तेन ) उस उपायसे ( अस्य पसः चतुः इव अतानय ) इसका अर्थ मनुष्य जैसे फैला ॥ २ ॥

( घन्वनि अधि ज्यां ह्य ) जैसे मनुष्यपर रोगीको तानते हैं, ( आहं ते पसः तनोमि ) उसी प्रकार मैं तेरी इश्वरीकी फँसता हूँ । ( प्रायः रोहित इव ) जिस प्रकार रौख हरितपर भला करता है ( अनवगलायता सदा क्रमसः ) उसी प्रकार तू न चकता हुआ आक्रमण कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे जानी पुरुष ! जिस उपायसे कुशको पুষट करते हैं और रोगीको नोरोग करते हैं, उस उपायसे तुम्हारे सब रोगी और निर्बल लोग नोरोग और बलवान् बनें ॥ २ ॥

मनुष्यकी बीरीके समान जरीरमें बल और सघोसावन होवे और ऐसा बल प्राप्त करके हरितपर रौखके हुम्नके समान न चकते हुए तू भी मनुष्योंपर हमला कर ॥ ३ ॥

### चार प्रकारका बल

इस सूक्तमें चार प्रकारके बल बताये हैं । हरणकी ये चार प्रकारके बल प्राप्त करने चाहिये— ( १ ) साधुपायस्त्व— यह बीर्यका बल है, शरीर बीर्यवान् हो; ( २ ) अस्थिरि— प्राणका बल बढ़े, भ्रमका चौड़ाया कार्य करते हो; शक्ति लगना नहीं चाहिये; ( ३ ) धर्मस्त्व— शरीरकी संवादी चौड़ाई पर्याप्त हो, मनुष्य अथवा मोटा जाना प्रतीत हो; और ( ४ ) प्रथयस्त्व— हरण अवयव अच्छी प्रकार पুষट हो । यह चार प्रकारके बलोंका वर्णन है । मनुष्यकी ये चारों प्रकारके बल प्राप्त करने चाहिये । बीर्य, प्राण, शरीरकी वृद्धि और बुद्धि ये चार प्रकार हैं । हरण मनुष्यकी जवना शरीर इन चतुर्विधवर्तित भूत करवा चाहिये ।

कौन मनुष्य किसी कारण रोगी बनवा हुआ हो उसकी चर्चा कि वह मनुष्य संघसे निकाला करवाकर नोरोग और दृढपुष्ट बने । उत्तम दृढपुष्ट, नोरोग और बलवान् मनुष्य हो सबीसे संबंध करे । अथ महाबल मनुष्य हुए रहे । तथा मनुष्य बलवान् बनकर तथा पराक्रम करे ।

## अथनी शक्तिका विस्तार

### कांड ६, सूक्त ४१

( अथि - बड़ा । वेता - पत्रमात्र, बहुवचनम् । )

मनसे चेतसे धिय आकृतये उत चिचये । मत्स्ये श्रुताय चक्षुसे विधेमं हविषा वयम् ॥ १ ॥

अवानाय व्यानाय प्राणाय भूर्निधायसे । सरस्वत्या उरुम्पचे विधेमं हविषा वयम् ॥ २ ॥

अर्थ— ( मनसे, चेतसे, धिये ) मन्, चित्त, बुद्धि, ( आकृतये चित्तये ) संकल्प, स्मृति, ( मत्स्ये, श्रुताय, उत चक्षुसे ) मति, भवन और दर्शनशक्तिकी वृद्धिके लिये ( धर्मं हविषा विधेम ) हम हविसे यत्न करते हैं ॥ १ ॥

अवान, व्यान, ( भूरे-धायसे प्राणाय ) बहुत प्रकारसे धारण करनेवाले प्राण और ( उरुम्पचे सरस्वत्यै ) ब्रह्म विस्तृत प्रभावशाली विद्यादेवीकी वृद्धिके लिये ( धर्मं हविषा विधेम ) हम हविसे यत्न करते हैं ॥ २ ॥

मा नो हासिपुर्कषणो दैव्या ये तनुषा पे नस्तन्वस्तनुजाः ।

अमर्त्या मर्त्या अभि नः सचध्वमायुर्ध्वं प्रतरं जीवसे नः

॥ ३ ॥

अर्थ— ( य तनुषाः ) जो शरीरकी रक्षा करनेवाले हैं तथा ( ये नः तन्वः तनु-जाः ) जो हमारे शरीरमें उत्पन्न हुए हैं ( दैव्याः ज्ञपयः ) वे विषय श्रद्धा ( नः मा हासिपु. ) हमें न छोड़ें। ये ( अमर्त्याः मर्त्याः नः अभि सचध्वं ) अगर वे हम मरनेवालोंके निकट रहें और ( न प्रतरं आयुः जीवसे ध्वं ) हमें उद्गृह्य मायु रोषं सोवनके लिये धारण करावें ॥ ३ ॥

## अपनी शक्तिका विस्तार

### अपनी शक्तियाँ

मन, चित्त, मारणावशी बुद्धि, लक्षण शक्ति, रसति, मति, अवयवशक्ति, दृष्टि, प्राण, अपान, व्यान, विद्या-ज्ञान-विद्या इत्यादि अनेक शक्तियाँ मनुष्यके अन्दर हैं। इनका विकास करना चाहिये। मनुष्यका विकास तब हो होगा, जब इसकी प्रत्येक शक्तियोंकी बुद्धि हो और वे शक्तियाँ प्रशस्ततम सत्त्वमयें लग जाय। प्रथम मनुष्य अन्धकारकी शक्तियों और हानेशक्तियोंका भोग करते हैं। द्वितीय मनुष्य प्राणोंका वर्णन है और विद्याका उपलब्ध है। यद्यपि इन दोनोंमें कर्मोद्दिष्ट आदि अनेक शक्तियोंका उपलब्ध नहीं है, तथापि विकसित इन्द्रियशक्तियोंके अनुसन्धानसे अन्य इन्द्रियों, मयकों और शक्तियोंका भी प्रदूषण यहाँ करना उचित है। अर्थात् अपने अन्दरकी सपूर्ण शक्तियोंको उद्गृह्य बनानेका काम करना चाहिये।

### श्रद्धा

इस दृष्टिकोणसे मनुष्य शक्तियोंका निष्कलित पता दिया है। इससे शक्तियोंके अध्ययनका उत्तमका रीतिसे पता लग सकता है—

तनुजाः तनुषाः दैव्याः ज्ञपयः । ( मं. ३ )

' शरीरमें उत्पन्न होकर शरीरकी रक्षा करनेवाले वे इन्द्रियकी श्रद्धा नहीं है। ' और यह शरीर ही उनका

आधार है। इस आशयमें वे रहते हैं और महाका सब कार्य करते हैं।

अमर्त्याः दैव्याः ज्ञपयः । ( मं. ३ )

' ये इन्द्रियकी श्रद्धा देवीशक्तिके युक्त हैं और इनमें जो शक्ति है, वह अमर शक्ति है। ' ये देवी शक्तियाँ मनुष्यके शरीरमें विकसित हैं और इन विकसित शक्तियोंके साथ मनुष्य रोषं आयु प्राप्त करे, तब नियमों उपदेश देखिये—

अमर्त्याः दैव्याः ज्ञपयः । मर्त्याः अभिसचध्वम् । ( मं. ३ )

' ये अगर शक्तिके युक्त विषय श्रद्धा अर्थात् इन्द्रिय शक्तियाँ हम सब सर्व मनुष्योंको धारों धारें प्राप्त हों। ' और—

प्रतरं आयुः जीवसे न. ध्वं । ( मं. ३ )

' उत्तम आयु दीर्घजीवनके लिये हमें प्राप्त हो। ' अर्थात् हमारी इन्द्रियोंमें विद्यमान उत्तम प्रकार कार्य करनेमें लक्ष्य होवे।

सत्त्वश्रद्धा प्रदत्त मनुष्य शरीरके इन्द्रियोंका वाचक है, जो वेद, हो कर्म, हो मर्म, एक मूल ( योगिन्द्रिय ) के साथ श्रद्धा है अथवा— लक्ष्म, वेद, कर्म, जिज्ञा, नाक, मन और बुद्धि ये भी सत्त्व श्रद्धा हैं। इनमें देवीशक्ति है यह आश-कर इनको वेदालम्ब बनानेका मूल मनुष्य करे और सब प्रकारसे लक्ष्य होकर लक्ष्य बनने।



## आत्मबल

## कांड ५, सूक्त १६

( ऋषिः - विश्वामित्रः । देवता - एकवृषः । )

|                             |                                    |        |
|-----------------------------|------------------------------------|--------|
| यद्येकवृषोऽसि सृजार्सोऽसि   | ॥ १ ॥ यदि द्विवृषोऽसि सृजार्सोऽसि  | ॥ २ ॥  |
| यदि त्रिवृषोऽसि सृजार्सोऽसि | ॥ ३ ॥ यदि चतुर्वृषोऽसि सृजार्सोऽसि | ॥ ४ ॥  |
| यदि पञ्चवृषोऽसि सृजार्सोऽसि | ॥ ५ ॥ यदि षड्वृषोऽसि सृजार्सोऽसि   | ॥ ६ ॥  |
| यदि सप्तवृषोऽसि सृजार्सोऽसि | ॥ ७ ॥ यदिष्टवृषोऽसि सृजार्सोऽसि    | ॥ ८ ॥  |
| यदि नववृषोऽसि सृजार्सोऽसि   | ॥ ९ ॥ यदि दशवृषोऽसि सृजार्सोऽसि    | ॥ १० ॥ |
| यद्येकादशोऽसि सोऽपेदकोऽसि   | ॥ ११ ॥                             |        |

अर्थ— ( यदि एकवृषः, द्विवृषः, त्रिवृषः, चतुर्वृषः, पञ्चवृषः, षड्वृषः, सप्तवृषः, अष्टवृषः, नववृषः, दशवृषः अस्ति ) यदि तू एक, दो, तीन, चार, पाँच, छ, सात, आठ, नौ और दस शक्तिप्राप्ति युक्त है, तो ( सृज ) बल उत्पन्न कर, नहीं तो ( अपेक्ष ) अस्ति ) तू निःसशस्त्र ही रहेगा । तथा यदि तू ( एकदश ) अस्ति ) व्यावृत्त है, तो ( अपवृत्तः ) अस्ति ) तू प्राकृतिक जीवन रहस्य रहित है ॥ १-११ ॥

मनुष्यमें बल श्रियवन्तिता है । प्रत्येक इतिषमें बली भारी युवशक्ति, अथवा अवयवशक्ति है । शरीरस्थ आत्मा इस सब शक्तिप्राप्ति युक्त रहती है । शरीरमें आनेके पश्चात् आत्माको चाहिए कि वह अपना बल बढ़ावे, यदि यह बल बढ़ावे-गा प्रयत्न न करेगी, तो निःसशस्त्र हुसका बल पड़ता जायगा । बल न पड़े इसलिये इसकी पवित्र है कि, वह अपना बल बढ़ानेका बल करे । जिस समय यह व्यावृत्तों शून्य आत्मा अर्थात् बेहोश विरहित आत्मा होती है, उस समय उसके पास ये प्राकृतिक शक्तियाँ नहीं होती हैं । उस समय वह केवल आत्मिक शक्तियुक्त हो युक्त रहती है और वह अजब शक्ति होती है, इसलिये उस समय उसमें बढ़ना या बढ़ना कुछ नहीं हो सकता है ।

## सत्यका विजय

## कांड ५, सूक्त १५

( ऋषिः - विश्वामित्रः । देवता - मधुला वनस्पतिः । )

|   |       |
|---|-------|
| एकां च मे दशं च मेऽपवृत्तारं ओषधे । अतंजातं अतावरि मधुं मे मधुला करः        | ॥ १ ॥ |
| द्वे च मे विशतिथं मेऽपवृत्तारं ओषधे । अतंजातं अतावरि मधुं मे मधुला करः      | ॥ २ ॥ |
| त्रिस्रथं मे त्रिशृषं मेऽपवृत्तारं ओषधे । अतंजातं अतावरि मधुं मे मधुला करः  | ॥ ३ ॥ |
| चतस्रथ मे चत्वारिंशृषं मेऽपवृत्तारं ओषधे । अतंजातं अतावरि मधुं मे मधुला करः | ॥ ४ ॥ |

अर्थ— हे ( अतावरि अतंजाते ओषधे ) सत्य पालक और सत्यसे उत्पन्न ओषधि । तू ( मधुला ) मधुरता उत्पन्न करनेवाली होकर ( मे मधुला करः ) मेरे लिये सर्वत्र मधुरता कर । ( मे एकां च दशं च अपवृत्तारः ) मेरे एक या दस निरदक हो, ( द्वे विशतिथः च ) दो और बीस, ( त्रिषः त्रिशृषं ) तीन और तीस ( चतस्रः चत्वारिंशृषं )

|  |        |
|--|--------|
| पञ्च च मे पञ्चाशच्च मेऽपवृत्तारं ओषधे । ऋतं जातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ।   | ॥ ५ ॥  |
| षट् च मे षष्ठिश्च मेऽपवृत्तारं ओषधे । ऋतं जातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ।     | ॥ ६ ॥  |
| सप्त च मे सप्तविंशश्च मेऽपवृत्तारं ओषधे । ऋतं जातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः । | ॥ ७ ॥  |
| अष्ट च मेऽष्टाविंशश्च मेऽपवृत्तारं ओषधे । ऋतं जातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः । | ॥ ८ ॥  |
| नव च मे नवविंशश्च मेऽपवृत्तारं ओषधे । ऋतं जातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ।     | ॥ ९ ॥  |
| दश च मे शतं च मेऽपवृत्तारं ओषधे । ऋतं जातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ।         | ॥ १० ॥ |
| शतं च मे सहस्रं चापवृत्तारं ओषधे । ऋतं जातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ।        | ॥ ११ ॥ |

अ) बार और बालीस ( पञ्च पञ्चाशत् च ) बाँच और पचास, ( षट् षष्टि च ) छः और साठ, ( सप्त सप्तविंश ) सात और सत्तर, ( अष्ट अष्टाविंश ) आठ और असीस, ( नव नवविंश ) नौ और नब्बे, ( दश शतं च ) दश और सौ, ( शतं सहस्रं च ) सौ और हजार ( अपवृत्तारः ) निरक्त बलों न खड़े हों और मुझे रोकनेका पाल नवीं न करें, मैं राज्यमार्गसे ही उनका प्रतिकार करूँगा । इसलिये सर्वत्र भरे लिये मधुरता दीजिए ॥ १-११ ॥

### सत्यसे वृक्ष

इस सूक्तमें ऋतावरि ऋतनाशा औषधिकी नाम है । यह कौन औषधि है, इसका पता नहीं लगता । परन्तु इस सूक्तमें हमें ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ कोई औषधि प्रयोग नहीं बताया है । अतः जो निरक्त बल है उनको सत्यपालन और राज्य व्यवहारसे ही ठीक करना और राज्यका महत्त्व सिद्ध करना ही बताया है । सत्यपालन करनेवालेके लिये सब विचार मधुरतायुक्त हो जाती है, क्योंकि उसके लिये कोई विरोधी नहीं रहता । सत्यपालन करनेवाला मनुष्य समुद्रहित होता है । मानो ' सत्यपालनका पाल ' ही सब दोषोंकी धोनेवाली औषधी अथवा औषधि है । इस सूक्तमें यह शास्त्राका क्या भाव है यह समझने नहीं आता ।

## बलसंबर्धन

### कांड ४, सूक्त ४

( श्रुति — अथर्वा । देवता — वसुन्धरि, नारायणः । )

|   |       |
|---|-------|
| पां त्वां गन्धर्वो अखनद्रुमाय मृतम्रिषे । तां त्वां वयं खनामस्योपधि शुवर्हर्षणीम् । | ॥ १ ॥ |
| उदुषा उद्ध सूर्य उद्विदं मामकं वचः । उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना ।         | ॥ २ ॥ |

अर्थ — ( यां त्वा ) जिस तुमको ( गन्धर्वः मृत-भ्रजे वरुणाय अस्त्रम् ) गंधर्वने कलिहीन वरुणके लिये बोला है ( तां त्वा शेषवर्षणी ओषधिं ) उस तुम इन्द्रियके सामर्थ्य बढ़ानेवाली औषधिकी ( वयं खनामसि ) हम भी बोधते हैं ॥ १ ॥

( वाजिना शुष्मेण ) अग्नि और उसके प्रभावसे ( उपाः उदेजतु ) उपा ऊपर उठे, ( उ सूर्यः उद् ) सूर्य ऊपर बढ़े, ( इदं मामकं वचः उद् ) यह मेरा वचन भी ऊँचा हो, और इसी प्रकार ( वृषा प्रजापतिः उद् पयतु ) वरुण प्रजापति भी ऊँचा होवे ॥ २ ॥

भावार्थ — तब मनुष्यके अलिहीन होनेपर उसको पुनः अग्नि देनेके लिये वंश इन्द्रियवर्धित बढ़ानेवाली औषधि देने ॥ १ ॥

जिस प्रकार उपा प्रकाशती है, उदयके पश्चात् सूर्य वरुणके लगता है, और वरुणकी आवाज ऊँची होती जाती है, उसी प्रकार वृषा औषधिकी तेजवती संज्ञाका पिता पुनः वरुणम् ही ॥ २ ॥

यथा स्म ते विरोहन्तोऽभितर्तमिवानन्ति । ततस्ते शुष्मवचरपिथे कृष्णोत्सोपधिः ॥ ३ ॥  
 उच्छुष्मौषधीनां सारं ऋषभाणां । सं पुंसांमिन्द्र वृष्यंमस्मिन्धेहि तनुवशिन् ॥ ४ ॥  
 अपां रसं प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम् । उत सोमस्य आतास्पुताश्वमसि वृष्यम् ॥ ५ ॥  
 अद्यापि अथ संवितश्च देवि सरस्वति । अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुर्विवा तानय पसः ॥ ६ ॥  
 आहं तनोमि ते पसो अपि ज्यामिन् चन्वनि । क्रमस्वशी इव रोहितमर्नवग्लायता सदा ॥ ७ ॥  
 अथस्याश्वतरस्याजस्य पेत्यस्य च । अथ क्रमस्य ये वाजास्तानस्मिन्धेहि तनुवशिन् ॥ ८ ॥

अर्थ— ( यथा स्म ते विरोहतः ) जिस प्रकार तेरी बुद्धि के समान ( अभि तर्तं ह्य् अभति ) तथा होने के समान  
 प्रवास करना होता है ( इयं औषधिः ) यह औषधि ( ततः ते शुष्मवचरं ) उसी प्रकार तुझे अधिक बलवान् ( कृष्णोत्सो )  
 करे ॥ ३ ॥

( ऋषभाणां औषधीनां शुष्मा सारा उत् ) ऋषभक वायक औषधियोंका सत्ववर्धक सार बल बढ़ावे । हे  
 ( तनुवशिन् इन्द्र ) शरीरको बलमें रखनेवाले इन्द्र ! ( पुंसां वृष्यं अस्मिन् धेहि ) पुरुषोंका बल इतने सम्पन्न  
 रीतिसे धारण करा ॥ ४ ॥

( वनस्पतीनां अपां प्रथमजा रसः ) वनस्पतिके जलप्रका प्रथम उपज होनेवाला रस ( अथ उत सोमस्य  
 आता अभि ) और सोमका रस, भाई जेता पोषकता है, ( उत आद्यं वृष्यं अस्मिन् ) और उठाने तथा बल बढ़ाने-  
 वाला है ॥ ५ ॥

( अद्ये ) हे भान्ने । ( संवित ) हे सविता । ( सरस्वति ) हे सरस्वती देवी । ( ब्रह्मणस्पते ) हे ब्रह्मण-  
 स्पते । ( अथ ) वाज ( अस्य पसः धनुः इव आतामय ) इसकी इत्रियोंको धनुषके समान फेंका ॥ ६ ॥

( धन्यनि अपि उपा इव ) जैसे धनुष्यवर शरीरको टांगते हैं, ( अहं ते पसः तनोमि ) वही तनु में तेरी  
 इत्रियोंको फैलाता हूँ । ( अद्याः रोहित इव ) जैसे हिलक पशु हरिणपर धारण करता है, उसी प्रकार तू ( मनवग्लायता  
 सदा क्रमस्य ) न पकता हुआ आक्रमण कर ॥ ७ ॥

( अथस्याश्वतरस्य अजस्य पेत्यस्य च ) घोड़ेके, श्वशरके, और मेंढके, ( अथ क्रमस्य ) और  
 बलके ( ये वाजाः ) जो बल हैं, हे ( तनुवशिन् ) शरीरको बलमें करनेवाले ! तू ( तान् अस्मिन् धेहि ) पस बलोंको  
 पसमें पड़ाने पर ॥ ४, ५, ६ ॥

भाषार्थ— ॥ औषधिते शरीर अधिक बलवान् होगा और इत्रियोंकी शक्ति बल जायगी ॥ ३ ॥

ऋषभक औषधियोंका ॥ शक्तिवर्धक सार है । शरीरको स्वाधीन रखनेवाला धनुष्य पुरुषोंको शक्तिवर्धक इस  
 सार रूप औषधको धारण करके बलवान् बने ॥ ४ ॥

इन औषधियोंका सत्ववर्धक, सोमवस्तीका रस ये सब शक्ति बढ़ानेवाले हैं ॥ ५ ॥

हे देवी । वाज इसकी इत्रियोंकी शक्ति बढ़ाओ ॥ ६ ॥

इसकी इत्रियोंको मैं घुंटा करता हूँ, जैसे हिलपशु हरिणको पकड़ता है, उसी प्रकार यह न पकता हुआ बड़ाई  
 करे ॥ ७ ॥

घोड़े, श्वशर, मेंढे और बलमें जो शक्तियाँ हैं वे सब शक्तियाँ, हे शरीरको स्वाधीन करनेवाले धनुष्य । तू इस  
 अपने शरीरमें धारण कर ॥ ८ ॥

संवर्धन

इन्धियोंके वल बढ़ानेवाली औषधियोंका इस सूक्तमें वर्णन है, विशेष करके पुरुषको जननेन्द्रियकी शक्ति पुनः पुनर्वत् स्थिर करनेके लिये शृषभक औषधियोंका रस लेवन करनेका उपाय इसमें है। शृषभक औषधि और जीवन औषधि हिमालयके शिखरपर उत्पन्न होती है, जैसे तीसबल्ली बढ़ा होती है। इसीलिये शृषभकको सोमरा भाई मं. ५ में कहा है। यह शृषभक औषधि यौववर्षक है। बालोकरणके लिये ज्ञात उपायोंमें है। ( इस विषयमें हम अधिक लिखना नहीं चाहते। ) सुयोग्य ढंग इस औषधि प्रयोगके विषयमें अधिक विचार करें। शृषभक औषधिवर्धनके लिये ज्ञात गुणकारी औषधि है ऐसा इस सूक्तसे प्रतीत होता है।

क्षात्रवल्-संवर्धन

कांड ४, सूक्त २२

( श्रुतिः - वसिष्ठः, अथर्वो वा। देवता - क्षत्रियो राजा, ईश्वरः )

इममिन्द्र धर्षय क्षत्रियं म इमं विशामैकपुं कृणु स्वम् । ॥ १ ॥  
 विश्विप्रानक्षुद्रास्य सर्वास्त्राग्रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु  
 एमं भज ग्रामे अध्येषु गोषु निष्टं भज यो अभिर्वा अस्व । ॥ २ ॥  
 धर्मे क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र क्षत्रं रन्ध्रय सर्वमस्मै  
 अयमस्तु धनवर्धनानामर्थ विशां विदधतिरस्तु राजा । ॥ ३ ॥  
 अस्मिन्निन्द्र महि वर्चीसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य

अर्थ— हे इन्द्र ! तू ( मे इमं क्षत्रियं धर्षय ) मेरे इस क्षत्रियको बढ़ा, और ( मे इमं विशां एकपुं कृणु ) मेरे इस क्षत्रियको प्रजाओंमें अद्वितीय बलवान् कर। ( अस्य सर्वास्त्राग्रान्धयास्मा ) इसके सब शत्रुओंको विध्वंस कर और ( अहं-उत्तरेषु ) मैं-मेरे हूं इस प्रकारकी होनेवाली स्वर्णमें ( तान् सर्वांश्च ) उन सब शत्रुओंको ( अस्मै रन्ध्रय ) इसके लिये नष्ट कर ॥ १ ॥

( इमं ग्रामे अध्येषु गोषु आश्रय ) इस क्षत्रियको ग्राममें तथा घोड़ों और गौयोंमें योग्य आश्रय है। ( यः भक्ष्य भक्षिष्यः तं निः भज ) जो इसका शत्रु है उसके कोई भाग न दे। ( अयं राजा क्षत्राणां धर्मं अस्तु ) यह राजा क्षत्रियोंकी मूर्ति होवे। हे इन्द्र ! ( अस्मै सर्वं शत्रुं रन्ध्रय ) इसके लिये सब शत्रु नष्ट कर ॥ २ ॥

( अयं धनानां धनपतिः अस्तु ) यह सब धनोक्त स्वामी होवे ( अयं राजा विदधा विदधातिः अस्तु ) यह राजा प्रजाओंका पालक होवे। हे इन्द्र ! ( अस्मिन्निन्द्र महि वर्चीसि धेहि ) इसमें बड़े धेड़ोंको स्थापन कर। ( अस्मै शत्रुं अवर्चसं कृणुहि ) इसके शत्रुको निरस्त कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे प्रभो ! इस मेरे शत्रुओं को क्षत्रिय हूं उनके क्षत्रियत्वको बढ़ा और इस राजाको सब प्रजाओंमें अद्वितीय बलवान् कर। इस तुम्हारे-राज्यके सब शत्रु विध्वंस हो जायें और सब स्वर्णोंमें इसके लिये कोई प्रतिपक्षी न रहे ॥ १ ॥

प्रत्येक ग्राममें, घोड़ों और गौयोंमें इस राजाको योग्य करभार प्राप्त हो। इसके शत्रु निरस्त घन जायें। यह राजा सब प्रकार क्षत्र क्षत्रियोंकी मूर्ति बने और इसके सब शत्रु नष्ट हो जायें ॥ २ ॥

इस राजाको सब प्रकारके बल प्राप्त हो, यह राजा सब प्रजाओंका उत्तम पालक करे, इस राजामें सब प्रकारके लक्ष्य बड़े और इसके सब शत्रु नष्ट होयें ॥ ३ ॥

अस्मे दावापृथिवी भूरि गामं दुहायो धर्मदुषे इव येन ।  
 अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात्प्रियो गन्तामोपधीनां पशूनाम् ॥ ३ ॥  
 युनजिम त उचरावन्तमिन्द्रं येन वर्धन्ति न पराजयन्ते ।  
 यस्तुवा करदेकवृषं जनानामुत शत्रुवृत्तम् मानवानाम् ॥ ५ ॥  
 उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्न्या ये के च राजन्प्रतिशत्रवस्ते ।  
 एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रयतामा भरा भोर्जनानि ॥ ६ ॥  
 सिद्धप्रतीको विशी अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽव वाघस्य शत्रून्  
 एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रयतामा सिद्धा भोर्जनानि ॥ ७ ॥

अर्थ— हे दावापृथिवी ! ( धर्मदुषे येन तां ) पारोक्ष्य रूप देनेवाली हो गोवोंके समान ( यस्मै भूरि  
 गामं दुहायो ) इसके लिये बहुत धनवि प्रधान करो । ( अयं राजा इन्द्रस्य प्रियः भूयात् ) यह राजा इन्द्रका प्रिय  
 होवे तथा ( गन्तां पशूनां मोपधीनां प्रियः ) गो, पशु और मोपविधोंका प्रिय होवे ॥ ४ ॥

( ते उचरावन्तं इन्द्रं युनजिम ) तेरे साथ भेड़ मुण्डाके प्रभुको नें संयुक्त करता हूँ । ( येन जयन्ति )  
 जिससे विजय होता है और कभी ( न पराजयन्ते ) पराजय नहीं होता है । ( यः स्या जनानां एकवृक्षं ) जो तुमको  
 मनुष्योंमें अतिशय मत्स्यान् और ( उत मानवानां शत्रां उत्तमं करत् ) मनुष्योंके शत्रुओंमें वल्लभ करे ॥ ५ ॥

हे राजन् ! ( त्वं उत्तरा ) तू अधिक ऊँचा हो, ( ते सपत्न्याः ) तेरे पशु और ( ये के च ते प्रति-शत्रवः )  
 जो कोई तेरे शत्रु है वे ( अधरे ) नीचे होंगे । तू ( एक वृषः ) अतिशय यत्नान् ( इन्द्रसखा ) प्रभुका मित्र  
 ( जिगीवान् ) जयवाली होकर ( शत्रूयतां मोजनानि आवर ) शत्रु सेना आवरण करनेवालोंकी भोजनसामग्रीको  
 षट् से आ ॥ ६ ॥

( सिद्धप्रतीकः सर्वा विशी अद्धि ) सिद्धके समान प्रभाववाली होकर सब प्रजाओंसे भोग प्राप्त कर ।  
 ( व्याघ्रप्रतीकः शत्रून् अय वाघस्य ) व्याघ्रके समान बलवान् होकर अपने शत्रुओंको हटा वे । ( एकवृषः इन्द्रसखा  
 जिगीवान् ) अतिशय मत्स्यान्, प्रभुका मित्र और विजयी बनकर ( शत्रूयतां मोजनानि आ सिद्ध ) शत्रुके समान  
 व्यवहार करनेवालोंकी भोजन सामग्री छीनकर ले आ ॥ ७ ॥

आचार्य— ये दोनों प्राया पृथिवी लोक इसकी सब प्रकारके धन देवे, यह राजा सबका प्रिय बने । ईश्वर, मनुष्य,  
 पशु, पक्षी और मोपविधोंके विषयमें भी यह प्रेम रखे ॥ ४ ॥

॥ राजा ईश्वरके साथ अपना वास्तविक संबंध जोड़ दे, जिससे इतका लाभ होवे और पराजय कभी न  
 होवे । यह राजा इस प्रकार मनुष्योंमें अतिशय मत्स्यान् और मनुष्योंके सब शत्रुओंमें श्रेष्ठ होवे ॥ ५ ॥

यह राजा उँचा बने और इसके सब शत्रु नीचे हों । यह अतिशय मत्स्यान्, ईश्वरका भक्त और विजयी होकर  
 शत्रुका पराभव करके उनके उपभोगके पराधीन करे ॥ ६ ॥

यह राजा सिद्ध और व्याघ्रके समान प्रतापी बन कर सब प्रजाजित्ति योग्य भोग प्राप्त करे और शत्रुओंको हार  
 करे । अतिशय मत्स्यान्, प्रभुका भक्त और विजयी बनकर शत्रुका पराभव करके उनके धन अपने राज्यमें ले जावे ॥ ७ ॥



## शास्त्रगत संवर्धन

स्पर्धा

‘अहं-उत्तरेयु’ यह शब्द प्रथम मात्रमें है। यह स्वर्ण-का वाचक है। ‘मे सबसे ऊंचा होऊँ’ यह इच्छा प्रत्येक मनुष्यमें रहती है। मैं सबसे आगे बढ़ूँ। मैं सबसे अधिक ज्ञान प्राप्त करूँ, मैं सबसे अधिक धन, पद, प्रभुत्व आदि प्राप्त करूँ, मैं सबसे अधिक प्रतापी, पद्मारी और समर्थ बनूँ। यह इच्छा हरएकमें होती ही है। परंप्रायसे इस इच्छाका उचित उपयोग करके मनुष्य उन्नत हो सकता है। इस प्रकार ऊंचा होने के लिये राष्ट्रोंकी अपेक्षा अपना बल बढ़ाना चाहिये। समु-ने विद्वानों विद्या, बल, कला और हुनर प्राप्त किया है, उसकी अपेक्षा अधिक विद्या, धन, कला और हुनर प्राप्त करनेसे ही मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। उन्नतिका कोट दूसरा नहीं है।

यह सूक्त सामान्यतः क्षत्रियोंके उद्यम करनेका उपदेश करता है और विशेषतः राजाका धन बढ़ानेका उपदेश दे रहा है। सब जगहमें अग्रस्थानमें रहनेके साधक अपने राष्ट्रकी उन्नति करना हरएक राजाका कर्तव्य है। हरएक कार्यक्षेत्रमें जो जो राष्ट्र हों, उनको नीचे नकारे अपने राष्ट्रके पीछेको उन्नत करनेसे उन्नत सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

हरएक मनुष्यकी ऐसी इच्छा होती चाहिये कि मेरे राष्ट्रके अधिक धन बढ़े विद्वानों हों, किसी राष्ट्रके पीछे हमारा राष्ट्र न रहे। वेद कहता है कि ‘अहं-उत्तरेयु’ यह मंत्र राष्ट्र-के हरएक मनुष्यके मनमें जाग्रत रहे। मैं सबसे आगे होऊँ,

मेरा राष्ट्र सब राष्ट्रोंके अग्रगण्य रहे, इसकी सिद्धि के लिए हरएकके प्रयत्न होने चाहिये। प्रत्येक मनुष्य अपने धन और कर्मकी वृद्धि करके अपने आपको और अपने राष्ट्रको उन्नत स्थानमें लानेका प्रयत्न करे। यह भाव ‘अहं-उत्तरेयु’ परमें है। प्रत्येक मनुष्यमें जैसे आश्रित रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्रमें भी रहता है। इस गुणकी उन्नति करने की चाहिये, इस धुंधले उत्कर्षसे ही राष्ट्र कल हो सकते हैं।

राजाकी चाहिये कि वह अपने राष्ट्रमें शिक्षाका ऐसा प्रबल करे कि जिससे सब प्रजा एक उद्देश्यसे प्रेरित होकर सब अनुश्रुतियाँ पुरातन करनेमें समर्थ हो। हरएक कार्यक्षेत्र-में किसी प्रकारकी भी असमर्थता न हो। ‘विद्या एक धर्म दृष्टुं त्व’। (पं १) प्रजाओंमें अद्वितीय बल उत्पन्न करने-का साधन है, यह अदरका साध्य है इस मात्रमें है। यही विजय की कुञ्जी है। राजाका प्रयत्न कर्तव्य यही है कि वह प्रजामें अद्वितीय बलकी वृद्धि करे। यह सब धार प्रकारका होता है, ज्ञानबल, शौर्यबल, धनबल और कलाबल। यह धार प्रकारका बल अपने राष्ट्रमें बढ़ाकर अपने राष्ट्रकी सब जगह में अग्रस्थानमें आकर ऊंचे स्थानपर रहना चाहिये, तभी सब सम्पन्न हो सकते हैं। यहाँ दूसरीकी चिरानेका उपदेश नहीं प्रत्युत अपने राष्ट्रीय छद्म करनेका उपाय उपदेश यहाँ है। दूसरे भी उन्नत हों और हम भी हों। उन्नतिमें स्वर्ण ही, विराटकी स्वर्ण न हो। यत्रका पर ‘अहं-उत्तरेयु’ है न कि ‘अहं-नीचेयु’।

## सत्यका वल

कांड ४, सूक्त ३६

( ऋषि - पतञ्जल । देवता - कश्यप आदि । )

तान्तसस्योज्जः प्र दहस्त्रिंशानुरो वृषा। यो नो दुरस्यादिष्ठाच्चव्यो यो नो अराधियात् ॥ १ ॥

अर्थ— ( यः नः दुरस्यात् ) जो हमें बुरा व्यवस्थामें फँसे, ( च दिप्सत् ) नाश करे, ( अथो यः नः अराधियात् ) और जो हमारे साथ दण्डके समान वर्तित करे, ( सत्य-ओजः वैष्वा-नर ) सत्य बलवाला विद्वत्का नेता ( वृषा आग्निः ) बलवान् तेजस्वी देव ( तान् प्रदहन् ) उनको भस्म कर डाले ॥ १ ॥

भावार्थ— जो लोगोंकी बुरी व्यवस्थामें फँसे देते हैं, जनोंका नाश करते हैं और धनवान् करते हैं, उनको सत्य बलवाला विद्वत्पालक तेजस्वी देव भस्म करे ॥ १ ॥



यो नो दिप्सददिप्सतो दिप्सता यश्च दिप्सति । वैश्वानरस्य दृष्ट्योर्येरपि दधामि तम् ॥ २ ॥  
 य आग्रे मृगयन्ते प्रतिक्लोशे मावास्थे । क्रव्यादो अन्यान्दिप्सतः सर्वास्तान्सहसा सहे ॥ ३ ॥  
 सहे पिशाचान्सहसैषां द्रविण ददे । सर्वान्दुरस्यतो हन्मि स म आकृतिर्भध्वताम् ॥ ४ ॥  
 ये देवास्तेन हासन्ते सूर्येष मिमन्ते ज्वम् । नदीषु पर्यतेषु ये स तैः पशुभिर्विद ॥ ५ ॥  
 तपनो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव । श्वानः सिंहमिव दुष्टा तेन विन्दन्ते न्यजनम् ॥ ६ ॥  
 न पिशाचैः स शक्नोमि न स्तेनैर्न वनृगुर्मिः । पिशाचास्तस्माद्यशन्ति यमह ग्राममाविशे ॥ ७ ॥

अर्थ— ( य अदिप्सत न दिप्सता ) जो निरपराध होते हुए भी हमारा नाम कदनका बल करे, अपना ( य च दिप्सत दिप्सति ) जो बाध करनेवालेको भी कष्ट देता है ( सहे व्या-नरस्य अग्रे दृष्ट्यो ) उसे न विश्ववातक तेजस्वी देवको दोनों दावोंमें ( अपि दधामि ) रक्ता हू ॥ २ ॥

( ये व्याग्रे ) जो घरमें ( प्रति क्लोशे अमावास्थे ) कलहके अवसरमें अपना अमावास्याकी रात्रिमें ( मृग यन्ते ) शीकरी करते हैं ( अन्यान् दिप्सत क्रव्याद् तान् सर्वाम् ) दूसरोंके घातक मांसभोजी उन सबको न ( सहसा सहे ) अपने बलसे पराजित करता हू ॥ ३ ॥

( पिशाचान् सहसा सहे ) रक्त पीनवातोंका रक्तसे पराजित करता हू । ( पशु द्रविण ददे ) इनका धन मैं हर लेता हू । ( दुरस्यतां सर्वाम् हन्मि ) दुष्ट भक्षवातक पशुबलवाले सब दुष्टोंका नाश करता हू । ( मे आकृति भध्वता ) मेरा यह सशस्त्र सफल हो ॥ ४ ॥

( ये देवा तेन हासन्ते ) जो विष्णु जब उसके साथ हसी खेल करते हैं ( सूर्येष जय निमन्ते ) और सूर्यसे वेदका भाष्य करते हैं उनके भी ( नदीषु पर्यतेषु ये ते पशुभिः ) नदियों और पर्वतोंमें रहनेवाले पशुओंके साथ भी मैं ( सविदे ) मिलता हू ॥ ५ ॥

जैसे ( गोमता व्याघ्र इव ) गौओंके पालन करनेवालोंकी व्याघ्रका भय होता है वैसे ही मैं ( पिशाचानां तपन अस्मि ) रक्त पीनवातोंको तपानवाला हू । ( सिंह दृष्ट्या श्वान इव ) सिंहकी देखकर नित प्रकार कुत्ते घबराते हैं उसी प्रकार मेरे प्रभावसे ( ते व्यश्नन् न किन्दते ) वे दुष्ट लोग अपनी रक्षका स्थान प्राप्त नहीं कर सकते ॥ ६ ॥

( य ग्राम अह माविशे ) जिस ग्राममें मैं प्रविष्ट होता हू उस ग्राममें ( पिशाचे न स शक्नोमि ) यदि पीनवातोंके साथ मेरा नहीं करता ( न स्तेनैः ) चोरोंके साथ और ( न वनृगुर्मिः ) जंगली वानृगोंके साथ मेरा नहीं करता इत्यपि ( तस्माद् पिशाचाः नश्यन्ति ) उस ग्रामसे रक्त पीनवाते लोग नाशकी प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— जो दुष्ट हू सब निरपराधियोंपर हुक्म करता हू अपना हुक्म सेनाका अन्धाध होकर भी जो अपने हाथ में अधिकार लेकर हमारा नाम करता है, उसको विश्ववातक तेजस्वी देवको दावोंमें मैं पर देता हू ॥ २ ॥

जो घरमें कलहके समयमें अपना अमावास्याकी रात्री रात्रिमें दूध दूध कर लोपोंकी सताते हैं उन सबको अपने बलसे मैं बुर करता हू ॥ ३ ॥

रक्त पीनवाले दुष्टोंकी मैं बुर करता हू और इनका धन छीनता हू । जैसे देनवाले हैं दुष्टोंका मैं समूल नाश करता हू । यह मेरी इच्छा सफल हो जाये ॥ ४ ॥

जो सज्जन सब सज्ज हो निजानयमें सत रहते हैं और सूर्यकी मूर्तिसे अपने वेदकी भाँति ह उनके साथ, मिलता करता हू । इतना ही नहीं अपितु नदीमें रहनेवाले मात्स्यादि तथा पर्वतोंपर रहनेवाले वनृग्यादि प्राणिमण्डि साथ भी मैं मर्त्री रखता हू ॥ ५ ॥

गौं जैसे व्याघ्रसे डरती हैं उसी प्रकार रक्त पीनवाले दुष्ट मुझसे घबराते हैं । जिस प्रकार सिंहके सामुख कुत्ता नहीं डर सकता, उसी प्रकार मेरे सामुख वे दुष्ट सुखका स्थान नहीं प्राप्त कर सकते ॥ ६ ॥

जिस ग्राममें पहुँचता हू वहाँसे यदि सेनावाले चोर वनृग्यादि सब दुष्ट दूर हो जाते हैं ॥ ७ ॥

यं ग्राममाविशतं इदमुग्रं सद्यो मम । विज्ञाचास्वस्मान्नयन्ति न पापघ्नं जानते ॥ ८ ॥  
 ये मां क्रोधयन्ति लपिता इस्तिनं मशका इव । तानहं मन्ये दुर्हितान् जने अल्पशयूनिव ॥ ९ ॥  
 अमि तं निर्मतिर्धत्तामशमिवासाभिधान्या । मत्तो यो माम् कुर्भन्ति स उ पाशान् मुच्यते ॥ १० ॥

अर्थ— ( मम इदं उग्र सद्यः ) मेरा यह उग्र बल ( यं ग्रामं आविशते ) जिस ग्राममें प्रविष्ट होता है, ( तस्मात् पिशाचाः नश्यन्ति ) उससे रक्त पीनेवाले नष्ट हो जाते हैं और फिर उस ग्रामके बाकी ( पाप न उपजानते ) पापको जानते भी नहीं ॥ ८ ॥

( इस्तिनं मशकाः इव ) हाथीकी जिस प्रकार मछर कोषित करते हैं उसी प्रकार ( ये मां लपिताः क्रोधयन्ति ) मुझे ये बहकक करनेवाले फुड़ करते हैं, ( तान् अल्पशयून् इव ) उन्को अल्प शौटकों समान ( सह जने दुर्हितान् मन्ये ) वे लोगोंमें कुछ बढ़ानेवाला मानता हूँ ॥ ९ ॥

( त निर्मतिः अभिघत्ता ) उसको युक्ति प्राप्त होवे ( यन्नाभिधान्या अभ्य इव ) घोड़ोंकी बाघनेकी रस्ती से जैसे घोड़ा भागा जाता है और उससे छूटा नहीं ( यः मद्यः मद्यं कुच्यते ) उसी प्रकार जो मत्तिन पुष्ट मुझे कोषित करता है ( सः उ पाशान् न मुच्यते ) वह पाशोंसे नहीं छूटा ॥ १० ॥

भावार्थ— मेरा उग्र शौर्य जिस ग्राममें चमकता है वहाँ सबिर भीभी डर मनुष्य नष्ट हो जाते हैं, अथवा यदि वे भी रहे तो भी वे अपने पापविचारको छोड़ हैं ॥ ८ ॥

जो दुर्जन अपने दुराचारको द्वारा मुझे कोषित करते हैं वे नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि मैं जानता हूँ कि उनके ही कारण जनताको कष्ट पहुँचते हैं ॥ ९ ॥

जो मत्तिन आचारवाले मनुष्य होते हैं वे युक्तिको हैं सबेह प्राप्त होते हैं और वे सबमें जीत जाते हैं ॥ १० ॥

## सत्यका बल

### सत्यका बल

सत्यका बल कितना बड़ा होता है इसका मनोरञ्जक वर्णन इस सूक्तमें किया है । सत्यम और अभ्यम मन्त्रमें कहा है कि— ' जिस ग्राममें सत्यके बलसे सबका दुःख मनुष्य पहुँचता है, उस ग्रामसे चोर डाकू लुटेरे दुष्ट और दूसरेका धन धूर्तनेवाले दूर हो जाते हैं । सत्यनिष्ठ मनुष्य जिस ग्राममें होता है उस ग्राममें दुष्ट मनुष्य नहीं रहता । सत्यका बल जिस ग्रामके मनुष्योंमें होता है वहाँसे दुष्ट मनुष्य दूर हो जाते हैं अथवा वहाँ रहे तो भी वे अपने पापों विचारको याप देते हैं । ' ( म. ४-८ )

ग्राममें एक मनुष्य भी इस प्रकारका सत्यनिष्ठ होने पर पूरे ग्रामका सुधार हो जाता है । एक मनुष्यके सत्यनिष्ठ होनेसे अधीन उसके काय-वाचा-मनसा व्यवहारे के विचार जनसमूह न होनेसे वह मनुष्य अपने सत्यके बलसे सब पापके मनुष्योंका उन्नत प्रकार सुधार कर सकता है ।

सत्यका बल इतना बड़ा है और मनुष्यकी उन्नति भी इसी सत्यनिष्ठतासे होती है । अपने ग्राममें चोर डाकू लुटेरे या दुष्ट यदि हो तो समझना चाहिये कि अपने घर उतनी सत्यनिष्ठा नहीं बढी जिसकी बढती चाहिये । अपने ग्रामकी परोक्षता इस प्रकार अपनी परोक्ष हो सकती है और अपनी उन्नतिसे इस प्रकार ग्रामकी उन्नति हो सकती है । व्यक्तिका समाजपर और समाजका व्यक्तिपर इस प्रकार प्रभाव होता रहता है ।

अर्थात्, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अहिंसा, तथा मोक्ष, सत्योक्त, तप, स्वाध्याय और ईश्वरपूजापान ये धर्मनियम यदि एक भी मनुष्यमें नष्ट जाए और स्थिर हो जाएँ तो उसकी अन्त वृत्तिप्रवृत्ति के कारण वह ग्राम सुधर जाता है । इसलिये इस सत्यके बलको अपने अंदर बढ़ानेका प्रयत्न अत्यन्त ही सके वहाँ तक हुरदकरी करना चाहिये ।

### दुष्ट मनुष्य

दुष्ट मनुष्योंके द्वारा लक्ष्य इस सूक्तमें किसे गए हैं उनका यहाँ विचार करते हैं—

## वैश्वानरकी दंष्ट्रा

- ( १ ) दुरस्यात्- जो दुसरोंको बुरी अवस्थामें फेंकता है । ( म. १ )
- ( २ ) दिव्स्यात्- जो दुसरोंका घात अथवा नाश करता है । ( म. १, २ )
- ( ३ ) मरातीयात्- जो दण्डा करता है, निवा अथवा डेरा करता है, शत्रुके समान आचरण करता है । ( म. १ )
- ( ४ ) अदिव्सतः दिव्स्यात्- दुसरोंको कभी कष्ट न देनेवाले सफलनोंको भी ओ क्लेश पहुँचाता है । ( म. २ )
- ( ५ ) दिव्सतः दिव्सति- घोडासा कष्ट देनेपर भी जो अपने हाथमें न्याय लेकर उसका अपरिमित मुक्तदान करता है । ( म. २ )
- ( ६ ) आगरे दिव्सति- जो घरमें पुस्तक विनाशकारण घात करता है । ( म. ३ )
- ( ७ ) प्रतिक्रोरो दिव्सति- पीछेछो, बातचीत होनेपर भी विनाशकारण कुछ होकर भारपीड करता है । ( म. ३ )
- ( ८ ) भानायास्ये नृगयन्ते- भानावायाकी राशीमें जो बूढ़ बूढ़कर डाका डालता है । ( म. ३ )
- ( ९ ) पिशाचाः- लश्कर रक्त पीनेवाला और कच्चा घात घानेवाला मूढ़ मनुष्य । ( म. ४, ६, ७, ८ )
- ( १० ) स्तेन-चोर, लुटेरे, डाकू । ( म. ७ )
- ( ११ ) घनशु- अगलमें रहते हुए धानके लोंगोंको कष्ट देनेवाले लोग । ( म. ७ )
- ( १२ ) जने दुर्हितान्- लोगोंका अहित करनेवाले । ( म. ९ )
- ( १३ ) मध्य शायू- रात्रीमें बोड़ी निद्रा लेनेवाले मर्षात् श्रेय रात्रीमें अङ्क। आसनेवाले डाकू । ( म. ९ )
- ( १४ ) मरुहः- अहित आचारवाले, दुष्ट । ( म. १० )

दुष्ट मनुष्योंके ये चौदह लक्षण इस सूक्तमें हैं । इनका विचार करते अपने प्राममें कीन मनुष्य किस प्रकारका दुष्ट है यह जान सकते हैं और अपने प्रामका सुधार भी इनको सुधार कर या दूर करके कर सकते हैं । अद्वय मन्त्रमें कहा हो है कि- 'सत्यनिष्ठ मनुष्य प्राममें होने पर उसके धायके बागसे या तो दुष्ट मनुष्य दूर हो जाते हैं अथवा अपनी बुद्धता छोड़ देते हैं और सज्जन बनकर रहते हैं ।' यही प्राम सुधारकी रीति है ।

मुष्ट मनुष्य अथवा अपराधी मनुष्योंको स्वयं दण्ड नहीं देना चाहिये, अस्ति 'वैश्वानरकी दंष्ट्रा' में उसको रक्त देना चाहिये, ग्राह्य उपदेश इस सूक्तके द्वितीय मन्त्रमें दिया है । यह 'वैश्वानरकी दंष्ट्रा' क्या है इसका विचार अवश्य करना चाहिये । 'विश्व' शब्दका अर्थ 'सत्य' है, 'नर' शब्द मनुष्यवाचक है अर्थात् 'विश्वानर' शब्द 'सत्य मनुष्य' अर्थात् 'समूह' का वाचक है । समूहमें मानवोंके एक सघर्षी कल्पना 'वैश्वानर' शब्दसे ही गई प्रतीत होती है । इसकी दंष्ट्रा स्वाभाविक अथवा पक्षके नामसे प्रसिद्ध है । इस स्वाभाविक कल्पना उस अपराधीकी रक्त देना चाहिये ।

कोई भी मनुष्य अपने हाथमें स्वयं ही शासनाधिकार न ले, प्राममें अपने पक्षके शासनाधिकारमें ही समुच्च रहें, यह धर्मशास्त्र आदेश है जो ऐसे सूक्तोंमें देने दिया है । प्राम, नगर और राज्यमें शांति रखनेके लिये इस विद्वत्के शासनकी अत्यंत आवश्यकता है और जो लोग इस प्रकारकी व्यवस्थामें नहीं रहते और अपने हाथमें दण्ड लेते हैं वे राज्य नहीं रक्षित करते ।

पूर्वोक्त प्रकारके दुष्ट मनुष्योंको दूर करना चाहिये यथोक्ति ये ( पिशाचाः ) अपने स्वार्थके लिये दुसरोंका पूरा घुसनेवाले हितक होते हैं । वैदिक धर्मकी अन्तिम अहिंसा ही स्थापित करनी है, इसलिये हितकोंका हितभाव दूर करनेके उपाय वैदिक धर्ममें अनेक रीतिले कहे हैं । इसी हेतुसे इस सूक्तके पञ्चम मन्त्रमें नरिषों और पर्वतोंमें निवास करनेवाले बौद्धमनुष्योंके साथ ( स विदे ) सहानुभूति करनेकी सूचना दी है । सवेदनाका अर्थ 'अपने दुष्टदुष्टके समान उनके भी सुन्दर लोके प्रवृत्तता' ।

## सुधारके दो उपाय

ये नदीषु पर्वतेषु ( पशवः सन्ति ) तैः पशुभिः संविदे ।

( म. ५ )

'जो नदियों और पर्वतोंमें जोधजन्तु रहते हैं उनके लिये मैं छत्रवृक्षा अपने बलमें धारण करता हूँ ।' यह अहिंसाकी प्रतिज्ञा मनुष्योंके करने चाहिये । 'मेरे लोको भी प्रीति-कल्पके लिये कोई भय नहीं हो, यह सकल्प करना चाहिये । इस प्रकार अहिंसा और निमंत्रणाका केन्द्र अपने अन्त करणमें आगत करना चाहिये, परधात् सब उपस्थिति होनेसे समर्थ है । यह अपने दुष्टपक्षी संघर्षी होनेके परधात्—

ये देवाः तेन हासन्ते, स्वर्णं जवं मिमन्ते ।

( प० ५ )

‘ जो देव उस धातुमयको तथा हस्ती रहते हैं और अपनी उपद्रविका बेग सूर्यको गर्तसे चान्ते हैं ’ उनसे सर्पित करनी चाहिए । जब पहिले अपने मनके अंदर अहिमा स्थिर हो जायगो सभी ऐसे श्रेष्ठ सज्जनोंकी संगतिसे अधिक लाभ होगा । अर्थात् गुणारके उपाय रहे हैं, एक अपने अन्त करणको

पवित्र बनाया और दूसरा दिव्य बनोते विप्रता करना । इस प्रकार मनुष्य मनुक उन्नतिके मार्गसे ऊपर चढ़ सकता है ।

ऐसा ब्रेष्ठ सत्यनिष्ठ महात्मा जिस धाममें पहुँचता है, उस धाममें बुद्ध मनुष्य रहते नहीं और यदि रहते भी है तो वे अपनी बुद्धता दुर करके हो रहते हैं । इस कमीटीसे अपनी पवित्रताकी परीक्षा करते हुए मनुष्यको उन्नतिके मार्ग पर चम्का चाहिए ।

## आत्मशुद्धिके लिये फार्थना

कांड ६, सूक्त १९

( श्रुति - शान्तातिः । देवता - चन्द्रापा, नानादेवता । )

पुनन्तु ॥ देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया । पुनन्तु विश्वा भूतानि पर्वमानः पुनातु मा ॥ १ ॥  
पर्वमानः पुनातु मा कर्त्तुं दक्षांय जीवसे । अथो अग्निष्ठातये ॥ २ ॥  
उभाभ्यां देव सवितः पुविश्रेण सवेने च । अस्मन्पुनीहि चक्षसे ॥ ३ ॥

अर्थ — ( देवजना मा पुनन्तु ) दिव्य जन मुझे पुन कर । ( मनवो धिया पुनन्तु ) मनुष्यों अपनी बुद्धिसे पवित्र करें । ( विश्वा भूतानि पुनन्तु ) सब भूत मुझे पवित्र करें और ( पर्वमानः मा पुनातु ) पवित्र करनेवाला देव मुझे पवित्र करे ॥ १ ॥

( कर्त्तुं दक्षांय जीवसे ) कर्म, बल और योग्य भावके लिये ( अथो अग्निष्ठातये ) और कल्याणके विस्तारके लिये ( पर्वमानः मा पुनातु ) पवित्र करनेवाला देव मुझे पवित्र करे ॥ २ ॥  
हे ( देव सवितः ) सबके उपायक देव । ( चक्षसे ) तेरे दर्शनके लिये ( उभाभ्यां पवित्रेण ) दोनों पवित्र विचार और ( सवेने च ) यत्ने ( अस्मन्पुनीहि ) हम सबको पवित्र कर ॥ ३ ॥

अपनी कर्मशक्ति, शक्तिरिक्त तथा सामयिक शक्ति योग्य भाव बढ़ानेके लिये और कल्याणकी प्राप्तिके लिये विचार व भाषारानी पवित्रतासे अपने आपको पवित्र करना हरएकको उचित है । उस कार्यके लिये यह उत्तम ईश्वर-प्रार्थना है ।

## मैं उत्तम वनूंगा

कांड ६, सूक्त १५

( श्रुति - उत्तमः । देवता - वनस्पति । )

उत्तमो अस्मिन्धीनां तर्षं वृधा उपस्तयः । उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्मां अभिदासति ॥ १ ॥

अर्थ — ( ओषधीनां उत्तमः अस्ति ) वृ औषधियोंमें उत्तम है । ( वृधाः तप उपस्तयः ) अथ वृद्ध तेरे समीपवर्ती हैं । अतः ( यः भस्मान् अभिदासति ) जो हमें दात बनाकर हमारा नाम करनेका इच्छुक है ( सः अस्माकं उपस्तिः भस्नु ) वह हमारा अनुयायी होवे ॥ १ ॥

सर्वेष्वुपासवन्धुश्च यो अस्मां अभिदासति । तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूपासमुत्तमः ॥ २ ॥

यथा सोम ओषधीनामृत्तमो हविषां कृतः । तलाशां वृक्षाणामिवाहं भूपासमुत्तमः ॥ ३ ॥

अर्थ— ( सवन्धुः च असवन्धुः च ) मनुष्यान्तः क्षत्रिया मनुष्यरहितः, ( यः अस्मां अभिदासति ) जो भी हमारा नाश करता है ( वृक्षाणां सा इव ) वृक्षां जित प्रकार वह उत्तम है उस प्रकार ( अहं तेषां उत्तमः भूपास ) मैं उनसे उत्तम हूँ ॥ २ ॥

( यथा सोमः हविषां ओषधीनां उत्तमः कृतः ) जिस प्रकार सोम हविषे पशुओं और ओषधियोंमें उत्तम है और ( वृक्षाणां तलाशा इव ) वृक्षोंमें जिस प्रकार तलाश वृक्ष उत्तम होता है उस प्रकार ( अहं उत्तमः भूपास ) मैं उत्तम हूँ ॥ ३ ॥

### मैं श्रेष्ठ वन्या

' मैं उत्तम हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ ' यह बहुस्वाकषा मनुष्योंमें होती चाहिये । मनुष्यका अभ्युदय और निःशेष इसी दृष्टान्त पर निर्भर है । मनुष्यो जिसे स्वायत्ते भी उससे अपनी अवस्था उच्च बना सकती है, परन्तु यहाँ कहा है कि ऐसा प्रयत्न करो, कि तुम अत्योषि श्रेष्ठ बनो । अन्वोको नोषे मिरावा नहीं है, परन्तु अपनी योग्यता सबसे अधिक करनी है ।

यः अस्मान् अभिदासति सः अस्माकं उपस्तिः अस्तु । ( म. १ )

' जो हमारा नाश करता चाहता है, वह हमारे पास उपस्थित होनेवाला होवे ' तथा—

तेषां अहं उत्तमः भूपासम् । ( म. २ )

' उन सबसे मैं उत्तम हूँ ' । मैं अपनी योग्यता ऐसी बखाऊ कि जिससे मेरे सब शत्रु मेरे साथसे रहनेवाले बनें । अपनी उपजति करनेवाली इच्छा हरएक मनुष्य अपने धर्ममें धारण करे । और जगत्में जो उपजिते सामर्थ्य निमित्त हूँ, उनकी आज्ञाकर, सबसे श्रेष्ठ बने ।

सूचना— इस सूक्तमें आये ' उत्तम, तलाशा ' ये ओषधियोंकी भी नाम हैं । परन्तु इन ओषधियोंका यथा भावना नहीं लगता । ' सोम ' भी आशक्त प्रत्यक्ष नहीं है ।

## सबसे श्रेष्ठ हूँ

कांड ६, सूक्त ८६

( अर्थः— अयं । देवता— एकवृषः । )

पृथिव्यस्य वृषां दिवो वृषां पृथिव्या अयम् । वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेकवृषो मय ॥ १ ॥

समुद्र ईशे स्रवतामग्निः पृथिव्या यशो । चन्द्रमा नक्षत्राणामीश्वरे त्वमेकवृषो मय ॥ २ ॥

अर्थ— ( अयं ) यह ( इन्द्रस्य वृषा ) इन्द्रसे सबसे उत्तम होकर, ( दिवः वृषा ) द्यौकोसे श्रेष्ठ ( पृथिव्याः वृषा ) पृथिवीसे भी श्रेष्ठ ( विश्वस्य भूतस्य वृषा ) और सभी भूतोसे श्रेष्ठ हो और तू ( त्वं एकवृषः मय ) मेरेलाही सबसे श्रेष्ठ हो ॥ १ ॥

जिस प्रकार ( स्रवतां समुद्रः ईशे ) बहनेवालोंमें समुद्र मुख्य है । ( पृथिव्याः यशो अग्निः ) पृथिवीमें सबको बसाये रखनेवाला अग्नि मुख्य है । ( नक्षत्राणां चन्द्रमा ईशे ) नक्षत्रोंका स्वामी चन्द्र है, इस प्रकार ( त्वं एकवृषः मय ) तू अत्रितीय और सबसे श्रेष्ठ बन ॥ २ ॥

भावार्थ— सूर्य, शुक्रेक, पृथ्वी तथा मायो इनमें जो अशक्ति है, उससे श्रेष्ठ बननेका प्रयत्न कर ॥ १ ॥

जिस प्रकार सब स्तोत्रोंमें समुद्र प्रमुख है, पृथ्वीको अग्नि करनेवाला अग्नि प्रमुख है और नक्षत्रोंमें चन्द्रमा श्रेष्ठ है, इस प्रकार तब मनुष्योंमें तू सर्व और श्रेष्ठ बन ॥ २ ॥

सम्राडस्पसुराणां कुरुन्धनुष्याणि । देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव

॥ ३ ॥

अर्थ— ( असुराणां सम्राट् आसि ) तू असुरोंका सम्राट् है ( मनुष्याणां एकवृत् ) मनुष्योंमें भी वृष है और ( देवानां अर्धभाग आसि ) देवोंका अर्धभाग तू है ऐसा तू ( एकवृत्त मत्त, सबसे धेष्ठ मन ॥ ३ ॥

भावार्थ— असुरवृत्तिवालेके ऊपर भी तू स्वामित्व कर और मनुष्योंमें भी तू धेष्ठ हो, तथा देवोंके भवं भागनवर हनेकी योग्यता प्राप्त करनेवाला हो ॥ ३ ॥

### सबसे धेष्ठ पनना

अपना सामर्थ्य बढ़ाकर सबसे धेष्ठ होनेका परम पुत्रार्थ करना हरएक मनुष्यको योग्य है। जो धेष्ठ होता है वहीकी प्राप्ति होती है और जो धेष्ठ नहीं होता वह पीछे रह जाता है। यह स्वरूप रख कर हरएक मनमानी उचित है कि वह अपने प्रयत्नसे धेष्ठ स्थान प्राप्त करे और सबसे धेष्ठ बने।

## यशस्वी होना

कांड ६, सूक्त ३९

( ऋषिः - अथर्वी ( वसिष्ठाः ) । देवता - त्रिविध, बृहस्पतिः । )

यशो विविधैस्तामिन्द्रजुतं सहस्रवीर्षं सुभृतं सहस्रतम् ।

॥ १ ॥

प्रसन्नोऽगमनु दीर्घाय वर्षसे विविधन्तं मा वर्षय ज्येष्ठतातये

अच्छा न इन्द्रं युञ्जसं यशोविर्षस्त्रिन् नमस्ताना विधेम ।

॥ २ ॥

स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजुतं तस्य ते रातो युञ्जसः स्याम

यथा इन्द्रो यथा अमिर्षयाः सोमो अजायत ।

॥ ३ ॥

यथा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यञ्जस्तमः

अर्थ— ( इन्द्रजुतं सहस्रवीर्षं सुभृतं ) इन्द्रजुते प्राप्त, जहाँसे योग्य पुत्र उत्तम भरपूर, ( सहस्रतं द्वयः यशः वर्षतां ) बलसे प्राप्त किया हुआ बलरूप देना पड़ बड़े : हमने ( दीर्घाय ज्येष्ठतातये ) बड़ी धेष्ठताकी कमाने-वाली ( वर्षसे ) वृद्धि प्राप्त होनेके लिये ( प्रसन्नोऽगमनु अमिर्षयन्तं मा अनुवर्षय ) प्रवृत्ति करनेवाले अप्रमत्त मनकी अनुकूलतासे कहा ॥ १ ॥

( यशोभिः यशसं यशस्त्रिन् इन्द्रं ) जन्म यशोसे प्रमुख होनेके कारण यशस्वी प्रभुको ( नमस्तानाः नः भण्ड विधेम ) नमस्कार करते हुए अपने उदयके हेतुसे हृष्ट उत्तम प्रकार जलकी पुत्रसे हैं । ( सः इन्द्रजुतं राष्ट्रं नः रास्व ) वह तू प्रभुके द्वारा दिया हुआ राष्ट्र अपना लेज हूँ दे । ( तस्य ते रातो यशसः स्याम ) जल तेरे शान्त हृष्ट यशस्वी हो ॥ २ ॥

( इन्द्रा यशः ) प्रभु यशस्वी है ( आग्नि यशः ) अग्नि यशस्वी है, ( सोमा यशः अजायत ) सोम भी यशस्वी हुआ है । ( विश्वस्य भूतस्य यशः ) जगत् भूतयानके यशसे ( अहं यशस्तमा अस्मि ) मैं यशवाला हूँ ॥ ३ ॥

## यशस्वी होना

## हजारों सामर्थ्य

मनुष्यको हजारों सामर्थ्य ( सहस्रवीर्य ) प्राप्त करने चाहिये । क्योंकि मनुष्यकी उन्नति सामर्थ्यही होती है । सामर्थ्यहीन मनुष्य निष्कर्षा होता है । यह सामर्थ्य ( सहस्रवृत्ति ) अपने बलसे ही प्राप्त करना चाहिये । दूसरेके बलसे प्राप्त हुई उच्च अवस्था उसके बलके दूर होनेपर स्वयं ही बुर हो जाती है, इस कारण अपना बल बढ़ाकर उससे अपने यशको वृद्धि करने चाहिये । यह यश ( वृद्धिः यशः ) हमनके समाग, यशस्वी यश है । अर्थात् सबकी भलाईके लिये साम्प्रसमर्पण करनेसे प्राप्त होनेवाला यह यश है । जब कोई मनुष्य सब जनताकी भलाईके लिये साम्प्रसमर्पण स्वाम करता है, तब उसको ( इन्द्रजित् यशः ) प्रभुसे यह यश प्राप्त होता है ।

## यशका स्वरूप

दीर्घायु श्रेष्ठतालये चक्षसे । ( मं. १ )

' दीर्घ दृष्टि और श्रेष्ठताका भित्तिार इस यशसे होता है ' संकुचित दृष्टि यशकी हानि करनेवाली है और लघुता भीलायकी श्रोत्रक है । इस कारण यशके साथ दीर्घदृष्टि और श्रेष्ठता अवश्य रहनी चाहिये अर्थात् वही यश प्राप्त करता चाहिये कि जिसके साथ दीर्घ दृष्टि और श्रेष्ठता रहती है ।

## प्रभुकी भक्ति

यश प्राप्त होनेके लिये प्रभुकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये—

यशश्चिन्तये इन्द्रं नमस्तानाः विधेम । ( मं. २ )

' यशस्वी प्रभुको नमस्कार करते हुए हम उसकी भक्ति करें । ' यह भक्ति जो करते हैं उनका अन्तःकरण शुद्ध और पवित्र होता है और वे यशके भागी होते हैं । उससे प्रार्थना करनी चाहिये कि—

नः राष्ट्रं राष्ट्र । ( मं. २ )

' हे प्रभो ! हमें राष्ट्र नपया तेज दे । ' हमें ऐसा राष्ट्र दे कि जो हमारे यशार्थन करनेमें सहायक होवे ।

इस अर्पणमें इन्द्र, अग्नि, सोम, भूतमात्रये सब अपने अपने यशसे यशस्वी हुए हैं, उन सबका तेज प्राप्त होकर मैं यशस्वी बनूँ, यह इच्छा मनमें रखना करनी चाहिये । ऐतिये—

अहं यशस्तमः अस्मि । ( मं. २ )

' मैं यशस्वी होऊँ । ' अर्थात् जिस प्रकार ये सब अपने यशसे यशस्वी हुए हैं, उसी प्रकार मैं भी अपने तेजसे तेजस्वी बनूँ । इस प्रकारकी इच्छा हुएपक्ष मनुष्य अपने मनमें धारण करे और अपने प्रयत्नसे उच्च अवस्था प्राप्त करे और पापों पुण्याय विवद करे ।

## यशकी इच्छा

कांड ६, सूक्त ५८

( अग्निः - अध्वर्यु ( यशस्वी ) । देवता - इन्द्रवृत्तिः, यशोवृत्तिः । )

यशसं मेन्द्रो मृषवांन्कुणोतु यशसं चावांपृथिवी तमे इमे ।

यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम्

॥ १ ॥

अर्थ— ( मृषवान् इन्द्रः मा यशसं कृणोतु ) महत्त्ववान् प्रभु मुझे यशस्वी बनावे । ( तमे इमे आवापृथिवी ॥ यशसं ) वे दोनों आवापृथिवी मुझे यशस्वी बनावे । ( सविता देवः मा यशसं कृणोतु ) सविता देव मुझे यशस्वी बनावे । और ( अहं दक्षिणायाः दातुः प्रियोः स्याम् ) मैं दक्षिणा देनेवालेका प्रिय हो जाऊँ ॥ १ ॥

भावार्थ— कुनोक, भूलोक, मूर्ध, इत्र यदि सब मेरी सहायता करें जिससे मैं यशस्वी होऊँ ॥ १ ॥

यधेन्द्रो धामापृथिव्योर्ध्वस्थान्यथाप ओषधीषु यशस्वतीः ।

एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम

॥ २ ॥

यश इन्द्रो यशा अग्निर्वशाः सोमो ब्रजायत । यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

अर्थ— ( यश इन्द्रः धामापृथिव्यो यशस्वान् ) जिस प्रकार ॥॥ लूको और पृथ्वीलोकके बीच यशस्वी है, ( यथा आपः ओषधीषु यशस्वतीः ) जिस प्रकार रस औषधियोंमें यशस्वत है, ( एवा विश्वेषु देवेषु ) इस प्रकार सब देवोंमें और ( सर्वेषु वयं यशसः स्याम ) सब प्रजाओंमें हम यशस्वी हों ॥ २ ॥

( इन्द्रः यशः ) इन्द्र ब्रह्मदेव है, ( अग्निः यशः ) अग्नि यशस्वी है, ( सोमः यशः ब्रजायत ) सोम यशस्वी है, ( विश्वस्य भूतस्य यशः ) सब भूतमानके यशसे ( अहं यशस्तमः अस्मि ) मैं अधिक यशस्वान् हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ— इस त्रिलोकमें तूम्हें तेजस्वी है, सब औषधियोंमें रसभाव मुख्य है, इसी प्रकार सब मनुष्योंमें मैं श्रेष्ठ हूँ ॥ २ ॥

इस अग्नि अथवा सोम जैसे यशस्वी हूँ, उसी प्रकार मैं, अधिक श्रेष्ठ यशस्वान् हूँ ॥ ३ ॥

मनुष्य ऐसे कार्य करे कि जिससे उसका उत्तम यश रहे। मनुष्यके साधने सूर्य, इन्द्र, अग्नि और सोमके भावने हैं। सूर्य सत्यके प्रकाश देता है, इन्द्र वेदका देता है, अग्नि उष्णता देता है, सोम रोम दूर करता है; इसी प्रकार मनुष्य भी परोपकार करे और यशस्वी बने। सूर्यादि सब देव स्वयं छोड़ परोपकारमें अपने आपको लगा रखते हैं, उनके यशस्वी होना परोपकारमें ही है। जो मनुष्य इस प्रकार उत्तमार्थ अवलोकन करेगा वह भी उनके अनुसार ही प्रशस्त पावे युक्त होगा।

## यशके लिए प्रार्थना

कांड ६, सूक्त ६९

( अग्नि - अथर्व । देवता - बृहस्पति, अश्विन । )

गिरावरगराटेषु हिरण्ये गोषु यशसः । सुरायां सिध्यमानायां कीलाते मधु तन्मयि ॥ १ ॥  
अथिना सारधेयां मा मधुनाक्तं धुमस्वती । यशा भूमिस्वतीं वार्षावदानि धनो जनु ॥ २ ॥  
मयि वचो अथो यशोऽथो यशस्य यत्पयः । तन्मयि प्रजापतिद्विधिं धामिन् रंहत ॥ ३ ॥

अर्थ— ( गिरा ) पर्वतपर, ( गरगराटेषु ) शक्यपर्वत ( हिरण्ये, गोषु यशः ) पुष्प और गोशेमें जो यश है, तथा ( सिध्यमानायां सुरायां ) बहनेवाली पर्वतपायमें तथा ( कीलाते मधु ) अन्नमें जो मधुरता है ( तद् मयि ) वह मुझमें हो ॥ १ ॥

( धुमस्वती अश्विनो ) कल्याण देनेवाले सोमों जडिबरेन ( सारधेय मधुना मा भक्तं ), तारवाली मधुरतासे मुझे युक्त करें। ( यशः अश्वस्वती पाय ) जिससे आनन्दवाली धामोंको । जनान् भन्तु भावदानि, लोगोंके प्रति मे बोले ॥ २ ॥

( मयि वचः ) मुझमें तेज हो- ( अथो यशः ) और पुष्पों वय, ( अथो यशस्य यत् पयः ) और पशुका जो सार है, ( द्विधिं दां इय ) जेसे धुकोरमें प्रकाश दू है उसीप्रकार ( प्रजापतिः तद् मयि ददतु ) प्रजापतिके देव वह मुझमें दू करे ॥ ३ ॥



पहाड़ पर तपस्या करनेवाले भुनियोंमें, चक्षुष्य चक्षुष्यानेवाले मयवा रथपर चढ़नेवाले धोरोंमें जो यज्ञ होता है, उत्तम युक्ति जल और श्रेष्ठ वृद्ध अन्नके विषयमें जो प्रश्नता होती है, उक्त प्रकारकी प्रश्नता मेरे विषयमें होती रहे । अर्थात् मैं भी उनकी तरह दूसरोंके उपयोगके कार्योंमें अपने आपको समर्पित करूं और यज्ञस्वी होऊँ । मैंने प्राण और वसु उक्त प्रकार श्रेष्ठ कार्यमें समर्पित हों । मेरी वाणी ऐसी हो कि जिससे जनताका आश्रय पड़े । इस प्रकार आश्रयित करनेसे मुझमें तेजस्विता और यज्ञ बड़े और आकाशमें स्थित सूर्यके समान मेरा यज्ञ बड़े ।

इस सूक्तमें अक्षयपत्त द्वारा यज्ञ और तेज प्राप्त करनेका उपदेश है ।

## निर्मयताके लिये प्रार्थना

कांड ६, सूक्त ४०

( ऋषि - अथर्वी । देवता - अन्नोक्ता । )

अभयं धावापुथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कुणोतु ।

अभयं नोऽस्तुर्वीन्तरिक्षं सप्तऋषीणां यं हविषार्भयं नो अस्तु ॥ १ ॥

अस्मै प्रामाय प्रदिशश्चरत्तु ऊर्जं सुभूतं स्पृस्ति सविता नः कुणोतु ।

अनुविधन्त्रो अभयं नः कुणोस्वन्वत्र । अन्नोभि यातु मनुः ॥ २ ॥

अन्नमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात् । इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृषि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे धावापुथिवि । ( इह नः अभयं अस्तु ) यहां हमारे लिये अशय होवे । ( सोमः सविता नः अभयं कुणोतु ) सोम और सविता हमारे लिये निर्भयता करे । ( उक् अन्तरिक्षं नः अभयं अस्तु ) यह बड़ा अन्तरिक्ष हमारे लिये अशयवादी होवे । और ( सप्त-ऋषीणां यं हविषा नः अभयं अस्तु ) सप्त ऋषियोंकी हविसे हमारे लिये अशय प्राप्त होवे ॥ १ ॥

( सविता ) सबको आपत्ति करनेवाला देव ( अस्मै नः प्रामाय ) इस हमारे नगरके लिये ( यत्तु प्रदिशः ) प्रारों दिशाओंमें ( ऊर्जं सुभूतं स्पृस्ति कुणोतु ) बल, ऐश्वर्य और कल्याण उत्पन्न करे । ( इन्द्रः नः अन्नोभि अभयं कुणोतु ) प्रभु हम सबके लिये अनुसंहित निर्भयता करे । ( राणां मनुः मन्वस्य मभियातु ) राजाओंका शोक औरोंपर घना लावे ॥ २ ॥

हे ( इन्द्र ) प्रभो ! ( नः अधरात् अन्नमित्रं ) हमारे लिये नीचेसे अन्न बर होवे । ( नः उत्तरात् अन्नमित्रं ) हमारे लिये उच्च भागसे निर्भयता होवे । ( नः पश्चात् अन्नमित्रं ) हमारे लिये पीछेसे निर्भयता होवे और ( नः पुरः अन्नमित्रं कृषि ) हमारे सामनेसे निर्भयता कर ॥ ३ ॥

भूमि, अन्तरिक्ष, अन्नोक्त, सोम, सविता, सप्तऋषि, विशा, इन्द्र, राजा इन सबसे हम सब लोगोंको अशयता प्राप्त होवे । यह प्रार्थना इस सूक्तमें है । अशय प्रार्थनाके लिये यह बड़ा उत्तम सूक्त है ।

ये सब देव अपने भंदर भी हैं, सप्त इन्द्रियोंके रूपमें हमारे शरीरमें हैं, सूर्य आश्रय है, यज्ञ मनमें है, दिशाओंके कार्योंमें स्थान प्राप्त किया है, इन्द्र मनमें रह रहता है, भूमि स्थूल शरीरके धन-आश्रय है, अन्तरिक्षका अन्न-करण बना है, अन्नोक्तका मस्तक बना है, इस प्रकार अपने शरीरमें अंतर्गुह्यसे स्थिर ये देव हमारे शरीरके धन-र निर्भयता स्थापित करें । अर्थात्

सबसे रोगों और दुःखियोंको दूर करने हमें अन्तरसे प्रवृत्त करे। यह सब होगा जब कि हमारे अन्दरके ये देवताएँ प्रवृत्तिके प्रभावों में न होंगी। अर्थात् सबके लिये इच्छित सर्वकर्मों में प्रवृत्त हो और अज्ञानाग्निसे निवृत्त हों। इस प्रकार विचार करनेसे निर्भय होनेका मार्ग साफ हो सकता है। पर निर्भयता प्राप्त करनेके लिये आन्तरिक शुद्धता होनी चाहिये। निर्भयता अन्तरसे होनी है बाहरसे नहीं।

## कल्याण मासिकी प्रार्थना

कांड ६, सूक्त ४८

( ऋषिः — मयिरा, प्रचेताः । देवता — यम्योक्ताः । )

इत्येनोऽसि गाव्यच्छन्दा अनु स्वा रमे । स्वस्ति मा सं वंहास्य यज्ञस्योदधि स्वाहा ॥ १ ॥  
 ऋभुरसि जगच्छन्दा अनु स्वा रमे । स्वस्ति मा सं वंहास्य यज्ञस्योदधि स्वाहा ॥ २ ॥  
 धृषासि त्रिष्टुच्छन्दा अनु स्वा रमे । स्वस्ति मा सं वंहास्य यज्ञस्योदधि स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ — हे देव ! ( गाव्य-छन्दाः इत्येनः असि ) सबकी प्राण रक्षाका सर्वप्रकार प्रारम्भ करनेवाला तू स्वर्गके समान गतिमान है। इसलिये ( त्वा अनु आरमे ) तेरे लिये हम सर्वकर्मोंका प्रारम्भ करते हैं। ( जगत्-छन्दाः ऋभुः असि ) तू जगत्की भलाईका सर्वप्रकार प्रारम्भ करनेवाला बड़ा कर्मकुशल है इसलिये ( अनु० ) तेरे लिये हम इतना प्रणाम प्रारम्भ करते हैं। ( त्रिष्टु-छन्दाः धृषा असि ) तीनों-अभ्यस्तन, अपिभूत और अपिदेवत सबकी-साम्प्रदायिकता का प्रारम्भ करनेवाला तू महाबलवान् देवके समान सामर्थ्यशाली हो। इसलिये ( अस्य यज्ञस्य उदधि ) इस यज्ञकी उत्तम तमामित तल ( मां स्वस्ति सं वद ) मुझे सुखसे ले भल, ( स्व-मा-हा ) मैं अपनी शक्ति का सबकी भलाईके लिये त्याग करता हूँ ॥ १-३ ॥

## कल्याणके लिये यज्ञ

कांड ६, सूक्त ९९

( ऋषि — अथर्व । देवता — इन्द्रः सोम तमिता व । )

अमि त्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वाहृणाद्वे । हवाम्भ्यं चेत्तारं पुरुषानामपेक्षुम् ॥ १ ॥  
 यो अथ सेन्यो वधो जिपांसघ उदीरते । इन्द्रस्य तत्र बाहू संमन्तं परि दधः ॥ २ ॥

अर्थ — हे इन्द्र ! ( पुरा अहृणात् ) पाप कर्म होनेके पूर्व ही ( वरिमतः स्वा त्या भमि पुत्रे ) भेद्य होनेके कारण तेरी ही सब प्रकारसे पुकार करते हैं। तथा ( उभं चेत्तारं ) पुरुषोंके चेतना देनेवाले ( एकजं पुदनामानं हवामि ) भक्षके परतु अनेक यज्ञोंसे संपन्न पुण्यकी हय प्रज्जिता करते हैं ॥ १ ॥

( यः अथ सेन्यः वधः ) जो अथ सेनाका प्राय हर्ष प्रारम्भके लिये ( उर् इरते ) ऊपर उठता है, ( तथ इन्द्रस्य बाहू संमन्तं परि दध- ) उस समय हय प्रभुके बाहुओंसे अपने चारों ओर धरे हैं ॥ २ ॥

भाषार्थ — जिससे पाप कर्म नहीं होता है और जो भेद्य कर्म करता है, उसीको प्रसन्ना करने चाहिये। इसी प्रकार जो पुरुषोंके, अथवाकी चेतना देनेवाला और अनेक प्रकारसे यज्ञ प्राप्त करनेवाला है, उसीका पुनर्गन्त करना योग्य है ॥ १ ॥

परि दक्ष इन्द्रस्य बाहु समन्तं त्रातुस्त्रायतां नः ।

देव सवितुः सोमं राजन्तस्त्रयन्तं मा कृणु स्वस्तये

॥ ३ ॥

अर्थ— ( इन्द्रस्य बाहु समन्तं परि दक्षः ) प्रभुके बाहुओंको अपने चारों ओर हम परते हैं, ( त्रातुः नः त्रायतां ) उस रक्षकके बाहु हमारी रक्षा करे । हे ( सोम राजन् देव सवितुः ) सोम राजा देव । प्रभो । ( स्वस्तये मा सुमन्तं कृणु ) कल्याणके लिये मुझे उत्तम मनवाला कर ॥ ३ ॥

भाषार्थ— जिस समय सेनासे हमला होता है और आगने और एक दुसरेको काटते हैं, उस समय प्रभुके हाथ ही रक्षा करते हैं ॥ ३ ॥

ऐसे तथा अन्य प्रकारके कठिन प्रसङ्गोंमें प्रभुके हाथ ही हमारी रक्षा करें । मनुष्य यदि सबमुख कल्याण चाहता है तो वह अपना मन शुभ विचारोंसे परिपूर्ण रखे ॥ ३ ॥

### कल्याणका मुख्य साधन

॥३॥ दूषतमं वो कल्याणका मुख साधन कस्या है वह देखने योग्य है—

स्वस्तये सुमन्तम् । ( म० ३ )

‘ कल्याण प्राप्त करनेके लिये उत्तम मन होना चाहिये ’ मनके उत्तम धुंध सकलपक्षोंसे मुक्त होनेपर ही मनुष्यका सबमुख कल्याण हो सकता है । मनमें दोषोंके रहनेपर अवश्य ही कष्ट होंगे । इसी प्रकार हमेशा मनमें यह विश्वास रखना चाहिए कि बाहे कितनी भी बड़ी विपत्ति अथि, उस प्रभुका हाथ हमेशा हमारे ऊपर है । इस विषयमें देखिये—

स्वेन्यः पथः जिघांसन् उदीरते ।

तत्र इन्द्रस्य बाहुः समन्तं नः त्रायताम् ॥ ( म० २, ३ )

‘ जब सेनाके पथ बमकी इच्छासे ऊपर उठते हैं, तब प्रभुका हाथ चारों ओरसे हमारी रक्षा करे । ’ प्रभुका हाथ सब प्रकारसे हमारी रक्षा कर रहा है, यह विश्वास मनुष्यको यही शक्ति देता है और बल भी बढ़ाता है ।

इसके अतिरिक्त मनुष्यको तीन बातें ध्यानमें धारण करनी चाहियें, ( १ ) वाप न करना, ( २ ) भेद कर्म करना और ( ३ ) उप कर्मकर अनाको भेद कर्म करनेकी प्रेरणा करना । ये तीन कर्म करनेसे ही मनुष्य भेद और भयभीत बनता है ।

## अपनी पवित्रता

कांड ६, सूक्त ६२

( ऋषिः - सयर्वा । देवता - इन्द्र, मनोमता । )

वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणैर्नपिरो नमोभिः ।

द्यावोपृथिवी पर्यसा पर्यस्वती क्रतावरी यद्विषे नः पुनीताम्

॥ १ ॥

अर्थ— ( वैश्वानरः रश्मिभिः न पुनातु ) सब मनुष्योंमें रहनेवाला अग्नि अपनी किरणोंसे हमारी धृष्टि करे । ( वातः प्राणैर्न ) वायु प्राणरूपसे हमारी पवित्रता करे । ( इषिः नमोभिः ) जल अपने बिंबिय रसोंसे हमारी शुद्धता करे । ( पर्यस्वती क्रतावरी ) रसवाले, जलमूलक, ( यद्विषे द्यावापृथिवी ) पुनीत धूलोक और भूलोक ( पृथ्वी नः पुनीतां ) अपने पोषक रखते हैं—पवित्र करें ॥ १ ॥

भाषार्थ— अग्नि वापीके रूपसे, वायु प्राणके रूपसे, जल विविधरूपसे रूपसे, तथा धूलोक व पृथ्वीलोक अपनी अपनी शक्तियोंसे हमारी शुद्धता करे जबकि ये देवताएँ हमारे अरीरमें वाहर रह रही हैं और उन्होंने यहाँ से रूप लिये हैं, इनसे हमारी पवित्रता होवे ॥ १ ॥

वैश्वानरीं सुनुतामा रंभध्वं यस्या आश्वास्तन्वो चितपृष्ठाः ।

॥ २ ॥

तया मृणन्तः सधमादेषु वयं स्वां पतयो रपीणाम्

वैश्वानरीं वचंस आ रंभध्वं शुद्धा मवन्तु शुचयः पावकाः ।

॥ ३ ॥

इहदंषा सधमादं मदन्तो ज्योक्पेइधेभ सुपैमुन्चरन्तम्

अर्थ—( सुनुतां वैश्वानरीं आरम्भध्वं ) तब और सब मनुष्यों द्वारा प्रेरित ईश स्तुतिको प्रारम्भ करो ( सध-  
मादेषु ) सब मिलकर आनन्दित होनेके अवसरमें ( चितपृष्ठाः आशाः यस्याः तन्वः ) कुछ भागसे रहित दिशाओं  
जिन दिशाओंके शरीर हैं ऐसे ( तथा मृणन्तः वयं ) उस शान्तिसे स्तुति करते हूँ हम सब ( योणां पतयः स्वाम् )  
पक्षोंके स्वामी हों ॥ २ ॥

[ शुचयः शुद्धाः पावकाः भवन्तः ] शुद्ध, पवित्र और दूसरोंको पवित्र करनेवाले होकर ( वैश्वानरीं वचंस  
आरम्भध्वं ) सब मनुष्योंको ईशस्तुतिक्रम बानोको तेजस्विताके लिये बोला आरम्भ करो । ( इह इहदंषा सधमादं  
मदन्तः ) यहाँ स्तुतिक्रम बानोसे साथसाथ आनन्दित होते हुए हम ( ज्योक् उच्छ्वरन्तं स्य पश्येम ) चिरन्तानतक  
ऊपर ऊँचे हुए सूर्यको देखते रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ— सब मनुष्य साथ भावण करें और ईश्वरके गुणवाचन करें । इस प्रकारकी शान्तिसे अमर्षादित स्वाम  
है । हम उन्नत प्रकारके मन्त्रन कहते हूँ, धन प्राप्त करें ॥ २ ॥

हम अन्तर्बद्ध शुद्ध हों, साथबालोंको पवित्र बनाये, शुभ बानों बोले और सब मिलकर आनन्दित होते हुए सूर्य  
आपुण्यको प्राप्त करें ॥ ३ ॥

मनुष्य शरीरमें सब वेदताएँ अटकभसे रहती हैं । यहाँ अग्निमें बालोंका कप लिया है, बाधुने प्राप्तका कप लिया  
है, जलने रसनाका कप लिया है, धूलोके तिरके रचानमें है, पाँवके स्थानमें पुषिये है, इसी प्रकार मग्न मग्नबोधमें अन्य देवता  
एक रहे हैं । ये सब वेदता अधुनते पुनत न हों, सदा सत्यमें स्थिर रहें और हृष्टादी पवित्रता करें । सत्य बानी, साथ विचार  
और साथ आचारके लिये जितना चाहिये उतना विलुप्त कार्यक्षेत्र है । सब सत्यमें स्थिर रहनेवाले मिलकर आपसमें सहकार्य  
करते हुए, साथसे पवित्र बनकर धर्ममयोंसे वन कर्माँ और वनी बनें । शरीरकी शुद्धि करें, भक्त करणको पवित्र करें और  
भयने विचार, उपचार और आचारसे दूसरोंको शुद्ध बनाते हुए अपने चरदारका मार्ग आत्मनय करें । साथसे निर्भय होनेवाले  
और सत्यनिष्ठ तथा ईश्वरके गुणोंका चिन्तन करते हुए अपनेको पवित्र बनानेवाले लोग जिन्हें हम सदैव सूर्य आपु प्राप्त करते हैं  
और पूर्ण आपुकी समाप्तिगत आनन्दके साथ रहते हैं । इसलिये मनुष्य अपने पवित्रताका साधन करे और इतकृत्य बने ।

## उत्तम मार्गसे जाना

कांड ६, सूक्त ५५

( ऋषिः - बृहत् । देवता - विष्णुदेवाः, ५५ : १ )

ये पन्थानो गृहवो देवपाना अन्तरा वावापृथिवी संचरन्ति ।

॥ १ ॥

तेषामज्यानि यतुमो वहति तस्मै वा देवाः परि घच्छेह सर्वे

अर्थ—( ये देवपानाः बृहवः पन्थानाः ) जो देवोंके आनेवालेके बहुतसे मार्ग । ( वावापृथिवी अन्तरा संच-  
रन्ति ) धूलोके और भूतोंके बीचमें चलते रहते हैं । ( तेषां यतमः अज्यानि पश्यन्ति ) उनमेंसे जो मार्ग समृद्धि लाता  
है, ( तस्मै देवाः ) उन देवों । ( इह सत्ये ॥ पश्ये घच्छेह ) यहाँ उस मार्गके लिये मुझे सब प्रकार वारण करो ॥ १ ॥

भावार्थ— उत्तम विद्वान् तत्त्वज्ञानिक जाने जानेंके प्रवृत्ति व्यक्त करानेके जो कनेक मार्ग हैं, उनमें जो निर्वाचन मार्ग  
है, उसीपरसे चलना उचित है ॥ १ ॥

श्रीभूमे ह्यमन्तः शिथिरो वसन्तः श्रुतर्षाः स्थिते नो दधात ।

आ नो गोषु प्रजाया प्रजास्यो निवत इद्रः अरुणे स्याम ।

॥ २ ॥

इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुवा बृहन्नमः ।

तेषां वयं सुमृतौ यद्विद्योनामपि भद्रे सौमनसे स्याम

॥ ३ ॥

अर्थ— वसन्त, शीतल, वर्षा, जल, हेमन्त और शिथिल ये सब ऋतुएँ ( जः स्थिते दधात ) हमें उत्तम अवस्था में धारण करें । ( आ गोषु प्रजाया प्रजास्यो ) हमें गोओं और प्रजाओं में सुख का भाग्य बनाओ । ( यः इत् निघाते शाणे स्याम ) तुम्हारे साथ निरवयसे हम याताधिके उपप्रवरहित परम रहें ॥ २ ॥

( इदावत्सराय, परिवत्सराय, संवत्सराय ) अन्न, प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्षों के लिये ( बृहत्सु ममः कृणुत ) बहुत अन्न उत्पन्न करो । ( तेषां यद्विद्योनां सुमृतौ ) उन यज्ञकर्तृओं की उत्तम बुद्धि में तथा ( सौमनसे भद्रे अपि स्याम ) उत्तम मनस तथा कल्याणमें हम बना रहें ॥ ३ ॥

भाषार्थ— ऐसा आचरण करना चाहिये कि जिससे छोटी ऋतुओंमें उत्तम सुख प्राप्त हो, लीओं और प्रजाओंमें हित का साधन हो और घरमें कोई दोष न हो ॥ २ ॥

हरद्वय वर्ष उत्तम भद्र पर्याप्त प्रसन्नमें उत्पन्न कर और जिन्होंने अपना जीवन प्रसन्न बनाया है उनके उत्तम शुभ सत्कारपूर्वक भव और बलिमें रह सर्वज्ञ तेरे विद्यमान जबकी समस्त उत्तम रहे ऐसा आचरण कर ॥ ३ ॥

‘ सवत्सर, परिवत्सर, इदमावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर ’ ये सवत्सरों के पाँच नाम कल्पित । प्रथमसे लेकर हरद्वय पञ्चमगी के हैं । इसी प्रकार ‘ कृत, भैत, हावर और कलि ’ ये ऋतुवर्गों के नाम हैं ।

सज्जनोंके व्यवहार करनेके धर्मभावोंमें भी जो भाग्य सबसे श्रेष्ठ है उन पर चतुर्ता चाहिये । अपने आचरणके उत्तम रहने पर सब ऋतुओंमें लाभ होता है और अपने भद्र रोचके होने पर हानि होती है । हरद्वयको ऐसा उत्तम आचरण करना चाहिये कि जिससे सज्जन प्रसन्न हों । हरवर्ष होतीसे इतना धाम्य उत्पन्न करना चाहिये कि जो अपने लिये पर्याप्त हो सके ।

## अन्तर्वाङ्मय शुद्धता

कांड १, सूक्त ५१

( ऋषिः - अश्विनिः । देवता - आत्मा, ब्रह्म । )

ध्यायोः पृतः पवित्रेण प्रायद् सोमो अतिं द्रुतः । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १ ॥

आपो अस्मान्मातरः सदधन्तु घृतेन नो घृतम्भिः पुनन्तु ।

विश्वं हि रिभे प्रवदन्ति देवीरदिदाम्भ्यः शुचिरा पृत यमि ॥ २ ॥

अर्थ— ( ध्यायोः पवित्रेण पृतः ) धाम्यके पवित्रीकरणके साधन द्वारा पृत हुआ शुद्ध ( प्रायद् अति द्रुतः सोमः ) प्रसन्न जाना हुआ सोम ( इन्द्रस्य युज्यः सखा ) इन्द्रजीविका योग्य मित्र है ॥ १ ॥

( मातरः आपः अस्मान् सदधन्तु ) धाम्यके समस्त हितकारी भक्त हमें पृत करें । ( घृतम्भिः नः घृतेन पुनन्तु ) पवित्र करनेवाला भक्त हमें लक्ष्मी द्वारा पवित्र करे । ( देवीः हि विश्वे रिभे प्रवदन्ति ) रिभ्य जल सब रोच बना देता है । ( आभ्यः उद् इत् शुचिः पृतः न यमि ) इससे ही शुद्ध और पवित्र होकर यं भाग्य कल्पता है ॥ २ ॥

यत्किं चेदं वरुण देव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरन्ति ।

अचिरया चेत्तव धर्मा युयोधिमा मा नुस्वस्मादेनसो देव रीरिषः

॥ ३ ॥

अर्थ— हे वरुण ! ( मनुष्याः यत् किञ्च इदं अभिद्रोहं ) साधारण मनुष्य जो कुछ भी दुराचार ( देव्ये जने चरन्ति ) विम्वर्जनोक्ति विषयमें करते हैं ( च इत् अचिरया तव धर्मा युयोधिमा ) और जो बिना जानते हुए तेरे बताये परमको सोचते हैं, हे देव ! ( मा नुस्वस्मात् एनसः मा रीरिषा ) मैं सबको उस बापसे नष्ट मत कर ॥ ॥

### सोमका महात्म्य

सोमका प्रथम प्रथम मन्त्र है । यह सोम प्रथम है, इसका अर्थ है, पशुधाम् उसको हुवा देनेके लिये एक बर्तनसे हुवे बर्तनमें डाला जाता है । जब इस प्रकार यह सिद्ध होता है, तब यह अपने अन्तर रहनेवाला इन्द्र दक्षिणकी मशानेवाला होता है । अर्थात् इसके पीछेसे सरोरको इन्द्रदक्षिण कहती है ।

### अलका महात्म्य

द्वितीय मन्त्रमें अलका महात्म्य कहा है । अल प्राणियोंको शान्ति देता है, पवित्र करता है, सरोरके सब शीशोंको दूर करता है और अन्तर्बाह्य सरोरको शुद्ध करके बड़ा आरोग्य देता है ।

### द्रोह न करना

तृतीय मन्त्रमें कहा है, कि कोई मनुष्य किसीसे द्रोह और अपराध न करे । न आवेते हुए भी जो द्रोह हुआ हो उसकी परमेश्वरकी मारणा करके खला माँगनी चाहिये ।

इस तीनों मन्त्रोंमें शुद्धि द्वारा धनितवृद्धि करकेका उपदेश है । सोम शुद्ध होकर इन्द्रास्तिकी सहायता करता है, जब शुद्धता करके आरोग्य देता है और अक्षिणवृद्धिसे आपमृद्धि होकर धार्मिक बल बढ़ जाता है । तीनों मन्त्रोंका आत्म्य देखने योग्य है । शुद्धि द्वारा सबकी वृद्धि होती है वह सबका तत्पर्य है ।

## पुष्टिकी प्रार्थना

कांड ७, सूक्त ४८

( अर्थः — अर्थात् । देवता — राजा । )

राकामहं सुहवी सुपुत्री हुवि वृणोत नः सुभगा योषतु त्वनी ।

सीक्यस्त्वपः सुन्यान्विष्यमानया ददातु वीरं शतदोषमुक्थ्यम्

॥ १ ॥

अर्थ— ( सुहवा सुपुत्री राजा यह हुये ) उत्तम सुतावेधोप्य और सुवि करनेयोग्य दूर्ध्व पादमात्र मयल भाग्यहारादिनी देवीको मैं बुलाता हूँ । ( वृणोतु ) वह मेरी दुकार बुने और ( सुभगा नः त्वनी योषतु ) वह उत्तम ऐश्वर्यवाली देवी हमें अपनी लक्ष्मी देवावे । ( सुन्यान्विष्यमानया गृहया मयः सीक्यतु ) कभी न दृष्टनेवाली मूर्धन्य वह अपने कपड़े सोनेके काम करे और ( उक्थ्यं शतदोषं वीरं ददातु ) वह प्राणियोंके लोभों दान देनेवाले और दुष्टको हर्ष प्रदान करे ॥ ॥

यास्ते राके सुमयः सुपेक्षो याभिर्ददासि द्राक्ष्ये वर्धनि ।  
ताभिर्नो अद्य सुमनो उपार्गदि सहस्राण्ये सुभये रराणा

॥ २ ॥

अर्थ— हे ( राके ) शोभा देनेवाली देवी ! ( या ते सुपेक्षः सुमयः ) जो तेरे उत्तम सुन्दर सुमतिवाँह,  
( याभिः द्राक्ष्ये वसुनि ददासि ) जिनसे तू राताको पन देती है । हे ( सुभये ) उत्तम ऐश्वर्यसे युक्त देवी ! ( ताभिः  
रराणा सुमना ) उन शक्तिपौंसि शोभनेवाली उत्तम यमनकी देवी वू ( अद्य नः सहस्राण्ये उपानहि ) आज हमें  
हजारों पुष्टिको समीप स्थानमें लाकर दे ॥ २ ॥

पूर्णचन्द्रमायुक्त राका होती है । इससे नवी प्रसन्नता प्राप्य होती है वही ही प्रसन्नता ईश्वरके तेजसे ॥ गुत्ता  
बढकर होती है । इस अनुभवसे उस अनुभवका अनुमान पाठक कर सकते हैं । इस सुवचनमें पूर्ण चन्द्रमाके वर्णनके बहाने  
व्याख्यात्मक परमात्माकी शक्तिका वर्णन किया है । यह परमात्मशक्ति हमें ज्ञान देवे, भ्रान्तसे जगाकर प्रबुद्ध करे, और  
ज्ञान द्वारा हमारी उन्नति करे । इसी प्रकार हमें पुष्टि और उत्तम चौरसत्तति देवे और हमारी सब प्रकार की उन्नति करे ।

## सुखकी प्रार्थना

कांड ७, सूक्त ४९

( ऋषि - अथर्व । देवता - वेधपत्नी । )

देवानां पत्नीर्युतीर्यन्तु नः प्रार्थन्तु नस्तुजये वार्जसातये ।

याः पार्थिवास्तो या अपामर्षि प्रुते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु

॥ १ ॥

तुत प्रा व्यन्तु देवर्षस्तीरिन्द्रार्थ्यश्वायुधिनी राट् ।

आ रोदसी वरुणानी धृजोस्तु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्

॥ २ ॥

अर्थ— ( उद्गतीः देवानां पत्नीः नः अपन्तु ) हमारी इच्छा करनेवाली-देवीकी पत्नियाँ हमारी रक्षा करें । ये  
( तुजये वार्जसातये नः प्रायन्तु ) भ्रान्त और अज्ञकी विमुक्तिके लिये हमारी रक्षा करें । ( याः पार्थिवास्तः ) जो  
पृथ्वीपर स्थित और ( याः अपामर्षि प्रुते ता ) जो अपमर्षी विप्रवयवकर्मसे स्थित हैं, ( ताः सुहवाः देवीः ) ये  
उत्तम प्रसन्नित देवियाँ ( नः शर्म यच्छन्तु ) हमें सुख देवें ॥ १ ॥

( उत वेधपत्नीः इमाः व्यन्तु ) और देवीकी पत्नियाँ ये देवियाँ हमारे हितकी इच्छा करें । ( इन्द्राणी ) इन्द्रकी  
पत्नी, ( अप्रायी ) अनिकी पत्नी, ( आयिनी राट् ) अविधनी देवीकी पत्नी रानी, ( रोदसी ) रक्षकी पत्नि,  
( वरुणानी ) जलदेव वरुणकी पत्नी, ( आशृष्योस्तु ) हमारी पुकार सुने । ( जनीनां यः ऋतुः ) विप्रोंका जो ऋतुका  
है उस समय ( देवीः व्यन्तु ) ये देवियाँ हमारा हित करें ॥ २ ॥

देवताओंकी प्रतिमयाँ देवीकी पत्नियाँ हैं । यमि, जल, पृथ्वी, वायु आदि अनेक देव हैं, उनको प्रतिमयाँ भी  
विधिय है । यही इनकी पत्नियाँ हैं । पत्नी पालन करनेवाली होती है । यमि शक्ति यमिका पालन करती है, वायुशक्ति  
वायुका पालन करती है, इसी प्रकार अन्य अन्य देवीकी प्रतिमयाँ अन्य देवीको उनके स्वकर्ममें रखती हैं, जितने देव हैं उतनी  
उनकी पत्नियाँ हैं । ये सब देवप्रतिमयाँ हम सब मनुष्योंकी सुख और प्रतिष्ठा प्रधान हैं ।

## उत्तम इन्डि

कांड ७, सूक्त ५२

( ऋषिः - क्षत्र्या । देवता - सामनस्यं, ब्रह्मिणी । )

संज्ञानं नः स्वर्गिणः संज्ञानमरुणेभिः । संज्ञानमपिना युवमिहास्मासु नि रञ्छतम् ॥ १ ॥

सं जानामहे मनसा सं चिन्त्वा मा युष्मदि मनसा दैर्घ्येन । ॥ ३ ॥

॥ २ ॥  
मा घोषा उरस्युर्ध्वहले विनिर्हते मेघुः पक्षदिन्द्रस्याह्न्यामते

अर्थ— हे (आश्विनी) अश्विदेवो ! (तः स्वेभिः संशानं) हमें स्वयंसेविका साय उत्तम ज्ञान प्रदा हो । तदा (करणेभिः संशानं) निम्न यंत्रोंके श्री तोप हैं उनके साय भी हमें उत्तम ज्ञान प्राप्त हो । (इह) इस संशानं (पुर्यं ब्रह्माहु संशानं मियच्छतं) तुम दोनों हम सबमें उत्तम ज्ञान स्थापित करो ॥ ३ ॥

(मानसा संज्ञानामहै) हृष मनसे अक्षम ज्ञान प्राप्त करे, (विनिमया सं) ज्ञान प्राप्त करके एकमनसे रहे ।  
(मा शुष्महि) परस्पर विरोध न करें । (दैव्येन मनसा) दिव्य मनसे हृष युक्त होयें । (वदुले विनिर्दले घोषा मा  
उद् स्थः) बहूतोंका बध होनेसे पक्षपात दुःपक्षसे शब्द न उत्पन्न हों । (आगते भद्रानि) आये मानेवाले तबमें (इन्द्रस्य  
इषु मा पशव्) इन्द्रका बाण हृषपर न गिरे ॥ २ ॥

बंधनसे छूटना

कांड ६, सूच १२१

( अर्थः—कोशिकः । देवता - मन्त्रोक्ताः । )

विशाला पाशानि व्वाह्यस्मद्य उत्तमा अधमा वाह्या ये । ॥ १ ॥

विशान्ना पाश्चान्नि व्यष्टिस्मिन् ठस्येति ।  
दुष्पञ्चं दुर्हितं नि ध्वासादथं गच्छेम सुकृतस्यं काकम्  
यथा ।

यदाक्षिणं बध्यसे यच्च रज्ज्वां वद्व्यां बध्यसे यच्च वाचा । ॥ २ ॥

युयं तस्माद्ग्राह्यस्यो नो अधिकदिशंपाति सुकृतस्य लोकम् ॥ २ ॥

अर्थ— (ये अध्यायः उत्तमः) ये वाक्याः) जो अध्याय और उत्तम कथन देखके प्राप्त हैं उन (वाक्यान् विधाणा अस्मत् अपि विध्य) वाक्यों को तोड़कर हमसे उन वाक्यों को दूर कर। (दुष्कृत्यं दुरितं अस्मत् विष्य) दुष्टे स्वप्न और पाप हमसे दूर कर। (अथ सुकृतस्य लोकं गच्छेम) और सुकृतों को जाने ॥ १ ॥

पुरे स्वयं भीर पाप हमसे दूर कर। (अथ सुकृतस्य लोकं गच्छेम) और (यत् पुण्यमस्मात्) और (यत् भूम्यां) (यत् दशमि यत् च राज्यां वप्यसे) को पावस्तव्यम् और रामोर्व नरा जाता है और (यत् भूम्यां) को भूमिम् (यत् च पाप्म वप्यसे) शानीते नाप जाता है, (तस्मात्) उत्त वप्यसे (अथे गार्हपत्यः अग्निः) यह गार्हपत्य अग्नि (न सुकृतस्य लोकं इत् उत्त नयाति) हमें सुकृतके लोकमें से जाता है ॥ १ ॥

भो भूमिने (यत् च योऽसि भूमिने) ह्य सुष्ठुत्वं लोकेन च मानं दृष्टव्यं ।  
यत् गार्हपत्यं अग्निं ( नः सुष्ठुत्वं लोकेन च मानं दृष्टव्यं ) ह्य सुष्ठुत्वं लोकेन च मानं दृष्टव्यं ।  
भाष्यार्थ— विष्णुस्वायं, गार्हपत्यं और उत्तम स्थानपर जो पात्र है उसको दूर करनेका प्रयास कर ४ मनुष्य पात्र-  
रहित होते और उत्तम स्थान बहुत देखे । इस प्रकार वह विरक्ति होकर पुष्पलोकको प्राप्त होते ॥ १ ॥  
जो धनेश प्रकारके बप्पन हैं वे सब ईश्वरको रूपसे दूर हो जाय और हमें पुष्पलोक प्राप्त होते ॥ २ ॥



उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके । प्रेहामृतस्य यच्छतां प्रेतुं बद्धकुमोचनम् ॥ ३ ॥

वि विजिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चासि रद्धकम् ।

योग्या इव प्रच्युतो मर्षा पथाः सर्वा अनु क्षिय ॥ ४ ॥

अर्थ— ( भगवती विचृतौ नाम तारके ) नाम्य देनेवाले, पावते छुड़ानेवाले और तारण करनेवाले हो देवता ( उदगातां ) उच्यते प्राप्त हुए हैं । वे योगी ( अमृतस्य प्रयच्छतां ) अमृतका भाग मिले जिससे यह जीव ( बद्धकुमोचनं प्रेतुं ) बद्ध अवस्थामें छूटनेका प्रयत्न करे ॥ ३ ॥

( विजिहीष्व ) विशेष प्रयत्न कर, ( लोकं कृणु ) अपने लिये योग्य स्थान बना । ( योग्या प्रच्युतः मर्षा इव ) योगिने बाहर जाये बालकके समान । ( बन्धान् मुञ्चासि ) बंधनसे बन्धके कारणको भ्रमण कर । ( सर्वा पथाः अनु क्षिय ) सब मार्गमें अनुकूलतासे रह ॥ ४ ॥

भावार्थ— बंधनसे मुक्तता करनेवाली और रक्षा करनेवाली हो पक्षिणां हर्षे अमृतका भाग दें, जिससे हम प्रधानसे मुक्त होकर पूर्ण स्वतंत्र हो जाय ॥ ३ ॥

विशेष प्रयत्न कर, पुण्यप्राप्त प्राप्त कर, बंधनसे मुक्त हो, जैसा पूर्ण हुआ बालक माताके उबरते घूटकर बाहर आता है और इस जगत्में अनुकूल परिस्थितिमें बढ़ता है ॥ ४ ॥

सब प्रकारके बंधनसे मुक्त होना चाहिये और पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त करना चाहिये । इसकी सिद्धताके लिये मनुष्य पापसे दूर हो जाये । कभी पापका विचारका न करे । विचारोंके दृढ़ होनेसे स्वप्न भी उत्पन्न आने लगेंगे और कभी मृत्यु स्वप्न नहीं आयेगा । सब बंधन पापसे मुक्त होनेसे ही दूर हो सकते हैं और उस सततको उत्तम लोक प्राप्त हो सकते हैं । पुण्यसे ही बंधनसे मुक्तता करनेवाली शक्ति और आत्मरक्षा करनेकी शक्ति प्राप्त हो सकती है और इससे ही भागे भगवत्का काम भी हो सकता है और पूर्णतया बंधन दूर होकर पूर्ण स्वाधीनताका स्थान प्राप्त हो सकता है ।

इतिमिमे हे मनुष्य ! हू विशेष प्रयत्नसे उपविशान कर, पुण्यवान् बन, बंधनसे मुक्त होकर पूर्ण स्वातंत्र्यको प्राप्त कर और जगत् में अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करने आदर्शके साथ विराजमान हो ।

## बैधनसे मुक्ति

कांड ७, सूक्त ७७

( हविः — अग्निराः । देवता — मरुतः । )

सांतेपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुष्टन । अस्माक्रेती रिश्वादसः ॥ १ ॥

अर्थ— हे ( सां-तेपनाः मरुतः=मरु-उतः ) अच्छी प्रकार धनुको तपानेवाले मरुतोंके लिये तैयार धीरो । ( इदं तत् हविः जुष्टन ) इस हवि-अन्नका सेवन करो । हे ( रिश्वा-मरुतः ) धनुर्भोंका नाश करनेवाले । ( अस्माकं कृती ) हमारी रक्षा करो ॥ १ ॥

भावार्थ— धनुको तप देनेवाले और हमारे द्वारा दिये गए अन्न भागको स्वीकार करके, धनुर्भोंका नाश कर, हमारे रक्षा करें ॥ १ ॥

यो नो मर्तो मरुतो दुर्दृणायुस्तिरयिचानि वसवो जिघांसति ।

द्रुहः पाशान्प्रति मुञ्चतो सस्तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम्

॥ २ ॥

संवत्सरीणां मरुतः स्वर्का उरुध्वयाः समप्रा मातुपासाः ।

ते अस्मत्पाशान् मुञ्चन्त्वेनसः सातपना र्घत्सरा मादधिष्णवाः

॥ ३ ॥

अर्थ—हे ( वसवः मरुतः ) निष्पत्तक यत्नो ! ( यः वः मर्तः दुर्दृणायुः ) हमसे जो मनुष्य द्रुष्ट भावसे पुत्र होकर ( चित्तानि तिरः जिघांसति ) हमारे जित्नोंकी छिपकर नाश करना चाहता है । ( सः द्रुहः पाशान् प्रति-मुञ्चतो ) उसपर जोहके पास छोड़ो और ( तं तपिष्ठेन तपसा हन्तना ) उसको तपसापक तपनेसे मार डालो ॥ २ ॥

( संवत्सरीणाः सु-अर्काः ) वर्षे मरुतक प्रकाश करनेवाले ( समप्राः उरुध्वयाः ) तेनामापूहके साथ जिन परोंमें रहनेवाले, ( मातुपासाः ) बापके और ( सातपनाः मादधिष्णवः मत्सराः ) जन्मके सताप देनेवाले हूँ बडाभेवाले प्रमाण ( ते मर-उतः ) वे मरनेवाले लड़नेवाले और ( एतसः पाशान् अस्मत् प्रमुञ्चन्तु ) बापके पाशोंको हमसे पुनर्ले ॥ ३ ॥

भाषार्थ— हमसे कोई द्रुष्ट मनुष्य बहि छिपकर हमारे धर्मोंका नाश करना चाहे, तो उसको पाशोंसे बांध कर मार डालो ॥ २ ॥

सातभर रहनेवाले, तैजसी, भगवानियोंके साथ बडे परोंमें रहनेवाले, जन्मके साथ बनेवाले, मासकी और बापसे होने वचाये ॥ ३ ॥

इसमें क्षमिपदमें बताया है । क्षमिपद जन्मके साथ देनेवाला धुरधुर हो, स्वर्गकी रक्षा करे, अपनेमें परि कोई द्रुष्ट मनुष्य दिव्यता जाने, तो उसको भी दण्ड देने, लड़की विधवा बनाने और धारसे जनोंकी दूर रखे ।

## बंधमुक्तता

### कांड ७, सूक्त ७८

( ऋषि - अथर्व । देवता - अग्निः । )

वि ते मुञ्चामि रक्षुनां वि योक्त्रं वि नियोजनम् । इदं त्वमजस एष्यसे

॥ १ ॥

अस्मै श्रवणिं धारयन्तमपे युनक्ति त्वा प्रदोषा देव्येन ।

दीदिष्टाभ्यमभ्यं द्रविणेह भद्रं प्रेमं वोचो हरिर्वा देवतासु

॥ २ ॥

अर्थ—हे आने ! ( तं रक्षुनां विमुञ्चामि ) तेरी रक्षकोंसे मैं छोड़ता हूँ । तेरे ( योक्त्रं वि ) बचकों की मैं छोड़ता हूँ । ( नियोजनं वि ) योक्त्रकर बंधनेवाले तेरे बचकों की मैं छोड़ता हूँ । ( इदं त्वं भद्रकः पथि ) यहाँ तू सहित होकर रह ॥ १ ॥

हे आने ! ( अस्मै श्रवणिं धारयन्तं त्वा ) इसके सिधे यहाँ श्रवणसे धारण करनेवाले तुमको ( देव्येन प्रदोषा ) दिव्यज्ञानके साथ ( युनक्ति ) पुनर् बनाता हूँ । ( अस्मभ्यं इह द्रविणा दीदिष्टे ) हमारे सिधे यहाँ पव है । ( इमे देवतासु हापिर्वा प्रवेत्ताः ) इसका कर्षन देवताओंमें हवि सपर्यय करनेवालेके रूपमें लिया जाता है ॥ २ ॥

भाषार्थ—रक्षिता, बचकों और निष्पत्तक इव प्रकार दोनों बंधनोंसे मैं छोड़कर तुमसे मुक्त करता हूँ, इस प्रकार तू मुक्त होकर यहाँ आ ॥ १ ॥

योरना धारण कर, दिव्यज्ञानसे मुक्त हो, पव सपर्यय कर, देवताओंमें हवि अर्पण कर, इतीति तेरा पव रहेता ॥ २ ॥

### तीन बंधन

यद्यपि तीन प्रकारके होते हैं, एक मनका बधन, दूसरा जघन या चोखन याणीका और तीसरा शयन या निवृत्त देहका । इन तीनों बधनोंमें मनुष्य बन्ना है अर्थात् बन्ना हुआ है । इससे उसकी मृत्यु होती है । ये बन्ध जब छोटे जाते हैं तब वह मृत्यु होता है, तबतक उसकी बन्धकी स्थिति होती है ।

वचन छूटनेके लिये शत्रु अर्थात् पुण्यकार्य करनेका सामर्थ्य अवश्य चाहिये। इसके बिना कोई मनुष्य वचनमूल होनेका यत्न भी नहीं कर सकता। इसके पश्चात् ज्ञान चाहिये। ज्ञानके बिना वचनसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती (मोक्षे धीर्मान्)। वचन मूल होनेका उपाय जानना ही ज्ञान है। पुण्यकार्य द्वारा धन धातु प्राप्त करना और उस प्राप्त पदका ईश्वरार्पण मुक्तिसे समर्पण करना, मनुष्यको योग्य है। इसीसे मनुष्यके वचन दूर होते हैं। विशेष कर वचन धनका समर्पण अर्थात् दान, देवतासु हविर्दा) देवताओंके लिए करनेसे मनुष्य वचनसे मुक्त हो सकता है।

## कोषका शमन

कांड ६, सूक्त ४३

[श्रुति. - श्रुतिविदा ( परस्परविर्तनीकरणकाल ) । रेखा - मन्त्रमन्त्रम् । ]

अयं दुर्भो विमंन्युकः स्थाप्य चारुणाय च । मन्वोर्विमंन्युकस्यायं मन्पुत्रमन उच्यते ॥ १ ॥

अपं वो भूरिमूलः समद्रुमगतिष्ठति । दुर्भाः पृथिव्या उत्थितो मन्वुश्चर्मन उच्यते ॥ २ ॥

वि ते हनुष्पां गुरणि वि ते मुख्या नयामसि । यथागुशे न वादिपो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

अर्थ— (अयं वर्मः स्याप चारणाय च विमन्युः) यह रमं अपने लिये और मत्स्यके लिये भी कोषको हुराने-  
वाला है, (अयं मन्योः विमन्युस्तस्य) यह श्रीभीके कोषको दूर करनेवाला और (मन्युशम्रता उच्यते) कोषको  
हानत करनेवाला कहा जाता है ॥ १ ॥

(पः भय भूरिमूळः) जो यह बहुत बचकौनाता और (प्राथम्य उदितः दर्भः) भूमिती गया हुमा र्भन (समृद्ध अवतिष्ठति) समृद्धक समीप होता है वह (मन्युशमनः उच्यते) प्रेषको प्राप्त करनेवाला कहा जाता है ॥१५॥

( ते हन्त्या शरणि सि ) तेरे हनुके आधरवसे रहनेवाला भोयका बिहू हय तूर करते है, ( मुण्यां विनया-  
मलि ) तरे घुसने जो भोय है उसकी भी हय तूर करते है ( यथा मम चित्त उपायसि ) जिसते तू मेरे चित्तके मनु-  
का हो और । अथवा न भवादिप ) परबदा होकर भोयो आधरव न करे ॥ २ ॥

दस

यहाँ इस सूक्तमें हमको श्रेयको ज्ञान करनेवाला कदा है। यह शोकका विषय है। वैदिकप्रधानों रचना यह गुण नहीं लिखा है। यदि वैदिकों इसका अधिक विचार करेंगे और समुद्रतोषणर जपनेवाले हमें नामक प्राप्त हो तबकि रहने यह गुण है, या और किंतु धनरक्षितमें यह गुण है इसका विवरण करेंगे, तो अपो मनुष्योंको प्राप्त ह्यभाषो बनानेका प्रथम बात हो सकता है।

कोशीकोशी मृत ( को० मृ० ५१२ ) में 'अथ दर्म इत्योपधिक्त्' ऐसा कहा है। इससे पता लगता है कि समुद्रतीरपर मानेवाले धर्मका मूल निकलकर उसको फिर पर अपना प्रतीक धारण करने अपना रसके सेवन करनेका विधान इस सूत्रमें है। धर्म है धर्मकी जड़ोंमें पस्तिष्कको धान्न करके क्रोशको हटानेमें सहायक होनेका गुणधर्म हो। यह सब विधिपूर्वक करके देखने योग्य बात है।

# सिद्धिकी प्रार्थना

कांड ७, सूक्त ४६

( ऋषिः— अथर्व । देवता— सिनीवासी । )

सिनीवालि पृथुष्टुके या वराजामसि स्वसा । ज्वरस्व हव्यमाहुं प्रजा देभि दिदिद्धि नः ॥ १ ॥

या सुवाहुः स्वङ्गुरिः सुपूमा यहु घुरी । तस्यै विश्वस्यै हविः सिनीवास्यै जुहोतन ॥ २ ॥

या विश्वनीन्द्रमसि प्रतीचीं सहस्रस्तुकाभियन्तीं देवी ।

विष्णोः पतिं तुभ्यं राता हवीषि पतिं देवी राधसे नोदयस्व ॥ ३ ॥

अर्थ— हे ( सिनीवालि पृथु-ष्टुके ) अथर्वण और बहुतां द्वारा प्रशस्ति देओ । ( या देवानां स्वसा भसि ) जो तु देवोंकी भविनी है । हे देवि ! तू ( आहुत हव्यं जुपस्य ) हवन बिदे मातृतियोंको स्वीकार कर । और ( या प्रजा दिदिद्धि ) हमें उत्तम सन्तान दे ॥ १ ॥

( या सुवाहुः स्वङ्गुरिः ) जो उत्तम बाहुवाली और उत्तम अग्नियोंवाली, ( सुपूमा यहु घुरी ) उत्तम मगधामी और उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेमें समर्थ है, ( तस्यै विश्वस्यै सिनीवास्यै ) उस प्रजापतिज अथर्वण देवताके लिये ( हविः जुहोतन ) हवि प्रदान करो ॥ २ ॥

( या विश्वनीन्द्रमसि प्रतीचीं भसि ) जो प्रजापतिज करनेवाली तू प्रभुके सम्मुख रहती है । तथा ( सहस्र-स्तुका देवी अभियन्ती ) हजारों कथियों द्वारा प्रशस्ति तू देओ आगे बढ़ती है । हे ( विष्णोः पतिं ) शिम्बुकी पत्नी । हे देवि । ( तुभ्यं हवीषि राता ) तेरे लिये मैं हवन अर्पित करता हूँ । हमारी ( राधसे पतिं नोदयस्व ) सिद्धिकी प्राप्तिके लिये अपने पतिको प्रेरित कर ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें ' विष्णु ' अर्थात् व्यासक देवकी पत्नी अर्थात् उत्तरी पत्तिकी प्रारचना है । यह व्यासक ईश्वरकी शक्ति संतुल्य अथर्वण देवताओंमें जाकर कार्य करती है, सब जगत्का शासन इसी पत्तिके होता है । हजारों जाती जन इस शक्तिका अनुभव करते हैं, और वे इसकी विविध प्रकारसे स्तुति करते हैं । यह पति अपने पति सर्वव्यापक ईश्वरको प्रेरित करे और वह हमें सब प्रकारकी सिद्धि देवे ।

## सुद्धमाधन रथ

कांड ६, सूक्त १२५

( ऋषिः— अथर्व । देवता— वनस्पति । )

वनस्पते वीड्वद्भ्यो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः । ॥ १ ॥

गोभिः संनद्धो असि वीड्वयस्वास्याता तं जयतु जेत्यानि ॥ २ ॥

अर्थ— हे ( वनस्पते ) बुझते बने हुए रथ ! ( विड्वद्भ्यो हि भूयाः ) तू मुझ अथर्वणके पुत्र हो । तू ( अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ) हवाप निज सारण करनेवाला और उत्तम बोरोंके पुत्र है । तू गोभिः संनद्धो असि ) योके घर्मकी रस्तिबोले मुज कबकर गया हुआ है । तू ( वीड्वयस्य ) हमें मुझ कर और ( ते आस्याता जेत्यानि जयतु ) तुमवर आनेवाला और विजय प्राप्त करे ॥ १ ॥

भाषार्थ— रथ बुझकी सकलिते बनता है । यह रथ हवाप सन्धा विज है, वर्षाकी यह मुट्टी आपतिते हमें पार कराता है । यह रथ योषर्माकी रस्तीले बूड बाँध गया है । इस मुट्ट रथले हमारी विजय नि बनेह होगी ॥ १ ॥

दिवस्पृथिव्याः पथोज्ज उद्धृतं वनस्पतिभ्यः पथामृतं सहः ।

जुषामोष्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज

॥ २ ॥

इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः ।

स दुमां नो हव्यदाति जुषाणो देव रथं प्रति हव्या गृभाय

॥ ३ ॥

अर्थ— ( दिवः पृथिव्याः ओजः परि उद्धृत ) चुनोका और पुष्पीलोका बल इस रथके रूपसे प्राप्त किया है और ( वनस्पतिभ्यः सह- पथामृतं ) वृक्षोंसे यह सामर्थ्य सङ्गृहीत किया है । ( अपां भास्मान गोभिः परि आवृतं ) जलसे बने आत्माएँ वृक्षसे उत्पन्न हुए गौके चर्मेसे ढाये गए ( इन्द्रस्य वज्रं रथं ) इन्द्रके वज्रके समान मुकुट रथको ( हविषा यज ) अग्निसे युक्त कर ॥ २ ॥

हे ( देव रथ ) विश्व रथ ! तू ( इन्द्रस्य ओजः ) इन्द्रका बल है, तू ( मरुतां अनीकं ) मरुतोका सेनासमूह ( मित्रस्य गर्भो ) मित्रका गर्भ और ( वरुणस्य नाभिः ) वरुणकी नाभि है । ( सः रथे ) यह तू ( नः ) हमारा हव्यदाति जुषाणः ) हमारे इस आश्रयका सेवन करता हुआ ( हव्या प्रति गृभाय ) हवनार्थ शक्ति प्रदान कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— पुष्पी और चुनोकाका बल और वृक्षोंका सामर्थ्य इस रथमें इकट्ठा हुआ है । जलसे वृक्ष उत्पन्न होते हैं और वृक्षोंसे रथ बनता है; इसलिये यह अनीकों का आश्रय ही है, इसको योधर्मकी रक्षामेंसे बांधकर बुढ़ बनाया है । अब यह इन्द्रके वज्रके समान बुढ़ है; इस रथमें अग्निदि परार्थ भरपूर रख ॥ २ ॥

यह रथ इन्द्रका बल, मरुतोंकी सेना, मित्रका गर्भ और वरुणकी नाभि है । अपातु देवोंका सावधान रथ है । यह रथ हमारे हव्यका सेवन करे, अर्थात् इस रथके साथ रहनेवाले और हमारे अग्निसे पुष्ट और समृद्ध हों ॥ ३ ॥

पुत्रों रथ कहे महाबलका साधन है । और लोग इसपर चढ़कर युद्ध करते और विजय पाते हैं । यह आ बलकी सहायसे बनता है और गौके चर्मकी रक्षासे बांधकर मुकुट बनाया जाता है । पुष्पी पर रथ एक बड़ी भारी शक्ति है मानो, इसमें देवोंका बल भरा हुआ है । इसलिये रथको अच्छी व्यवस्थामें रखना चाहिये और रथके सब कर्मचारियोंको यथायोग्य अग्निसे पुष्ट करना चाहिये ।

## हुंदुभि

कांड ६, सूक्त १२६

• ( शक्तिः - अथर्वा । देवता - हुन्दुभिः । )

उपं यासय पृथिवीमुत धौ पुहुत्रा तें वन्वतां विष्टितं जगत् ।

स हुन्दुमे सज्जिन्त्रेण वेवैर्दूरादवीपौ अपं सेध शत्रून्

॥ १ ॥

अर्थ— हे ( हुन्दुमे ) नन्दा ! तू ( पृथिवीं उपयासय ) पृथ्वीमें ( उत धौ ) और धृतेरुमें भी जीवन उत्पन्न कर ( पुहुत्रा विष्टितं जगत् तें वन्वतां ) बहुत प्रकारसे मिश्रित स्वर्गसे स्थित जगत् तैरे आधर्यसे रहे । ( सः इन्त्रेण वेधैः सज्जः ) मैं इन्द्रके और देवोंके साथ रहनेवाला तू ( दूरात् दवीपः ) दूरसे दूर ( शत्रून् अप सेध ) शत्रुओंका नाश कर ॥ १ ॥

भावार्थ— हुन्दुनीके आश्रयसे लोगोंमें एक प्रकारका नवजातव्य उत्पन्न होता है । इसलिये दोनोंको पुत्रमें विलीन करने के लिये इस नगाहेका उपयोग करते हैं । इसमें मिश्र आश्रय है इसलिये यह शत्रुओंको दूरसे ही नाश देता है ॥ १ ॥

आ केन्द्वय बलमोर्जो न आ चा अभि एव दुरिता वार्धमानः ।

अप सेष दुन्दुभे दुन्दुनामित इन्द्रस्य मुष्टिरिति वीक्ष्यस्व

॥ २ ॥

ग्रामे जयाभीक्ष्मे जयन्तु केतुमहेंद्रुभिर्वावदीतु ।

समर्थपर्णाः पतन्तु नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु

॥ ३ ॥

अर्थ— है ( दुन्दुभे ) नयात्रे । ( आबन्ध ) जन्मेनाको बल । ( सः ओजः बलं भावाः ) हमारे अंदर शीर्ष और बल धारण करा । ( दुरिता बाधमानः अभि स्तन ) पार्श्वोंको बाधित करता हुआ बर्धना कर । दुन्दुनां इतः अपसेष ) इत सेनेवाकी शत्रुतेनाको यहविषय । तु ( इन्द्रस्य मुष्टिः अति ) इन्द्रकी मुष्टि है, तु ( वीक्ष्यस्व ) ॥ २ ॥

हे इन्द्र । ( ममै प्र जय ) इस शत्रुतेनाको पराजित कर ( हमे अभि जयन्तु ) ये भीर विजय प्राप्त करें । ( केतुमहं दुन्दुभिः वावदीतु ) सन्धेसे युद्ध नयात्रा बहुत बडा नाब करे । ( नः नरः सम्भर्पणाः संपतन्तु ) हमारे भीर योर्धेसे युद्ध होकर हारता करें और ( अस्माकं रथिनः जयन्तु ) हमारे रथी भीर जय प्राप्त करें ॥ ३ ॥

भावार्थ— दुन्दुभिका भवजलक साथ युद्धकर जन्मेना घबडा जाता है और अपने सैन्यमें बल और शीर्ष उत्पन्न होता है । अपने सैन्यके शीर्ष बुर होते हैं और छात्र भाग जाते हैं । सर्पाह यह दुन्दुभि एक शस्त्ररक्षा बल है, इसलिये यह दुन्दुभि हमें बल देते ॥ २ ॥

यह दुन्दुभि शत्रुतेनाका पराजय करे और हमारे सैन्यको विजय होवे । अपने राष्ट्रीय सन्धेके क्षण दुन्दुभि बडा बल करे । उस क्षणके साथ हमारे युद्धकार छात्ररक्षा बडाई करें । और हमारे रथी शयकी प्राप्त करें ॥ ३ ॥

युद्धके श्पायपर नयात्रेका साथ सेवामें बडा उत्साह बढाता है । इसलिये हरएक सेनाके साथ रजपेरी धर्पात बडा को दुन्दुभिर्वा रहुती है । यह एक विजय प्राप्तिका धारण है ।

## दुन्दुभिका फोफ

कांड ५, सूक्त २०

( अति - ब्रह्मा । देवताः - वनस्पतिः, दुन्दुभिः । )

उच्येयौषो दुन्दुभिः संस्वनायन्वानस्पत्यः संमृव उस्तिर्वाभिः

वाचं क्षुश्वानो वुमर्पन्त्सपत्नांस्तिह ईव ज्येष्ठाभिः ह्वस्तनीहि

॥ १ ॥

अर्थ— ( उच्येयौषा सरव-भायन् ) जन्मे सम्भवती भी बल बडावेवाकी ( वानस्पत्यः दुन्दुभिः ) वनस्पतिसे भी हुई दुन्दुभि ( उज्जिवाभिः संमृता ) योषयोके केचित । वाचं क्षुश्वानः ) घाम पारकी हुई ( सपत्नान् वुमर्पन् ) शत्रुओंको बढाती हुई और ( तिह ईव ज्येष्ठाभिः ) तिहके समान विजय पाहती हुई यह होत । ( अमिह्वस्तनीहि ) पार्श्वों पर ॥ १ ॥

४१ [ अथर्व. मा. २ मनु० शिष्ये ]

सिंह इवास्तानीद् द्रुवयो विर्वदोऽभिकन्दमृषभो वासितामिव ।

वृषा त्वं वध्रयस्ते स्रपस्ना ऐन्द्रस्ते शुभ्रो अभिमात्रिपाहः ॥ २ ॥

वृषेव यूये सहसा विदानो गृप्यन्मभि र्वं संघनाजित् ।

शुचा विध्य हृदये परेषां हित्वा आमन्त्रच्युता यन्तु श्रवः ॥ ३ ॥

संलग्नवृत्तना ऊर्ध्वमापुर्गृह्णा गृह्णानो वंदुषा वि चंस्व ।

दैवी वाचं दुन्दुभ आ गुरस्व वेधाः श्रृङ्गामुषं मरस्व वेदः ॥ ४ ॥

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाश्रुष्वती नाथिता घोषवुदा ।

नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्णामित्री मीता समरे वधानाम् ॥ ५ ॥

पूर्वो दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वंदु रोचमानः ।

अभिप्रसेनामभिजज्ञमानो पुमहृद दुन्दुभे सुनुतावत् ॥ ६ ॥

अन्तुरेमे नमसी घोषो अस्तु पृथक्के ध्वनयो यन्तु शीमम् ।

अभि क्रन्द स्तनयोऽतिवधानः श्लोककृन्मिप्रतृपय स्वर्षी ॥ ७ ॥

अर्थ— ( द्रुवयः विषयः ) मुखसे निमित और विशेष प्रकार बंधे हुई तु ( सिंह इय अस्तानीत् ) सिंहके समान परंतो है ( वासितां वृषभः अभिकन्दन् इय ) गौके सिधे जैसे बल पवता है, उसी प्रकार तू भी गरजती है । ( र्वं वृषा ) तू यत्नवान् है ( ते वधानाः वधया ) तेरे शत्रु निर्धन हुए हैं और ( ते ऐन्द्रः शुभ्रः अभि मात्रिपाहः ) ॥२॥ प्रभाववत् बल शत्रुनाशक है ॥ २ ॥

( यूये गम्यन् वृषा इय ) गौके समूहमें गौकी कायना करनेवाले सर्पके समान ( सहसा संघनाजित् ) बलसे बिजय प्राप्त करनेवाली और ( विद्वानः ) जागी हुई तु ( अभिरुचः ) पवता कर । ( परेषां हृदये शुचा विध्य ) शत्रुगौका हृदय धोकरसे मुक्त कर । ( श्रवः आमन्त्रच्युता यन्तु ) शत्रु गौकोंको छोड़कर चिड़ते पवते भाग जायें ॥ ३ ॥

हे दुन्दुभे । ( ऊर्ध्व-मायुः पृथनाः संजनयन् ) ऊँचा छाय करनेवाली, शत्रुसेनाजोंको पराजित करती हुई ( गृह्णाः गृणानः वदुषा विचक्ष्य ) ग्रहण करने योग्यको धेनेवाली तू बहुत प्रकार से । ( दैवी वाचं आगुरस्व ) दिव्य शब्द उच्चारण कर । ( वेधाः श्रृङ्गां वेदः अस्मरस्व ) विधाता होकर शत्रुके वन लाकर भर दे ॥ ४ ॥

( दुन्दुभेः प्रयतां वदन्ती ) दुन्दुभिके स्पष्ट निकलते हुए ( वाचं आश्रुष्वती घोषवुदा ) शब्द सुननेवाली और गवताये जागी हुई ( मीता नाथिता अभिमीत्री चारी ) चरी हुई पृथ्वी शत्रुकी हरी ( समरे वधानां पुत्रं ) युद्धमें मरे हुए शत्रुके पुत्रके । हस्तगृह्णायतु ) हाथ पकड़कर भाग जाये ॥ ५ ॥

हे दुन्दुभे । ( पूर्वो वाचं प्रवदासि ) सबसे पहिले तू शब्द करती है । ( भूम्याः पृष्ठे रोचमानः यद् ) भूमिके पृष्ठपर प्रकाशती हुई तू चमक कर । हे शोक । ( अभिप्रसेनां अभिजज्ञमानः ) शत्रुसेनाका नाश करती हुई तू ( पुमत् सुनुतावत् यद् ) प्रकाशित होती हुई शब्द बोस ॥ ६ ॥

( इमे नमसी अन्तरा घोषः अस्तु ) इन श्लोक और पृथ्वीके ध्वनयें तेरा घोष होवे । ( ते ध्वनयः शीमं पृथक् यन्तु ) तेरी ध्वनियों धीमे धीमे बिजगौनों फेंके । ( उत्सिपान् श्लोककृद् ) बढनेवाली और घटा करनेवाली ( मिप्रतृपय स्वर्षी ) और निग्रहितके सिधे तपत्र होती हुई ( अभिकन्द, स्तनय ) छायकर और पवता कर ॥ ७ ॥

धीमिः कृतः प्र वेदाति वाचमुर्द्धपय सत्त्वंनामायुधानि । ॥ ८ ॥  
 इन्द्रमेदी सत्त्वनो नि द्वयस्व मित्रेऽमित्रां अवे जह्नुनीहि  
 संकन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकुट्टुषा ग्रामघोषी । ॥ ९ ॥  
 धेवो वन्यानो ययुनानि विद्वान्कीर्ति बहुभ्यो वि हर द्विराजे  
 धेयःकेतो यमुजितसर्हीयान्संश्रामुजितसंश्रितो ब्रह्मपासि । ॥ १० ॥  
 अंशुनिव प्रावाधिपर्वणे अद्रिर्गन्धर्वन्दुन्दुभेऽधि नृत्य वेदः  
 शत्रूपाब्धीपादंभिमातिपाहो गवेषणः सहमान उद्रित् । ॥ ११ ॥  
 वाग्धीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचं सांप्रापजित्प्रायेणपुद्गदेह  
 अच्युतच्युतसुमवो गर्भिष्ठो मृधो जेता पुरपृतायोष्यः । ॥ १२ ॥  
 इन्द्रेण गुप्तो विदधा निचिक्वयदुह्योतनो द्विपुतां याहि शीर्षम्

मर्थ— ( धीमिः कृतः ) वाचं प्रवेदाति ) इन्द्रिके द्वारा वनागे हुई होत प्रत्य करती है । ( सत्त्वनं ) आयुधानि उर्द्धपय ) वीर्यको आयुषोंको ऊपर उठा । ( इन्द्रमेदी सत्त्वनः ) मित्रेऽमित्रां अवे जह्नुनीहि ) मित्रोंके द्वारा अनुमोदो मार डाल ॥ ८ ॥  
 और ( मित्रेः ) अमित्रान् अवे जह्नुनीहि ) मित्रोंके द्वारा अनुमोदो मार डाल ॥ ८ ॥

( संक्रन्दनः प्र-वदः ) राज्य करनेवालो और घोषणा करनेवाली, ( धृष्णुषेणः प्रवेदकुट्टु ) विजयो सेनासे युक्त, सेनासे देनेवाली, ( ययुधा ) ग्रामघोषी ) अनेक प्रकारसे प्रायसे घोषणा करनेवाली, ( धेयः वन्यान् ) कल्याण मान्य करानेवाली, ( ययुनानि विद्वान् ) सब घोषणाके कार्य जाननेवालो नृ दुम्भुषि ( द्वि-राजे ) दो राजाओंमें होनेवाले पुरुषों ( बहुभ्यः कीर्ति विहर ) बहुत कर्मोंके लिये कीर्ति प्राप्त करा ॥ ९ ॥

हे ( दुन्दुभे ) होत ! तू ( धेयःकेतो ) अथ करनेवाली, एवं भीतनेवाली, ( सहामान् ) संप्राम-जित् ) पक्षपात मुक्तोंको जीतनेवाली, ( ब्रह्मणा संश्रितः ) अस्ति ) शत्रुके द्वारा सेवार की गई है । ( अधिपवणे ) अद्रिः प्रावा अंधान् इय ) सोमरस निकालनेके समय जिस प्रकार फलर कोत्तर नाचते हैं, उसी प्रकार तू ( गव्यन् वेदः ) अभिनुत्य ) भूमि जीतनेकी इच्छा करनेवाली शत्रुके धनपर बाध ॥ १० ॥

( शत्रूपाद् नीपाद् ) शत्रुको जीतनेवाली, नित्यविजयी, ( अभिमातिपाहः गवेषणः ) वीरियोंको बधमें करनेवाली लोग करनेवाली, ( सहमानः उद्रित् ) बलवान् और उल्लेखनेवालो, तू होत ( वाग्धी मंत्रं इय ) अंते यशस्य ज्येष्ठको भीताभोमें भर देता है । ( वाचं प्रभरस्व ) उद्यो प्रकार धम्को सर्वत्र भर दे । ( संप्राप-नित्याय इह इपं उह्य वेद ) संप्राप्तकी जीतनेके लिये वहाँ अथके निष्कर्षमें योगवा कर ॥ ११ ॥

( अच्युत-च्युत् ) न मिले हुए शत्रुओंको विजयनेवाली ( स-मृदः ) वाग्धीः ) धर्तृव्युक्त, माया करनेवाली, ( मृदा-जेता ) युद्धोंको जीतनेवाली, ( पुर-पृता ययोष्यः ) मान्य बढ़नेवाली और युद्ध करनेके लिये कीर्ति, ( इन्द्रेण गुप्तः ) इन्द्र द्वारा रक्षित, ( विदधा निचिक्वय ) युद्धकर्मोंसे जाननेवाली, ( द्विपुतां इह-घोतनः ) शत्रुमार्कि हव्योंको घसरानेवाली, तू होत ( शीर्षं याहि ) शीर्ष खनकर खाई कर ॥ १२ ॥



## दुन्दुभिका धोष

कांड ५, सूक्त २१

( अथि - बह्म । वेदता - वनस्पति, दुन्दुभिः, आशिषावयः । )

विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे ।

विद्वेपं कदमशं मयममित्रेषु नि दक्षस्यैवैनान्दुन्दुमे बहि

॥ १ ॥

उद्वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च । धावन्तु विभ्यतोऽमित्राः प्रशासेनाज्यं हुते

॥ २ ॥

यानस्पत्यः संभृत उस्त्रियांभिर्यस्योऽभ्यः । प्रशासममित्रेभ्यो वृदाज्येनाभिधारितः

॥ ३ ॥

यथा सुगाः संविजन्त आश्रयाः पुरुषादधि ।

एवा त्वं दुन्दुमेऽमित्रान्मि क्रन्द प्र त्रासयार्थो चित्तानि मोहय

॥ ४ ॥

यथा वृक्षावजावयो धावन्ति यद्दु विभ्यतोः ।

एवा त्वं दुन्दुमेऽमित्रान्मि क्रन्द ॥ त्रासयार्थो चित्तानि मोहय

॥ ५ ॥

यथा ह्येनात्स्यतत्रिणः संविजन्ते अहंदि वि सिंहस्य स्तनयोर्वधा ।

एवा त्वं दुन्दुमेऽमित्रान्मि क्रन्द प्र त्रासयार्थो चित्तानि मोहय

॥ ६ ॥

मर्थ— हे ( दुन्दुभे ) वीर ! तू ( अमित्रेषु विहृदयं वैमनस्यं वद ) शत्रुभोंके हृदयकी व्याकुलता और मनकी बदलीगताकी जाहिर कर दे । ( विद्वेपं कदमशं भयं अमित्रेषु निदक्ष्यमासि ) डैव, कदमकल, हयबा और भय शत्रुभोंमें भर दे । हे दुन्दुभे ! ( एनाज्यं भयं अहि ) इनको मार दे ॥ १ ॥

( व्याज्ये हुते ) सत्रामके मुख होते ही ( अमित्राः प्रशासेन ) यद्दु वदव्यज्यो ( मनसा चक्षुषा हृदयेन च विभ्यतः ) मन, भास और हृदयके बरते हुए ( धावन्तु ) भाग जायें ॥ २ ॥

( यानस्पत्यः उस्त्रियांभिर्यस्योऽभ्यः ) वनस्पतिसे अर्वात् लकड़ीसे उत्पन्न चमड़ेकी रस्सियां बनी ( विभ्य-गो-इयः ) सब प्रकार भूमिकी रसक और ( आश्रयेन अभिधारितः ) पृथक् सीधी हुई तू ( अमित्रेभ्यः प्रशासेन वद ) शत्रुभोंके कर्तोंकी पीठमा कर ॥ ३ ॥

( यथा आश्रयाः सुगाः पुरुषात् अधि संविजन्ते ) जिस प्रकार वनके मूल मनुष्यसे बरकर पायते हैं, ( एवा त्वं अमित्रान् अभि-क्रन्द ) उसी प्रकार तू शत्रुभोंपर बर्बन कर, ( प्रशासय ) उनको बरा दे और ( अथो चित्तानि मोहय ) उनके चित्तोंकी मोहित कर ॥ ४ ॥

( यथा अजावयः वृक्षात् यद्दु विभ्यतोः धावन्ति ) जिस प्रकार जेठ बकरियां भेड़ियोंसे बरकर भाग जाती हैं, उसी प्रकार हे शत्रुभि ! तू शत्रुभोंपर बर्बन कर, उनको बरा दे और उनके चित्तोंकी मोहित ॥ ५ ॥

( यथा पतत्रिणः ह्येनात्स्यतत्रिणः ) जिस प्रकार पक्षी अपनेसे बरकर पायते हैं और ( यथा स्तनयोः सिंहस्य अहं-दि वि ) जिस प्रकार तू बर्बनवाले सिंहसे प्रसितिल करते हैं ( एवा त्वं अमित्रान् ) उसी प्रकार हे शत्रुभि ! तू शत्रुभोंपर बर्बन कर, ( प्रशासय ) उनको बरा दे, ( अथो चित्तानि ) और उनके चित्तोंकी मोहित कर ॥ ६ ॥

परमित्रान्दुदुभिना हरिणस्याजिनेन च । सर्वे देवा अतिव्रसन्ये संग्रामस्पर्धते ॥ ७ ॥

पैरिन्द्रः प्रक्रीडते पद्मपैशुपायया सह । वैरमिश्रास्रसन्तु नोऽमी ये यन्त्यनीकश्र ॥ ८ ॥

ज्याघोषा दुन्दुभयोऽभि क्रोशन्तु या दिशः । सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः ॥ ९ ॥

आदित्य चक्षुरा दत्स्व मरीचयोऽनु धावत । पत्सङ्किनीरा संजन्तु विधवे बाहुवीर्ये ॥ १० ॥

यममुप्रा मरुतः पृथिमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत धनून् ।

सोमो राजा वरुणो राजा महादेव उत मृत्युरिन्द्रः ॥ ११ ॥

पृषा देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः । अमित्राञ्चो जयन्तु स्वाहा ॥ १२ ॥

मर्थ— ( ये संग्रामस्थ हैशते ) जब युद्धके स्वामी होते हैं वे ( सर्व देवा ) सब देव ( हरिणस्य अजिने हुनुभिना च ) हरिणके समाने यने हुए नयासे हो ( अमित्रान् परं अतिव्रसन् ) शत्रुओंको बहुत डरा डरे हैं ॥ ७ ॥

( इन्द्रः यैः पद्म-घोषैः ) इन्द्र जिन पद्मघोषोंके और ( छायाया सह ) छायाके साथ ( प्रक्रीडते ) पृथ्वी कीड़ा करता है, ( तैः नः अमीः अमित्राः असन्तु ) उनके हमारे इन शत्रुओंको प्राप्त होवे ॥ ( ये अनीकशः यतिः ) जो सेनाकी पवित्रोंके साथ हमला करते हैं ॥ ८ ॥

( ज्या-घोषाः दुन्दुभयः ) पशुघोषोंके दोरोंके अन्धके साथ जोन ( याः दिशः अभिमोक्षन्तु ) जितनी दिशाएं हैं उन सबमें शान्त करें । जिससे ( अमित्राणां मनीकशः पराजिता यतीः ) शत्रुओंकी लयशः पराजित हुई हुई वेना भाग जावे ॥ ९ ॥

हे ( आदित्य ) सूर्य ! ( चक्षुः आदरस्य ) शत्रुकी दृष्टि हर ले । ( मरीचयः मनुष्यावत ) प्रकाश किए हमारे भगवान् होवें । ( पातुवीर्यं विगतं ) बाहुवीर्य कम होवेपर ( पत्-सङ्किनीः वा सङ्गन्तु ) पादोंकी बाधनेकी रीतिवा शत्रुओंके पावने बाधो जावे ॥ १० ॥

( पृथिमातरः उग्रः अद्यतः ) हे भूमिकी माता माननेवाले, गुर, गरजेके लिये सिद्ध ॥ बीरो ! ( इन्द्रेण युजा शत्रून् प्रमृणीत ) इन्द्र भवान् गुर सेनापतिके साथ एकर शत्रुओंको मार बालो । सोय, वरुण, महादेव, मृत्यु और इन ये सब शूरोंकी सहायता करनेवाले देव हैं ॥ ११ ॥

( सूर्य केतवः पृषाः देवसेनाः ) सूर्यका ध्वज लेकर चलनेवालों से दिव्य सेनाएं ( सचेतसः ) उत्तम विलसे भूत होकर ( नः अमित्रान् जयन्तु ) हमारे शत्रुओंका पराजय करें । जिनके लिये ह्वाला ( स्वा-भा-हा ) ज्ञातमत्सर्वण हो ॥ १२ ॥

### नगाडा

ये दोनों भूत नगाडेका वर्णन कर रहे हैं । यह वर्णन स्पष्ट और सहज समझने योग्य होनेसे इसका भावार्थ भी और विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

आर्यावत् भयज— बाहरसे सममें भूत चिन्ह भूत केतुका वर्णन है । यह वर्णन देखनेसे आर्योंका धन भूत चिन्ह भूत या यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

## राजाकी स्थिरता

कांड ६, सूक्त ८७

( अग्नि - अर्वा - रेखा - ध्रुवः । )

आ त्वाहर्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठार्विचाचलत् । विशस्ता सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्टमधि भक्षत् ॥ १ ॥

इहैवेधि मापं चोष्टाः पर्वत इवार्विचाचलत् । इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रं भारय ॥ २ ॥

इन्द्र एतमंदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा । तस्मै सोमो अधि प्रवदुषं च व्रक्ष्णस्पतिः ॥ ३ ॥

अर्थ— ( म्या आहर्ष ) तुलको यहाँ राजगद्दीपर जिलाता हूँ । ( अन्तः भूः ) वृ हम सबके मंदर रह । ( ध्रुवः ) अधिचाचलत् तिष्ठ ) स्थिर और अविचलित होकर यहाँ बंध । ( सर्वाः विशः त्वा वाञ्छन्तु ) सब प्रजाजन तुलको चाहें । ( राष्ट्रे त्यत् मा अधिभक्षत् ) राष्ट्र तुलसे भक्ष न हो ॥ १ ॥

( इह एव यधि ) यहीं बंध । ( मा सपर्योष्टाः ) कभी गिर मद्ध, ( पर्वतः इह अधिचाचलत् ) पर्वतके समान अविचलित और ( इन्द्रः इध ध्रुवः ) इन्द्रके समान स्थिर होकर ( इह तिष्ठ ) यहाँ बंध और ( राष्ट्रे उ धारय ) राष्ट्रका शासन कर ॥ २ ॥

( इन्द्रः ध्रुवेण हविषा ) इन्द्र स्थिर समर्पणसे ( एतं ध्रुवं अंदीधरत् ) इन्द्रको स्थिररूपसे धारण करता है । ( तस्मै सोमः ) उसको सोमने और ( अयं च व्रक्ष्णस्पतिः ) इस ज्ञानपतिने ( अधिप्रवत् ) उपदेश दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे राजन् । तुलको हम सब कीर्णसे ध्रुवकर इस राजगद्दीपर बिलया है, अब वृ इस राजसभामें ला और यहाँका कार्य स्थिर होकर कर : चंचलता छोड़ दे । सब विज्ञाओंमें रहनेवाले तेरे प्रशासन विषयमें संशय प्रकट करें । तुलसे इस राष्ट्रकी कभी भक्षणनित न होवे ॥ १ ॥

.. इस राष्ट्रपर स्थिर रह, गृह्णित मत गिर । स्थिर होकर यहाँका कार्य कर । अपने इषामसे परम्पुत न हो और इस राष्ट्रका उद्धार कर ॥ २ ॥

इन्द्रने भी आत्मसमर्पणसे स्थिर राज्यको प्राप्त किया था और उसकी सारी संप्रणालपतिने उत्तम उपदेश दिया था, इस प्रकार तुम्ही आत्मसमर्पणसे इस राज्यका शासन कर और यहाँके सब जन जिस प्रकार सकात् हैं, उस प्रकार इस राष्ट्रका शासन कर ॥ ३ ॥

## राजाकी स्थिरता

राजा राजगद्दीपर स्थिर किस रीतिसे हो सकता है इस अक्षर उपदेश सबो उत्तमतासे इस सूक्तमें दिया है ।

( १ ) राजाका सब प्रजाजनों द्वारा प्रणय होना चाहिये, ( २ ) राजाको इस प्रकारका राष्ट्रशासन करना चाहिये कि, जिससे सब लोग प्रसन्न हों और उपद्रविके प्राप्त करें, ( ३ ) राजामें चंचलवृत्ति नहीं होनी चाहिये, ( ४ ) प्रजाके मनकी आकृति करनेवाला राजा हो, ( ५ ) उसके राष्ट्रशासनसे राष्ट्रको अवनति न हो, ( ६ ) राजा राष्ट्रके विज्ञानोंकी संपत्तिके राष्ट्रशासन भलावे । इस प्रकार राजा व्यवहार करेता तो वह राजगद्दीपर स्थिर रह सकता है, अन्यथा परम्पुत होगा । इस उपदेशसे पता लग सकता है कि कौनसे दुर्बुध्द रहनेसे राजा राष्ट्रसे भ्रष्ट होता है, देखिये—

( १ ) प्रजाकी अनुमतिके बिना जो राजगद्दीपर बैठता है, ( २ ) जो प्रजाकी प्रसन्नता नहीं प्राप्त करता, ( ३ ) जो चंचल वृत्तिका होता है, ( ४ ) जिसका महित प्रसा चाहता है, ( ५ ) जिससे राष्ट्रशासनसे राष्ट्रकी अवनति होती है । ( ६ ) जो राष्ट्रके विज्ञानोंकी संपत्तिके बिना राष्ट्रशासन चलसता है । इस प्रकारका जो राजा होता है वह राज्यसे गिरता है ।

इस वृक्षके वनमये पत्ता लगा सकता है ॥ वनम राजा मानता है और वनम कीयता है; किन्तुके राजगद्दीपर रक्ता चाहिये और किसको नहीं। राजाको भी पता लग जायगा कि किस रीतिसे अपनी स्थिरता होगी और किन कारण राजगद्दी गिरावट होगी। राजा और प्रजा इन दोनोंको ॥ वृक्षसे उत्तम मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

## शूर कीर

कांड ७, सुक्त ३२

( श्रुतिः - मरीचिः काश्यपः । वेत्ता - अग्निः । )

अथश्रुतिः सत्यंविद्वद्भूषणो रथीव पुत्रीनंजयत्पुरोहितः ।

मार्गं पृथिव्यां निर्दिष्टो दक्षिणतदक्षस्पदं कृणुतां ये पुतन्यवः ॥ १ ॥

वार्थ— ( अर्थ अग्निः ) यह अग्निके सवाल तेजस्यो पुष्प ( सत्यतिः वृद्धसुष्मः ) सन्नर्गोंका रासक, महावत्त्वान्, ( पुत-हितः ) सन्नका मरणी ( रथी ॥ पृथिव्यां अजयत् ) गद्दीरथी जैसे ध्वज सँनिर्गोंकी नीतता है, ऐसे ही नीतता है। ( पृथि-यां मार्गं निर्दिष्टः ) भूमिपर केन्द्रमें रखा है, ( दक्षिणतत् ) वह प्रकाशता है, वह ( ये पुतन्यवः अक्ष-स्पदं कृणुतां ) जो तेरा ठेकर बड़ाई करते हैं उनके पाँवके नीचे करे ॥ १ ॥

भावार्थ— यह तेजस्यो पुष्प सन्नर्गोंका रासक करे, वनवान् बने, जनोंका मरणी बने, गद्दीरथीका परामश करे, महावत् होवे, पृथ्वीके केन्द्र स्थानपर आसठ होवे, तेजसे प्रकाशित होवे और वंश केकर बड़ाई करे। राजाओंको पाँवके नीचे बना देवे ॥ १ ॥

मनुष्य इस प्रकार अपने मुख कर्ण प्रकाशित करे और अपने पाँवके केन्द्रमें गिरावलाय रहे।

## वीर पुरुष

कांड ३, सुक्त ६

( श्रुति - जम्बवीर्यं पुष्पः । वेत्ता - वायव्यतिः, अश्वत्थः । )

पुमान्पुंसः परित्जातोऽश्वत्थः सद्गिरादधि । स हन्तुं श्रुर्वन्मायकान्यन्तुहं श्रेष्ठि ये च माम् ॥ १ ॥

वार्थ— वंश ( खदिरात् अथि अश्वत्थः ) वंशके वृक्षके ऊपर अश्वत्थ वृक्ष होता है इसी प्रकार ( पुंसः पुमान् परित्जातः ) वीर पुत्रसे वीर पुष्प उत्पन्न होता है। ( सः मामकान् शत्रून् हन्तुः ) यह मेरे शत्रुओंका वध करे ( यान् अहं श्रेष्ठि, ये च माम् ) किन्तु मैं श्रेष्ठ करता हूँ और जो मुझसे श्रेष्ठ करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— वंशके वृक्षपर अश्वत्थ वृक्ष उगता है और वंशोपर बसता है, इसी प्रकार वीर वृक्षसे वीर उत्पन्न उत्पन्न होती है और वीरोंके साथी बसती है। ऐसे वीर हमारे वीरोंको हरा देंगे ॥ १ ॥

तान्शतृ निः शृणीहि शत्रून्वैवाधदोर्धतः । इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥  
 यथाशतृ निरभेनोऽन्तर्मेहृत्पुर्णिवे । एवा तान्तर्वाभिर्मैरुग्ध यानुहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ३ ॥  
 यः सहमानधरसि सासुदान इव श्रुमः । तेनाशतृ त्वया वयं सपत्नान्सहिपीमहि ॥ ४ ॥  
 सिनात्वेनाश्रिप्तिर्मृतयोः पाशैर्योक्यैः । अशतृ शत्रून्मासकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ५ ॥  
 यथाशतृ वानस्पत्यानारोहन्कृण्वेऽधरान् । एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विध्वंसिमिन्द्र सहस्व च ॥ ६ ॥  
 तेऽधराश्चः प्र पुंवन्तां छिन्ना नोरिव वन्धनात् । न वैवाधप्रणुचानां पुनरस्ति निर्वर्तनम् ॥ ७ ॥  
 प्रैणाश्रुदे मनसा प्र चित्तेनोत प्रहणा । प्रैणान्वक्षस्व शाखपाशतृत्थस्य जुदामहे ॥ ८ ॥

अर्थ— हे ( अश्व-रथ ) अश्वके समान बलिष्ठ वीर ! ( तन् वैवाधदोर्धतः शत्रून् ) विविध प्रकारकी बाधावै उत्पन्न करनेवाले दोहो शत्रुओंको तु ( निर शृणीहि ) मार डाल और ( वृत्रघ्ना इन्द्रेण मित्रेण वरुणेन च मेदी ) बुधका नास करनेवाले इन्द्र, मित्र और वरुणके मित्रता कर ॥ २ ॥

हे अश्वत्थ ! ( यथा सहमानोऽन्तर्मेहृत्पुर्णिवे ) जैसे बड़े समुद्रमें तू भेदन करता है, ( एव ) वही प्रकार ( यानुहं द्वेष्मि ये च माम् ) जिसके मैं द्वेष करता हूँ और जो मेरा द्वेष करते हैं ( तान् सपत्नान् निर्महृत्पुर्णिवे ) उन सबको छिन्न भिन्न कर ॥ ३ ॥

हे अश्वत्थ ! ( याः सहमानाः ) जो तू शत्रुको बधनेवाला ( श्रुमः इव सासुदानः ) वैसे समान पतवान् होकर ( वरसि ) विचरता है, ( तेन यथा वयं सपत्नान् सहिपीमहि ) उस तेरे साथ हम शत्रुओंको पराजित करें ॥ ४ ॥

हे अश्वत्थ ! ( यानुहं द्वेष्मिः ) जिसके मैं द्वेष करता हूँ और जो मुझसे द्वेष करते हैं ( एवान् मामकान् निर्महृत्पुर्णिवे ) उन सबको पाशोंके पाशोंः शत्रून् सिनात्तु ) इन में उन सबको आपसि बंधके न बधनेवाले पाशोंसे बांध दें ॥ ५ ॥

हे अश्वत्थ ! ( यथा आरोहन् वानस्पत्यान् अधरान् कृण्वे ) जैसे तू ऊपर रहता हुआ अन्य शत्रुओंको नीचे करता है, ( एवा ) इसी प्रकार ( मे शत्रोर्मूर्धानं विध्वंसिमिन्द्र ) मेरे शत्रुओंके सिरको सब ओरसे तोड़ दे और ( सहस्व च ) वरुणके भोत ॥ ६ ॥

( वानधनात् छिन्ना नोरिव ) कबलते छूटे हुई नौकाके समान ( ते वानधराश्चः प्रणुचतां ) वे शत्रुगणिते भागसे चले चले जायें ( वैवाधप्रणुचानां पुनः निर्वर्तनं न अस्ति ) विशेष बाधा करनेवालोंका पुनः मोटना नहीं होता ॥ ७ ॥

( एवान् मनसा प्रलुहे ) इन शत्रुओंकी मर्त्तसे मैं हतला हूँ । ( चित्तेन उत प्रहणा प्र ) मैं धितसे और शानसे हतला हूँ । ( अश्वत्थस्य वृक्षस्य शाखया ) अश्वत्थ वृक्षकी शाखासे ( एवान् जुदामहे ) इनको हल हटा देते हूँ ॥ ८ ॥

भावार्थ— हे वीर ! तू शत्रुनाश करनेवाले वीरोंके साथ मिलकर विशेष बाधा करनेवाले शत्रुओंको मार डाल ॥ १ ॥  
 हे वीर ! जिस प्रकार नौकासे लोग समुद्रको पार कर जाते हैं, उसी प्रकार तू उन सब शत्रुओंका भेदन करके पार हो ॥ ३ ॥

हे बलवान् ! जो तू बलिष्ठ होकर शत्रुको बधते हुए सर्वत्र संधार करता है, उस तेरी सहस्यतासे हम अपने सब शत्रुओंको पराजित कर सकते हैं ॥ ४ ॥

हे शक्तिमान् ! मेरे वंशी जापसमयके पाशोंसे बांधे जावे अर्थात् वे आपसमें पड़े ॥ ५ ॥  
 जिस प्रकार पीपलका वृक्ष अन्य वृक्षोंपर उल्ला है और उनको नीचे बधता है उसी प्रकार वीर मैं शत्रुओंको नीचे दबा ॥ और उनके सिर तोड़ दें ॥ ६ ॥

विशेष बाधा करनेवाले शत्रु शत्रुगणिते नौकाकी ओर चले जायें । ऐसे वृक्षजाल गिरकर वे फिर कभी न उठें ॥ ७ ॥  
 मनसे, धितसे और अपने शानसे मैं शत्रुओंको हल करता हूँ ॥ ८ ॥

**बौर पुरुष**

### असत्तथ्यकी अन्योक्ति

यह ज्ञात अवस्थाको अभ्योक्ति है। अभ्योक्ति अतःकार  
प्राप्त चाहते ही थे। एकत्र प्रत्यक्ष उत्पत्ति करने के लिये  
ही नियमों के लिये नाम अभ्योक्ति है। इसी प्रकार यहाँ  
अवस्था प्राप्त करने के लिये हुए धीरे धीरे प्रत्यक्ष  
है। इसलिये यह अवस्था अभ्योक्ति है।

'अभ्यस्त' शब्दके बहुत अर्थ हैं— ( १ ) पीसना कुच, ( २ ) [ अभ्य-स्त ] अर्थके समान चलवाना चक्कर रहने-पास होकर, ( ३ ) [ अभ्य-स्त ] जो काल रहता होता निरन्तरपूर्वक नहीं कहा जा सकता, नवरत्न; ( ४ ) धूर्त, ( ५ ) अतिवनी नक्षत्र इत्यादि अनेक अर्थ इस शब्दके हैं; यहाँ पहले दो अर्थलिखे हैं ।

अवसर भर्मा पोपल वृक्ष तुलने वृक्षोंपर उगा हुआ  
 दिखाई देता है, ' यथा अभ्यथ यानस्पतान् आरोह्य  
 भवदान् कुरुते । ( म० ६ ) ' ॥ इत्यपर काव्य दृष्टिसे  
 यह लक्षण ही सकता है ॥ यह अवसर वृक्ष बड़ा भारी  
 और है जो अन्य वृक्षोंकी अपने पाँके नीचे दब जाता है और  
 अन्य वृक्षोंके तिरपर अपना पाँव रख कर खड़ा हो जाता  
 है । अित प्रकार और कुछ वृक्षोंके तिरकी अपने पाँके नीचे  
 दबता है, उर्दी प्रकार भालो पीपलका यह कृत्य है । इसलिये  
 अवसरवृक्षकी अर्थोक्तिसे इस, वृक्षमें दूर पुत्रका वर्णन  
 किया है ।

### आन्तरिक संस्कार

इस दृष्टिकोण प्रथम चरणों ही कहा है कि 'युसुफ़: युसुफ़न् परिजातः', बीरसे बीर उत्पन्न जन्म लेता है, बीर-कुलमें बीर उत्पन्न होते हैं। इसका यह तामसर्ग प्रहो है कि कम कुलमें बीर उत्पन्न नहीं हो सकते, अतः यहाँ बीर उत्पन्न जन्म लेनेके योग्य मायुपक कहा रहता है यही रियाया है। बचपनसे बीरताकी शर्त अथवा कर्मके कारण बीरके उत्पन्नका बीरतासे युक्त होना अत्यन्त स्वाभाविक है, यही यहाँ कर्मका तात्पर्य है।

यह बीर भय प्रकाशने समर्थोंको हटा देने, यही लक्ष्य मर्त्यों कहा है और मर्त्योंका यह आकाश सरल होनेसे इसका अधिक सुन्दरीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

### शुक्रका लक्षण

इस सूक्तमें 'वै-वाय' (विशेष वाया करना) यहाँ एक वैरी श्रेयोंका मन्त्रण कहा है (मं २, ७)। वैयतिक, सामाजिक, धार्मिक, राजकीय आदि मन्त्रेक प्रकारके शत्रु हो सकते हैं और इन क्षेत्रोंमें ये शत्रु विशेष प्रकारको वाया भी कर सकते हैं। ये शत्रु शत्रु बुर करने चाहिये और जनशत्रुका मुंह बंदना चाहिये। यह इस सूक्तके उपदेशका सार है। शत्रुको बुर करनेका उपाय इस प्रकार करना चाहिये—

મનસા, ચિસેન રત વાલ્યા પમાનુ મ મુકે ।

(ਸਭ ਦੇ)

‘मन, चित्त और ज्ञानसे शत्रुओंको दूर करनेके उपाय सोचने चाहिये’ और उक्त उपायोंका प्रयोग करना चाहिये। सबसे शत्रुनाश करनेका सबसे सरल उपाय है, जिससे इसी उपायसे निवृत्त करना चाहिये और अपना ज्ञान बहाकर उसे ज्ञानसे ऐसी योजनाएं करनी चाहिये कि जिससे शत्रु भी प्रती नष्ट हो जायें। तात्पर्य यह कि क्षणिक प्रकाशकी मुक्ति करने जल्दी ही जाना चाहिये।

## गिरावटका मार्ग

जो विज्ञेय वाधा करते हैं, जो ज्ञानतापी सताते हैं, जो उपजाने होते हैं वे स्वकर्मों ही गिरते हैं। उनके घरे अपने कारण वे स्वयं अधोपतिष्ठे मार्गमें गिरते रहते हैं, इस विषयमें उत्तम मन्त्रक कथन हरएक मनुष्यके लिये भवत करने योग्य है—

यन्मत्तात् सिद्धा नौ। इयं ते संधराक्षः प्र ह्यन्ताम्।  
यैवाधमण्डितां पुनः नियतं नास्ति ॥ (म ७)

‘बचने के लोभ के बने छुटते हैं और उस प्रयत्न में यही जाति है, जहाँ प्रकृति में जनता को शिरोधार्य देने वाले वृक्षों की यथोचितता के लोभ के और गिरते जाते हैं। उनके उल्टे को कोई आशा नहीं है। जो मृत्यु प्रयत्न को विरोध बाधा करते हैं और उस कारण पतित होते जाते हैं, उनके ऊपर उल्टे को कोई आशा नहीं है।’

इस मामले पर क्लर्कों को सावधान किया है कि वे अपने धैर्यपूर्ण व्यवहार करें और सोचें कि अपनी भोरसे तो क्लर्कों के कष्ट बढ़ेंगे ही हैं क्योंकि जो दूसरों को कष्ट

देते हैं उनकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको कष्ट देगा, एक जाति दूसरी जातिको कष्ट देगी, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको सतावेगा, तो यह सतानेवाले अन्य रीतिसे विरते जाते हैं और उनके उठनेकी कोई आशा नहीं होती। जो राष्ट्र दूसरे देशोंको परतंत्रतामें रखते हैं वे इसी प्रकार विरते जाते हैं। साम्राज्यवादके कारण जो इस प्रकार गिरावट होती जाती है। यदि किसीको बचाकर एक स्थानपर रखना हो तो जैसे बच्चे हुएको थोड़ा दबकर रहना पड़ता है, उसी प्रकार बचानेवालेको भी बर्ताना पड़ना पड़ता है। इसी प्रकार अन्य जातें पाठक जान सकते हैं। तत्पक्ष यह है कि कोई भी जाति, जो दूसरोंपर अत्याचार करती है, स्वयं अयोग्यताके मार्गसे विरती जाती है और अन्ततः यह अपना अत्याचार बंद नहीं करता, तब तक

जसके उठनेका कोई मार्ग नहीं होता है। यह मानकर कोई किसी दूसरेपर कभी अत्याचार न करे। दूसरेपर अत्याचार न करनेसे ही उन्नति का मार्ग खुला रह सकता है।

### विजयकी तैयारी

इस युक्तमें 'सहमान, सासहान' ( मं० ४ ) वे दो शब्द हैं, अन्य स्थानोंमें 'सहमान, असह' ये शब्द हैं, जो विजयकी तैयारीके सूचक हैं—

१ सहमान— शत्रुके हमले होनेपर भी जो अपना स्थान नहीं छोड़ता।

२ असह, सासहान - इसके हमले शत्रुपर होनेपर शत्रु इसके संयुक्त ठहर नहीं सकता।

विजय प्राप्त करना हो तो अपनी तैयारी ऐसी करनी चाहिये। सभी विजय होदी।

## मातृभूमि और स्वराज्यशासन

### सु मा पि त

( अथर्व. १२।१ )

१. सत्यं पृथक् कृतं उग्रं वीक्ष्य तपो ब्रह्म यजः  
पृथिवीं धारयन्ति ( मं. १ )— कल्प, बृहज्जल, सरस्वती,  
छत्रा, वज्रता, तप, कष्ट मह्य करनेकी दक्षिण, ज्ञान और  
यज्ञ ये गुण मातृभूमिकी धारण करते हैं ( सबकोका सारकार  
करना, बराबर संगठन करना और जिन्हेंको जान देना  
यज्ञ है ) ।

२. सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी उदित्योऽं पृथिवी  
॥ कृणोतु ( १ )— वह मातृभूमि हमारे भूतकालकी रक्षा  
करनेवाली थी, उसी प्रकार वह हमारे भविष्यकालकी रक्षा  
करनेवाली भी है और सब परिस्थितियोंमें हमें वह सुरक्षित  
रखनेवाली है । वह हमें विस्तृत कार्यक्षेत्र प्रदान करे ।

३. असंवाचं पथ्यतो मानवानो यस्या उग्रतः प्रवतः  
सर्गं यदु ( २ )— हमारी मातृभूमिमें रहनेवालोंमें जंच-  
बीचकी अलमलताके साथ ही समता भी बहुत है ।

४. पृथिवी नः प्रथतां राध्वतां नः ( ३ )— यह  
मातृभूमि हमारा यज्ञ सब जगह फैलावे ।

५. यस्यां अग्नः कृष्टयः संवभूतुः ( ३-४ )— इस मातृ-  
भूमिमें किसान आरवकी सह्यमता एवं संवहनते बहुतसा  
भक्ष वेष्टा करें ।

६. सा नो भूमिः पूर्वपथे दधातु ( ३ )— वह हमारी  
मातृभूमि हमें काने पीनेकी बहुतसी सामग्री देवे ।

७. सा नो भूमिः गोप्त्वप्ने दधातु ( ४ )— वह  
हमारी मातृभूमि हमें बाप और माँ देने दे ।

८. यस्यां पूर्वं पूर्वजनाः विचक्रिरे ( ५ )— जित  
मातृभूमिमें हमारे पूर्वजोंने विजय पराजय किया ।

९. यस्यां देवा असुरानभ्यर्षतयन् ( ५ )— जित यज्ञ-  
भूमिमें देवोंने असुरोंकी पराजय करके उन्हें जगा दिया ।

१०. गङ्गाभ्यानां ययसश्च विष्ठा भगो वक्षे।  
पृथिवीं नो दधातु ( ५ )— हमारी मातृभूमि गङ्गा योज  
और यमुनानदियोंके रहनेके लिये भी स्थान देती है, वह हमें  
भी जाग्य और तेज देने दे ।

११. विश्वंमरा वसुधांती प्रतिष्ठा विरप्यवक्ष्य  
जगतो निवशनी व्रदिणे नो दधातु ( ६ )— सबका  
भरणपोषण करनेवाली, इनके ज्ञानोंको अपने अन्दर समाकर  
रखनेवाली, सोनेके कानोंवाली, धराचरकी आधार देनेवाली  
यह मातृभूमि हमें भरपूर धन दे ।

१२. यां रक्षन्त्यस्वप्ना विभ्वदानीं देवा भूमि  
पृथिवीमग्रमादं, सा नो मधुमिदं दुर्हा, अथो उक्षतु  
वर्चसा ( ६ )— धातु न करनेवाले देव प्रमाद न करते  
हुए हमारी मातृभूमिकी रक्षा करते हैं । वह मिय मधुररस  
देकर हमें तेजसे युक्त करे ।

१३. यां मायाभिरभ्यचरन् भनीपिणः ( ८ )— कानी  
समुच्च अग्री कवितयति मातृभूमिकी सेवा करते हैं ।

१४. सा नो भूमिः शिविं वलं राष्ट्रे दधातुत्तमे  
( ८ )— वह हमारी मातृभूमि हमारे राज्यमें तेज और दान  
स्थापित करे ।

१५. यस्यां आया परिचराः समानीरहोरात्रे  
अग्रमादं सरन्ति ( ९ )— मातृभूमिके सेवक रात प्रजाहके  
समय दिन रात अग्रज करते ॥ सोमोंकी सेवा करते हैं ।

१६. सा नो भूमिः भूरेषाण पयो दुहामथो उक्षतु  
वर्चसा ( ९ )— वह हमारी मातृभूमि हमें अनेक पारंगति  
॥ देकर हमें तेज युक्त करे ।

१७. याम्रजिनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे,  
इन्द्रो यां चक आत्मनेऽनमिषां शचीपतिः, सा नो  
भूमिर्विजृजतां मत्ता पुत्राय मे पयः ( १० )— अग्निनी



देवीने जिसे माया, विष्णुने जिस पर पराक्रम किया, तबित-  
गालो इन्द्रने जिसे शत्रुहृत किया, यह हमारी मातृभूमि  
अपने पुत्रों ( हम ) को दूध देवे ।

१८. गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यां ते पृथिवि  
स्योनमस्तु ( ११ )- हे मातृभूमि ! तेरे पर्वत, हिमशिखर  
और जंगल हमें दूध देनेवाली हों ।

१९. अजीतोद्भूतो अक्षतोऽभ्यर्ष्टां पृथिवीमहम्  
( ११ )- अविजित, न मरनेयोग्य, कणाक्षिते रहित मैं इस  
पृथ्वीका अभ्यर्ष्ट होकर रहूँ ।

२०. यास्त ऊर्जस्तम्बः संचक्षुः । तासु नो धेहि,  
अग्नि नः पवदन् ( १२ )- युगलरजिब पीरोंमें कण किया  
है, जगमें हमें स्थापित कर और हमारी रक्षा कर ।

२१. माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ( १२ )- यह  
भूमि मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ ।

२२. सा नो भूमिर्घर्षद् घर्षमात्रा ( १३ )- यह भूमि  
स्वयं भी बड़ी हुई हमारा सघर्षण करे ।

२३. यो नो ज्ञेयस् पृथिवि, यः कृतम्वस्तु, योऽभिवा-  
सान्ममसा, यो घघेन, तं नो भूमे रण्यय पूर्वहावरे  
( १४ )- हे मातृभूमि ! जो हमसे छेप करते हैं, जो सेवा  
करकर हम पर हमला करते हैं, जो मममें हमें बाध बनानेकी  
इच्छा करते हैं, जो घघ करते हमारा नाश करना चाहते  
हैं, हे अज्ञेय कार्य करनेवाली हमारी मातृभूमि ! तू उनका  
नाश कर ।

२४. ध्यज्जातास्तस्यपि शरन्ति मर्त्यास्त्यं विमर्षिं  
क्षिपदस्त्यं चतुष्पदः ( १५ )- कुलवर कण्डे हुए मनुष्य  
तेरी पीछे पर सवार करते हैं । तू ही गोपधों और जीवाधों  
को पारण करके इनका भरण पोषण करती है ।

२५. तमेवे पृथिवि पञ्च मानवा येष्यो ज्योतिरमृतं  
मर्त्येभ्यः उदन्त्युर्यो रदिमभिरातनोति ( १५ )- ये पाँच  
प्रकारके मनुष्य तेरे ही हैं, जिनके लिए पृथ्वी उदय होकर  
अपनी किरणोंसे श्वेत और अमृत देता है ।

२६. ता नः प्रजाः सं दुहतां समग्रा नान्तो मधु  
पृथिवि धेहि मह्यम् ( १६ )- हे हमारी मातृभूमि ! यह  
हमारी प्रजा एकत्र होकर आपसमें पीछे छेप बोले और  
ममसे भी पीछे छेप बोले ।

२७. पृथिवीं धर्मणा धृतां शिवां स्योनामनुचरेय  
विश्वहा ( १६ )- धर्मके द्वारा पारण की गई इस मछनुभूमि  
की सेवा हम हमेशा करते रहें ।

२८. महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादं ( १८ )- महान् इन्द्र  
प्रभाव रहित होकर तेरी रक्षा करता है ।

२९. सा नो भूमे प्रयेचय ( १८ )- हे मातृभूमि ! तू  
हमें तेजस्वी कर ।

३०. मा नो क्षिप्रत कथम् ( १८, २३, २५ )- हमसे  
कोई भी छेप न करे ।

३१. पृथिव्यास्तितः त्विपीमन्तं संशितं मा कृणोतु  
( २१ )- पृथ्वीपर जो अग्नि है, यह मुझे तेजस्वी और प्रतिष्ठ  
करे । ( असित-ह्यः ) = जगते मार्गसे जानेवाली अग्नि ।

३२. भूम्यां मनुष्याः जीवन्ति स्वधयाघनेन मर्त्याः  
( २२ )- पृथ्वीपर मनुष्य पारणगति बढ़ानेवाले, जगते  
जीवित रहते हैं ।

३३. भूम्यां देवेभ्यो वृषति यज्ञं हव्यं अरंघतम्  
( २२ )- मातृभूमिपर देवोंके लिए अतृप्त हव्यतामसीति  
यज्ञ करता है ।

३४. सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु, जरदधि मा  
पृथिवी कृणोतु ( २२ )- यह हमारी मातृभूमि हमें प्राण  
और आयु देवे और बुढ़ावस्थातक हमें रहने योग्य बनावे ।

३५. तेन मां सुरभि कृणु ( २३-२४ )- उससे मुझे  
सुखित कर ।

३६. तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः  
( २४ )- अपने अमर सोनेकी पारण करनेवाली मातृभूमि-  
को मैं नमस्कार करता हूँ ।

३७. पृथिवीं विश्वधावसं धृतामकृता वदामसि  
( २७ )- सबको पारण करदेवाली मातृभूमिके विश्वधेय हम  
हमेशा कण्डे पश्य ही सोलें ।

३८. मा व्यथिष्यहि भूम्याम् ( २८ )- मातृभूमिको  
हम दुःख न दें ।

३९. त्वाग्नि मि पीरेम भूमे ( २९ )- हे मातृभूमि !  
तू तेरे आगवसे रहें ।

४०. युद्धाः नः आपः तम्ये शरन्तु ( ३० )- हमारे  
शरीरकी युद्धसे किम् साक बातो बहता रहे ।

४१. यो नः सेतुरप्रिये सं निदग्माः ( ३० )- जो हमें  
कष्ट देता है, उन्हें यह मातृभूमि दुःख देती है ।

४२. पवित्रेण पृथिवी मोत्पुनामि ( ३० )- हे मातृ-  
भूमि ! पवित्रसे मे अनेकों पवित्र करता हूँ ।

४३. या प्रदिशाः स्योनास्ता मद्यां जग्ते भवन्तु

( ३१ )-सब विद्यायें सब जगह सभार करनेवाले मेरा कल्याण करनेवाली हों ।

४३. ना निपतं भुवने शिक्षियाणः ( ३१ )-बहा रहते हैं, वहाँ हमारा पतन न हो ।

४४. स्वरित मूमे नो भवः ( ३२ )-हे मातृभूमि ! हमारे सिद्ध दुःकल्याण करनेवाली हो ।

४५. मां विदन् परिपन्थिनः ( ३२ )-शत्रु मुझे न जान सकें ।

४६. वरीयः पादया धधम् ( ३२ )-हमारे श्रेष्ठ कीर हमारे मनुजोंका हृदय क.नेके लिये जावे ।

४८. मे चक्षुः ना मेष्ट उत्तरामुत्तरं समाम् ( ३३ )-मेरे नेत्र बड़ाबसपाने की प्रकाश देते रहें ।

४९. अतपस्ते विहिता हायवीरहोरावे पृथिवि नो दुहताम् ( ३५ )-“हे मातृभूमि ! तुम पर होनेवाले सब शत्रु और दिन रात मेरे सिद्ध दुःकल्याण करनेवाली हो ।

५०. यस्यां पूर्वं भूतकृतं जपयो गा उदानुशुः सप्त सत्रेण वेधसो यक्षेन तपसा सह ( ३५ )-जिस हमारी भूमिमें प्राचीन समयमें अमृत कार्य करनेवाले ऋषि, मुनि, तप, यज्ञादि सत्रमें स्तुति पाते थे ।

५१. सा नो भूमिरादिशतु यद्भनं कामयामहे ( ४० )-वह मातृभूमि हमें यथेष्ट पन देवे ।

५२. यस्यां यादगति नृत्यन्ति भूम्यां ( अर्याः ) ( ४१ )-जिस मातृभूमिमें मनुष्य आनन्दते पाते और पाते हैं ।

५३. गुणवत्ते यस्यां आकाशो यस्यां वदति दुर्बुभि ( ४१ )-जिस मातृभूमिमें सिद्ध कीर पुण्य युद्ध करते हैं और युद्धके समय नगाड़ेकी आवाज मूकती है ।

५४. सा नो भूमिः प्रशुद्धतां सपत्नान्, असपत्नान् मा पृथिवी कुजोतु ( ४१ )-वह हमारी मातृभूमि शत्रु-बलोंको दूर करके मुझे शत्रुहीन करे ।

५५. यस्यामन्नं ग्रहीद्वयौ यस्यामिमाः पञ्च कुर्याः ( ४२ )-जिस मातृभूमिमें खावन और जो उत्पन्न होते हैं और पाच प्रकारके लोग जिसकी पीछपर रहते हैं ।

५६. यस्याः पुरो देवकृतः क्षेत्रे यस्या विजुयते ( ४३ )-जिस मातृभूमिमें देवोंके द्वारा कृषिमें गुणवत्तर हैं और जिस क्षेत्रमें कीर पुण्य विशेष पराक्रम करते हैं ।

५७. प्रजापतिः पृथिवीं विश्वयमो आशामाशान्

रथ्यां न कुजोतु ( ४३ )-प्रजापति सबको अपने गर्भमें धारण करनेवाली इस हमारी मातृभूमिमें प्रत्येक दिशाओंमें रक्षाय करे ।

५८. निर्धि विभ्रती बहुधा सुहा वसु मर्धि हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ( ४४ )-हमारी मातृभूमि अनेक प्रकारके धन अपनेमें धारण करती है, वह हमें रत्न और सोना ।

५९. जने विभ्रती बहुधा विधाचसं नानाधर्मानं पृथिवी यथौकसम् ( ४५ )-हमारी मातृभूमि अनेक भन्ना बोलनेवाले और अनेक धर्मावलम्बी मनुष्योंकी पुन्य धरके मनुष्योंके समान धारण करती है ।

६०. सहस्र धारा द्रविणस्प मे दुहा ध्रुवेय धेनुः नपस्कुलतां ( ४५ )-सत्त न भारनेवाली गायके समान यह हमारी मातृभूमि हमें हजारों धाराओंमें धन दे ।

६१. यस्ते सर्वौ वृष्टिका तदा सर्वम् मोघं खपत् ( ४६ )-जो सर्व, बिन्दु यदि प्राणि पृथ्वीकी पीठ पर रहते हैं वे मेरे पात न सकें ।

६२. वच्छिद्य तेन नो मुहः ( ४६, ४७ )-जो कल्याण-कारण है, उसकी सहायतासे हमें पुत्री कर ।

६३. ये ते पन्थानो बहुधो जनापना, रथस्य यमा-नस्तश्च यातये, वैः संवरत्नमुभये भद्रपादार्यं पन्थानं जयेमानमित्रं अतस्करम् ( ४७ )-तेरी पीठपर लौकिक अन्न करनेके और रथके चारों हैं, जिनके पानी और पुण्य-छाली लोग मलते जाते हैं, उन रास्तोंकी सन्तुष्टि और कीररहित कर, ताकि हम विजयी हों ।

६४. रक्षो अथ पादयास्मत् ( ४९ )-राक्षसोंकी हम-से दूर कर ।

६५. पिशाचास्त्वय्या रक्षांसि तानस्मद् भूमे यापय ( ५० )-हे मातृभूमि ! सब विद्याओं और राजतंत्रों हमारे पाससे दूर कर ।

६६. सा नो दधातु भद्रया विधे धामनि धामानि ( ५२ )-वह मातृभूमि हमें हमारे विषय परोंमें कल्याण पुण्यके सुरक्षित रखे ।

६७. अहमस्मि सहस्रान् उत्तरो नाम भूगाम् । भभीपादस्मि विश्वायताशामाशां विपरासहिः ( ५४ )-मैं विजयी, उत्तमतर और श्रेष्ठ होकर मातृभूमिमें रहता हूँ, मैं सब ओरसे विजयी होकर शत्रुको पराजय करता हूँ ।

६८ ये प्राप्ता यदृश्य या सभा अचि भूम्या ये सभामा समितयस्तेषु चार उदेम ते ( ५१ )- जो गाव, जो जल और जो सभायें हमारी मारुभूमिमें ह और जो पुद् होते ह, इन सब स्थानोंमें तेरे बारेमें हम उत्तम पत्रका ही कथन करें ।

६९ यद्दामि मधुमन्तद्वामि ( ५८ )- जो म बोलू वह भीठा ही बोलू ।

७० सिपयीमानस्मि जूतिमान् अवग्यान् हस्मि दोघत ( ५८ )- मैं तेजस्वी जानी हू, जो धातक हूय करते हू, उनका नाश करता हूँ ।

७१ यत् त ऊन तत्त आपूरत्याति प्रजापति. प्रथ मजा न्तस्य ( ६१ ) तुममें जो मृतता हो, वह प्रजा-पालक और तपसा प्रथम प्रशस्तक पूर्णता करेगा ।

७२ उपस्थास्ते मनमीया नयधूम असम्भ सन्तु पूयिषि प्रसूताः ( ६२ )- तुममें आपन्न हुए हुए हम नीरोम एव आरोप सम्भ होकर है मारुभूमि ! तेरे समीप उपस्थित रहें ।

७३ दीर्घं न आयु ( ६२ )- हमारी आयु बाप हू ।

७४ प्रतिपुष्पमाना यष तुभ्य उल्लिहत्. स्याम ( ६२ )- जानी होकर हम तेरे सिप पति देनेवाले होवें ।

७५ भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ( ६३ )- हे मारुभूमि ! भूमे उत्तम रीतिसे कल्याणपूर्वक प्रतिष्ठित कर ।

७६ सविद्वाना विवा कये धिया सा धेहि भूत्याम् ( ६३ )- हे ज्ञानी ! मुझे हमेशा ज्ञानपूर और सत्यता का और दीव्यमानों को हमें और जगत् पश्यवैवा कर ।

विराट् ( कां. ८।१० )

१. विराट् वा इदमत्र भासीत्, तस्य जाता ०१. सयसविमेव् इयमेवेव भाविष्यतीति ( १ )- प्रथम तब जगत् राजविहीन स्थिति थी, वत इस अवस्थात सबको अब हुआ कि कही यह राजविहीन स्थिति हमेशा तो नहीं रहेगी ।

२. सोऽवशामत् सा गार्हपत्ये भयामत् ( २ )- यह प्रजापति काकात होकर गृहस्थावधक कर्णमें परिणत हुई ।

३. सोऽवशामत् सा समाया न्यशामत् ( ८ )- यह प्रजापति उका त होकर घामसनामें परिणत हुई ।

४. सोऽवशामत् सा समिता न्यशामत् ( १९ )- वह प्रजापति उकात होकर राष्ट्रसमितिमें परिणत हुई ।

५. सोऽवशामत् सा मध्वणे न्यशामत् ( १२ )- यह प्रजापति उकात होकर मध्वण्डल में परिणत हुई ।

राष्ट्रीदेवी ( कां. ४।३० )

१. अहं राष्ट्री सगमनी यस्ना चिकितुषी प्रथमा यद्विद्यानाम् ( १ )- मैं राष्ट्रपति हूँ, मैं घन एक-विध करती हूँ, मैं ज्ञान और प्रज्ञाओंमें भी प्रज्ञापी हूँ ।

२. ता मा देवा म्यदधुः पुत्रा भूरिस्थात्रा भूयसि शायनः ( २ )- बहुत उताह यज्ञनेवाले देव सर्वम विष मान वृत्त राष्ट्रपतिको अपने अन्तर विशेष कल्पे पारण करते हैं ।

३. महमेव स्वयमिदं वदामि जुष्ट वेदानामुत्त मानुषाणाम् ( ३ )- मानवों और देवोंमें यह तपित मार-रणीय है, यह मैं स्वयं करता हूँ ।

४. य कामयेत उग्र ह्यमोमि, त मद्याय, त अपि त सुमेधम् ( ३ )- म राष्ट्रपति जिसको उग्रत करता चाहती हूँ उसे वयसीर, काकाय, अपि और उत्तम बुद्धि मानू करती हूँ ।

५. मया सोऽवशान्ति, यो विपश्यति, या प्राणिनि, यद् दृष्टोत्पुक्त्तम् ( ४ )- मेरी कृपासे यह मम जाता है, देव सकता है, जीवित रह सकता है और हमारी बातोंको सुनता है ।

६. धमन्तयो मा त उपक्षिपन्ति धुषि, धुत, अद्वेय ते वदामि ( ४६ )- मेरा ( राष्ट्रपति ) जो अन्याय करता है, वह पिनातको मान्य होता है । हे विज्ञान पुण्य ! यह तुन । अज्ञानों कोय उपदेशोंको मैं तुने देती हूँ ।

७. अहं रुद्राय धनुराशमोमि मद्राद्विरे शरये हन्ता उ ( ५ )- मैं रुद्र ( उग्र, मयकर ) कीरोंको धनुष तानकर तैयार कर देती हूँ, इस कारण जानते होय करनेवाले दुष्टोंका नाश होता है ।

८. अहं जनस्य सभम् दृष्टोमि मह धायापूषिषी आविधेय ( ५ )- मैं लोगोंके सिप हर्षरायक पराव देती हूँ, म घुलनेके पुष्पोत्तक फलों हुई हूँ ।

९. अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् ( ५ )- म इस राष्ट्र क सिप राष्ट्र रखकर निर्माण करती हूँ ।

## राष्ट्रसभाकी अनुमति ( कां ७।१२ )

१ सभा च मा समितिश्चावता प्रजापतर्दुहितरा सविदाने ( १ )- सभा और समिति व दोनों राजाको पुत्रियों और राजाका सरक्षण करती ह।

२ येना सगच्छा उप मा स शिक्षात् ( १ )- जिन सभासदों व मित्तू, वे मुझ उत्तम सलाह व।

३ चाक वदानि पितर समतेषु ( १ )- हे सभा सही। व दशमो उत्तम भावण कर।

४ ये व के व सभासद ते मे सन्तु सुगच्छस ( १ )- मेरे जो सभासद ह, वे मेरे साथ मधुर बोलनवाले हो

५ विप्रत सभे नाम नारदा नाम वा भस्वि ( २ )- हे सभा। तेरा नाम हुन जानते ह तेरा नाम अहितक है।

६ ययामह समासीमाना यर्चा विज्ञानमा दद ( १ )- इन सभासदोंके पाससे व तेज और ज्ञान प्राप्त करता ह।

७ अस्या सर्वस्या ससदो मामिन्द्र भग्नम कणु ( १ )- हे इन्द्र। इन सभी सभाओंका मुझे भागीदार बना।

## ( कां ७।११ )

१ पाधता द्वेपो अभय न कणोतु ( १ )- गन्धर्वों में भीति उत्पन्न कर हूँ निश्चय करी।

२ सुवीर्यस्य पतय स्वाम ( १ )- उत्तम वीरत्वके हम श्वाभी होकर रहे।

## ( कां. ७।१२ )

१ भस्वराशिद्वेप सज्जतयुगोत ( १ )- हमको इय करनेवाले हमारे दण्ड दूर हों।

२ यव भद्रे सोमनसे स्वाम ( १ )- हम कन्याएँ कारक मन्त्री उत्तम विचरित रहें।

## ( का ७।१३ )

१ इन्द्राग मन्थुना ययमभिप्याम पूत यत प्रन्तो वृत्राण्यप्रति ( १ )- उस्ताहृषी ६५ के साथ रहकर हम चढ़ाई करनेवाले दानुको नीतले ह और परतवाले गन्धर्वोंको सन्ध सहित मार डालते हें।

## ( कां ७।८४ )

१ क्षत्रभूत दीदिहीद ( १ )- अधिभोंका भरण-पोषण कर यहाँ प्रकाशित हो।

२ विभ्या गमाथा प्रमुञ्चन् ( १ )- तब रोगोंको दूर कर।

३ मानुषाभिरथ शिवाभिरथ पारपादि ना गयम् ( १ )- मनुष्योंके कन्याएँवाक समकाले हमारे घरोंका सरक्षण कर।

४ अपानुवा वनमाभिभ्यन्त ( २ )- गन्धर्वों तथा यकोंको दूर करो।

५ उरु देवेभ्यो अठ्णाग लक्षम् ( १ )- दिव्य जनोंके लिए विलसत स्थान तयार करो।

६ शुक सशाय परिमिन्द्रा ताम्र त्रिगधून् तादि वि मृधो नुदस्य ( १ )- वाण और वज्र तोड़न कर गन्धर्वोंको मार और दिसकोंको दूर कर।

## ( कांड ६।८८ )

१ ध्रुवो राजा विशामय ( १ )- इन प्रतापीय राजाको स्थिर कर।

२ राष्ट्र धारयता ध्रुयम् ( १ )- राष्ट्रको स्थिरतासे धारण कर।

३ ध्रुवाऽच्युत प्रमृणीहि शत्रून्, शत्रुमतोऽथ शत्रु वादयस्य ( १ )- अन्धकारों और ग जाते हुए स्थिर होकर शत्रुका नाश कर और तुमसे शत्रुच सरतबलै ध्रुवों को नीचे पिर दे।

४ ध्रुवाय त समिति कल्पतामिह ( १ )- तेरी स्थिरताके लिए राष्ट्रसमिति बना दे।

## ( कां ६।५४ )

१ अरय क्षत्र भियमहीं धृगिरिय यधया वृणम ( १ )- जिस प्रकार वर्षा धन प्राप्त और प्राप्त आदि वृष्टी है, उसी प्रकार इस राजाके धर्मकेलसे धन और भूमि बढ़।

२ इम राष्ट्रस्याभिर्यसं कणुत युन उत्तरम् ( १ )- इस राजाको राष्ट्रक मुखप पुत्रोंन पोष्य और अधिक शब्द करो।

३ सच-धुव्यास्तपशुष्य यो भस्मान् अभिवासति सर्व ते रुधयामसि ( १ )- जो हमारा भाई अर्बुदा और कोई दूसरा मनुष्य हम वास बनाता चाहता है उन सबका ना। हम करते ह।

## ( कां ४।८ )

१ ( यो ) भूतपु पय आदधाति स भूतानाम धिपतिर्भूच ( १ )- जो प्राणिमात्रको दूध बढ़ने उपयोगी बनाय देता है, वह प्राणिमोंका अधिपति होता है।

२ स राजा राज्यमनु मन्थतामिदम् ( १ )- वह राजा जिस राष्ट्रका अनुमोदन करे ।

३ अग्निप्रोहे, माष वेन, उग्रश्वेता सप्तत्वहा ( २ )- आग ब्रह्म घोड़े मत हट, तू उग्रवीर, चेतना देनेवाला और धनुषोंका नाश करनेवाला हो ।

४ आतिष्ठ मित्रवर्धन ( २ )- हे मित्र बढ़ान वाले ! तू अपने स्थान पर स्थिर हो ।

५ भ्रिय वसानश्चरति स्वरोचि ( ३ )- सम्पत्ति प्राप्त करके अपने तेजसे बहु उत्तम करता है ।

६ विष्ममस्य विशा मही. ( ४ )- अलग दिशाओंमें तू पराक्रम कर ।

७ विशस्या सर्वा वाञ्छन्तु ( ४ )- सारी प्रजाएँ तुझे चाहें, तुझसे प्रेम करें ।

( कां. ३।५ )

१ यत्नी यत्नेन प्रमुष्णस्सप्तान् ( १ )- अपने बल से जो लघुका नाश करते हैं वे ही वास्तवमें बलवान् होते हैं ।

२ मयि धारयताद्भियम् ( २ )- मुझमें धन धारण करा ।

३ अहं राष्ट्रस्याभीर्षां निजो भूषात्समुत्तम. ( २ )- मैं राष्ट्रमें और हितकारी पुत्रोंमें उत्तम और उनका अन्धा होकर रहूँ ।

४ अस्मभ्य सहायुषा देवा ददतु भर्तये ( ३ )- दीर्घायुष्यके साथ भरणपोषणके लिए देव उठे, हमें दे ।

५ स मिपात्स यद्दु रोषमागो दीर्घायुवाय शत क्षारवाय ( ४ )- मैं आगत तेजस्वी होकर तबको दीर्घायु प्राप्त हो इसलिये उनका प्रिय करता हूँ ।

६ ये घीवानो रथकाश- कर्मार ये मनीषिण उपस्तीन् पर्ण महा त्व सर्वान् रुण्वभितो जनान् ( ६ )- जो बुद्धिमान्, रथकार और भोहार हैं, उन सबको हे पर्णमने ! तू मेरे सामने उपस्थित कर ।

७ ये राजानो राजकृत सृता प्रामण्यश्च ये उपस्तीन् पर्ण महा त्व सर्वान् रण्य, अमिता जनान् ( ७ )- जो सरदार, राजा निर्माण करनेवाले सुत और प्रामेता हैं, उन्हें तू मेरे पास उपस्थित कर ।

( कां. ३।४ )

१ मा त्वा गन् राष्ट्र सह वर्चसोदिहि ( १ )- तेरे

पास जो राज्य आया है, उसमें तू तेजके साथ उन्नत प्राप्त हो ।

२ अहं विशापतिरेकपाद त्व विराज ( १ )- प्रजाका एक प्रमुख स्वामी एक राजा होकर तू विराजमान हो ।

३ सर्वस्वा राजन् प्रदिशो ह्यन्तु ( १ )- हे राजा ! सब दिशाओंमें रहनेवाली तेरी प्रजा तुझे वृद्धि दे ।

४ उपसद्यो नमस्यो भवेद् ( १ )- पास जाने योग्य और नमस्कारके लायक हो ।

५ त्वा विशो वृणता राजपाय त्वा इमाः प्रादिश- वृज्य देवा ( २ )- इन सब दिशाओंमें रहनेवाली तेरी पाँच प्रकारकी प्रजाएँ तुझे राज्यके लिए पसन्द करें ।

६ धर्मन् राष्ट्रस्य ककुद्दि ध्यस्व ततो न उग्रो विभजा यस्मिन् ( २ )- राज्यमें ऊँचे स्थान पर भाग्य होकर, जूर बीर होकर हमें धन दान ।

७ जायाः पुत्रा सुमनसो भवन्तु यद्दु बलि प्रति- पद्यस्व उग्र ( १ )- पत्नी और पुत्र उत्तम बनके हों, उग्रवीर होकर ( प्रजासे ) तू कर इच्छा कर ।

८ पथ्या रेवतीर्विहुषा विभक्तपाः सर्वाः सगल्य, शरीयस्त भजन् ( ७ )- दाम्नागते चलनेवाली, बलवत्ता नवैक स्वस्वकी सब प्रजाएँ मिलकर तेरे सिद्ध भोज्य स्थान तैयार कर रहा है ।

९ तास्सा सर्वा सयिमाना ह्यन्तु ( ७ )- ये सब प्रजानेन एककण्ठे तेरी प्रशंसा करें ।

१० दशमीमुग्र. सुमना बहोद ( ७ )- ती शर्वकी प्रशस्ति प्राप्त कर उत्तम बनका होकर यहाँ तू अपने वचनमें होकर रह ।

( कां. ६।९८ )

१ इन्द्रो जयाति न पराजयाते ( १ )- इन्द्र विजय प्राप्त करता है । वह कभी भी पराजित नहीं होता ।

२ अधिराजो राजसु राजयति ( १ )- तू राजाओं- के अधिक तेजस्वी होकर अधिराजा हो ।

३ चर्कृत्य ईदय चण्डश्चोपघतो नमस्यो भवेद् ( १ )- बभ्रुओंके नाश करनेवालेके रूपमें स्तुति करने योग्य, बरवीर, प्रजापते योग्य बीर पास माने योग्य होकर यहाँ रह ।

४ अयस्युस्त्व भूरभिभूतिर्जनानाम् ( २ )- तू शक्तिमान् और लोगोंको समृद्ध करनेवाला हो ।

५. मयं वैवीर्यिण इमा विराज ( २ )- वृ न विलय  
प्रकाशनों पर विराजमान हो ।

६. मायुष्मद् क्षत्रं भञ्जतं ते अस्तु ( २ )- वृ  
शौर्यम् हो, तेरो भगवत्पति कभी न हों ।

( कां. ३।३ )

१. इयन्तु स्या मतिजना प्रविदिमा अवृपत ( ५ )-  
प्रायेक प्रकारके लोग तुझे मरवके लिए पुसके, भिष वैता  
■ प्रकाशें ।

२. विम्वेदेवास्ते विशिः क्षेममवीधरन् ( ५ )- सब  
देव तेरो प्रकाश कायाच करें ।

( कां. ३।५ )

१. भह्वर्हि पर्वते शिथिषामं स्वष्टाऽस्मै षष्ठं  
स्वर्गं ततस्त ( ३ )- पर्वत पर रहनेवाले भह्विओ उम्मे  
पारा, षष्ठके लिए स्वप्नके तीसम वक्ता होव्वा किया ।

( कां. १।२१ )

१. स्थस्तिदा विद्यापतिः ( १ )- प्रकाशो तुल्य देवे-  
षाता राता हो ।

२. त्रिषा यच्छ पुत्रयता ( २ )- संवत्से छात्र  
आरुपण करनेवाले तन्मूर्खों नीचे विरा दे ।

३. अघर्ष गमया समो यो अस्मै अमिदासदि  
( २ )- जो तुम्हें दास बनानेकी इच्छा करता है, उन्हें पीर  
बनकारमें डाल ।

४. विरस्तो वि मृधो जहि ( ३ )- राजकों और  
गुर्गोंका हथ कर ।

५. अयेन्द्र द्विपतो मनोऽप जिग्यसतो यधम्  
( ४ )- द्वेय करनेवाले मनको द्वेयते दूर कर और हमारी  
शत्रुके नाश करनेवालेको दूर कर ।

६. प्रहृच्छर्मं यच्छ ( ४ )- हर्षे बहुत हथ दे ।

७. वरीयो यावया यधम् ( ४ )- सब करनेवालोंको  
दूर कर ।

( कां. १।३१ )

१. स्थस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु, स्थस्ति  
पोभ्यो जगते पुदयेभ्यः ( ४ )- हमारे भावनिताओंका  
कल्याण हो, पार, प्राणी और पुत्रके लिए कल्याण प्राप्त हो ।

२. विम्वे सुभूतं सुविदर्शं नो अस्तु ( ४ )- सब  
प्रकारकी उत्तम स्थिति हमें प्राप्त हो ।

४३ [ मयं. भा २ मनु० श्रुति ]

३. ज्योसेव बभौम सूर्यम् ( ४ )- हम सूर्यको विर-  
कात तक देखते रहें ।

( कां. १।२९ )

१. नस्मान् ब्रह्मणश्चैवैषि राष्ट्राय धर्म्य ( १ )-  
हैं ब्रह्मणस्वो ! हमें राष्ट्रके लिए बड़ा, हमारी बुद्धि और  
उन्नति कर ।

२. जमिदुल सपत्नानमि दानो भरातयः, भभि  
पूकन्यन्ते तिष्ठ, जमि या नो पुरस्यति ( ३ )- सन्तुष्टों-  
को पराजित कर, कुत्तोंको मार, देना केकर बहाई करने-  
वालोंके मुखावत कर और दुष्ट केनशालोंका नाशना कर ।

३. राष्ट्राय मही बभ्यतां सपत्नेभ्यः परानुधे ( ४ )-  
- राष्ट्रके हितके लिए और शत्रुओंके हितके लिए नह  
जमि केरे छरीर पर बाँधे ।

४. यथार्हं शत्रुहोऽस्मि भसपत्नहा ( ५ )- मैं  
शत्रुओंको पराजय करके और शत्रुओंका हथ करके शत्रु-  
रहित होऊँ ।

५. सपत्नसुवणो वृषाऽभिराधो विपासहिः यथा-  
हमेपां वीराणां विराजानि जनस्य च ( ६ )- शत्रुओंका  
नाश करनेवाला, सनकाय करने राष्ट्रका हित करनेवाला,  
और शत्रुका पराजय करनेवाला होकर इस लोकमें और  
वीरोंमें मैं केसरी होऊँ ।

( कां. ३।२९ )

१. यत् राजको विभजन्त राष्ट्रापूर्तस्य पौडरी  
यमस्यामी सभासदः ( १ )- विपयानुसार चलनेवाले  
इस राजाकी सभाके सभासद जगदलका शोचनी भाग  
कर कण्ठे डेते हैं ।

२. अविस्तथात् प्रमुञ्चति वृत्ताः शिपिपात्रं स्वधा  
( १ )- यह कर प्रकाशो रक्षा करता है, उसे विनाशके  
कमता है और स्वयंके पारचामति बघाता है ।

३. यो ददाति शिपिपात्रं अयि लोकेन संमिर्तं,  
स नान्ते अभ्यारोहति, यत्र शत्रुको न विप्रेते अदत्तेन  
वलीयसे ( ३ )- जो लोग इस राजक करके डेते हैं, वे ऐसे  
स्वर्ग्ये पाते हैं, जहाँ निर्बलको बलवान्के लिए कुछ देना  
नहीं पड़ता ।

( कां. ८।३ )

१. स यो विषा स रिपः दानु नयन् ( १ )- मैं  
हमें हिन राजक शत्रुओंके बघाते ।

२. परा दृणीहि तपसा यातुधानाद् पराग्रे रक्षसो  
हरसा दृणीहि ( १३ )- यातना देनेवालोंको धनमें खसने  
नष्ट कर । हे जाने ! धनमें सेजसे राक्षसोंका नाश कर ।

३. यः पौढपेयेण प्राविषा समन्वृते यो अन्वयेन  
पशुना यातुधानः । यो अन्वयायाः भरति स्त्रीरमग्रे  
तेषां शीर्षाणि हरसाऽपि सृज्य ( १५ )- जो मनुष्यों  
अथवा घोड़ोंका मांस खाते हैं, जो नायका रूप भरकर पुरा  
ले जाते हैं, उन दुष्टोंके लिए बलसे तोड़ डाल ।

( कां. ८।४ )

१. तपते रक्ष उज्जतं, न्यपेयतं, वृषणा समोपृधः  
( १ )- हे वलवान् वीरो ! राक्षसोंको कष्ट देकर उन्हें  
मार डालो, अन्नभार बहानेवाले कुन्नोंको भीषे मार दो ।

२. परा दृणीतमचितो न्योपते हते सुदेधां हि  
शिथीतमस्मिन्नाः ( १ )- जो अन्नःकरणाहित दुष्ट हैं,  
उपका नाश करो, उपकी नष्ट करो, मारो, भगा दो, दूधरों-  
को जाननेवालोंकी विध्वंस करो ।

३. ब्रह्मद्विपे प्रायाये, घोरचक्षुषे देवो धत्तमनयायं  
किमीदिने ( २ )- जानने देव करनेवालों, करने मांस  
पानेवालों और क्रूर दुष्टोंके साम्ने लगेले देव करो ।

४. दुष्कृतो धमे अमृतरत्नरम्भे तमसि प्र पिप्यतं  
( ३ )- दुष्कर्म करनेवालोंकी अन्नम अन्नभारमें डाल दो ।

५. यतो त्रैपा पुनरेकक्षनो वृषा ( ३ )- दुष्ट  
लोगोंमें एक भी छिर न उठे, ऐसा कर ।

६. अघशोसाय तर्ह्यं ( ४ )- पापियोंकी ओर विना-  
शक क्षत्रियोंकी सैन्य ।

७. तद्धामस्तु सहसे मनुमच्छया ( २ )- वह  
गुहाहा उत्तम दुष्ट बल क्षत्रियोंके बलमें लिये हो ।

८. येन रक्षो यातुधानं निजूर्ध्वः ( ४ )- निहले  
बाधनेवाले राक्षसोंका नाश हो, ऐसा करो ।

९. हतं तुहो रक्षसो मरुगुपवतः ( ४ )- शेषकारी  
और विनाशक राक्षसोंको मारो ।

१०. यो मा पाकेन मनसा चरन्ते अभिचष्टे अनुते  
भिर्वचोभिः ( ८ )- पवित्र मनसे व्यवहार करनेवाले वेदों  
को अन्नव्यवहारी किता करते हैं, उन्हें दूर करो ।

११. सुधिदानं चिकितुपे जनाय सप्यासद्य वचसी  
पसृधाते । तथैर्यत् सत्यं यतरश्नीयस्तद्विद् सोमो-  
ऽवति हन्त्यासद् ( १२ )- शांन धन्य करनेवाले मनुष्योंको

बचाया जाता है, ॥ सत्य और अनाथ भावधर्मों स्पर्धा  
होती है । उसमें जो सत्य और सरल है उसकी सोम रक्षा  
करता है और असत्यका नाश करता है ।

१२. न वा उ सोमो वृद्धिने हिनोति ( १३ )- सोम  
कृष्टियोंकी सहायता नहीं करता ।

१३. न क्षुधिर्यं मिथुया धारयन्तं ( १३ )- मिथ्या  
पारो क्षत्रियोंकी सोम सहायता नहीं करता ।

१४. हन्ति रक्षो, हन्त्यासद् यदन्तम् ( ११ )-  
राक्षस और असत्य सोमनेवालोंको मार मार देता है ।

१५. यदि धावममृतदेवो अस्मि, मोक्षं वा देधौ  
अप्युहो अग्रे किमस्मभ्यं जातयेदो दृणीपे ( १४ )- यदि  
मैं असत्यकी उपायना कर्म और यदि देवोंकी अप्यं प्रार्थना  
कर्म, तो हे जाने ! क्या तू मृतकर नाराज होगा ?

१६. द्रोघयाचस्ते निर्दयं सचक्ष्मा ( १४ )-  
द्रोहपुत्र कथन बोलनेवालोंका विनाश हो ।

१७. मया मुरीप यदि यातुधानोऽस्मि ( १५ )-  
यदि मैं मुरोंकी यातना देनेवाला हों तो मार ही मैं  
कर जाऊँ ।

१८. अघा स धीरैर्दशभिः वि यूया यो मा मोक्षं  
यातुधानेत्याह ( १५ )- जो मृत अहितककी हितक कहता  
है, वह वनों कीरोंसे विधुक्त हो जाए । ( उसकी बर्तों  
हितकोंकी क्षति नष्ट हो जाए )

१९. यो मायातु यातुधानेत्याह, यो वा रक्षाः शुचि-  
रस्मीत्याह, इन्द्रस्तं हन्तु महता पथेन, विभ्यस  
जन्तोरेधमस्वधी ( १९ )- जो मृत अहितककी हितक  
कहता है, जो राक्षस होकर भी स्वयंको घृष्ट और पवित्र  
कहता है इन्द्र उसे महान् पथसे मार डाले, सब प्राणि-  
योंमें वह-भीष नगरधामें पधुवे ।

२०. गुभायत रक्षसः संपिनष्टन ( १८ )- राक्षसोंको  
पकड़ो और उनको पीस दो ।

२१. प्राफतो अपाफतो अधरादुफतोऽभि जहि  
रक्षसः पर्वतेन ( १२ )- सामने, पीछे, आगे, नीचे और  
ऊपरसे राक्षसोंको पर्वतावली मारो ।

२२. इन्द्र जहि पुषांस यातुधानं उत स्त्रियं मायया  
शसदनाम् । विप्रियालो मुरवेधा अन्वन्तु, मा ते  
रुतन्सर्वमुप्यरस्तम् ( २४ )- हे इन्द्र ! यातना देने-  
वालोंका नाश कर, तथा कष्ट व्यवहार करनेवाली स्त्रियोंका  
भी नाश कर । मूर्ख जपारकों के लिए तोड़ बिट्टू जाए और  
वे उपते ॥ सूर्यको भी न देख सकें ।

( कां. १।१९ )

१. वैवीर्मनुष्येप्यो ममामित्रान् विविध्यत ( १ )-  
देवीं और मनुष्यों के द्वारा छोड़े गए मान शत्रुओं पर आकर  
बिरे ।

२. यो नः स्वो यो अरणः सज्जन उत निष्ठयः यो  
अस्मानभिदासति दद्रुः शरन्पैयताम् ममामित्रान् वि-  
विध्यतु ( २ )- जो स्वकीय या परकीय, अपने जातिका  
या नीच जातिका मनुष्य हमें बल बराना चाहता है, उसे  
या अपने शत्रुओं से मार दे ।

३. या सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विपच्छपाति नः  
वेवास्तं सर्वे धूर्चन्तु ग्रहा वर्म ममाम्तरम् ( ४ )- जो  
शत्रु या मित्र हमसे द्वेष करते हैं, हमें साथ देते हैं, सब देव  
ब्रह्मा मान करें । मेरे अन्तर मानका कवच है ।

( कां. ६।१३५ )

१. यदश्रमि यलं कुचं हृद्यं कज्जमादेव स्कन्धान-  
मुप्य शातयन् ( १ )- मैं जो लाता हूँ, उससे अपना बल  
बढ़ाता हूँ, इसी प्रकार मैं अपने शत्रुओं को बल धारण कर  
शत्रुओं की बाँधी और बाहुओं की तोड़ता हूँ ।

( कां. ७।१४ )

१. शत्रीणां च पुंसां च द्विपतां सर्वं व्यादे ( १ )-  
द्वेष करनेवाली स्त्री या पुंसके तेजवी हूँ ।

( कां. ६।९७ )

१. हमं वीरमनु इर्वधमुग्रं इन्द्रं सखायो अनुसं-  
रम्भं प्रामर्जितं, गोर्जितं वज्रबाहुं जयभक्तम्  
प्रमृणन्तोमोजसा ( १ )- हे मित्री ! हे उग्रस्वभाववाले  
वीरो ! मान और पाप धीतनेवाले, बलके समान मुद्र  
बाहुओंवाले, विजयी और घोषप्रताले शत्रुओं की मारनेवाले  
इन्द्रके अनुवृत्त व्यवहार करो ।

( कां. ६।६६ )

१. निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽस्त्रिणां ग्लापयामासि  
( ३ )- शत्रु हाथों से रहित हों, मैं उनके अंगों को चिर्बल  
करता हूँ ।

( कां. ६।६७ )

१. मुह्यन्वशाः सेना भूमिशाखां परस्तराम्  
( १ )- शत्रुसेना मोहित होकर दूर भाग जाए ।

२. मूढा भूमिशाखरताशीर्षाण्य हवाहवा ( २ )-

शत्रु पासोंके समान होकर बटकते रहें और बेतरिवाले  
सांके समान हों ।

३. तेषां चो अस्त्रिभूदानामिन्द्रो हन्तु चरंवरम्  
( २ )- उक्त भान्त हुई हुई शत्रुसेनाओंसे श्रेष्ठ श्रेष्ठ सैनिकों  
को हरायें ।

( कां. ४।३ )

१. पर्यैतु पथा वृकः परमेणोत तच्छरा, परेण  
इत्स्वी रज्जुः, परेणानुरपतु ( २ )- भेदिया दूर भाग  
जाये, धीरे दूर भाग जायें, शक्ति दूर बले जायें और  
पाथी मो दूर भाग जायें ।

( कां. ७।९० )

१. ओजो वासस्य दम्भय ( १ )- हिसकोंके बलको  
बल कर ।

( कां. १।७ )

१. वि लपन्तु वातुधाना अत्रिजो ये किमीदिनः  
( १ )- कब, यज्ञका देववाले यज्ञ और लुटार पीवें ।

२. अवीतु सर्वो वातुमानपमस्मीयेत्य ( ४ )-  
कब कुछ पास आकर स्वीकार करें कि वे कुछ हैं ।

३. वातुधानान् विलापय ( ५ )- वृद्धोंको बला ।

४. वातुधानानुपवर्द्धा इहा यह, अर्थयामिन्द्रो  
पसेव्यापि शीर्षाणि वृक्षानु ( ५ )- वृद्धोंको बांधकर  
वहाँ का और इधर बलसे उनके तिर काट दे ।

( कां. ३।१ )

१. विहाग्यतिदह्ममि शस्तेमरातिम् ( १ )- हमारे  
विहान् आसकमें मारपोंत करनेवाले शत्रुओंको जला दें ।

२. स सेनां मोहयन्तु परेषां निर्हस्ताश्च कृणवन्ता-  
तवेदाः ( १ )- वह वानि शत्रुकी सेनाओं मोहित करे  
और उसे हाथों से रहित करे ।

३. ते यजः प्रमृणयेतु शत्रून् ( ४ )- तेरा बल  
शत्रुको मारते हुए जाये बड़े ।

५. इन्द्र सेनां मोहयामिशाणाम् ( ५ )- हे इन्द्र !  
शत्रुसेनाको मोहित कर ।

( कां. ३।२ )

१. असौ या सेना मरुतः परेषां अस्मानैवभ्यो-  
जसा स्पर्धमाना । तां विध्यत समसापयतेन पर्येषा-  
मभ्यो अभ्य न जानात् ( ६ )- हे पक्षो ! वह शत्रुसेना



जो स्वर्ण करते हुए पर आक्रमण करती हुई जाती है, उसे तमसास्त्रसे शीघ्र को, जिससे कि वे ऐनिक एक दूसरेको पहचान न सकें ।

( कां. १।१० )

१. शतं जीवाति शरवस्तयाम् ( २ )- यह देश मनुष्य तो पर्यंत जीवित रहे ।

( कां. ७।११५ )

१. रमन्तां पुण्या लक्ष्मीयाः पाणीस्ता अग्निनाम् ( १ )- जो पुण्यकारक लक्ष्मी है, वह आग्नेयसे पक्षी को और जो पानी मानवादि है, वे जन्म हो जायें ।

( कां. ६।११५ )

१. यद्विदांसो यद्विदांसो यदांसि चक्षुः पयं न्युयं नस्तस्मान्मुञ्चत विभ्ये देवाः सजोषसाः ( १ )- जिनके अथवा धनवान् हमने यदि कुछ पाप किया हो तो हे विश्वदेवो ! तुम एकमत होकर हमें उस पापसे छुड़ाओ ।

२. यदि जामात् यदि स्वपुत्रेन पनस्योऽकारं भूतं मा तस्मात् भव्यं च दुपदाविच मुञ्चताम् ( १ )- जागते हुए या सोते हुए मैंने यदि कुछ पाप किया हो, तो जिस प्रकार जग्मेसे बच्चे हुए वस्तुओंको मुक्त करते हैं, उसी प्रकार हे देवो ! मुझे भूत और अविष्यकालके पापोंसे मुक्त करो ।

३. दुपदाविच मुमुक्षामा, विषयः स्नातया मत्ताविच, पूतं पयिप्रेणेवायं विभ्ये शुभ्रमनु मैनसः ( १ )- क्षणिकसे जिसप्रकार वस्तुओंको मुक्त करते हैं, स्नातके जिस प्रकार मल दूर करते हैं और जिस प्रकार पी को छान कर मुद्ध करते हैं, उसी प्रकार सब मूल मुझे क्षणिकसे मुक्त करके मुद्ध करो ।

( कां. ४।३३ )

१. भव नः शोनुचक्षम् ( १-५ )- हमसे पाप दूर रहे ।

( कां. ६।२६ )

१. पदी सन्मृदयांसि नः ( १ )- स्वर्णको गदगद करनेवाला तू हमें मुक्त करता है ।

( कां. १६।२ )

१. मधुमती याह ऊर्जा ( १-४ )- मोड़ी वाली बल-वशनेवाली होती है ।

२. मधुमती पाचमुवेयम् ( २।२ )- मैं मोड़ी वाली बोलूँ ।

३. सुधुतो कर्णौ, मद्रधुतौ कर्णौ, मद्रं श्लोके भूयासम् ( २।५ )- शीत दोनों कान सुन्दर बातें सुनें, रोते कान सुन्दर सोची सुनें, मैं भी कल्याणकारक काम सुनूँ ।

४. मूर्धाहं रयीणां, मूर्धा समानानां भूयासम् ( ३।१ )- धर्मियोंमें मैं ऊँचा होऊँ और अपने समानतारके लोगोंमें भी बड़े होऊँ ।

५. अस्तंताव मे हृदयम् ( ३।६ )- मेरा हृदय शांत रहे ।

६. मां मा प्राणो दासीन्मो अपानोऽयहाय परा गात् ( ५।१ )- प्राण और अपान मुझे छोड़कर न जायें ।

७. अजैष्वाद्यालनामाधामूमागासो पयम् ( ६।१ )- आब हमने विजय प्राप्त करती है और जो कुछ पाना या दूध या लिप्ता है। हृष निम्बाव ही गये हैं ।

८. जितमस्माकमुद्रिप्रमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं दक्षास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं मजा अस्माकं घीरा अस्माकम् ( ८।१ )- हम विजय, उदय, तरलता, तेज, ताव, भास्वतेज, पशु, पशु, मजा और घीरसे युक्त हैं ।

( कां. १७।१ )

१. यिपासाहं सहमानं सासहानं सहोपासं, सहमानं सहोजितं रूपजितं गोजितं संधनाजितम् ईदये नाम ह इन्द्रमायुष्माभूयासम् ( १ )- अथवा सामर्थ्यवान्, बलवान्, विजयो, मनुष्योंको दशानेवाको ओजस्वी, विजिबन्धी, अपने सामर्थ्यसे जीतनेवाले, भूमि और वन जीतनेवाले इन्द्रकी मैं प्रार्थना करता हूँ, उनसे मैं योषांपुराता बनूँ ।

२. त्रिपो देवानां भूयासम् ( २ )- मैं देवोंका त्रिप बनूँ ।

३. त्रिषः प्रजानां भूयासम् ( ३ )- मैं प्रजाओंका भी त्रिप बनूँ ।

४. त्रिषः समानानां भूयासम् ( ५ )- अपने समान-तारके मनुष्योंका भी त्रिपार बनूँ ।

५. त्रिपेक्ष प्रभं रण्यतु मा चाहं त्रिपते रणम् ( ६ )- इन्द्र करनेवाले मेरे धनिकारने रहें, पर मैं वस्तुप्रति धनिकारने कनी न रहूँ ।

६. सुधायां मा घोहि परमे द्योमन् ( १९ )- मेरे त्रिप परम आकाशमें अमृत रख ।

७. ऊतिभिः शिवाभिः संतप्तो भव ( १० )- वृ  
भयने कल्याणकारक संरक्षणके साधनोक्ति हमें सुख देनेवाला  
हो ।

८. लचिरसि रोचोऽसि ( २१ )- तू तेजस्वी और  
प्रकाश युक्त है ।

९. शुभोऽसि भ्राजोऽसि ( २० )- तू शीघ्रवन् और  
तेजस्वी है ।

( कां. ८।८ )

१. यथा हनाम सेना अमिश्राणां सहस्रशः ( १ )  
- तबुनोके हजारों सैनिकोंके ■■■ बारें ।

२. अमिषा दृष्ट्या दधतां भवम् । ( २ )- प्रभुओंके  
दुरवोंमें हमारा भय रहै ।

३. हन्त्येतान्पथको यधैः ( ३-४ )- मारनेवाला  
सशस्त्रोंके जन दुष्टोंको मारें ।

४. तेन शत्रून्नि सर्गान्युपहृत् यथा न मुच्यते  
कलमभ्येनाम् ( ५ )- शत्रुओंकी सभ औरसे अधिकारमें  
का और उनमेंसे किसीकी भी भागने न्या दे ।

५. नयतामूर्तयुक्ता यमदुताः अपोम्भतः परः  
सहस्रा हन्त्यन्तां दुर्गदूषेनाम्भतः भवस्य ( ११ )- हे  
मुपहृत् और यमदुता ! उन्हें ते जाओ, वे हजारोंकी सत्त्वामें  
कारे जायें । ईश्वरकी बुद्धिके अनुसार उनका नाश करो ।

६. मामीषां मोचि कदाचन ( १९ )- इन शत्रुओंमेंसे  
कोई छूट न पावे ।

७. भय पयन्तामेपाम्रायुधानि मा शक्यन्तिधामि-  
पुम् । भयेषां यहु विग्नतामिपयो प्रभुन् मर्मोण ( २० )  
- उनके शत्रु गोत्रे फिर जाय, प्रतिष्ठीके बाल सहनेमें वे  
प्रसन्न हैं । अब बहुत डरे हुए उन शत्रुओंके मर्मस्पर्शोंकी  
हमारे बालोंमें बाँध दो ।

८. इतो जयेतो वि जय सं जय जय ( २४ )- वहाँ  
से भागे जब विजय प्राप्त हो, वहाँसे जीत हो और उन्हें  
उत्तम प्रकारसे विजय मिले ।

९. इमे जयन्तु परामी जयन्तां ( २४ )- उन्हें  
विजय मिले और उनके शत्रुओंको पराजय मिले ।

१०. स्वाहभ्यो दुराक्षामीभ्यः ( २४ )- उन  
( शत्रुओं ) के लिए पुनर्वचन हूँ और प्रभुओंके लिए शाप  
हो । स्वाहा= पुनरासीनः; दुराह= पाप, बुरे जन्म ।

( कां. ५।३ )

१. मर्षं नमन्तां प्रविशन्तस्त्वयाप्यक्षेण पृतना

जयेम ( १ )- मर्षों विजयों मेरे सामने झुक जायें, तेरे  
समस्त अभ्यक्षके साथ चढ़कर हम शत्रुसेनाकी जीते ।

२. अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः ( ५ )- हम उत्तम  
वीर होकर शत्रुओंसे सुरक्षित रहें ।

३. मा नो विवद्वृजिना द्रेभ्या ■■■ ( ६ )- वृष्ट शत्रु  
हमें न जावें ।

४. मा नो रोषियो मा परा दाः ( ८ )- हमारा नाश  
न हो, तुम हमारा त्याग न करो

५. ये सः सपत्ना अप ते भवन्तु ( १० )- हमारे  
जो शत्रु हैं, वे बुर हों ।

( कां. १।२७ )

१. असमृद्धा मघायवः ( २-३ )- पारी सगुह  
न हों ।

( कां. ७।५० )

१. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जपो मे साय भाहितः  
( ८ )- स्वयं मेरे दाहिने हाथमें और जप मेरे बाँये  
हाथमें हो ।

२. गोजिह्वासमंभ्याजिह्वनंजपो हिरण्यजित् ( ८ )  
- मैं पाप, मोक्ष, वन और सोने जीतनेवाला हूँ ।

( कां. ३।२२ )

१. येन देवा देवतामग्र भाग्येन मानसं वर्षं कामे  
वर्षं दिवसं कृणु ( १ )- जिस तेजसे देवोंकी देवत्व प्राप्त  
हुआ वह तेजसे मानस मुझे तेजस्वी कर ।

( कां. ३।१९ )

१. संघितं म इवं प्रह संघितं धीर्यं यत् संघितं  
अत्रमज्जरमस्तु विष्णुधैर्यामसि पुरोहितः ( १ )- मेरा  
यह ज्ञान तेजस्वी है, मेरा यह बल तेजस्वी है, वह मेरा  
तेजस्वी आचरतेज योग न हो जितका मैं पुरोहित हूँ ।

२. समहमेयं राष्ट्रं स्यामि समोजो धीर्यं पटम् ।  
वृक्षामि शत्रूणां बाहू ( २ )- मैं उनका राष्ट्र तेजस्वी  
करता हूँ, मैं उनका सामर्थ्य, धीर्य और बल तेजस्वी करता  
हूँ और शत्रुओंके बाहू तोड़ता हूँ ।

३. नीचैः पयन्तामघरे भवन्तु ये नः सूरि मघ  
यानं धृतन्यात् ( ३ )- जो हमारे शत्रुओं और धनिकों  
पर सैन्य भेजता है, वह भवन्त हो ।

४. क्षिणामि ब्रह्मणामिभानुमयामि स्वानहम् ( १ )  
- मैं शत्रुओंको क्षीण करता हूँ और अपने शत्रुधियोंको  
शान्ति प्रकट करता हूँ ।

५. तीक्ष्णीयांसः परशोरग्रेस्तीक्ष्णतरा उत । इन्द्र-  
स्य वज्राक्षीदशीयांसो जेषामस्मि पुरोहितः । ( ४ )-  
जिनका मैं पुरोहित हूँ, उनके सस्य कुहावीको जणि और  
इन्द्रके बज्रकी अरेखाभी तेज करता हूँ ।

६. एषामहमायुधा सं स्वाम्येषां राष्ट्रं सुधीरं  
वर्धयामि । ( ५ )- उनके अस्त्र में तीक्ष्ण करता हूँ और  
उन्हे राष्ट्रोंको उत्तम शीरोरि युक्त करके बढ़ाता हूँ ।

७. एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विष्ण्वेऽ-  
शस्तु देवाः । ( ५ )- उनकी क्षात्रतेज धीम न हो, वह  
विजयी हो उनके चित्तोंको सब देव वुराहित रहें ।

८. उज्जर्यन्तां मयस्वधाजिनान्पुद्गीराणां जयतामेतु  
घोषः । ( ६ )- उनकी सेना जस्ताहू युक्त हो, जीतनेवाले  
बीरोंका मयघोष महान् हो ।

९. पुध्गघोषा उल्लस्यः केतुवन्त उदीरताम् । ( १ )  
- मन्त्रा लेकर चलनेवाली सेनाका जयघोष युक्त ऊँचा हो ।

१०. प्रेता जयता मर उमा चः सन्तु पादयः । ( ७ )  
- भाग्य बड़ी, विजय प्राप्त करो, हे उषधीरो । काफ़ी  
बाहुर्प जय प्राप्त करनेवाली और बीरतापूर्ण हों ।

११. वीक्षणेपघोऽपलधग्नो हतोमायुधा अवला-  
नुमबाहवः । ( ७ )- तीक्ष्ण धाव से युक्त, तीक्ष्ण अस्त्रों-  
वाले तथा दृढ़ और मजबूत भुजाओंवाले पीर कमबोर  
मनुष्योंके निर्दल सैनिकोंकी भाँति ।

१२. जघेयां वर्यवरं मामीपां मोचि कञ्चन । ( ८ )-  
घानुचेनानेके अग्रे अग्रे सैनिकोंकी मार शान, उनमेंसे  
कितनीकी भी न छोड़ ।

( कां ३।२० )

१. ना वर्धया रयिम् । ( १ )- हमारा धन बढ़े  
२. प्र षो यच्छ विशां पते धनदा अस्ति नस्तवम्  
( २ ) हे प्रजापतिोंके स्वामी ! हमें धन दे । धू हमें धनोंको  
देनेवाला है ।

३. सुनुता रयिं देवी दधातु मे । ( ३ )- तब, सरल,  
स्वभावकी देवी मुझे पर ।

४. सर्वे इज्जन्ः संगत्वां सुमना असहानकामस्य  
नो भुवत् । ( ४ )- सब मनुष्य सहृदयोंके लिए उत्तम वस्तुके  
और उत्तम शान देनेवाले हों ।

५. रयिं च नः सर्वेदीर् नि यच्छ । ( ८ )- सब पुत्र-  
पौत्रादि पुष्ट पत्र हूँ यी ।

६. प्रपेयं सर्वां वाकूदीर्मनसा इदयेन च । ( ९ )-  
मनसे और हृदयसे सब संकल्प हम प्राप्त करें ।

( कां. ६।५३ )

१. पुनः प्राणः पुनरात्मा न पेत् पुनश्चक्षुः पुनर-  
सुर्न येतु । ( २ )- प्राण, आत्मा, धनु और जोवनशक्ति  
हमें फिर प्राप्त हो ।

२. सं वर्धया पयसा सं तनुमिरगन्मादि मनसा  
स शिवेत । ( ३ )- तेज, दूध, शरीर और श्रमसंरक्षण-  
युक्त मनसे हम युक्त हों ।

( कां. ६।४१ )

१. अमर्त्या मर्त्या अभि नः सख्यधमायुधैश्च प्रतर्तं  
जीवसे नः । ( १ )- सब देव मनुष्योंमें रहें और हम शीर्ष-  
जीवनके लिए शीर्षाव धारण करें ।

( कां. ४।१२ )

१. इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमे विशामेकवृषं  
कणु रयम् । ( १ )- हे इन्द्र ! इस भित्ति राजा ( क्षत्रिय )  
को बढ़ा और उसे सब प्रजाओंमें पक्षपात कर ।

२. निपमित्रानकृणुह्यस्य सर्वांस्तान्प्रथवासा मह-  
मुचरेषु । ( १ )- उनके सब शत्रुओंको निर्दल कर और  
उन शत्रुओंको युद्धवस्तुमें गड़ कर ।

३. वधर्षे क्षत्रायामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं राधय  
सर्वमस्मै । ( २ )- क्षत्रियोंमें यह राजा मज्ज हो, हे इन्द्र ।  
उसके सब शत्रुओंका नाश कर ।

४. अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विद्वपति-  
रस्तु राजा । ( १ )- वह धनका धनपति हो, वह राजा  
प्रकाश स्वामी हो ।

५. अस्मिन्निन्द्र महि एषांसि धेह्यवर्चसं कणुहि  
शत्रुमस्य । ( ३ )- हे इन्द्र ! उनमें महान् तेज स्थापित कर  
और उसके शत्रुओंको विस्तेज कर ।

६. येन जयन्ति न पराजयन्ते । ( ५ )- जिससे हमेशा  
जीत हो बितती है, पराजय कभी नहीं होती ।

७. यस्यैवा करदेकवृषं जनानामुत राहामुत्तमं  
मानधानाम् । ( ५ )- जो दुते सब धनधर्मोंमें अग्रे, उत्तम  
वस्त्राव धीर मानवोंके राजाओंमें उत्तम करता है ।

८. उत्तरस्त्यमधरे ते सपराता ये के च राजभृति-  
श्रययस्ते । ( ६ )- शू उन्नत हो, तेरा तान् नीचे गिरे, जो  
भी मनु हों, वे अयोग्यताके नाप ।

९. सिंहप्रतीको विरोधे अग्नि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽव  
घाघस्व शत्रून् ( ७ )- सिंहके समान तु प्रनासे सब  
भागोंको प्राप्त कर, बाघके समान सब शत्रुओंको तु सब  
शत्रुओंको हरान करनेवाला हो।

१०. एकवृष इन्द्रसखर द्वितीयो छत्रयतमा  
क्षिदा भोजनानि ( ७ )- वृ ही एकमात्र जलवान् होकर  
विजयी हो तुमसे शत्रुता करनेवालोंका भोजन छेन से।

( कां. ६।१९ )

१. पुनन्तु मा वेधजनाः पुनन्तु मनसो विधा, पुनन्तु  
विधा भूतानि पद्मानः पुनान्तु मा ( १ )- विष्य जन  
मूसे पवित्र करें, मदनसौप्त लोग मूसे पवित्र करें, विष्यको  
समस्त प्रगति मेरो पवित्रताको रक्षा करे, बापू मेरो पवित्रता-  
को सुरक्षित रखे।

( कां. ६।१५ )

१. सद्यन्धुश्चासद्यन्धुद्वय यो भस्मो अग्निदासति  
तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ( २ )- हमारे  
रितेदार, भाई अथवा सधु भयना को हथारा नाम करना  
बाह्यता है, उन सबमें में उसी प्रकार उत्तम होऊँ, जिस प्रकार  
वनस्पतिपौमें सोम।

( कां. ६।४० )

१. भनमित्रं नो अघरात् भनमित्रं न उत्तरात् इन्द्रा-  
नमित्रं न। पश्चादनमित्रः पुरस्तुधि ( ३ )- इन्द्र की वीर्य,  
उपरते, पीछेते, आगेते और सब ओरते हमें अनुरहित कर।

( कां. ७।५२ )

१. सं जानामहे मनसा, सं विकित्वा मा गुप्सहि  
ममसा देव्ये ( २ )- ममते हम उत्तम ज्ञान प्राप्त करें,

मान प्राप्त करके एक मतवासे होकर रहें। विष्य मनते  
मुक्त होकर हम आनन्दमें एक दूसरेसे द्वेष न करें।

( कां. ५।२० )

१. शत्रूणांस्त्रीपादमिमामतिपाहो गवेपणः सहमान  
उद्भिदः। चन्वीव मंत्रं प्र भरस्व वासं सां प्रामजित्याय  
वपमुद् वदेह ( ११ )- जिस प्रकार उपदेशक सभाको अपनी  
आवाजसे भर देता है, उसी प्रकार शत्रुओंको मोतनेवाला,  
जिस विजयो, शत्रुओंको बसमें रजनेवाला, शत्रुओंको तोड़ने-  
वाला, बसवान् और शत्रुको उखाड़ देनेवाला तु अपने शस्त्रों  
आकाश और पृथ्वीको भर दे और संपाद जीतनेके लिए अन्न  
और इतनी घोषणा कर।

( कां. ५।२१ )

१. विहृदयं वैममस्यं पवामिषेपु दुग्धुमे, विद्वेपं  
कम्पमं मयं ममिषेपु मि दध्मसि ( १ )- शत्रुके मनमें  
उत्पत्तिमता और व्याकुलता निर्वाण कर, विद्वेप, कम्प और  
भय शत्रुओंमें उत्पन्न कर।

१. एता देवयेनाः सूर्यकेतयः सचेतसः अमित्राह  
नो जयन्तु ( १२ )- यह देवसेना सूर्यकिन्हाली स्वजा सेकर  
एकमतसे शत्रुओंको जीते।

( कां. ६।८७ )

१. वा त्वाहार्यमन्तरभूभुक्स्तिष्ठ भविचाचलह,  
विशस्त्वा सर्वा वाग्म्यन्तु मा त्यद्राप्सूमधि भशय  
( १ )- तुमसे राजवही पर बिठाया है। स्थिर हो, कण्ठ  
मा, बचलता छोड़ दे, सब प्रशस्ति तुमसे बाह्य सेरे कारण  
राज्य बचभय न हो।

# अथर्ववेद—

## मातृभूमि और स्वराज्यशासन

### उ ष म म सू ची

| विषय   | पृष्ठ | विषय   | पृष्ठ |
|--|-------|--|-------|
| १. यस्यां परिष्कराः भायः समानीः क्षरन्ति ( १२।१।९ )— जिस भूमिमें तक्षार करनेवाले सब जगह पानीके समान समवृत्तिसे प्रसरण करते हैं।  | १४    | ८. या नक्तं खर्गला इष तन्व यदुमाना प्रजिगाति मुहुः भपजिगाति सा भनर्गं यमं पदीष्ट ( ८।४।१७ )— जो रातको उल्टूके समान अपने खरीरको मुगता है और ओह करता हुआ भटकता है, यह गहरे गड्ढेमें पड़े।  | १२५   |
| २. सा नः माता भूमिः पुत्राय पयः उक्षतु ( १२।१।९ )— यह माताके समान हुवायी मातृभूमि, जिस प्रकार माता पुत्रको दूध देती है, उसी प्रकार हम सब पुत्रोंको छात्र पीनेके पदार्थ प्रवृत्त देवे।            | १४    | ९. यथ धर्मं परशुः पात्रा इय शक्तः सतः रक्षतः भिन्दुः ( ८।४।२१ )— जिस प्रकार कुत्ताभी वर्गसमें लकड़ी खाती है अथवा जिस प्रकार मिट्टीके जर्तन आलापीके छोड़े जा सकते हैं, उसी तरह इस राजसौको चार दे।   | १२६   |
| ३. सभा च सभितिसभायतां प्रजापते दुहितरौ संविदाने ( ७।१२।१ )— जामतया और राजसभिति राजसभे होने चाहिए और राजा उन दोनोंका शासन योग्य अपनी पुत्रीके समान करे।   | १०    | १०. मन्त्रैः मयूररोमभिः हरिभिः आयादि ( ७।११।७१ )— हे इन्द्र ! मोरोंके सुन्दर पंखोंके समान रणभले सुन्दर प्रोबोंसे तुम्हारा भा।  | १२९   |
| ४. अरुण क्षत्रं महीं श्रियं कृष्टिरिव चर्षेय ( ६।५४।१ )— जिस प्रकार क्षयति प्राप्त मड़ती है, उसी प्रकार इस राजाके आज्ञाबल और महान् सम्पत्तिको बड़ा।  | ६९    | ११. पराश्रितः सिं न रथा केचिद् मा वि यमन् ( ७।११।७१ )— जिस प्रकार पक्षियोंको तालमें पकड़ते हैं, उस प्रकार तुम कोई न पकड़े।   | १३२   |
| ५. सु-भुवः समुद्रं न भवन्तु भग्नः तस्थि-वांसं क्षीपिन भर्तृज्यन्ते ( ५।८।७ )— जिस प्रकार जलम भूमिभाग समुद्रको सुखोभित करता है, उसी प्रकार जलमें रहनेवाले विषादिपति राजाको प्रजा विभूषित करती है। | ७२    | १२. खिले विष्टिताः गमः इष पदाः एनाः वि-अकर्त ( ७।११।५४ )— जगलमें बैठे हुए पावोंके समान मैं जबकी वृत्तियोंको भक्षण भक्षण करता हूँ।  | १३६   |
| ६. शितिपाद् इषा इष न उपवृत्त्यति ( ३।२।१६ )— कर देनेवाली प्रजा धूम्रोंके समान स्थिर रहती है।   | १०५   | १३. दुपदाद् इष मुमुचाना मलात् स्थिभः स्नायवा इय, पविशेण पूतं मान्यं इष विभ्ये मा यवस्तः शुम्भन्तु ( ६।११।५३ )— जिस प्रकार लम्पटों बने हुए पत्तु होते हैं वयथा जिस प्रकार खानेके गेह फूट जाता है, अथवा जिस प्रकार छसनीसे छान कर पी पड़ सकते हैं, उसी प्रकार वेच मुझे पावोंसे दुष्टकर पवित्र करें। | १३७   |
| ७. अग्निमान् चक्रः इष अघवांसं अघं अग्नि तपुः सं ययस्तु ( ८।४।२ )— जमिषर रथा हुआ बलैव जिस प्रकार घर्ब होता है, उसी प्रकार गुल्ल कर्म करनेवाले पावोंको दू काच देना यह।                             | १२२   |  |       |

| विषय   | पृष्ठ | विषय  | पृष्ठ |
|--|-------|---|-------|
| १४. सः नः सिन्धुसिन्धु नाकाति पर्वा स्वस्तये ( ४१३१८ )- जिस प्रकार भाषकी चह-<br>माले समूहके परते पार जाया जाता है, उसी प्रकार<br>तू हमें उस पार पहुँचा ।   | १७८   | २१. यथा वर्षि वृक्षः प्रथम् यथा ते फलं<br>सहस्रभिः । ( ७५०१५ )- जैसे पेड़ोंकी मीठिया फल<br>पैता है, उसी तरह तेरे हाथ बिना मद नृत्यकारोंका<br>पर्याकाश कर देता हूँ ।   | २४९   |
| १५. त्वष्टा दुहित्रे बहन्तु युनक्ति एवं विभ्वं<br>भुवने चियाति । अहं सर्वेषां पामसना यक्ष्येण<br>समायुया । ( ४१३१५ )- जिस प्रकार कन्याके<br>बिवाहके अक्षर पर उलका पिता अपने बालबच्चे<br>देवेंके लिए रहैय चलन रख देता है, उसी प्रकार मैं<br>पार्श्वी और रोगेति मलम होकर बीमारि प्राण<br>कर ।  | १८५   | २२. अथा फलवती दत्त गां क्षीरिणीमिव ।<br>सं मा कृतस्य धारया धनु स्तोमेव नद्यात्<br>( ७५०१९ )- हे क्षीरिणी ! तू धन देनेवाली गाय<br>के समान फलवती मिलिनीया ( क्षीरिणी इत्यादि )<br>हमें जो, जिस प्रकार समुद्रमें डोरी डोभी जाती है,<br>वही प्रकार तुझे कर्मकी धारासे मुक्त कर, मैं हवेता<br>कर्महीन रहूँ । | २५०   |
| १६. भा पर्जन्यस्य वृष्टयोदस्वामामुता ययम्<br>( ४१३१११ )- वनति जिसप्रकार वृष्टादि बरस-<br>कियां बरती हैं और वनन होती हैं, उसी प्रकार हम<br>वनाति और अमरत्वको प्राप्त हों ।  | १८६   | २३. हस्ती मृगार्णां सुखदामतिष्ठावान्भूष<br>हि । तस्य भोजेन वर्षेसामि पिचामि नामदम्<br>( ४१३१११ )- जिस प्रकार वृद्धोंमें हाथी प्रतिष्ठित<br>है, उस प्रकार उसके पुंस्यदे और तेजसे मैं अपना<br>अधिक्य करता हूँ ।   | २५४   |
| १७. शुने पेष्टमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि<br>सुतयो ( ४१३७३ )- जिस प्रकार कुत्तेके बालमें<br>हुरी बालते हैं, उसी प्रकार हमें पान देवोंके वनहीन<br>मनुष्योंको मे मनुष्यके सामने शत्रु बनाते हैं ।  | १९३   | २४. आहं सनेमि दे पक्षो अधि ज्यामिष<br>धन्वदि । कमस्वर्गो ह्य रोहितमनस्यसायता<br>सदा । ( ४१३०१४ )- वन्यको डोरीके समान तेरे<br>धरोरके इतिवृत्तोंको मन्त्रान् करता हूँ । जिस प्रकार<br>रीछ हिरण्योपर हलका करता है, उसी प्रकार तू भी<br>म बलते हुए हलका कर ।  | २९२   |
| १८. कुक्षं यज्ञाधः परिपश्यतामा भुत्स्कुत<br>शरभस्यमृगम् । शकमस्यशक्ये विपुमिन्द्र<br>( १२५४ )- जिस प्रकार बृक्ष ( वृक्ष सर्वात् फलवती<br>वने ह्य धनुष ) से बघी हुई गायें ( गायके लालति<br>वनी हुई बलवती औरियां ) अपने तेजस्वी पुत्रकपी<br>बाघको प्रेसते और कुत्तेके घोरता है, उसी प्रकार हे<br>ह्य । हमने उक्त पुत्रकपी तेजस्वी बाघको आगे<br>प्रेस कर पहुँचा । | २९४   | २५. अथ कस्य पक्षः धनुः इय वा तामय<br>( ४१५६ )- आज उसकी इतिवृत्तोंको धनुषके समान<br>केता ।   | २९६   |
| १९. यथा घां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति सेज-<br>नम् । यथा रोमं चातस्तिष्ठतु सुख इत्त ॥<br>( ४१२४४ )- जिस प्रकार घु और पृथ्वीके बीचमें<br>सेज रहता है, उसी प्रकार रोम और तामयें यह<br>पुन रहे ।  | २९४   | २६. कमस्वर्गो रोहितं ह्य भवत्सलायता<br>सदा मयस्व ( ४१५७ )- जिस प्रकार हिसा पशु<br>हिरणीपर प्रत्यक्ष करता है, उसी प्रकार तू भी मया<br>म बलते हुए पराक्रम कर ।  | २९६   |
| २०. यथा वृक्षमशानिर्विभ्रह्य हन्यमाति ।<br>यथा अहमथ कितवानसैर्विभ्रह्यसमपति ।<br>( ७५०११ )- जिस प्रकार बिलोई वृक्षोंको मितकुस<br>नष्ट कर ॥॥ है, उसी प्रकार मैं आज अपने काशीके<br>कुमारियोंको नष्ट कर दूँगा ।   | २९४   | २७. सिंहाप्रतोच्चो विशो यदि सर्पा ग्याप्र-<br>प्रतीकोच्च वाघस्य शम्भू । ( ४१२१७ )- सिंह<br>और बाघके सेवा प्रतापी होकर तू सब प्रतापीके<br>योग्य योग प्राप्त कर और समुद्रोंको दूर कर ।  | २९६   |
| २१. यथा वृक्षमशानिर्विभ्रह्य हन्यमाति ।<br>यथा अहमथ कितवानसैर्विभ्रह्यसमपति ।<br>( ७५०११ )- जिस प्रकार बिलोई वृक्षोंको मितकुस<br>नष्ट कर ॥॥ है, उसी प्रकार मैं आज अपने काशीके<br>कुमारियोंको नष्ट कर दूँगा ।   | २९४   | २८. योन्धः ह्य प्रत्युतो गर्भः पयः सर्पां<br>अनु क्षिय ( ४१२१४ )- जिस प्रकार घृतो तरह<br>क्या हुआ गर्भ बागके पेड़ोंे नष्ट होजाता है, उसी  |       |

| विषय   | पृष्ठ | विषय  | पृष्ठ |
|--|-------|---|-------|
| प्रकार तू इस दुनियामें अनुकूल परिस्थितियोंमें विराजमान हो ।  | ३१९   | करते ॥ परबता ॥ उसी प्रकार तू इसमें विजय प्राप्त करने गरण ।  | ३२२   |
| २९. सिंह इस जेष्ठन् अभितस्तनीहि ( ५।२०।१ )- विजयको इच्छा करनेवाला गयाज्योरेके समान वर्जता रहे ।                                    | ३२१   | ३२. अधिपवणे अग्निः प्राधा मंशून् एव गम्यन् वेदः अधिनुःष्य ( ५।२०।१० )- तोमरस निकालनेके समय जिस प्रकार पक्षर सोमके ऊपर नाचता है, उसी प्रकार भूमि भीतनेको इच्छा करनेवाला तू अग्निके धर्मोपर नाच-उपपर अभि-कार कर । | ३२३   |
| ३०. वासितां वृषभः अभिद्रन्दन् इषा त्वं वृष । ( ५।२०।२ )- वायके लिए वेत जिस प्रकार नाचाना करता है, उसी प्रकार तू वज्रवाण होकर गरल । | ३२२   | ३३. घाचं प्रभरन्व घाम्भी मीरं इव ( ५।२०।११ )- उपदेआक जिस प्रकार भीतालोंमें अपना उपदेआ पहुँचाता है, उसी प्रकार तू अपने भावकसे आशपात्रका प्रवेश भर दे ।   | ३२३   |
| ३१. यूये गम्यन् पूषा इव सहस्रा संघमा-जित् विद्वानः अभिरुष्य ( ५।२०।३ )- यत्नेके शुण्डमें रहनेवाला साँढ जिस प्रकार गायोंको इच्छा    |       |   |       |

# अथर्ववेद—

## मानुष्यमूर्ति और स्वराज्यशासन कांडकमानुसार सूक्तोंकी अनुक्रमणिका

| कांड | सूक्त | मंत्र | शुद्ध | कांड | सूक्त | मंत्र | शुद्ध |
|------|-------|-------|-------|------|-------|-------|-------|
| १    | २     | ४     | १३३   | ४    | २१    | ७     | १९७   |
|      | ७     | ७     | १५४   |      | २३    | ७     | १८१   |
|      | ८     | ४     | १६०   |      | २६    | ७     | १८०   |
|      | १०    | ४     | १६९   |      | २७    | ७     | १९४   |
|      | १९    | ४     | १३६   |      | २८    | ७     | १९६   |
|      | २१    | ४     | १९१   |      | २९    | ७     | १९८   |
|      | २३    | ४     | २४६   |      | ३०    | ८     | ५४    |
|      | २७    | ४     | १२०   |      | ३३    | ८     | १७८   |
|      | २८    | ४     | १००   |      | ३६    | १०    | १२९   |
|      | २९    | ४     | ११    |      | ४०    | ८     | १११   |
| २    | ५     | ७     | ८४    | ५    | ३     | ११    | १४१   |
|      | २७    | ७     | २३८   |      | ८     | १     | १४७   |
|      | १     | ६     | १६३   |      | १५    | ११    | १९४   |
|      | २     | ६     | १६४   |      | १६    | ११    | १९४   |
|      | ३     | ६     | ७७    |      | २०    | ११    | १२१   |
|      | ४     | ७     | ७९    |      | २१    | १२    | १६४   |
|      | ४     | ७     | ७९    |      | २४    | १७    | १८७   |
|      | ५     | ८     | १२७   |      | २४    | १     | १८१   |
|      | ६     | ८     | १५५   |      | २४    | ३     | २८२   |
|      | १९    | ८     | १५९   |      | १५    | १     | १०३   |
| ३    | २०    | १०    | १५३   | ६    | १९    | ३     | १०३   |
|      | २२    | ६     | १६५   |      | १६    | ३     | १७१   |
|      | २७    | ६     | १०४   |      | १७    | ३     | १९३   |
|      | २९    | ८     | १८४   |      | २८    | ४     | १६१   |
|      | ३१    | ११    | १५०   |      | २९    | ३     | २८५   |
|      | ३     | ७     | १९५   |      | ३०    | ३     | १८८   |
|      | ४     | ८     | ७७    |      | ३१    | ३     |       |
|      | ८     | ७     |       |      |       |       |       |
|      |       |       |       |      |       |       |       |
|      |       |       |       |      |       |       |       |



| कांड | सूक्त | मंत्र | पृष्ठ | कांड | सूक्त     | मंत्र | पृष्ठ |
|------|-------|-------|-------|------|-----------|-------|-------|
| १    | ४३    | ३     | ३१८   | ७    | ५१        | १     | १८६   |
|      | ४७    | ३     | ३१०   |      | ५२        | १     | ३१५   |
|      | ४८    | ३     | ३०९   |      | ५३        | २     | ३२७   |
|      | ५१    | ३     | ३१२   |      | ५४        | २     | १२१   |
|      | ५३    | ३     | ३८४   |      | ७०        | ५     | १३८   |
|      | ५४    | ३     | ५९    |      | ७७        | ३     | ३१६   |
|      | ५५    | ३     | ३११   |      | ७८        | २     | ३१७   |
|      | ५८    | ३     | ३०६   |      | ८४        | ३     | ६५    |
|      | ६२    | ३     | ३१०   |      | ८५        | १     | ६७    |
|      | ६५    | ३     | २४५   |      | ८६        | १     | ६७    |
|      | ६६    | ३     | १४६   |      | ९०        | ३     | १५४   |
|      | ६७    | ३     | १४६   |      | ९१        | १     | ६४    |
|      | ६९    | ३     | ३०७   |      | ९३        | १     | ६४    |
|      | ७५    | ३     | १४४   |      | ९३        | २     | ६५    |
|      | ७९    | ३     | ३९१   |      | १०८       | १     | १५३   |
|      | ८६    | ३     | ३०४   |      | ११०       | ३     | १३३   |
|      | ८७    | ३     | ३१६   |      | ११५       | ४     | १७५   |
|      | ८८    | ३     | ६८    |      | ११७ (११९) | १     | १३१   |
|      | ९७    | ३     | १४३   |      | ११८       | १     | १३३   |
|      | ९८    | ३     | ८७    | ८    | ३         | १६    | १३१   |
|      | ९९    | ३     | ३०९   |      | ४         | १५    | १३६   |
|      | १०१   | ३     | ३९१   |      | ८         | २४    | २२६   |
|      | १०३   | ३     | १४०   |      | १० (१)    | १३    | ४४    |
|      | १०४   | ३     | १४१   |      | १० (२)    | १०    | ४५    |
|      | १०७   | ३     | १८६   |      | १० (३)    | ८     | ४६    |
|      | १११   | ३     | १९१   |      | १० (४)    | १६    | ४७    |
|      | ११५   | ३     | १४६   |      | १० (५)    | १६    | ४८    |
|      | ११६   | ३     | ३१५   |      | १० (६)    | ४     | ५०    |
|      | ११७   | ३     | ३११   | ११   | ६         | ३३    | १७१   |
|      | ११८   | ३     | ३१०   | १२   | १         | ६३    | ११    |
|      | ११९   | ३     | ७६    | १६   | (१)       | १३    | २०१   |
|      | १२०   | ३     | १३९   |      | (२)       | ६     | २०३   |
|      | १२१   | ३     | १४०   |      | (३)       | ६     | २०३   |
|      | १२    | ४     | ६०    |      | (४)       | ७     | २०४   |
|      | १३    | २     | १४२   |      | (५)       | १०    | २०५   |
|      | ४२    | २     | १९१   |      | (६)       | ११    | २०५   |
|      | ४६    | ३     | ३१९   |      | (७)       | १३    | २०६   |
|      | ४८    | २     | ३१३   |      | (८)       | ३३    | २०७   |
|      | ४९    | २     | ३१४   |      | (९)       | ४     | २०९   |
| ५०   |       | ९     | ३४८   | १७   | १         | ३०    | २१६   |

# अथर्ववेद—

## मातृभूमि और स्वराज्यभासन

### कांड-सूक्त-विषय-मंत्र-ऋषि-देवताओंकी

## अनुक्रमणिका

| कांड | सूक्त | विषय                              | मंत्रसंख्या | ऋषि                    | देवता  | पृष्ठ |
|------|-------|-----------------------------------|-------------|------------------------|--|-------|
| ११   | १     | १ मातृभूमिका बंदिह-श्रोत          | ५३          | अथर्व                  | भूमिः  | ११    |
| ८    | १०    | २ विराट्                          | १३          | अथर्वचार्यः            | विराट्                                       | ४४    |
|      |       | ३ विराट्                          | १०          | अथर्वचार्यः            | विराट्                                       | ४५    |
|      |       | ४ विराट्                          | ८           | अथर्वचार्यः            | विराट्                                       | ४६    |
|      |       | ५ विराट्                          | १६          | अथर्वचार्यः            | विराट्                                       | ४७    |
|      |       | ६ विराट्                          | १६          | अथर्वचार्यः            | विराट्                                       | ४८    |
|      |       | ७ विराट्                          | ४           | अथर्वचार्यः            | विराट्                                       | ५०    |
| ४    | ३०    | ८ राश्ट्री वेदो                   | ८           | अथर्व                  | सर्वेभ्यः, सर्वभिरुक्तः,<br>सर्वदेवभ्यो वाक् | ५४    |
| ७    | १२    | ९ राश्ट्रभाषी अनुमति              | ४           | श्रीमन्तः              | सभा, पितृ, इन्द्र, मन                        | ६०    |
| ७    | ९१    | १० राजाका कर्तव्य                 | १           | अथर्व                  | चंद्रमाः                                     | ६४    |
| ७    | ९२    | ११ राजाका कर्तव्य                 | १           | अथर्व                  | चंद्रमाः                                     | ६४    |
| ७    | ९३    | १२ राजाका कर्तव्य                 | १           | भृगुर्हविरा            | इन्द्रः                                      | ६५    |
| ७    | ८४    | १३ राजाका कर्तव्य                 | ३           | भृगुः                  | वायुदेवा अग्निः, इन्द्रः                     | ६५    |
| ७    | ८५    | १४ राजाका कर्तव्य                 | १           | अथर्व (स्वराज्यपनकायः) | ताम्र्यः                                     | ६७    |
| ७    | ८६    | १५ राजाका कर्तव्य                 | १           | अथर्व (स्वराज्यपनकायः) | इन्द्रः                                      | ६७    |
| ६    | ८८    | १६ राजाकी स्थिरता                 | ३           | अथर्व                  | भुवः   | ६८    |
| ६    | ५४    | १७ राष्ट्रके ऐश्वर्यकी वृद्धि     | ३           | बह्म                   | अग्निधोमो                                    | ६९    |
| ४    | ८     | १८ राजाका राज्याभिषेक             | ७           | अथर्वहविराः            | चंद्रमाः, भावः,<br>राज्याभिषेक               | ७०    |
| ३    | ५     | १९ राजा और राजाके बलानेपथि        | ८           | अथर्व                  | सोमः   | ७१    |
| ६    | ११८   | २० राजाका बुनाय                   | ४           | अथर्वहविराः            | सोमः, शक्रभूषः                               | ७१    |
| ३    | ३     | २१ राजाकी स्वराज्यपर पुनः स्थापना | ६           | अथर्व                  | अग्निः, भारादेवताः                           | ७३    |
| ३    | ४     | २२ राजाका बुनाय                   | ७           | अथर्व                  | इन्द्रः                                      | ७२    |
| ६    | ९८    | २३ विजयी राजा                     | ३           | अथर्व                  | इन्द्रः                                      | ८६    |
| ३    | ५     | २४ अग्निपिका घर्षे                | ७           | भृगुः माधवः            | इन्द्रः                                      | ८७    |
| १    | ११    | २५ प्रजा-पालक-सूक्त               | ४           | अथर्व                  | इन्द्रः                                      | ९१    |
| १    | ३१    | २६ माया-पालक-सूक्त                | ५           | बह्म                   | मायापालकः (वास्तोष्मति)                      | ९३    |
| १    | २९    | २७ राष्ट्र-अथर्वान-सूक्त          | ६           | वसिष्ठः                | वसुधायपतिः                                   | ९७    |
| १    | २९    |                                   |             |                        | अभीष्टार्थी वसिष्ठः                          | १००   |

| कांड | सूक्त | विषय                              | मंत्रसंख्या | क्रिया                               | देवता                                      | पृष्ठ |
|------|-------|-----------------------------------|-------------|--------------------------------------|--|-------|
| ३    | २९    | २८ वस्त्रक कर                     | ८           | उहासकः                               | श्रित्तिपाद्भविः, कामः, भूमि.              | १०४   |
| ८    | ३     | २९ दुष्टोका नाश                   | २६          | चातनः                                | अग्निः                                     | १११   |
| १    | १८    | ३० दुष्टनाशन सुक्त                | ४           | चातनः                                | अग्निः, मातृभूमि                           | ११०   |
| ८    | ४     | ३१ प्रचुरमन                       | २५          | चातनः                                | इन्द्रासोमी                                | १२२   |
| ७    | ११७   | ३२ शत्रुका निवारण                 | १           | अथर्वाह्विरा                         | इन्द्रः                                    | १३६   |
| ७    | ११०   | ३३ शत्रुका नाश                    | ३           | भृगुः                                | इन्द्रासोमी                                | १३३   |
| ४    | ४०    | ३४ शत्रुका नाश                    | ८           | शुक्रः                               | वसु, बहुदेवताम्                            | १३३   |
| १    | १९    | ३५ शत्रु-नाशन-सुक्त               | ४           | शक्रः                                | ईश्वरः, वसु                                | १३३   |
| ७    | ७०    | ३६ शत्रुमन                        | ५           | अथर्वा                               | इमेन देवाः                                 | १३८   |
| ४    | १३४   | ३७ शत्रुका नाश                    | ३           | शुक्रः                               | वसुः                                       | १३९   |
| ६    | १३५   | ३८ शत्रुका नाश                    | ३           | शुक्रः                               | वसु  | १४०   |
| ६    | १०१   | ३९ शत्रुका नाश                    | ३           | उपशोचनः                              | इन्द्रासोमी, बहुदेवताम्                    | १४०   |
| ४    | १०४   | ४० शत्रुको पराजय                  | ३           | प्रशोचनः                             | इन्द्रासोमी, बहुदेवताः                     | १४१   |
| ७    | १३    | ४१ शत्रुको तेजका नाश              | ९           | अथर्वा ( द्विषो-<br>वर्षाहर्तृकामः ) | सूर्यः                                     | १४२   |
| ३    | ९७    | ४२ शत्रुको दूर करना               | ३           | अथर्वा                               | वेप, मित्रावरुणो                           | १४३   |
| ६    | ७१    | ४३ शत्रुको दूर करना               | ३           | कनत्यः                               | इन्द्रः                                    | १४४   |
| ६    | ६५    | ४४ शत्रुपर विजय                   | ३           | अथर्वा                               | वसु, ईश्वर, पराजय                          | १४५   |
| ६    | ६६    | ४५ शत्रुपर विजय                   | ३           | अथर्वा                               | इन्द्रः                                    | १४६   |
| ६    | ६७    | ४६ शत्रुपर विजय                   | ३           | अथर्वा                               | इन्द्रः                                    | १४६   |
| ५    | ८     | ४७ शत्रुको वधना                   | ९           | अथर्वा                               | वसुईश्वर्य, अग्निः,<br>विश्वदेवता, इन्द्रः | १४७   |
| ४    | ३     | ४८ शत्रुको दूर करना               | ७           | अथर्वा                               | वसु, व्यासः                                | १५०   |
| ७    | १०८   | ४९ दुष्टोका लहान                  | २           | भृगुः                                | अग्निः                                     | १५३   |
| ७    | ९०    | ५० दुष्टका निवारण                 | ३           | अग्निः                               | अग्निः                                     | १५४   |
| १    | ७     | ५१ शत्रुपान नाशनम्                | ७           | चातनः                                | अग्निः ( जलदेवाः ), अग्नीषोमी              | १५४   |
| १    | ८     | ५२ शत्रुपान-नाशनम्                | ४           | चातनः                                | अग्निः, बहुदेवताः                          | १५०   |
| ३    | १     | ५३ शत्रुसेनाका संभोहन             | ३           | अथर्वा                               | सेनासोहन, बहुदेवताम्                       | १६३   |
| ३    | १     | ५४ शत्रुसेनाका संभोहन             | ३           | अथर्वा                               | सेनासोहन, बहुदेवताम्                       | १६४   |
| १    | १०    | ५५ असत्य भाषणादि<br>पराजिते दण्डन | ४           | अथर्वा                               | अश्विनः, वसु.                              | १६९   |
| ११   | ६     | ५६ पापसे वधनेकी प्रार्थना         | ३३          | प्रतापि.                             | चन्द्रमाः, अश्विनः                         | १७१   |
| ७    | ११५   | ५७ पापों लक्षणोंको<br>दूर करना    | ४           | अथर्वाह्विरा                         | सविता, जलदेवा                              | १७१   |
| ६    | ११५   | ५८ पापसे वधना                     | ३           | वसु                                  | विश्वदेवता                                 | १७१   |
| ४    | ३३    | ५९ पाप-नाशन                       | ८           | वसु                                  | वामनासोमी अग्निः                           | १७८   |
| ६    | २६    | ६० पापों निवारण त्याग करो         | ३           | वसु                                  | वामना                                      | १७१   |
| ४    | २६    | ६१ पाप-मोचन                       | ७           | मृगाश्व                              | वामनासोमी                                  | १८०   |
| ४    | १३    | ६२ पाप-मोचन                       | ७           | मृगाश्व                              | अग्निः                                     | १८१   |
| १    | ३१    | ६३ पापकी निवृत्ति                 | ११          | वसु                                  | वामना                                      | १८४   |

| क्राड             | सूक्त | विवरण                            | मन्त्रसंख्या | ऋषि     | देवता                              | पृष्ठ |
|-------------------|-------|----------------------------------|--------------|---------|------------------------------------|-------|
| ७                 | ६४    | ६४ पापसे धनार्थ                  | १            | वस      | मन्त्रोक्ता, निष्कृति              | १९१   |
| ७                 | ॥१॥   | ६५ पापसे मुक्तता                 | १            | अस्मन्  | सोमाहारी                           | १९१   |
| १                 | ११३   | ६६ अन्तरे पापको दूर करना         | ३            | अथर्व   | पूषा                               | १९२   |
| ६                 | ३७    | ६७ भाग्यसे हानि                  | ३            | अथर्व   | अश्विन                             | १९३   |
| [ स्वस्त्ययनकाम ] |       |                                  |              |         |                                    |       |
| ४                 | २७    | ६८ पाप-मोक्ष                     | ७            | मुनि    | वस                                 | १९४   |
| ४                 | २८    | ६९ पाप-मोक्ष                     | ७            | मुनि    | अश्विन                             | १९५   |
| ४                 | २९    | ७० पाप-मोक्ष                     | ७            | मुनि    | विष्णु                             | १९६   |
| १६                | १     | ७१ पु सन्मोक्ष और विजयप्राप्ति   | १३           | अथर्व   | अश्विन                             | २००   |
|                   |       | ७२ पु सन्मोक्ष और विजयप्राप्ति   | ६            | अथर्व   | अश्विन                             | २०१   |
|                   |       | ७३ पु सन्मोक्ष और विजयप्राप्ति   | ६            | अथर्व   | अश्विन                             | २०२   |
|                   |       | ७४ पु सन्मोक्ष और विजयप्राप्ति   | ७            | अथर्व   | अश्विन                             | २०३   |
|                   |       | ७५ पु सन्मोक्ष और विजयप्राप्ति   | १०           | अथर्व   | अश्विन                             | २०४   |
|                   |       | ७६ पु सन्मोक्ष और विजयप्राप्ति   | ११           | अथर्व   | अश्विन                             | २०५   |
|                   |       | ७७ पु सन्मोक्ष और विजयप्राप्ति   | १३           | अथर्व   | अश्विन                             | २०६   |
|                   |       | ७८ पु सन्मोक्ष और विजयप्राप्ति   | १३           | अथर्व   | अश्विन                             | २०७   |
|                   |       | ७९ पु सन्मोक्ष और विजयप्राप्ति   | ४            | अथर्व   | अश्विन                             | २०८   |
| १७                | १     | ८० अन्तरे अश्विनके विषये श्रावण  | ३०           | ब्रह्मा | आदि                                | २११   |
| ८                 | ८     | ८१ पराजयसे विजय                  | १३           | भृगु    | इन्द्र, वसुदेव, पराजयहर्ता         | २१२   |
| ७                 | ११८   | ८२ विजयकी श्रावण                 | १            | अथर्व   | अश्विन                             | २१३   |
| १                 | १     | ८३ विजय-सूक्त                    | ४            | अथर्व   | अश्विन ( सुविष्ट, इन्द्र, अश्विन ) | २१४   |
| ३                 | २७    | ८४ विजय-श्रावण                   | ७            | अथर्व   | अश्विन, इन्द्र, अश्विन             | २१५   |
| ५                 | ३     | ८५ विजय-श्रावण                   | ११           | अथर्व   | अश्विन, विष्णुदेव                  | २१६   |
| १                 | २७    | ८६ विजय-श्रावण पराजय             | ४            | अथर्व   | इन्द्र                             | २१७   |
| ७                 | ५०    | ८७ अश्विन और विजय                | ९            | अथर्व   | इन्द्र                             | २१८   |
| ३                 | २३    | ८८ अश्विन-श्रावण सूक्त           | ६            | अथर्व   | अश्विन, विष्णुदेव                  | २१९   |
| ३                 | १९    | ८९ अश्विन और अश्विनकी वैश्वदेवता | ८            | अथर्व   | अश्विन, विष्णुदेव, अश्विन          | २२०   |
| ३                 | ३०    | ९० वैश्वदेवकी श्रावण अश्विन      | १०           | अथर्व   | अश्विन, वैश्वदेवता                 | २२१   |
| ६                 | ३८    | ९१ वैश्वदेवकी श्रावण             | ४            | अथर्व   | अश्विन, वैश्वदेवता                 | २२२   |
| ३                 | ३७    | ९२ अश्विनकी श्रावण               | ६            | अथर्व   | अश्विन                             | २२३   |
| ६                 | ३     | ९३ अश्विनकी श्रावण               | ३            | अथर्व   | अश्विन                             | २२४   |
| ६                 | ४     | ९४ अश्विनकी श्रावण               | ३            | अथर्व   | अश्विन                             | २२५   |
| ६                 | ५३    | ९५ अश्विनकी श्रावण               | ३            | अथर्व   | अश्विन                             | २२६   |
| ६                 | २०७   | ९६ अश्विनकी श्रावण               | ४            | अथर्व   | अश्विन                             | २२७   |
| ७                 | ५१    | ९७ अश्विनकी श्रावण               | ४            | अथर्व   | अश्विन                             | २२८   |
| ५                 | १४    | ९८ अश्विनकी श्रावण               | १७           | अथर्व   | अश्विन                             | २२९   |
| ६                 | ४७    | ९९ अश्विनकी श्रावण               | ३            | अथर्व   | अश्विन                             | २३०   |

| काण्ड | सूक्त | विषय                            | मन्त्रसंख्या | नामि                | देवता                 | पृष्ठ |
|-------|-------|---------------------------------|--------------|---------------------|-----------------------|-------|
| ६     | ७९    | १०० हमारी रक्षा                 | ३            | अथर्व               | संस्कानम्             | १९१   |
| ६     | १०१   | १०१ बल प्राप्त करना             | ३            | अथर्वगिरि           | कहूगस्पति             | १९१   |
| ६     | ७१    | १०२ अथर्वी अभितक्का विस्तार     | ६            | बहूरा               | अध्वरा, बहुरंधरायाम   | १९१   |
| ५     | ११    | १०३ अतमबल                       | ११           | विश्वामित्र         | एकमुखा                | १९४   |
| ५     | १५    | १०४ तत्त्वकी विलाप              | ११           | विश्वामित्र         | अथर्वी वनस्पतिः       | १९४   |
| ४     | ४     | १०५ बलसंयम                      | ८            | अथर्वी              | अनस्पति               | १९५   |
| ४     | ६०    | १०६ लाप्रदक-संयम                | ७            | वसिष्ठ अथर्वी का    | अग्निषो राभा, इन्द्र  | १९७   |
| ४     | ६६    | १०७ सारका बल                    | १७           | वातल                | सप्तमी नामि           | १९९   |
| ६     | १९    | १०८ आत्मपुष्टिके लिये प्रायश्चा | २            | जामाति              | अध्वरा, नामादेवता     | २०१   |
| ६     | १५    | १०९ में उत्तम वन्या             | ३            | उत्तम               | अनस्पति               | २०३   |
| ६     | ८३    | ११० लक्ष्मी अथर्वी हो !         | ३            | अथर्वी              | एकमुखा                | २०४   |
| ६     | १९    | १११ अतमो होना                   | ३            | अथर्वी ( अथर्वकाम ) | दिवि, वृहस्पति        | २०५   |
| ६     | ५८    | ११२ अतमो इन्द्रा                | ३            | अथर्वी ( अथर्वकाम ) | वृहस्पति, मन्त्रोक्ता | २०६   |
| ६     | ६९    | ११३ अतमो लिये प्रायश्चा         | ३            | अथर्वी              | वृहस्पति, अग्निषो     | २०७   |
| ६     | ४०    | ११४ निभयताके लिये प्रायश्चा     | ३            | अथर्वी              | मन्त्रोक्ता           | २०८   |
| ६     | ४८    | ११५ कल्याण प्रायश्चा प्रायश्चा  | ६            | अग्निषो अथर्वी      | मन्त्रोक्ता           | २०९   |
| ६     | ९९    | ११६ कल्याणके लिये प्रायश्चा     | ६            | अथर्वी              | इन्द्र, सोम राभा ता न | २०९   |
| ६     | ९०    | ११७ अतमो वसिष्ठ                 | ३            | अथर्वी              | राभा, मन्त्रोक्ता     | २१०   |
| ६     | ५५    | ११८ उत्तम मायसे जाना            | ३            | अथर्वी              | विश्वदेवा, अथर्व      | २११   |
| ६     | ५१    | ११९ अतमो वृहस्पति               | ३            | अथर्वी              | अथर्व, वसिष्ठ         | २११   |
| ७     | ४८    | १२० पुष्टिके प्रायश्चा          | २            | अथर्वी              | राका                  | २१३   |
| ७     | ४९    | १२१ वृष्टिके प्रायश्चा          | २            | अथर्वी              | वैश्वामनी             | २१४   |
| ७     | ५१    | १२२ उत्तम राभा                  | २            | अथर्वी              | सामनस्प, अग्निषो      | २१५   |
| ६     | १०१   | १२३ अतमो वृहस्पति               | ४            | अथर्वी              | मन्त्रोक्ता           | २१५   |
| ७     | ७७    | १२४ अतमो वृष्टिके               | ३            | अथर्वी              | अथर्व                 | २१६   |
| ७     | ७८    | १२५ अथर्वी-मन्त्रोक्ता          | २            | अथर्वी              | अग्नि                 | २१७   |
| ६     | ४३    | १२६ अतमो अतम                    | ३            | अथर्वी              | मन्त्रोक्ता           | २१८   |
| ७     | ४९    | १२७ अतमो अतम                    | ३            | अथर्वी              | मन्त्रोक्ता           | २१९   |
| ६     | ११५   | १२८ अतमो अतम                    | ३            | अथर्वी              | अथर्व                 | २१९   |
| ६     | १२६   | १२९ अतमो अतम                    | ३            | अथर्वी              | अथर्व                 | २२०   |
| ५     | १०    | १३० अतमो अतम                    | ११           | अथर्वी              | अथर्व                 | २२१   |
| ५     | २१    | १३१ अतमो अतम                    | ११           | अथर्वी              | अथर्व                 | २२४   |
| ६     | ८७    | १३२ अतमो अतम                    | ३            | अथर्वी              | अथर्व                 | २२५   |
| ७     | ११    | १३३ अतमो अतम                    | १            | अथर्वी              | अथर्व                 | २२७   |
| ६     | ६     | १३४ अतमो अतम                    | ८            | अथर्वी              | अथर्व                 | २२७   |

# अथर्ववेद-

## मातृभूमि और स्वराज्यशासन

### वर्णानुक्रम-मंत्रसूची

| मंत्र                     | पृष्ठ | मंत्र                           | पृष्ठ | मंत्र                       | पृष्ठ |
|---------------------------|-------|---------------------------------|-------|-----------------------------|-------|
| अंगो भगो वधयो             | २८२   | अतिसुहो अर्घो वधयो              | १०२   | अग्निं तं निष्कृतिः         | १०१   |
| भक्षः पतवती घर्षं रत्न धो | २५०   | अत्रैवानिह वृत्रहनुमो           | १४९   | अग्निं ददा धेनुः वसिष्ठानिः | १००   |
| अध्वो च ते सुखे           | १५१   | अरयो विवि प्रियंवदानु           | २१८   | अग्निं चिं वषेडा            | ७१    |
| आगम दधः दधरगम             | २०९   | अयो वेद्वि प्रथमार्ता           | २५    | अग्निं हविर्द दधिमताः सुराः | १०९   |
| अम हन्तव्य वायुवे         | १११   | अहमस्तथा राजा वधयो              | ७८    | अग्निं प्रहि माप वैत        | ७०    |
| अग्निः पूर्व आ रमता       | १५५   | अद्यमे अय दधेताव                | २९३   | अग्निमूर्ध्वो अग्निभूमि     | १४३   |
| अग्निः आगम्यते वधाति      | १८५   | अद्या तुष्टं यमि धनुषधनो        | ११५   | अग्निमृत्वा अग्न्याग्नि     | १००   |
| अग्निः माताः धवने         | २९०   | अद्योऽयम वधारे-यो गृहः          | ११९   | अग्निं तैत नमिना            | १००   |
| अग्निं प्रयो वधवतीव       | १७१   | अग्निं यो मूर्ध्वं वृत्रहामृषी  | १९७   | अग्नीवतो अग्निवतः           | १०१   |
| अग्निर्विध आ तपति         | १७    | अग्निमिन् नो अमरुदवधिर्न        | १०८   | अग्निमृतेन मयवसरमा          | ११३   |
| अग्निर्नः वधुम्           | १६२   | अग्न्याग्निमृते वधवमिनेः        | १०१   | अग्नी वै वृषमाग्नि          | १४१   |
| अग्निर्नो वृत्रः प्रवैदु  | १६३   | अग्न्युदयो वातवेदा अग्न्यो      | १५    | अग्निर्नो वितामि            | १६५   |
| अग्निर्भूम्यामोषधीषु      | १७    | अग्न्योऽग्नि मृदुरग्नि ( १, ९ ) | १०५   | अमृतधाम निः                 | ११६   |
| अग्निर्मा गोत्रा वरि      | २११   | अग्निरिह वायव्योऽग्निः          | २१६   | अमृतं वारे वृत्रह           | २४६   |
| अग्निर्वनवतीनाम्          | २८७   | अग्न्येव नमसी योयो अग्न्यु      | १११   | अग्नी यो भूरिभूतः           | ११८   |
| अग्निवत्ताः वृषिभूति      | १७    | अग्न्याग्निमृत्वा अग्न्याग्नि   | १७१   | अग्नी योयो वातवासीव         | ११७   |
| अग्नी रक्षाधि देवति       | १११   | अय ना योद्युतवधमे               | १७८   | अग्नी वज्रस्तरेषामृदवः      | ११९   |
| अग्ने अमृतं वरेह ना       | १५९   | अय वधुद्विधवध                   | १७५   | अग्नी स्तुवाय अग्न्याग्नि   | ११०   |
| अग्निं रक्षन् वायुवायव    | १११   | अग्न्याग्निं ते यमो वाहु        | ११८   | अग्नी ते योवेधेयिदो         | १५९   |
| अग्ने मनुं अग्निदुरद      | २४१   | अग्न्याग्निं नानाय आगम          | ११९   | अग्नी यमो विमनुः            | ११८   |
| अग्नेर्नये प्रथमस्त       | १८१   | अग्न्याग्निमृति वधुर्           | २०१   | अग्नी देवानामृषी            | ११९   |
| अग्निदत्तवधः हन्त वृत्र   | ७७    | अग्नी रत्नः प्रथमोऽग्ने         | २९६   | अग्नी यो नमस्तपिः           | १११   |
| अग्निं ददा मनु            | ७९    | अग्निं मग्निमि ते वाहु          | ११८   | अग्निमग्निं वधतिः           | ११७   |
| अग्निं ददा मनु            | ३०५   | अग्निं वध प्रथमवध               | १५७   | अग्निमग्निमृदवाग्नि         | ११४   |
| अग्निं ददा मनु            | ११३   | अग्नेन विपतो यमोऽय              | ११    | अग्निमृत्वा धनवतीः          | ११७   |
| अग्निदत्तवधः वधो          | ११८   | अग्नी वायवेधं वधं               | १६    | अग्नी देवो अग्निवा          | १११   |
| अग्निदत्तवधो यमो          | ११८   | अग्नी वायवेधं वधं               | १६    | अग्निवायवो यमो              | १३१   |
| अग्निं ददा मनु            | २०५   | अग्नी वायवेधं वधं               | १०८   | अग्निवा यमो                 | २०१   |
| अग्निं ददा मनु            | ११८   |                                 |       |                             |       |



[illegible]



[illegible]







